सर्वोदय तत्त्व-दर्शन

जीवन-मार्ग, अहिंसाकी प्रतिष्ठा तथा
अहिंसक राज्य-व्यवस्थाका
विशद विवेचन

गोपीनाथ धावन

नवजीवन प्रकाशन मन्दिर
अहमदाबाद-१४

मुद्रक और प्रकाशक
जीवणजी डाह्याभाई देसाई
नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद – १४

संशोधित और परिवर्धित द्वितीय संस्करण ३०००

रु० ६.००

अगस्त, १९६
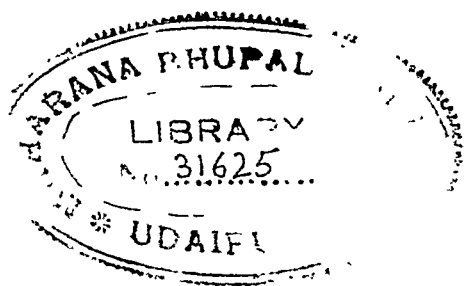
बड़े भाईकी स्मृतिमें

प्रकाशकका निवेदन

'सर्वोदय तत्त्व-दर्शन' राजनीति शास्त्रके विद्वान प्राध्यापक स्वर्गीय डॉ० गोपीनाथ धावनका एक महत्त्वपूर्ण शोधग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने महात्मा गांधीके सर्वोदय तत्त्व-दर्शन अथवा अहिंसाके व्यावहारिक तत्त्व-दर्शनका अध्ययनपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है।

मानव-जाति सुख, शांति तथा समृद्धिके लिए अनादि कालसे निरन्तर प्रयत्नशील रही है। परन्तु आज तक वह अपना यह ध्येय सिद्ध नहीं कर पाई है। इसका कारण यह है कि इसके लिए उसने सदा युद्ध और हिंसाके साधन स्वीकार किये हैं। और ये दोनों साधन मानव-जातिके अस्तित्वके लिए इतने संकटमय सिद्ध हुए हैं कि संसारके अनेकानेक विचारशील लोगोंकी यह मान्यता दिनोंदिन दृढ़ होती जा रही है कि मानव-समाजको सर्वनाशसे बचानेका तथा विश्वमें सुख, शांति और समृद्धिका स्वर्णयुग लानेका एकमात्र मार्ग अहिंसा-धर्मका पालन है। 'सर्वोदय तत्त्व-दर्शन' में अहिंसाकी उस सामुदायिक पद्धतिका विशद वर्णन हुआ है, जिसका विकास गांधीजीने अपने दीर्घ सेवा-जीवनकी उत्कट साधना द्वारा किया था और जिस पद्धतिको वे समाज और राष्ट्रके नव-निर्माणका मुख्य आधार बनाना चाहते थे।

जैसा कि लेखकने बताया है, गांधीजीका सर्वोदय तत्त्व-दर्शन अनेक दृष्टियोंसे अध्ययनकी बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत करता है। वह अहिंसाके सबसे महान प्रणेता और शिक्षकके संपूर्ण जीवनके अनुसन्धानों और प्रयोगोंका सुफल है। वह दार्शनिक और व्यावहारिक राजनीतिके क्षेत्रमें समन्वयकी दिशा सूचित करनेवाली विश्वको भारतवर्षकी सर्वोच्च देन है। और वह भारतीय जनसमुदायके आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलनकी अहिंसक पृष्ठभूमिको हमारे सामने स्पष्ट रूपमें रखता है।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका पहला संस्करण सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली ने १९५१ में प्रकाशित किया था। अब स्वयं लेखक द्वारा संशोधित और परिवर्धित इस ग्रन्थका यह दूसरा संस्करण नवजीवन ट्रस्ट प्रसिद्ध कर रहा है। इस संस्करणके संशोधन-कार्यमें श्री श्यामाचरण तिवारीने लेखककी बहुत सहायता की थी, जिसका यहां साभार उल्लेख किया जाता है।

आशा है, गांधीजीकी सर्वोदयी विचारधाराको समझनेमें यह ग्रन्थ अभ्यासी जनोंके लिए सहायक सिद्ध होगा।

१५-८-'६३

भूमिका

सन् १९०९ में गांधीजीने 'हिन्द स्वराज्य' में आधुनिक सभ्यताको 'एक रोग' और 'तीन दिनका तमाशा' बताया था, "क्योंकि यह सभ्यता न तो धर्मका विचार करती है, और न आचार पर ही ध्यान देती है।"[1] उनकी रायमें सभ्यताओंके जीवनके लिए शरीर-शक्ति और भौतिक सम्पन्नताकी अपेक्षा नैतिक पवित्रता और आत्मशक्ति अतुलनीय रूपसे अधिक मूल्यवान हैं। परंतु यह चेतावनी राजनीतिमें आ भटकनेवाले एक प्राच्य-सन्तका रहस्यात्मक उद्गार मानी गई और उपेक्षित कर दी गई। आज एक महायुद्ध द्वारा उत्पन्न संहार और विनाश तथा दूसरे महायुद्धकी तैयारीके मध्य आधुनिक सभ्यता एक भयंकर पतनकी ओर जाती हुई प्रतीत होती है।

आधुनिक सभ्यताके दोष जीवनके लगभग सभी पक्षोंमें विद्यमान हैं। वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नतिके कारण इतिहासके अन्य युगोंकी अपेक्षा पिछले सौ वर्षोंमें मनुष्यने प्रकृति पर अधिक यान्त्रिक प्रभुत्व प्राप्त कर लिया है। परन्तु यह उपलब्धि मनुष्यको अधिक बुद्धिमान अथवा सुखी बनानेकी अपेक्षा उसके लिए महानतम दुर्भाग्य रही है। यान्त्रिक प्रभुत्वकी प्रगतिसे उत्पन्न जीवनकी भ्रामक जटिलताने ज्ञान और आत्म-संयमको अत्यन्त कठिन बना दिया है। इस प्रकार भौतिक उन्नति नैतिक ध्वंसकी परिचायक है।

इस नैतिक अवनतिकी अभिव्यक्ति मनुष्यकी धन-प्रियता और शक्ति-लिप्सामें होती है। लाभकी असाधारण प्रवृत्तिने उसे सेवाके आदर्शके प्रति अंधा बना दिया है, और यही पूंजीवादकी जड़ है। शक्ति-प्रियता युद्धोंका और उनकी बढ़ती हुई विनाशकताका प्रधान कारण है।

स्पष्ट है कि जनतंत्र पूंजीवाद और युद्धकी तैयारियोंके साथ नहीं चल सकता। पूंजीवाद और युद्धके लिए एक उच्च कोटिका समग्र और केन्द्रित नियन्त्रण अपेक्षित है और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आजके अधिकांश 'सभ्य' राज्य किसी न किसी प्रकारके अधिनायकोंके अत्याचारके आगे आत्म-समर्पण कर रहे हैं। आधुनिक राज्यमें अन्तरात्माका राष्ट्रीयकरण और बुद्धिका नियंत्रण शीघ्रतासे जीवनके सामान्य लक्षण बनते जा रहे हैं। धन और हिंसाकी अंधभक्ति मानव-जातिको बर्बरताकी ओर ही ले जा सकती है।

परन्तु गांधीजीका मत है कि सभ्यताका रोग असाध्य नहीं है[2], यद्यपि इसके लिए कठोर क्रांतिकारी उपचारकी आवश्यकता है। उनके अनुसार यह उपचार है जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अहिंसाका विकास।

---

१. हिन्द स्वराज्य, पृ० ३९, ४५, १९६।

२. हिन्द स्वराज्य, पृ० ४७–४८।

शांति और समृद्धिकी स्थापनाके लिए शताब्दियों तक युद्ध और हिंसाका प्रयोग होता रहा। आज ये मनुष्य-जातिके अस्तित्वके लिए इतने संकटमय हो गए हैं कि दुनियाके समझदार मनुष्योंमें यह धारणा दृढ़ हो रही है कि विनाशसे बचनेका अहिंसा ही एक मार्ग है।

गांधीजीका सत्याग्रह-दर्शन अध्ययनके योग्य है, क्योंकि वह अहिंसाके सबसे महान शिक्षक और प्रचारकके जीवन भरके अनुसंधानोंका फल है। उनका सर्वोदय तत्त्व-दर्शन इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि वह दार्शनिक और व्यावहारिक राजनीतिके क्षेत्रमें संसारको भारतवर्षकी सर्वश्रेष्ठ मौलिक देन है। इसके अतिरिक्त वह भारतके आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि है । इस देशमें उनकी शिक्षाने जनताको प्रभावित करके महान जनप्रियता प्राप्त की।

सर्वोदय तत्त्व-दर्शनके महत्त्वका एक कारण गांधीजीका अनोखा व्यक्तित्व भी है। उनकी तुलना गौतम बुद्ध और ईसा मसीहसे की जाती है, यद्यपि उन्होंने बार बार पैगम्बर होनेसे इनकार किया । गोखलेने सन् १९१९ में कहा था कि, उनसे अधिक शुद्ध, सज्जन, वीर और उच्च आत्मावाला व्यक्ति इस संसारमें कभी नहीं हुआ । भारतवर्ष और बाहरके देशोंके असंख्य मनुष्योंके लिए वे भारतीय प्रज्ञा और उसके अहिंसाको अपनानेके शाश्वत संकल्पके प्रतीक हैं। गांधीजी संसारके महानतम क्रान्तिकारी नेताओंमें से हैं। अहिंसक साधनों द्वारा उन्होंने अपने देशवासियोंको इतिहासके महानतम शक्तिशाली साम्राज्यके आधिपत्यसे मुक्त किया और वर्तमान समाज-व्यवस्थामें क्रान्ति उपस्थित करनेका प्रयत्न किया । अपने जीवनके अंतिम मासोंमें उन्होंने भारतवर्षके कई भागोंमें भड़की हुई तीव्र साम्प्रदायिक हिंसाको अकेले ही नियंत्रित किया।

उनका तत्त्व-दर्शन मनुष्यके चरम लक्ष्यकी शाश्वत समस्या और इस लक्ष्यकी ओर बढ़नेके मार्गसे संबद्ध है। सर्वोदय तत्त्व-दर्शन आवश्यक रूपसे व्यावहारिक है । वह विद्वान सिद्धांतवादियोंकी उन क्रमबद्ध कल्पनाओंसे नहीं मिलता, जो प्रायः इतनी अधिक स्पष्ट और तर्क-संगत होती हैं कि जीवनसे दूर जा पड़ती हैं। गांधीजी कर्मयोगी थे, व्यावहारिक आदर्शवादी थे और उनके सिद्धांतोंका स्रोत उनके अनुभव — सत्य तथा अहिंसाके उनके प्रयोग — थे। उन्होंने सिर्फ वही सिखाया जिस पर उन्होंने व्यवहार किया और जिस पर हरएक मनुष्य आवश्यक प्रयत्न करके व्यवहार कर सकता है। यद्यपि वे धार्मिक पुरुष थे, फिर भी उन्होंने धार्मिकता और सांसारिकतामें झूठा भेद नहीं किया है। उनके अनुसार यदि धर्म जीवनके सब कार्योंका नैतिक आधार प्रस्तुत नहीं करता तो वह अर्थहीन है । ठीक आदर्श वही है जो

हमारे जीवनमें सहायक हो। उच्चतम नीतिको अधिक-से-अधिक व्यावहारिक होना चाहिए।

व्यावहारिक होनेके कारण सर्वोदय तत्त्व-दर्शनका प्राथमिक संबंध साधनोंसे है। यह तत्त्व-दर्शन ध्येयको भुलाता नहीं। लेकिन ध्येयकी सिद्धि साधनों पर निर्भर है। इसलिए अहिंसक मार्गका प्रगतिशील उपयोग सत्याग्रहीके लिए सब-कुछ है।

गांधीजीके अनुसार "सबका अधिकतम हित" ही यह ध्येय है। वे दार्शनिक अराजकतावादी हैं; क्योंकि उनका विश्वास है कि इस ध्येयकी सिद्धि केवल स्वतंत्र गांवोंके उस वर्ग-रहित और राज्य-रहित जनतंत्रवादी समाजमें ही हो सकती है, जिसकी नींव हिंसाके बजाय अहिंसा पर, शोषणके बजाय सेवा पर, लोभके बजाय त्याग पर और शक्तिके केन्द्रीकरणके बजाय उसके व्यक्तियों और स्थानीय संस्थाओंमें अधिक-से-अधिक विघटन पर हो। अहिंसक राष्ट्रीयता पृथक्ता-प्रिय, संघर्षमय और युद्धवादी होनेके बजाय रचनात्मक और सहयोगशील होगी और विश्व-मानवताका एक जीवित भाग होगी; और झगड़ोंका निपटारा पशुबलके भौतिक तल पर नहीं बल्कि प्रेमके आध्यात्मिक स्तर पर होगा। लेकिन गांधीजी कोरे स्वप्नद्रष्टा नहीं हैं और अहिंसक समाज अब भी एक दूरका और अनिश्चित-सा आदर्श है। इसलिए उनके तत्त्व-दर्शनका संबंध विशेषकर व्यक्तिसे है, जो इस आदर्शके लिए जीने और मरनेके लिए तैयार रहेगा। उसका संबंध उस अहिंसक मार्गसे भी है, जो व्यक्तिको उस आदर्श तक ले जायगा। गांधीजी उस सुदूर लक्ष्यके विस्तृत विवेचनके विषयमें चिन्ता नहीं करते। उन्होंने उचित मार्ग खोज लिया है और उनका विश्वास है कि एक कदमके बाद दूसरा कदम उठेगा और इस प्रकार समय आने पर प्रयत्न ही साध्य बन जायगा। लेकिन जितना इस पद्धतिका विकास हुआ है उससे गांधीजीकी धारणाके अहिंसक समाजकी रूपरेखा कुछ-कुछ ज्ञात होती है।

गांधीजीने अर्ध शताब्दीसे भी अधिक समयके अपने सार्वजनिक जीवनमें जो अहिंसक पद्धति विकसित की है, वही गरीबों, पिछड़े हुए लोगों और पददलितोंकी एकमात्र आशा और सबसे अधिक सार्थक प्रतिरोध-पद्धति है। संसारके इतिहासमें गांधीजीने पहली बार यह दिखाया है कि स्वतंत्रता-प्राप्तिके लिए निःशस्त्र राष्ट्र भी युद्ध कर सकते हैं; और यह है अहिंसक युद्ध। इस तरह उन्होंने संसारको झगड़े निपटानेके लिए युद्धका नैतिक समतुल्य, बल्कि उससे भी अधिक उपयोगी साधन दिया है।

गांधीजीने सर्वोदय तत्त्व-दर्शनमें इस बात पर जोर दिया है कि समाजके नव-निर्माणमें प्रथम स्थान व्यक्तिका है। उनके मतसे समाजका प्रश्न वास्तवमें व्यक्तिका ही प्रश्न है। इसका कारण यह है कि मनुष्यका परम तत्त्व आत्मा

है और समाजकी उन्नति साधारण व्यक्तिकी आत्मिक शक्ति पर निर्भर है। मार्क्सवादी और फासिस्ट अपने निर्माणका कार्य बाह्य समाजसे प्रारंभ करके तब मनुष्यके आन्तरिक सुधार पर आते हैं; परन्तु इसके विपरीत गांधीजी अन्तरात्मासे प्रारंभ करके वातावरणके सुधारकी ओर बढ़ते हैं। यद्यपि समाजके पुर्नानिर्माण संबंधी अपने नियोजनमें वे व्यक्तिको अधिक महत्त्व देते हैं, जो सबसे पहले पग बढ़ाता है; परन्तु वे संस्थागत सुधार पर भी ध्यान रखते हैं। इस प्रकार सत्याग्रह व्यक्तिसे सामाजिक व्यवस्थाके सुधारकी ओर अग्रसर होता है और सामाजिक व्यवस्थासे पुनः व्यक्तिकी ओर लौटता है।

परन्तु गांधीजीका मनुष्य-संबंधी दृष्टिकोण एकांगी नहीं है। वे मनुष्यकी शारीरिक आवश्यकताओंकी भी उपेक्षा नहीं करते।[१] लेकिन मनुष्य केवल शरीर नहीं है, आत्मा ही उसकी वास्तविकता, उसका केन्द्रीय सत्य है। आत्मा सबमें एक है और इस महान सत्यको समझनेके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य जीवमात्रकी अनवरत सेवामें अपनेको लगा दे।[२] इस प्रकार व्यक्तिको अपना जीवन समाज-सेवामें लगा देना चाहिये और ऐसे जीवनके लिए आदतोंकी दासता नहीं परन्तु अधिकाधिक आत्म-निर्देशन अपेक्षित है।

सर्वोदय तत्त्व-दर्शनकी एक दूसरी विशेषतासे अध्येताका कार्य बहुत कठिन हो जाता है। वह विशेषता यह है कि गांधीजीके जीवन-कालमें वह निरन्तर विकसित हो रहा था और इसलिए बहुत समय तक ठीक प्रकारसे उसका मूल्यांकन नहीं हो सकेगा। गांधीजीके शब्दोंमें, "राजनीतिमें अहिंसा एक नया शस्त्र है, जिसका विकास हो रहा है"।[३] "सत्याग्रहका मेरा ज्ञान प्रतिदिन बढ़ रहा है। मेरे पास कोई पाठ्यपुस्तक नहीं है, जिसे मैं आवश्यकताके समय देख लूं। मेरी धारणाका सत्याग्रह एक ऐसा विज्ञान है, जिसका निर्माण हो रहा है।"[४] उन्होंने अहिंसा-विज्ञान पर एक पुस्तक लिखनेकी प्रार्थनाको अस्वीकार कर दिया था, क्योंकि उनका क्षेत्र था कर्म, न कि इस प्रकारकी पुस्तकें लिखना। उन्होंने सन् १९४६ में लिखा था,

---

१. पाठकोंको इस बातका उदाहरण कि गांधीजी उचित शारीरिक आवश्यकताओंको नहीं भुलाते उनके एक पत्रमें मिलेगा, जो उन्होंने टैगोरको लिखा था। रवीन्द्रनाथ टैगोरको लिखा हुआ 'महान प्रहरी' नामक उनका विख्यात पत्र मनुष्यकी न्यूनतम वैध शारीरिक आवश्यकताओंके औचित्यका अकाट्य समर्थन है। देखिये 'स्पीचेज़', पृ० ६०७-१३।

२. राधाकृष्णन् और म्योरहेड संपादित 'कण्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलासफ़ी' में गांधीजीका लेख।

३. ह०, २३-१०-'३७, पृ० ३०८।

४. ह०, २४-९-'३८, पृ० २६६।

"इस प्रकारकी पुस्तक मेरे जीवन-कालमें आवश्यक रूपसे अपूर्ण रहेगी। यदि वह लिखी जा सकती है, तो मेरी मृत्युके वाद ही। और मैं यह चेतावनी दे दूं कि तव भी वह पूर्णरूपसे अहिंसाकी व्याख्या करनेमें असफल रहेगी। कोई मनुष्य कभी ईश्वरका पूरी तरह वर्णन नहीं कर सका है। यही वात अहिंसाके वारेमें भी सत्य है।"[१]

गांधीजीने इस वात पर जोर दिया कि सत्यके प्रति आस्था विचार और कर्मके निर्धारित मार्ग, दृष्टिकोणकी कठोरता और सत्यको अन्तिम रूपसे जान लेनेके दावेका निराकरण करती है। मनुष्यका ज्ञात सत्य सापेक्ष है। सत्यकी खोज करनेवालेको वास्तविकताओंसे शिक्षा लेने और वदलती हुई परिस्थितियोंके अनुसार अपने सिद्धान्तोंको विकसित करने और सुधारनेके लिए अवश्य प्रस्तुत रहना चाहिए।

सत्याग्रहका सन्देश जीवित सन्देश है। परन्तु इस कारणसे हम आधुनिक समाजके रोगोंकी इस अमोघ औपधिका क्रमवद्ध अध्ययन स्थगित नहीं कर सकते। प्रतिपादनकी पूर्णताकी असंभावना सत्याग्रह-विज्ञानका ही नहीं, प्रत्येक विज्ञानका लक्षण है। इसके अतिरिक्त, गांधीजीका दीर्घकालीन सार्वजनिक जीवन, जिसे उन्होंने सत्य और अहिंसाके प्रयोगोंमें लगाया, इतिहासका एक भाग वन चुका है और इनके परिणामोंके अध्ययनके लिए उन्होंने अपने लेखों, व्याख्यानों और कार्योंमें प्रचुर सामग्री दी है।

उनके जीवन-कालमें ही, जव उनका सर्वोदय तत्त्व-दर्शन विकसित हो रहा था, उसकी प्रमुख रूपरेखा ज्ञात हो सकती थी। सर्वोदय तत्त्व-दर्शनका विकास मूलभूत सिद्धान्तोंमें परिवर्तनके रूपमें नहीं हो रहा था, वल्कि सिद्धांतोंके निष्कर्षोंके हेरफेर या विस्तारकी वातोंके विवेचनके रूपमें हो रहा था। सन् १९३८ में 'हिंद स्वराज्य' के वारेमें उन्होंने कहा था, "तीस सालके तूफानी जीवनके वाद, जिसमें से होकर मैं तव (१९०९) से आज तक गुजरा हूं, मैंने ऐसा कुछ भी नहीं देखा, जिसके कारण मुझे उन सिद्धान्तोंमें परिवर्तन करना पड़ा हो जिनका उस पुस्तकमें प्रतिपादन किया गया है।"[२]

अनुक्रमणिका

१

अहिंसाकी परंपरा

प्रत्येक देशमें और संस्कृतिकी प्रत्येक अवस्थामें लोग अहिंसाका उपदेश देते रहे हैं और उसका प्रयोग भी करते रहे हैं। बहुतसे चिन्तकोंने और संसारके महान धर्मोंके संस्थापकोंने यह शिक्षा दी है कि हिंसा पर हिंसा द्वारा विजय नहीं प्राप्त की जा सकती और न बुराईको बुराईसे जीता जा सकता है।

भारतवर्ष

अहिंसाकी परम्परा इतनी गहरी और अविच्छिन्न किसी और देशमें नहीं रही है जितनी भारतवर्षमें। अहिंसा संसारकी चिन्तन-परम्पराको भारतवर्षकी महानतम देन है। सभी महत्त्वपूर्ण भारतीय धर्मोंका यह उपदेश है कि अहिंसा सबसे बड़ा कर्तव्य है। भारतीयोंका प्राचीन कालसे ही जीवनकी आध्यात्मिक एकतामें विश्वास रहा है। सुविख्यात सूत्र 'सोऽहम्' और 'तत्त्वमसि' इसी विश्वासको प्रकट करते हैं। सब जीवोंकी एकताके इस विश्वासके कारण भारतवर्षमें यह प्रतिपादित किया गया कि मनुष्येतर जीवोंके प्रति भी हमारा व्यवहार अहिंसक होना चाहिये।

वर्णाश्रम-धर्म

हिन्दुओंकी समाज-व्यवस्थाके आधार वर्णाश्रम-धर्मका प्रथम उल्लेख ऋग्वेदके पुरुष-सूक्तमें हुआ है। वर्णाश्रम-धर्मका उद्देश्य यह था कि जन-साधारणको अहिंसाके उच्च आदर्शकी शिक्षा मिले।[1] उसका लक्ष्य सभी मनुष्योंको, यहां तक कि शूद्रोंको भी, ब्राह्मण बनानेका था। आध्यात्मिक एकात्मकताके अनुभवसे उत्पन्न शान्तिमय आनन्दसे परिपूर्ण ब्राह्मण मनुष्यताके उच्चतम विकासका प्रतिनिधि था और उससे इस बातकी आशा की जाती थी कि वह बुराईका प्रतिरोध शरीर-शक्तिसे नहीं, आत्मबलसे करेगा। निस्सन्देह क्षत्रियको ब्राह्मणकी अपेक्षा आत्मबलकी कमीके कारण अन्यायके प्रतिकारके लिए शक्ति-प्रयोग करनेकी छूट थी। परन्तु यह माना जाता था कि ब्राह्मण द्वारा प्रयुक्त प्रेमका नियम क्षत्रियके पाशविक बलके नियमकी अपेक्षा उच्चतर

---

१. अहिंसा और वर्णाश्रम-धर्मके संबंधके लिए देखिये राधाकृष्णन्की 'हार्ट ऑफ हिंदुस्तान', पृ० २२-२४ तथा ४४-४५ और 'हिंदू व्यू ऑफ लाइफ', पृ० ११७।

है। वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार क्षत्रियका यह कर्तव्य है कि वह घृणा और प्रतिशोधके भावसे मुक्त भ्रातृत्व और कर्तव्यकी भावनासे युद्ध करे। इस मानवतापूर्ण आचरणसे क्षत्रिय आध्यात्मिक रूपसे ऊंचे उठता था और धीरे-धीरे उसका विश्वास पाशविक बलसे हटता जाता था, यहां तक कि वह किसी जीवको दुःख न पहुंचानेवाला ब्राह्मण बन जाता था। इस प्रकार "यद्यपि हिंसात्मक प्रतिरोधकी छूट है, लेकिन ध्येय यह है कि उससे ऊंचे उठा जाय।" इस प्रकार वर्णाश्रम-धर्मने युद्धके कार्यको समाजके एक छोटे भाग, क्षत्रियों तक सीमित कर दिया था।

उपनिषद्

उपनिषदोंके समयसे हिन्दू नीतिशास्त्रने हमेशा सब जीवधारियोंके प्रति अहिंसाके प्रयोग पर जोर दिया। प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान रिज़ डेविड्सके अनुसार अहिंसाका प्रथम उल्लेख छांदोग्य उपनिषद्में हुआ है, जिसमें अहिंसा मनुष्यके बलिदानमय जीवनके पांच नैतिक सद्‌गुणोंमें से एक बताई गई है।[१] पतंजलिके योगसूत्रमें — जिसका गांधीजीने सन् १९०३ में जोहानिसबर्गमें अध्ययन किया था — अहिंसा पंचयमोंमें सम्मिलित है। पंचयम वे पांच प्रमुख अनुशासन हैं, जिनका पतंजलिके समयमें भारतवर्षमें आध्यात्मिक विकासकी पद्धतिमें प्राथमिक स्थान रहा है। जैसा कि आगे तीसरे और चौथे अध्यायोंमें बताया गया है, गांधीजीने इन यमोंको विकसित किया है और उनको सत्याग्रही अनुशासनका आवश्यक अंग बना दिया है। पतंजलिका कहना है कि अहिंसा हिंसासे बचनेका केवल निषेधात्मक नियम ही नहीं है; विधायक दृष्टिकोणसे अहिंसाका यह अर्थ भी है कि सब चीजोंके प्रति सद्‌भावना हो। पतंजलिके विख्यात सूत्र "अहिंसा प्रतिष्ठायान्तत्सन्निधौ वैरत्यागः" का अर्थ यह है कि जैसे ही अहिंसाका पूर्ण विकास होता है वैसे ही चारों ओरके वैरभावका लोप हो जाता है।

महाकाव्य

भारतके महाकाव्योंमें अहिंसाकी परम्पराका और भी विकास हुआ। वैसे प्रगटमें रामायण[२] और महाभारत, जो भारतके करोड़ों मनुष्योंके मार्गदर्शक हैं, युद्धकथाएं हैं; लेकिन महाकवि वाल्मीकि और व्यासका उद्देश्य युद्धका ऐतिहासिक वर्णनमात्र नहीं है। गांधीजीका मत है कि उनमें वर्णित पात्र

१. 'अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।' — छांदोग्य० ३, १७।

२. गांधीजी तुलसीदासकी रामायणको — जिससे उनका पहला परिचय ३ सालकी अवस्थामें हुआ था — भक्ति-साहित्यकी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक मानते हैं।

मूलमें ऐतिहासिक भले ही हों, परन्तु महाकवियोंने उनका उपयोग मनुष्यके हृदयके भीतर प्रकाश और अंधकारकी शक्तियोंमें निरन्तर होनेवाले द्वन्द्वयुद्धके रूपककी भांति किया है। रामायणमें शांतिके कार्योंकी नैतिक उच्चतासे युद्धका महत्त्व फीका पड़ जाता है। महाभारत युद्ध और हिंसाकी निरर्थकता सिद्ध करता है। विजेताओंकी जीत उपहास-सी मालूम पड़ती है। महायुद्धमें प्रवृत्त लाखों योद्धाओंमें से केवल सात बच रहते हैं। विजेता रोते हैं और पश्चात्ताप करते हैं। और उनके पास दुःखकी धरोहरके अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता। पुत्रों और संबंधियोंके दिन-प्रतिदिन होनेवाले विनाशका विस्तृत और दुःखद वर्णन अन्धे धृतराष्ट्र और रानी गांधारीको सुनना पड़ता है। महाभारतकारने यह भी दिखाया है कि हिंसक युद्धमें नीचता और धूर्तताका प्रयोग अवश्य करना पड़ता है। महासत्यवादी युधिष्ठिरको भी युद्धकी हारसे बचनेके लिए झूठ बोलना पड़ा था।

महाभारत प्रत्यक्ष रूपसे भी अहिंसाके पक्षमें है। वास्तवमें महाभारतके समय तक अहिंसा परम कर्तव्य मान ली गई थी। व्यासने महाभारतके अनेक स्थलों पर सत्य, अहिंसा और दूसरे अहिंसात्मक आदर्शोंकी महत्ताका उल्लेख किया है। घायल भीष्मने युधिष्ठिरको अहिंसाका महत्त्व इन शब्दोंमें बताया है: "अहिंसा सर्वश्रेष्ठ धर्म है। वह उच्चतम तप भी है। वह परम सत्य भी है, जो सब कर्तव्योंका स्रोत है।"[१] शांतिपर्वमें कपिलने ब्रह्मप्राप्तिके उपाय बतलाये हैं—दया, क्षमा, शांति, अहिंसा, सत्य, सरलता, अद्रोह होना, अहंकारका अभाव, नम्रता और सहनशीलता।[२] वनपर्वमें कहा गया है कि, "कठोर और नम्र दोनों समान रूपसे नम्रके समक्ष झुक जाते हैं। वास्तवमें नम्रके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। इसलिए नम्र कठोरसे अधिक शक्तिशाली है।"[३]

गीता

यह विवाद-ग्रस्त है कि गीता हिंसाके पक्षमें है या अहिंसाके। गीता उपनिषदोंका सार है और कुछ विचारक उसे भारतीय दर्शन-साहित्यका सर्वश्रेष्ठ रत्न मानते हैं।

जिन पुस्तकोंसे गांधीजी प्रभावित हुए हैं, उनमें गीताका स्थान निश्चित रूपसे पहला है। गीताके साथ गांधीजीका प्रथम परिचय सन् १८८८–८९ में

१. देखिये पी० पी० एस० शास्त्री द्वारा संपादित 'अनुशासन-पर्व' —१०४, २५; १०५, २३–४५।

२. 'शांतिपर्व' (शास्त्री द्वारा संपादित)—१८८, ६१–६४; २५५, ३९-४०।

३. 'वनपर्व' (शास्त्री)—२४, ३०।

ह०, ३०–१०–'३६, पृ० २६६; ५–९–'३६, पृ० २३६; ११–११–'३९, पृ० ३३०; १८–७–'४०, पृ० २५०; यं० इं०, भाग–२, पृ० ९३७।

इंग्लैण्डमें हुआ था, जब उन्होंने दो अंग्रेज मित्रोंके साथ एडविन आर्नल्डके पद्य-अनुवादका अध्ययन किया था। बादमें उन्होंने गीताकी अधिकांश महत्त्वपूर्ण टीकाओंका अध्ययन किया। बहुत दिनों तक उन्होंने नित्य-प्रति गीताका पाठ किया और निरन्तर साठ वर्षों तक उसकी शिक्षाके अनुसार जीवन यापन किया। २८ जुलाई, १९२५ को कलकत्तेमें ईसाई पादरियोंके सामने दिये गये अपने व्याख्यानमें उन्होंने गीताके प्रति अपने प्रेमका प्रदर्शन इन शब्दोंमें किया था: "यद्यपि मैं ईसाई-धर्मकी बहुतसी बातोंका प्रशंसक हूं, तथापि मैं अपनेको कट्टर ईसाई नहीं मान पाता। . . . हिन्दू धर्म, जैसा मैं उसे जानता हूं, मेरी आत्माको पूर्ण रूपसे सन्तुष्ट करता है और मेरे सम्पूर्ण अस्तित्वमें ओतप्रोत है; और जो शान्ति मुझको भगवद्गीता और उपनिषदोंमें मिलती है, वह ईसामसीहकी 'पर्वतकी धर्मशिक्षा' में नहीं मिलती। जब मैं संशयों और निराशाओंसे घिरा होता हूं और जब मुझे क्षितिज पर एक भी प्रकाश-रश्मि नहीं दिखाई देती, तब मैं भगवद्गीताकी ओर मुड़ता हूं और मुझे सन्तोषके लिए एक-न-एक श्लोक मिल जाता है और मैं तुरन्त घोर दुःखोंमें मुस्कराने लगता हूं। मेरा जीवन बाहरी दुःखोंसे पूर्ण रहा है और यदि उन्होंने मेरे ऊपर कोई अमिट और दिखाई पड़नेवाला प्रभाव नहीं डाला है, तो उसके लिए मैं भगवद्गीताकी शिक्षाओंके प्रति आभारी हूं।"[१]

गीता महाभारतका सर्वाधिक मूल्यवान अंश है। महाभारतके समान गीताका भी प्रतिपाद्य विषय अहिंसा नहीं है, जो "गीतायुगके पूर्व भी एक स्वीकृत और प्राथमिक कर्तव्य" था; और न यह ग्रन्थ युद्धकी ही निन्दा करनेके लिए लिखा गया है, जो उस समय हिंसासे असंगत नहीं समझा जाता था।[२] इसी प्रकार यह हिंसाका भी प्रतिपादन नहीं करता। गीताका विषय है आत्म-साक्षात्कार और उसके साधन। दूसरे और अठारहवें अध्यायमें हमें गीताकी आत्म-साक्षात्कार सम्बन्धी शिक्षाका निचोड़ मिलता है और वह है अनासक्तियोग या निष्काम कर्मका आदर्श। "परन्तु फलत्यागका अर्थ परिणामके प्रति उदासीनता किसी प्रकार नहीं है। प्रत्येक कर्मके सम्बन्धमें मनुष्यको आनेवाले परिणामको, उस कर्मके साधनोंको और उसके करनेकी क्षमताको अवश्य जानना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार सक्षम होता है, जिसमें परिणामकी इच्छा नहीं है और जो अपने सामने आये हुए कार्यको उचित

१. यं० इं०, भाग—२, पृ० १०७८—७९।

गीता और अहिंसाके सम्बन्धके विषयमें देखिये गांधीजीका 'अनासक्ति-योग' और 'गीताबोध' तथा यं० इं०, भाग—२, पृ० ९०७, ९३७—४०; ह०, २१—१—'३९, पृ० ४३०; ३—१०—'३६, पृ० २५७।

२. दि गीता एकार्डिंग टु गांधी, पृ० १२९; डायरी, भाग—१, पृ० १२६।

रूपसे पूरा करनेके लिए पूर्णतया लगा हुआ है उसके विषयमें ही कहा जाता है कि उसने इच्छाका त्याग किया है।" गांधीजीके अनुसार गीताकी यह मूलभूत शिक्षा इसके विरुद्ध है कि मुक्ति और सांसारिक कर्मोंके बीच कोई सीमारेखा खींची जाय। इस शिक्षामें यह अन्तर्निहित है कि "हमारे सांसारिक कर्मो पर धर्मका शासन अवश्य होना चाहिये" तथा "उसको धर्म नहीं कहा जा सकता जिसका पालन नित्य-प्रतिके व्यवहारमें न हो सकता हो।"[१] दूसरे अध्यायके अन्तिम १९ श्लोकोंको गांधीजी गीताकी व्याख्याकी कुंजी बताते हैं और कहते हैं कि इन श्लोकोंमें उनके लिए सम्पूर्ण ज्ञान भरा है।[२] इन श्लोकोंके अनुसार स्थिरबुद्धिकी प्राप्तिका साधन बाह्य पदार्थोंका त्याग नहीं, वासनाओंका त्याग है। गीताका आदर्श पुरुष, स्थितप्रज्ञ, विनम्र और करुणापूर्ण है; वह सुख-दुःख, भय-द्वेषसे मुक्त है; उसका शुभाशुभ परिणामसे कोई सम्बन्ध नहीं। वह आवश्यक रूपसे अहिंसक है; क्योंकि हिंसा कर्मफलके उपयोगकी इच्छा पर आधारित है। गांधीजीने एक बार जापानी विद्वान कगावासे कहा था, "अपनी वासनाओंको मारनेके बाद अपने भाईको मारना सम्भव नहीं है।"[३] एक अन्य अवसर पर उन्होंने लिखा: "इस निस्स्वार्थ अनासक्तिका परिणाम उत्कृष्टतम सत्य और अहिंसा होना चाहिये।"[४] इसके विपरीत अनासक्तिकी इस चरम स्थितिकी पूर्ण सिद्धि अहिंसाके व्यवहारके बिना नहीं हो सकती।

निस्सन्देह गीताके उपदेशके बाद अर्जुन, जो युद्धसे विमुख हो गया था, अपनी भूल समझ गया और युद्धके लिए सन्नद्ध हो गया। लेकिन अर्जुनके युद्ध-विमुख होनेका कारण नैतिक नहीं था। वह अपने सगे-सम्बन्धियोंको मरने-मारनेके लिए खड़े देख झूठी करुणा, हृदयकी दुर्बलता और क्षणिक मोहके कारण युद्धविरोधी हो गया था। उसे इस प्रकार मारनेमें कोई आपत्ति नहीं थी। उसका असमंजस उन मनुष्योंके कारण था जिन्हें उसे मारना था। "इस आसक्तिका धार्मिक (दृष्टिकोणसे) उत्तर यह होगा कि न तो कोई सम्बन्धी है, न असम्बन्धी। . . . अतएव, यदि युद्ध करना किसी भांति वैध है, तो इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता कि (युद्धसे सम्बद्ध) व्यक्ति सगे हैं अथवा अपरिचित।" इस प्रकार अर्जुनका मोह कायरता है और श्रीकृष्णकी यह शिक्षा है कि कायरताकी अपेक्षा मरना-मारना कहीं अधिक अच्छा है।

---

१. दि गीता एकार्डिंग टु गांधी, पृ० १२८–२९।
२. यं० इं०, भाग–२, पृ० ९३५।
३. ह०, १४–१–'३९, पृ० ४३०।
४. बार, पृ० १४।

कहा जा सकता है कि अनासक्त रहते हुए भी श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्रके युद्धमें उदासीन न थे। वे न्याय और सत्यके पक्षमें थे। यद्यपि वे युद्धसे विरत रहे, लेकिन वे युद्धके विशेषज्ञ थे। पांडवोंने उनके विशिष्ट ज्ञान और परामर्शसे लाभ उठाया था। यह कहना ठीक न होगा कि उनकी सहायता केवल नैतिक ही थी। लेकिन गीताके श्रीकृष्ण मुक्तात्मा हैं। उनको पूर्ण मानसिक सन्तुलन प्राप्त है और वे हिंसा-अहिंसासे परे हैं। केवल ऐसा ही व्यक्ति लेशमात्र भी आसक्तिसे मुक्त रहकर, सबके कल्याणके लिए संहार कर सकता है और संहार करते हुए भी अहिंसक है।[१] साधारण नश्वर मनुष्यके लिए अनासक्त अवस्थाकी प्राप्तिके साधनके रूपमें अहिंसक व्यवहार आवश्यक है।

बौद्ध और जैन धर्म

धार्मिक और दार्शनिक साहित्यमें अहिंसा पर जोर तो दिया गया, परन्तु मान्यता यह थी कि अहिंसा सन्तों और ऋषियोंका ही सद्‌गुण है। साथ-साथ पशुबलिका रिवाज भी चलता रहा। बौद्ध और जैनमत ब्राह्मण-धर्मकी विस्तृत धार्मिक क्रियाओं, जातिप्रथाके रूढ़िवाद और बलिदानोंकी हिंसाके विरुद्ध क्रान्तिकारी विद्रोह थे।

अहिंसा जैन दर्शनका प्रमुख सिद्धान्त है। जैनोंका विश्वास है कि सारा संसार असंख्य शरीरधारी आत्माओंसे भरा है। उनके शरीर या तो स्थूल और दृश्य हैं या सूक्ष्म और अदृश्य। सब तत्त्वोंमें आत्मा है। दुःखका कारण है आत्माका भौतिक शरीरके बन्धनमें आना। अतः जीवनका अर्थ है उन आत्माओंको भी दुःख, जिनका शरीर अदृश्य है। शरीर-बन्धनसे आत्माके छुटकारेके लिए, मुक्तात्मा होनेके लिए, यह आवश्यक है कि व्यक्ति कर्मोंके बन्धनसे छूट जाय। इसके लिए तीन साधन हैं, जिन्हें जैन 'त्रिरत्न' कहते हैं। ये हैं—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य। सम्यक् चारित्र्यमें पांच व्रत हैं। इनमें प्रथम व्रत अहिंसा है और अन्य चार हैं सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। इन व्रतोंका पालन जैन संन्यासीको नियमसे और गृहस्थको यथाशक्ति करना चाहिए।

जैन अहिंसा पर बहुत अधिक जोर देते हैं। जैन साधु अपने शरीर और कपड़ोंसे कीड़े-मकोड़ोंको नहीं हटाते, जीवरक्षाके अभिप्रायसे पानी छानकर पीते है, बैठनेकी भूमि साफ करनेके लिए झाड़ू साथ रखते हैं। जीवनके प्रत्येक व्यवहारमें हिंसा होती है; क्योंकि संसार शरीरधारी और पीड़ाका अनुभव करनेवाली आत्माओंसे भरा है। इसलिए जैन धर्मका सिद्धान्त है कि अहिंसाके

---

१. गीता, १८, १७।

अनुयायीको कम-से-कम कार्योंमें लगना चाहिए। इस प्रकार जैन धर्म तपस्याके लिए ही तपस्याको प्रोत्साहित करता है। जैनोंके लिए अहिंसाका अर्थ हो गया छोटे-से-छोटे कीड़े-मकोड़ेको भी न मारना। यह अर्थ अहिंसाके निषेधात्मक स्वरूपका चरमवादी प्रयोग है और इस रूपमें, दीनबन्धु ऐन्ड्रयूज़के शब्दोंमें, "अहिंसा इतना भारी बोझ बन गयी कि मानवताके लिए उसे वहन करना लगभग असम्भव हो गया।"[1] गांधीजीके अनुसार यह चरमवादी प्रयोग ऐसी मान्यता पर आधारित है, जो सदैव सत्य नहीं है। यह मान्यता है कि जीवनकी यातनाकी अपेक्षा मृत्युकी यातना अधिक कठोर है। और इसके कारण मानव-जीवनकी अपेक्षा मानवेतर जीवोंकी पवित्रता पर अनावश्यक बल दिया गया और इस प्रकार अहिंसा विकृत हो गई। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि जैनमतने इस देशमें अहिंसाकी परम्पराके जीवित रहने और गहरी होनेमें महत्त्वपूर्ण सहायता दी।

जन-साधारणके जीवन पर जैनमतका किसी दूसरे प्रान्तमें इतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना गुजरातमें, जहां गांधीजीका जन्म और पालन-पोषण हुआ था। उनके बचपनमें उनके पिता, जो वैष्णव थे, प्रायः जैन साधुओंके सत्संगमें रहते थे। इस प्रारम्भिक जैन-प्रभावके होते हुए भी गांधीजी जैनियोंके विपरीत अहिंसाके विधायक रूप पर उचित जोर देते हैं।

बौद्धमत जैनमत द्वारा अपनाये हुए अहिंसाके चरमवादी दृष्टिकोणको नहीं मानता।[2] गौतम बुद्धकी शिक्षाका प्रारम्भ पवित्रतामें होता है और अन्त प्रेममें। उनकी शिक्षामें तत्त्व-मीमांसाकी अपेक्षा नीतिधर्मका प्राधान्य है। उनकी नैतिक शिक्षा उपनिषदोंके नैतिक सिद्धांतोंका व्यावहारिक प्रयोग है।

मनुष्य-रूपमें जन्म लेने पर भी बुद्ध वर्णनातीत और निर्वचनीय तथा-गतके रूपमें हैं। बुद्ध ही धम्म, शाश्वत नियम और सत्य हैं।

---

१. सी० एफ० एन्ड्रयूज़ : महात्मा गांधीज़ आइडियाज़, पृ० १३२।

गांधीजी एन्ड्रयूज़ साहबसे सहमत हैं। उनके मतके लिए देखिये ह०, ९–६–'४६, पृ० १७२।

२. यद्यपि गौतम बुद्ध भिक्षुओंको जान-बूझकर ऐसे जीवोंका मांस खानेको मना करते हैं, जिनका वध उनके लिए किया गया हो; किन्तु "यदि भिक्षुओंने न यह देखा हो, न सुना हो और न उन्हें सन्देह हो कि जीवोंका वध उनको खिलानेके प्रयोजनसे किया गया है, तो वे उन्हें मछली और मांस खानेकी आज्ञा देते हैं।" कहा जाता है कि बुद्धके अन्तिम भोजनमें सुअरका मांस भी सम्मिलित था।—एडवर्ड कोंज़ तथा अन्य (सम्पा०): बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स थ्रू दि एजेज़, पृ० २२–२३; आनन्द के० कुमारस्वामी : बुद्ध एण्ड दि गॉस्पेल ऑफ बुद्धिज़्म, पृ० ७९।

बुद्धकी शिक्षामें नैतिकताका क्या स्थान है, इस सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि प्रकाशकी खोजमें बोधिसत्वका उद्देश्य निश्चित रूपसे नैतिक था। यह उद्देश्य है दुःखका अन्त करना।[१] मारके आक्रमण और प्रलोभनसे बुद्धकी सहज रक्षा उनके अलौकिक सद्‌गुणोंके कारण ही हुई। उन्होंने मारके इस अन्तिम और सूक्ष्मतम प्रलोभन पर भी विजय पा ली कि वे एकाकी बुद्ध रहकर स्वयं ही बुद्धत्वके फलका आस्वादन करें। इसके विपरीत, जीवनके चरम लक्ष्यकी प्राप्तिके मार्गका उपदेश देनेके लिए बुद्ध निकल पड़े और पैंतालीस वर्ष तक यह कार्य करते रहे। बुद्ध वास्तवमें नीतिधर्मसे परे शुभ और अशुभसे निर्लिप्त हैं, क्योंकि इन दोनोंमें 'स्व' और 'पर' की धारणा निहित है। वास्तवमें वे सभी वर्गोंसे परे हैं। ऐसा कोई भी व्यक्ति हो सकता है, जो अज्ञानको दूर करके भवचक्रके नियमसे अपनेको मुक्त कर लेता है और अमरत्व प्राप्त कर लेता है। इसी अवस्थाकी प्राप्ति तक मनुष्यके लिए विधि-निषेधका बन्धन रहता है।[२]

बुद्धकी शिक्षाके अनुसार जीवनके चरम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए सदाचरण आवश्यक है, किन्तु केवल यह ही पर्याप्त नहीं है। अनैतिक आचरण मनुष्यके लिए संकटपूर्ण होते हैं। अच्छाई और बुराई दोनों ही मनुष्यको बन्धनमें डालती हैं, और निर्वाण इन दोनोंसे परे है।[३]

शुद्धता प्राप्त करनेके लिए मनुष्यको संकल्पात्मक प्रयास द्वारा 'मैं' और 'मेरा' की धारणा निर्मूल कर देनी चाहिए, नाम और रूपसे ऊपर उठ जाना

---

१. बोधिसत्वकी नैतिक परिपूर्णताकी व्याख्या करते हुए बुद्ध कहते हैं: "वह स्वयं दस सम्यक् आचारोंके कर्तव्यके अन्तर्गत जीवन यापन करता है और दूसरे लोगोंको भी इसीकी प्रेरणा देता है।"

"बोधिसत्वका संकल्प है: मैं समस्त पीड़ाओंका भार स्वयं अपने पर लेता हूं। कुछ भी हो, मुझे सभी जीवों परका भार वहन करना है। मैंने सभी जीवोंके परित्राणका व्रत लिया है। . . . जन्म, वृद्धावस्था, व्याधि, मृत्यु और पुनर्जन्मके त्राससे संसारके सभी जीवधारियोंका मुझे त्राण करना है।" —एडवर्ड कोंज़ तथा अन्य, ऊपर उद्धृत, पृ० १३५, १३१–३२ (पंचविंसति-सहस्रिका, १९४–९५, शिक्षासमुच्चय, २८०–८१)

२. आनन्द के० कुमारस्वामी तथा आई० बी० हॉर्नर: दि लिविंग थॉट्स ऑफ गौतम, दि बुद्ध, पृ० १५।

३. "शुद्धता सद्‌गुणसे नहीं प्राप्त की जा सकती है और न उसके बिना ही (सुत्तनिपात, ८३९); शुद्धता केवल दोषसे मुक्ति ही नहीं वरन् गुणसे भी मुक्ति है।" —वही, पृ० ३६।

चाहिए और भवचक्रको स्पष्टतासे देखना चाहिए और 'अमरत्व' में 'सद्यः प्रविष्ट' हो जाना चाहिए।[1]

वौद्धमतके चार प्रमुख सत्य (चतुर्सत्यानि) हैं—दुःख अथवा व्याधि, उसका कारण, उसका निरोध और कारणके निरोधका मार्ग। दुःखकी समस्या, जिससे मुख्य रूपसे वुद्धका सम्वन्ध है, "समस्त उत्पन्न होनेवाली, संयुक्त (समग्रतापूर्ण) और परिवर्तनशील वस्तुओंके विनाश, दुःख, व्याधि, जरा और मृत्युके वन्धनकी समस्या है।"[2] इस वन्धनका एक कारण है अज्ञान, जो प्राथमिक वुराई है, समस्त दुःख और बन्धनका अन्तिम कारण है।[3] आत्म-संयमकी नैतिक नियमावली आर्य अष्टांगिक मार्गको "वौद्धमतका सार" कहा गया है।[4] यह मार्ग उन लोगोंके लिए है जिनकी आवश्यकताएं कम हैं, उनके लिए नहीं जिनकी आवश्यकताएं अधिक हैं; क्योंकि "वुद्धने इन्द्रिय-सुखोंकी तुलना सूखी हड्डीसे की है, जो महान दुःख और महान पीड़ा पहुंचानेवाली है और जिसमें आगे संकट हैं।"[5] वास्तवमें, वौद्धमत उन 'भिक्खुओं' के हेतु आत्म-संयमका उपदेश है, जो "संसारमें जीवनकी अन्धकारमय अवस्था" का परित्याग कर देते हैं। यह मार्ग आत्म-दमन और इन्द्रिय-सुख दोनोंकी ही चरम स्थितियोंका परित्याग करता है और

---

१. "ये साधन, जिनका वास्तवमें प्रयोग होता है, स्वयं निर्वाणके साधन नहीं हैं, वरन् निर्वाणकी दृष्टिमें पड़नेवाली सभी वाधाओंको दूर करनेके साधन हैं।"—कुमारस्वामी तथा हॉर्नर, ऊपर उद्धृत, पृ० १७

२. कुमारस्वामी तथा हॉर्नर, ऊपर उद्धृत, पृ० १३, "निश्चित रूपसे पूर्वकी भांति मैं अव भी यही शिक्षा देता हूं: दुःख और दुःखका निरोध।" कोंज़ तथा अन्य, ऊपर उद्धृत, पृ० ११ (मज्झिम-निकाय, प्रथम–१४०)।

३. "हे भिक्षुओ, दुःख, उसकी उत्पत्ति, उसका अन्त, उसका अन्त करनेके मार्गके सम्वन्धमें जो कुछ भी न जानना है—यह अज्ञान कहलाता है।"—कुमारस्वामी तथा हॉर्नर, ऊपर उद्धृत, पृ० १४६, (संयुक्त-निकाय, द्वितीय–४)

"जव अज्ञानसे मुक्ति मिल जाती है और ज्ञानका उदय हो जाता है तव मनुष्य इन्द्रिय-सुखों, कल्याणात्मक विचारों, कर्मकाण्ड और रीतियों तथा आत्म-विपयक सिद्धान्तके मोहमें नहीं भागता।"—कोंज़ तथा अन्य, ऊपर उद्धृत, पृ० ७६, (मज्झिम-निकाय, प्रथम–६७)।

४. आर्य अष्टांगिक मार्गके अंग हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि।

५. कुमारस्वामी तथा हॉर्नर, ऊपर उद्धृत, पृ० १२२।

आवश्यक रूपसे अहिंसामय है। अहिंसाका बौद्ध भिक्खुओंके दस 'शिक्षापदों' में और सामान्य जनोंके 'पंचशीलों' में प्रथम स्थान है। ये पंचशील प्रथम पांच शिक्षापदोंके ही अनुरूप हैं।

बुद्धने अहिंसाकी शिक्षा विधायक दृष्टिसे प्रेम करने तथा निषेधात्मक दृष्टिसे अपने और दूसरेके प्रति आघातसे बचनेके रूपमें दी है। वे जीवघात, न दी हुई वस्तुके ग्रहण, असत्य भाषण, विद्वेषपूर्ण वचन, लोभ, रोषपूर्ण दोषारोपण, उग्र क्रोध और अहंके त्याग पर बल देते हैं।[1] गृहस्थोंको भी जीवित प्राणियोंके प्रति हिंसा तथा युद्धसे बचना चाहिए। युद्ध, संघर्ष और हिंसासे कोई समस्या नहीं सुलझती। इनसे भय और इसी प्रकारके प्रतिरोधक उपायोंकी उत्पत्ति होती है। बुद्धने कल्यों और शाक्योंके बीच युद्धको रोक दिया था। बुद्धके अनुसार: "विजय घृणाको जन्म देती है, क्योंकि विजित दुःखी रहता है।"[2]

मन, वचन और शरीरके कर्मोंके विषयमें उनकी शिक्षा है: "राहुल, यदि तुम समझते हो कि इससे अपनी, अन्यकी अथवा दोनोंकी हानि है और यह अनुचित है, तो ऐसा कार्य, जहां तक तुम्हारी शक्तिमें हो, तुम्हारे द्वारा नहीं होना चाहिए।[3]

कटु वचनके सम्बन्धमें रुरु-मृग-जातकका एक अंश, कुमारस्वामीके अनुसार, सम्पूर्ण साहित्यमें अपनी चरम कोमलता और विनम्रतामें सम्भवतः अद्वितीय है:

"बोधिसत्व पूछते हैं, कौन ऐसा होगा जो पापपूर्ण कृत्य करनेवालोंके प्रति जान-बूझकर कटु वाणीका प्रयोग करेगा, जैसे कि वह उनके दोषके घाव पर नमक छिड़क रहा हो?"[3]

अहिंसाकी अभिव्यक्ति विधायक रूपसे प्रेम, करुणा, कोमलता और निष्पक्षतामें होनी चाहिए। बुद्ध जिस प्रेमकी शिक्षा देते हैं वह समस्त जीवोंके प्रति सचेतन रूपसे अपनाया हुआ कल्याण-भावनायुक्त प्रेम है। वे चाहते हैं कि भिक्षु समस्त प्राणियों, समस्त श्वासधारियों, समस्त जीवों और सभी पदार्थोंके प्रेमपूर्ण हृदयसे आप्लावित हो। यह प्रेम विषयेच्छा, कामना अथवा प्रतिदानकी आशाके प्रेरक हेतुसे मुक्त है। बुद्धके अनुसार चाहे किसीके शरीरके टुकड़े टुकड़े कर दिये जायं, पर उसे सभी जीवोंके प्रति सद्भावका ही प्रदर्शन करना चाहिए, शरीरके टुकड़े टुकड़े कर देनेवालोंकी मुक्तिके लिए भी धैर्यवान रहना चाहिए और मनमें भी उनको आघात नहीं पहुंचाना चाहिए।

---

१. कुमारस्वामी तथा हॉर्नर, पृ० १२२।

२. आनन्द कुमारस्वामी: बुद्ध एण्ड दि गॉस्पेल ऑफ बुद्धिज्म, पृ० १७८।

३. कुमारस्वामी, ऊपर उद्धृत, पृ० १११।

निष्पक्षता मनुष्यको मिलनेवाले सुख और दुःखके प्रति धैर्य अथवा निरपेक्षिताकी आत्म-मूलक अवस्था है। दानशीलता, दयापूर्ण भाषण, परोपकार और सबके साथ समान व्यवहार ही मुदिता अथवा सहानुभूतिका आधार है।[१]

करुणा उस अन्तर्दृष्टिका फल है जिसके द्वारा मनुष्यको सब जीव ऐसे दिखाई देते हैं, जैसे उन्हें कोई वधके लिए ले जा रहा हो।[२]

'मेत्त-सुत्त' बुद्धकी अहिंसाके आदर्शको स्पष्ट करता है:

"जिस प्रकार माता स्वयं अपने जीवनको भी संकटमें डालकर अपने पुत्रकी, अपने एकमात्र पुत्रकी रक्षा करती है, उसी प्रकार जीवोंमें असीम सद्भावना होनी चाहिए। संसारमें ऊपर, नीचे, चतुर्दिक विरोधी हितकी भावनाके मिश्रणसे मुक्त निस्संकोच रूपसे असीम सद्‌भावनाका प्रसार होना चाहिए। यदि कोई मनुष्य अपनी सम्पूर्ण जागृत अवस्थामें—चाहे खड़ा हो, चल रहा हो, बैठा हो अथवा लेटा हो—इसी मानसिक अवस्थामें दृढ़तासे स्थित रहता है, तो यह कहावत चरितार्थ होती है कि 'इस संसारमें भी पवित्रता प्राप्त हुई है।'"[३]

बुद्धका मार्ग प्राथमिक रूपसे सामाजिक बन्धनोंसे असम्बद्ध है और सामाजिक कार्योंसे निर्लिप्त भिक्षुसंघके लिए ही है। उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाजसे नहीं। कुमारस्वामीके शब्दोंमें "उनको जनतन्त्रवादी अथवा समाज-सुधारककी उपाधि देना नितान्त अनुपयुक्त है। संसारमें व्यवस्थाकी स्थापना करना अथवा सामाजिक अन्यायका निराकरण करना उनका प्रयोजन नहीं था।" इसीलिए बौद्धमतने समाज-व्यवस्थाके आदर्शका कभी निर्माण नहीं किया। बुद्धके सामने प्रायः निर्णयार्थ प्रसंग लाये जाते थे और वे गृहस्थोंके लिए उपयुक्त नैतिकताकी चर्चा करते रहते थे। किन्तु इस सन्दर्भमें भी उन्होंने अपनेको अधिकांशमें माता-पिता और सन्तान, पति और पत्नी, स्वामी और सेवक तथा मित्रोंके पारस्परिक कर्तव्यों तथा 'भिक्खुओं' और ब्राह्मणोंके प्रति सेवाके कर्तव्य तक ही सीमित रखा। इसका कारण यह है कि अच्छे शासनसे 'निब्बान' (निर्वाण) नहीं प्राप्त हो सकता और निर्वाण ही उनके उपदेशका एकमात्र ध्येय है। बौद्धमतका शासनसे तनिक भी सम्बन्ध नहीं और न उसका उसमें विश्वास ही है। बौद्धमतके लिए

---

१. कुमारस्वामी तथा हॉर्नर, ऊपर उद्धृत, पृ० ३२, ११६, १३६; कोंज तथा अन्य, ऊपर उद्धृत, पृ० १८० तथा १३६।

२. कोंज़ तथा अन्य, ऊपर उद्धृत, पृ० १२७

३. आनन्द कुमारस्वामी, ऊपर उद्धृत, पृ० १०२।

राजनीतिक वुद्धिमत्ता 'असत्यताका मलिन मार्ग' है।[1] अतः वुद्धकी अहिंसाकी शिक्षा, अधिकांशमें वैयक्तिक सम्वन्धों तक ही सीमित है। इस पर भी, सभी प्रकारकी हिंसासे दूर रहनेका, घृणाके वदले प्रेम करनेका और समस्त जीवोंके प्रति करुणाका, उनका सिद्धान्त निस्सन्देह मानवताके *महानतम अग्रगामी चरणोंमें से एक है।*

अशोक

अहिंसाके इतिहासमें अशोकका विशेष स्थान है। इतिहासमें इतने विस्तृत साम्राज्यका शासन अहिंसक नीतिसे करनेके प्रयत्नका श्रेय केवल उन्हींको प्राप्त है। कलिंगके युद्धके जन-संहार और निर्दयतासे दुःखी होकर उन्होंने फिर युद्ध न करनेका सफल संकल्प किया, आखेट और मांस-भोजन छोड़ दिया और संसारके सामने सार्वभौम शान्ति और सव जीवोंके भ्रातृत्वका आदर्श रखा। अंग्रेज विचारक एच० जी० वेल्सके शब्दोंमें, "वे ही एकमात्र ऐसे योद्धा सम्राट हैं, जिन्होंने विजयके वाद युद्धको त्याग दिया।"

अपराजित सीमा-निवासियोंको अशोकका यह सन्देश था : "राजा चाहता है कि उसके अपराजित सीमा-निवासी उससे डरें नहीं, वल्कि उसमें विश्वास रखें। और उनको उससे दुःख नहीं, सुख मिलेगा।" उन्होंने घोषित किया कि "मुख्यतम विजय है धर्मकी विजय, न कि शक्तिकी।" उनकी अहिंसक विदेशी नीतिके आधारभूत सिद्धान्त थे छोटे-वड़े सव देशोंकी स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व और इस नीतिका विधायक पक्ष था 'प्रीति' द्वारा धर्म-विजय, जिसकी अभिव्यक्ति समाज-सेवा और नैतिक प्रचारमें होती थी।

साम्राज्यके अन्दर उनकी सरकार सदा समाज-सेवाके कार्यमें लगी रहती थी। सरकारने जनताको उन प्रमुख नैतिक सिद्धान्तोंकी शिक्षा देनेका प्रवन्ध किया था, जो प्रत्येक धर्मको मान्य हैं। अशोक इस कारण सार्वभौम धर्मके प्रथम शिक्षक माने जाते हैं। अशोकने अपने नैतिकता और शासन-सम्वन्धी सिद्धान्त शिलाओं और लाटों पर खुदवा दिये थे। इनमें से पहला, दूसरा और चौथा शिलालेख अहिंसाके सम्वन्धमें हैं।

लेकिन अशोकने सेनाको रखा था और जनतासे नैतिक सिद्धान्तोंका पालन वल-प्रयोग और दण्डके सामान्य साधनों द्वारा करवाया जाता था।

वादके धार्मिक सम्प्रदाय, धर्म-शिक्षक और विशेष रूपसे भक्तिमार्गका उपदेश देनेवाले सन्त[2] सत्य, करुणा, दानशीलता, नम्रता, सहिष्णुता तथा अन्य

---

१. कुमारस्वामी, ऊपर उद्धृत, पृ० ११७, ११९, १७६।

२. वहुतसे पाठक शायद इस वातसे परिचित होंगे कि गांधीजीका प्रिय भजन 'वैष्णवजन तो तेने कहीए' भक्तिमार्गके प्रसिद्ध सन्तकवि नरसिंह मेहता (१५वी सदी) का है।

अहिंसक सद्‌गुणोंकी शिक्षा देते रहे। इसलिए अहिंसाकी परम्परा शताब्दियों तक चलती रही। लेकिन अहिंसाके विकासमें अशोकके उपरान्त कोई विशेष देन नहीं है। दूसरी ओर भक्तिमार्गके सन्त शिक्षक सांसारिक जीवन और आत्म-साक्षात्कारमें भेद करते थे और इस विश्वासने जड़ पकड़ ली थी कि धर्मेतर कार्योंमें अहिंसाका प्रयोग नहीं हो सकता।

अहिंसाके प्रयोग

भारतके निवासी प्राचीन कालसे ही बुराईका प्रतिरोध करनेकी अहिंसक पद्धतियोंसे भी परिचित रहे हैं। धरना, वहिष्कार, प्रायोपवेशन (आमरण उपवास), आज्ञाभंग और देशत्यागके सत्याग्रही शस्त्रोंका व्यक्तियों और कभी-कभी छोटे-छोटे जनसमूहों द्वारा प्रयोग भारतीय राजनीतिमें गांधीजीके प्रवेशसे पूर्व हुआ था। विशप हैवरने गांधीजीके समयसे बहुत पहले बनारसके तीन लाख निवासियोंके ब्रिटिश सरकारके विरुद्ध असहयोगका वर्णन किया है।[१] इसी तरह सन् १८३० में मैसूरकी सम्पूर्ण जनताने शासकके अत्याचारके विरुद्ध असहयोग किया था।[२] अपनी आत्मकथामें गांधीजीने अपने पिताके सफल अहिंसक प्रतिरोधका वर्णन किया है। वे राजकोटके दीवान थे। असिस्टेन्ट पोलिटिकल एजेंटने राजकोटके शासनके बारेमें अपमानजनक बातें कहीं। उनके पिताने इसका विरोध किया। इस पर एजेंट नाराज हो गया और उनके क्षमा-प्रार्थना करनेसे इनकार करने पर उसने उनको कैद करवा लिया। उनको कुछ घण्टे हिरासतमें रहना पड़ा। लेकिन शहरमें उत्तेजना फैल गई और एजेंटको उन्हें छोड़ देना पड़ा।[३]

इस्लाम

अहिंसा किसी एक जाति, देश या धर्मकी विशेषता नहीं है। प्रेमकी अभिव्यक्ति होनेके कारण वह सार्वभौम सद्‌गुण है। यह बतलानेके पहले कि दूसरे देशों और धर्मोंमें अहिंसाके विकासकी रूपरेखा क्या थी, इस्लाममें अहिंसाके स्थानका संक्षिप्त उल्लेख करना ठीक होगा।

दुर्भाग्यसे सामान्य मनुष्योंकी यह धारणा हो गई है कि इस्लाम हिंसा और बल-प्रयोगसे सम्बद्ध है। लेकिन मुहम्मद साहबका उपदेश आवश्यक रूपसे दया, शान्ति और प्रेमका है। केवल मनुष्यों ही के प्रति नहीं, वरन् सब जीवधारियोंके प्रति कुरान अहिंसाको हिंसा पर तरजीह देता है। 'इस्लाम'

---

१. डोक : एम० के० गांधी, पृ० ८७।

२. वार्ट दि लाइट : कान्क्वेस्ट ऑफ वायोलेन्स, अध्याय ७।

३. आत्मकथा, भाग–१, अध्याय १, पृ० १।

शब्दका ही अर्थ है 'शान्ति', 'सुरक्षा', 'मुक्ति'। मुसलमानोंके सामान्य अभिवादन-शब्द 'अस्सलामालेकुम' का अर्थ है 'आपको शान्ति प्राप्त हो।'

अपने व्यक्तिगत जीवनमें मुहम्मद साहब बहुत सौजन्यपूर्ण और दयालु तथा "पर्देनशीन कुमारीसे भी अधिक सलज्ज" थे। अपनेसे छोटोंके प्रति तो वे विशेष रूपसे क्षमाशील थे। अपने नौकर अनसको तो शायद ही उन्होंने कभी डांटा हो। वे बच्चोंसे प्रेम करते थे और शाप कभी नहीं देते थे।[1]

अरबमें उस समय स्त्रियों और दासोंके साथ बड़ा अन्याय होता था। मुहम्मद साहबने अपने अनुयायियोंको आज्ञा दी कि वे इनके प्रति अच्छा बर्ताव करें। उन्होंने जानवरोंके अधिकारों पर भी जोर दिया और आमोद-प्रमोदके लिए की गई जीवहिंसाको निन्द्य बताया। उनकी शिक्षा थी कि किसी भी जानदारके साथ, चाहे वह पशु हो या पक्षी, निर्दयता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सभी इस जीवनके बाद खुदाके पास वापस जायंगे।[2] उन्होंने आज्ञा दी कि निशाना मारनेवाले निशानेकी जगह जीवित चिड़ियोंका उपयोग न करें।

निस्सन्देह कुरान रक्षात्मक युद्ध और अन्यायीके विरुद्ध युद्धकी आज्ञा देता है।[2] मुहम्मद साहबने स्वयं रक्षात्मक युद्ध किये, और हारे हुए शत्रुओंको क्षमा कर दिया। इसके अतिरिक्त कुरानमें कुछ ऐसे स्थल भी हैं, जो यह प्रदर्शित करते हैं कि मुहम्मद साहब हिंसाकी अपेक्षा अहिंसाको अन्याय और बुराई पर विजय पानेका अधिक अच्छा उपाय समझते थे। उन्होंने कहा, "बुराईको उसके द्वारा हटाओ जो उससे (बुराईसे) अधिक अच्छा है।"[2]

उन्होंने बल-प्रयोग द्वारा धर्म-परिवर्तनकी आज्ञा नहीं दी। उन्होंने कहा, "धर्ममें बल-प्रयोग नहीं होना चाहिए। ठीक मार्ग गलत (मार्ग) से स्वयं ही स्पष्ट है।"[2] "लेकिन अगर खुदाकी यही मर्जी होती तो दुनियाके सब आदमियोंने एक ही मजहबको माना होता। तब क्या तू उनको इस बात पर मजबूर करेगा कि वे तेरे धर्मको मानें? कोई आदमी बिना खुदाकी मर्जीके धर्मको मान नहीं सकता।"[3] एकमात्र उपाय, जिसकी उन्होंने आज्ञा दी, था उपदेश।[3] उन्होंने धार्मिक सहिष्णुताके सिद्धान्तकी और सब जातियों, रंगों और धर्मोंके मनुष्योंके भाईचारेके आदर्शकी शिक्षा दी।[3]

---

१. पी० डी० एल० जान्सटन: मुहम्मद एण्ड हिज पावर, पृ० १४९।

२. कुरान, ६।३८; वही, २२।३९ और २।१९०–९३; वही, २८।९८; ५।१२७; १७।१२७; २३।९६; वही, २।१५६; वही, १०।९९-१००; ३।१९; ६।१०८; १६।१३८; २५।२२; १३।८; २२।४१, इत्यादि।

३. सोपर: रेलिजन्स ऑफ मैनकाइंड, पृ० २२६।

चीन

चीनमें भी अहिंसाकी परम्परा दीर्घकालीन है। सहस्रों वर्षोंसे हड़ताल एक सुपरिचित शस्त्र रहा है और ईसासे ५४६ वर्ष पूर्व भी चीनमें निःशस्त्रीकरणके प्रस्तावका इतिहास मिलता है। चीनके तीनों धर्म — कन्फ्यूशियन धर्म, ताओ धर्म और बौद्ध धर्म शांतिप्रिय हैं।

कन्फ्यूशियस (ई० पू० लगभग ५५१–४७८) ने अन्य विचारकों द्वारा की हुई युद्ध-वीरता और बलिदानकी प्रशंसा-सम्बन्धी भूलसे अपनेको मुक्त रखा। उनके मतमें साहसपूर्ण मृत्युकी अपेक्षा सामंजस्ययुक्त, संयमपूर्ण जीवन अधिक ग्राह्य है। कन्फ्यूशियसका स्वर्ण-नियम, जो सब प्रकारके मानवीय सम्बन्धोंका आधार है, पारस्परिकताका सिद्धान्त है। पारस्परिकताका अर्थ यह है कि मनुष्योंको दूसरोंके साथ वैसा वर्ताव नहीं करना चाहिए, जैसा वे चाहते हैं कि दूसरे उनके साथ न करें।[1]

कन्फ्यूशियसको व्यक्तिगत सम्बन्धोंमें हिंसा मान्य न थी। लेकिन वे सामूहिक हिंसाके विरोधी न थे। वे सेनाको शासनकी तीसरी आवश्यकता मानते थे। उन्होंने चीनके ताओ धर्मके प्रवर्तक लाओत्सेके इस सिद्धांतको भी असंगत माना कि बुराईके बदले भलाई की जाय। उनके मतसे बुराईका जवाब न्याय है।[1] इस प्रकार यद्यपि उन्होंने व्यक्तिगत सम्बन्धोंमें बदला लेनेकी प्रवृत्तिको त्याज्य बताया, लेकिन प्रेमसे बुराईको जीतनेकी शिक्षा उन्होंने नहीं दी।

कन्फ्यूशियसके समकालीन लाओत्से, जिनको "अराजकतावादी, विकासवादी और शान्तिवादी दार्शनिक" कहा गया है और जिनकी शिक्षाएं बादमें आधुनिक ताओ मतके रूपमें विकसित हुई, कन्फ्यूशियससे आगे बढ़ गये हैं। आघातके प्रति वैयक्तिक प्रतिक्रियामें वे अहिंसाके विधायक पक्ष पर अर्थात् इस सिद्धान्त पर जोर देते हैं कि बुराईको प्रेमसे जीतना चाहिए। 'ताओ' का अर्थ है 'मार्ग'। लाओत्सेके अनुसार मनुष्यका परम धर्म यह है कि 'ताओ' को, जो अहंकार और हिंसाके विपरीत अहंत्यागका शाश्वत सार्वभौम सिद्धान्त है, सीखे और उसका अनुकरण करे। अहंत्यागका अर्थ है 'स्व' की भावनाको मिटा देना और बुराईके बदले भलाई करना। इस प्रकार चीनमें पहले-पहल लाओत्सेने (हिंसक) अप्रतिरोधके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। लेकिन उनकी शिक्षा वैयक्तिक सम्बन्धों तक सीमित रही और उन्होंने यह विवेचन नहीं किया कि इस सिद्धान्तका प्रयोग सामाजिक सम्बन्धोंमें किस प्रकार हो सकता है।

---

१. सोपर: रेलिजन्स ऑफ मैनकाइंड, पृ० १९।

पिछले कुछ दिनोंमें चीनने अनेक बार इंग्लैण्ड और जापानके विरुद्ध आर्थिक बहिष्कारका प्रयोग किया है। चीन आज युद्धविरोधी देश नहीं है, लेकिन वह आक्रामक राष्ट्रीयतावादसे भी मुक्त है।

यूनान और रोम

प्राचीन यूनानमें महर्षि सुकरात सत्याग्रही थे। उन्होंने सत्यके अन्वेषणकी और अपने देशवासियोंके अन्धविश्वासोंके अहिंसक प्रतिरोधको छोड़ देनेकी अपेक्षा विषके प्यालेको स्वीकार किया।

उनके शिष्य प्लेटोका कहना था कि सृष्टि पाशविक शक्तिके ऊपर अहिंसाकी विजय है। प्लेटोके अनुसार हिंसासे विश्रृंखलताकी उत्पत्ति होती है। 'रिपब्लिक' नामकी विख्यात पुस्तकमें प्लेटोने योद्धाओंके वर्गको दार्शनिकोंके बाद रखा है।

स्टोइक दार्शनिक एपिक्टेटस और मारकस ऑरेलियसने स्पष्ट रूपसे वैयक्तिक मामलोंमें बुराईके (हिंसक) अप्रतिरोधके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। परन्तु यह सिद्धान्त युद्ध और अपराधके दण्डके सम्बन्धमें प्रयुक्त नहीं किया गया।[1]

ईसासे पूर्व पांचवीं सदीके प्राचीन रोममें अहिंसात्मक असहयोगका एक स्मरणीय दृष्टांत है। शोषित प्लेवियन वर्गने संगठित अहिंसक हिजरतके द्वारा शोषक पैट्रीयन वर्गको राजनैतिक और आर्थिक अधिकार देनेके लिए विवश किया।[2]

यहूदी मत

यहूदियोंकी धर्म-पुस्तक ओल्ड टेस्टामेन्टमें ऐसी शिक्षाओंका बाहुल्य है, जो आज अहिंसाके अन्दोलनकी विरासत हैं। पेन्टाटयूककी कुछ शिक्षाएं उल्लेखनीय हैं: "यदि तुझे अपने शत्रुका भटकता हुआ बैल या गधा मिल जाय, तो तुझे निश्चय ही उसे शत्रुके पास फिर वापस लाना चाहिए।"

"यदि तेरा शत्रु भूखा है तो उसे खानेको रोटी दे और अगर वह प्यासा है तो उसे पीनेको पानी दे।"

"यदि तेरा शत्रु असफल हो तो तू प्रसन्न न हो और यदि उसे ठोकर लगे तो तू हृदयमें हर्षित न हो।"

"घृणा झगड़ोंको उकसाती है; लेकिन प्रेम सब पापोंको ढक लेता है।"[3]

---

१. सी० एम० केस: नॉन-वायोलेन्ट कोअर्शन, पृ० ३४-४१।

२. लाइट: कान्क्वेस्ट ऑफ वायोलेन्स, पृ० १०६-०७।

३. एक्सोडस, २३-४; प्रॉवर्ब्स, २५-२१; २४-१७; १०-१२।

यहूदी मतके उत्तरकालीन धर्मग्रन्थों — मिश्ना, उसकी टीकाओं और तालमुद — ने इस परम्पराको जीवित रखा।

प्राचीन यहूदी जातिके बारेमें प्रोफेसर डब्ल्यू० ई० हॉकिंगने लिखा है : "उस (जाति) के बारेमें एक सुदृढ़ धार्मिक आस्थाके कारण यह सम्भव हो सका है कि उसके सार्वजनिक मामलोंका संचालन एक अनौपचारिक अहिंसक रीतिसे और बल-प्रयोगके बिना हुआ। और यद्यपि उसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती, उसका नैतिक समतुल्य सोचा जा सकता है।" लॉर्ड एक्टन लिखते हैं, "इज़राइल निवासियोंका शासन एक संघ था, जिसके अस्तित्वका साधन राजनैतिक सत्ता नहीं, परन्तु जाति और धर्मकी एकता थी और जो शरीर-शक्ति पर नहीं परन्तु ऐच्छिक प्रसंविदा पर आधारित थी।"[१]

यहूदियोंके धर्मग्रन्थोंमें अहिंसाका महत्त्वपूर्ण स्थान अवश्य है, फिर भी बहुत समय तक यहूदियों पर जो निर्दयतापूर्ण अत्याचार हुए हैं, उस कालमें यहूदियोंमें अहिंसात्मक प्रतिरोधके सिद्धान्तको माननेकी प्रवृत्ति दिखाई नहीं पड़ती। अपने पड़ोसी राज्योंके प्रति इज़राइलका दृष्टिकोण युद्धात्मक और अनेक अवसरों पर आक्रामक भी रहा है।

ईसाई धर्म

ईसाई धर्मकी उत्पत्ति यहूदी धर्मसे हुई और ईसाने कहा कि उनका सिद्धान्त ओल्ड टेस्टामेन्टके धर्मप्रवर्तकोंकी शिक्षा अर्थात् प्रेमका नियम ही है। ईसाने इस नियमको पारस्परिकताके स्तरसे अप्रतिशोध और सृजनात्मक प्रयोजनके स्तर पर उठाकर नैतिक दृष्टिकोणसे उसको क्रान्तिकारी और काया-पलट करनेवाला बना दिया है। उनके बार बार दुहराये हुए ये शब्द, "तुमने सुना है कि प्राचीन धर्मप्रवर्तकोंने किस प्रकार यह कहा है, . . . लेकिन मैं तुमसे कहता हूं," उनकी शिक्षाके कायापलट कर देनेवाले प्रभावको स्पष्ट करते हैं।[२]

ईसामसीह और उनकी शिक्षाएं गांधीजीके सत्याग्रही दर्शनका एक महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। गांधीजीने एक बार अपने मित्र जे० जे० डोक साहबसे कहा था कि न्यू टेस्टामेन्ट और विशेषकर 'पर्वतकी धर्मशिक्षा' ने ही वास्तवमें उनके हृदयको सत्याग्रहकी उपयुक्तता और मूल्यके प्रति जागृत किया। गीताने इस छापको गहरा कर दिया। और टॉल्स्टॉयके 'दि किंगडम ऑफ गॉड इज़ विदिन यू' ग्रन्थने इसको स्थायी रूप दिया। बादमें गांधीजीके ऊपर रस्किन,

---

१. हॉकिंग : मैन एण्ड दि स्टेट, पृ० १३; और उसी पृष्ठ पर लॉर्ड एक्टनका उद्धरण।

२. मैक्मरे : क्लू टु हिस्ट्री, पृ० ६६।

थोरो और इंग्लैण्डके निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलनका भी प्रभाव पड़ा। गांधीजी ईसाको सत्याग्रहियोंका सिरताज मानते हैं। उनका कहना है कि यदि केवल 'पर्वतकी धर्मशिक्षा' और उसके उनके अपने भाष्यको स्वीकार करनेकी ही वात होती, तो अपनेको ईसाई कहनेमें उनको जरा भी संकोच न होता।[१] गांधीजीके अनुसार 'पर्वतकी धर्मशिक्षा' "उसके लिए संपूर्ण ईसाई धर्म है, जो ईसाई जीवन विताना चाहता है"। वे 'पर्वतकी धर्मशिक्षा' और गीतामें कोई भेद नहीं देखते। "'पर्वतकी धर्मशिक्षा' जिसका वर्णन चित्रात्मक ढंगसे करती है, उसीको भगवद्‌गीता वैज्ञानिक सिद्धान्तके रूपमें उपस्थित करती है। . . . मान लीजिये, आज यदि मैं गीतासे वंचित हो जाऊं और उसके सम्पूर्ण विषयको भूल जाऊं, परन्तु मेरे पास 'पर्वतकी धर्मशिक्षा'की एक प्रति हो, तो मुझे उससे वही आनन्द मिलेगा जो मुझे गीतासे मिलता है।" उनके अनुसार "ईसाई धर्मकी विशेष देन उसका सक्रिय प्रेम है। कोई अन्य धर्म इतनी दृढ़तासे नहीं कहता कि ईश्वर प्रेम (रूप) है और न्यू टेस्टामेन्ट इस शब्दसे भरा हुआ है। किन्तु ईसाइयोंने अपने युद्धोंके द्वारा इस सिद्धान्तका निषेध किया है।"[२]

निस्सन्देह बाइबलमें वर्णित ईसासे सम्बन्धित कुछ घटनाएं और उनके कुछ कथन पूरी तरह अहिंसक नहीं लगते। इनके दृष्टांत हैं: मुद्रा-विनिमय करनेवालोंको मन्दिरसे भगानेके लिए कोड़ेका प्रयोग (जॉन, २, १५), सुअरोंका विनाश (ल्यूक, ८, २६-३४), तलवार मोल लेनेकी आज्ञा (ल्यूक, २२, ३६), वलवान सशस्त्र मनुष्यका कथानक (ल्यूक, ११, २१) और ईसाका यह कथन, "अच्छा होता यदि उसके गलेमें चक्कीका पाट डाल दिया जाता और उसे गहरे समुद्रमें डुबो दिया जाता।" (मैथ्यूज़, १८, ६)।

हो सकता है कि इन अहिंसक न लगनेवाले ईसाके कथनों और उनके जीवनकी घटनाओंमें उनके शिष्योंकी संपादन-प्रक्रियाके कारण कुछ हेरफेर हो गया हो। फिर इन थोड़ेसे संदिग्ध हिंसानुमोदक उद्धरणोंके विपरीत ऐसे दृष्टान्तोंकी अधिकता है, जिनमें उन्होंने शारीरिक शक्तिके प्रयोगकी निन्दा की और प्रेमके या अप्रतिरोधके नियमकी शिक्षा दी। इसके अतिरिक्त उनके कथनोंसे अधिक महत्ता है उन कार्योंकी, जो उन्होंने अपने जीवनमें और मृत्यु द्वारा किये। उनका जीवन मानवताके प्रेमके लिए कठोर कष्ट-सहनकी कथा है। धार्मिक सेवाके जीवनके प्रारम्भसे, जब उन्होंने सांसारिक शक्तिका त्याग कर दिया और शैतानका आधिपत्य माननेसे इनकार

१. एन्ड्र्यूज़ : महात्मा गांधीज़ आइडियाज़, पृ० ९३।

२. यं० इं०, ३१-१२-'३१, पृ० ४२९; २२-१२-'२७, पृ० ४२५; तथा वार, ऊपर उद्धृत, पृ० ११९।

कर दिया, अपने साथ विश्वासघात होने, मुकदमा चलाने और सूली पर जीवनका गौरवपूर्ण अन्त होने तक उन्होंने बुराईको जीतनेके ईसाई मार्गका — प्रेम और अप्रतिरोधकी शक्तिका — प्रदर्शन किया।

ईसाकी सम्पूर्ण शिक्षाका स्रोत है: उनकी भगवानके सार्वभौम प्रेमपूर्ण पितृत्व और मानवके भ्रातृत्वकी धारणा। ईसा ओल्ड टेस्टामेन्टके दो आदेशोंको उद्धृत करते हैं, "तुझे अपने ईश्वरसे प्रेम करना होगा" और "तुझे अपने पड़ोसीसे अपने समान प्रेम करना होगा।" ईसा कहते हैं कि दोनों आदेश एक-दूसरेके समान हैं और धर्मप्रवर्तकोंका और समस्त धर्मविधियोंका आधार हैं।[1] इन आदेशोंको ईसाकी बहुमूल्य देन उनके इन शब्दोंसे प्रकट होती है: "तुमने सुना है कि यह कहा गया है: तुझे अपने पड़ोसीसे प्रेम करना होगा और अपने शत्रुसे घृणा।"

"लेकिन मैं तुमसे कहता हूं कि अपने शत्रुओंसे प्रेम करो; जो तुम्हें शाप दें उनको तुम आशीर्वाद दो; जो तुमसे घृणा करें उनके साथ भलाई करो और जो तुम पर अत्याचार करें और तुम्हारा दुर्भावनापूर्वक दुरुपयोग करें उनके लिए प्रार्थना करो;

"जिससे तुम स्वर्गमें अपने पिताके शिशु बन सको; क्योंकि वह अपना सूर्य अच्छे और बुरे दोनों पर प्रकाशित करता है और न्यायी और अन्यायी दोनों पर वर्षा करवाता है।"[1]

इस प्रकार ईसाने प्रेमको स्वाभाविक प्रवृत्तिके तलसे बोधपूर्ण प्रयोजनके तल पर उठा दिया है।

प्रेममें किसी प्रकारके बल-प्रयोगका स्थान नहीं। और कहते हैं कि ईसाने "जब उनके प्रति दुर्वचनोंका प्रयोग हुआ, उलटकर दुर्वचन नहीं कहे और जब उन्हें कष्ट-सहन करना पड़ा, किसीको धमकाया नहीं।"[1], शरीर-शक्तिका उपयोग न करनेका निर्णय उनकी गिरफ्तारीके अवसर पर प्रकट होता है। जब उनकी रक्षाके लिए उनके शिष्य पीटरने अपनी तलवार निकालकर उच्च पुजारीके नौकरका दाहिना कान काट दिया, तो उसकी भर्त्सना करते हुए ईसाने कहा, "अपनी तलवार म्यानमें फिर रख लो; क्योंकि वे सब जो तलवार उठाते हैं तलवारसे विनष्ट होते हैं।"[1]

और 'पर्वतकी धर्मशिक्षा' में हम पढ़ते हैं:

"तुमने सुना है, यह कहा गया है कि आंखका बदला आंख और दांतका दांत।

"लेकिन मैं तुमसे कहता हूं कि तुम बुराईका प्रतिरोध न करो, बल्कि जो कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे, उसकी ओर बायां भी कर दो।

---

१. मैथ्यूज, २२, ३७-४०; वही, ५, ४३-४५; वही, २६, ५२।

"और अगर कोई तुम्हारे ऊपर मुकदमा चलाकर तुम्हारा कोट भी छीन ले, तो उसको अपना लबादा भी ले लेने दो।

"और जो कोई तुमको एक मील चलने पर मजबूर करे, उसके साथ दो मील जाओ।"[१]

अहिंसात्मक प्रतिरोधका सर्वश्रेष्ठ दृष्टांत, उसका आदर्श, हमको मिलता है सूली पर चढ़े हुए ईसाके द्वारा अपने सतानेवालोंके लिए भगवानसे की गई क्षमा-याचनाकी इस प्रार्थनामें: "पिता, उन्हें क्षमा कर, क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या करते हैं।"[२]

यह समझना नितांत भ्रमपूर्ण है कि ईसाका प्रयास आन्तरिक नैतिकताकी उपलब्धि पर केन्द्रित था और उन्होंने सांसारिक बातोंको राज्य-शासनके निर्धारणके लिए छोड़ दिया था। उन्होंने न तो समस्त राजनीतिका निराकरण किया और न सामुदायिकके विपरीत केवल वैयक्तिक मामलोंमें अहिंसक प्रतिरोधकी शिक्षा दी। ईसाने कहा, "मैं हूं मार्ग, सत्य और जीवन" और सत्य-मार्गका प्रभाव आवश्यक रूपसे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें प्रकट होगा — वह क्षेत्र सामाजिक हो या वैयक्तिक, नैतिक हो या आध्यात्मिक। बपतिस्मे, प्रलोभन, जेरुसलेममें घुसने तथा कयाफस और पाइलटके सामने मुकदमेके कथानक इस बातको स्पष्ट करते हैं कि ईसा अपनेको मसीहा मानते थे। वास्तवमें उनके विरुद्ध यही आरोप था और उन्होंने इसको पाइलटके सामने मान लिया था।

परम्परागत यहूदी धारणाके अनुसार मसीहा जातीय नेता और शासक होगा, जो रोमके आधिपत्यको हटाकर यहूदी स्वतन्त्रताका पुनर्संस्थापन करेगा। निस्संदेह ईसाने इस जातीयतावादी धारणाको प्रतिफलित करनेका प्रयत्न किया, लेकिन उन्होंने कहा कि उनका राज्य इस संसारका न था। उन्होंने नितान्त दूसरे प्रकारके राज्य, क्रान्तिकारी सिद्धान्तकी शिक्षा दी। उनकी योजना यह थी कि यहूदी हिंसाके विचारोंको छोड़ दें, उनकी स्वर्गीय राज्यकी प्रेम और अहिंसाकी पद्धतिसे शत्रुओंको मित्र बना लें और इस प्रकार उनके आदर्श राज्यकी स्थापनामें सहायक हों। प्रतीत होता है कि उनकी पद्धतिमें यह सम्मिलित था कि रोमन साम्राज्यके साथ वहां तक सहयोग किया जाय जहां तक कि उससे लोक-कल्याण हो। इसीलिए उन्होंने साइमनको अपना और उसका कर अदा करनेकी आज्ञा दी थी। यही अर्थ उनके इस कथनमें भी सन्निहित मालूम होता है: "शासक-संबंधी कर्तव्योंको शासकके प्रति पालन करो और ईश्वर-संबंधी कर्तव्योंको ईश्वरके प्रति।" प्रकट है कि ईश्वरके प्रति अपने

---

१. मैथ्यूज़, ५, ३८–४२

२. ल्यूक, २३, ३४।

कर्तव्योंको भुलाकर, औचित्यका विचार न करके, सरकारकी प्रत्येक आज्ञाका पालन ईसाके उपर्युक्त शब्दोंका अर्थ नहीं है। ईसाने स्वयं राज्य और परंपराके अत्याचारका प्रतिरोध किया। उनका कहना था कि परम्परा मनुष्यके लिए बनी है, न कि मनुष्य परम्पराके लिए। यहूदियोंने उनके अहिंसात्मक मार्ग पर चलनेसे इनकार कर दिया। इस पर ईसाने अपनी निराशा बहुत हृदय-स्पर्शी शब्दोंमें व्यक्त की।[1]

जैसा कि एच० जी० वेल्सने लिखा है, ईसाके प्रति किये गये विरोधसे और उनके मुकदमे और उनकी सजाकी परिस्थितिसे यह स्पष्ट है कि उनके समकालीन मनुष्योंके लिए उनके सिद्धान्तका अर्थ था मानव-जीवनके सब क्षेत्रोंमें आमूल परिवर्तन।[2] इस प्रकार ईसाका जीवन-कार्य था एक सार्वभौम सिद्धान्तका प्रचार और यही उनकी मृत्युका कारण भी था। इस बातसे इनकार करना कि उनका मार्ग व्यक्तिगत और सामूहिक रूपसे सबके लिए है, उनके सिद्धान्तके मौलिक सत्यसे मुँह मोड़ना है।

ईसाके बाद

यद्यपि ईसा और उनके शिष्योंने युद्धके बारेमें कुछ नहीं कहा, लेकिन यह स्पष्ट है कि तलवार सलीब (क्रॉस) से मेल नहीं खाती। प्राचीन कालके ईसाइयोंने हिंसाको त्याज्य बताया और रोमन फौजमें भर्ती होनेसे इनकार करनेके कारण कठोर दण्डोंका स्वागत किया। लेकिन थोड़े दिन बाद चर्चने सैनिक सेवाके सिद्धान्तको मान लिया। चौथी सदीके प्रारंभमें रोमन सम्राट् कांस्टेंटाइनने ईसाई धर्मको दीर्घकालीन अत्याचारोंसे मुक्त करके राजधर्म बना दिया। सन् ३१४ ई० में कृतज्ञतावश चर्चने यह नियम बना दिया कि साम्राज्यकी सेनाओंको छोड़कर भाग जानेवालोंका धार्मिक बहिष्कार किया जाय और तबसे साधारणतः ईसाई पादरी फौजोंके साथ रहने लगे। यह परम्परा आज भी जीवित है और इससे प्रकट होता है कि ईसाई देशोंमें पादरियोंसे आशा की जाती है कि वे सेनाको आशीर्वाद देकर, नैतिक दृष्टिकोणसे, भर्ती करनेवाले अफसरोंके रूपमें काम करें। यह अर्थपूर्ण है कि चर्चका यह नैतिक पतन उसकी राजनैतिक स्थिति प्राप्त करने पर ही हुआ।

मध्यकालीन यूरोपमें ईसाई चर्चने धर्मयुद्धोंको महत्ता दी। लेकिन बहुत-से मध्यकालीन ईसाई सम्प्रदायोंने युद्ध और हिंसासे समझौता करनेसे इनकार किया और उनका उग्र विरोध किया। इन सम्प्रदायोंमें मुख्य थे अल्बिजेन्स, वाडोइ, लोलार्ड, पालीशियन, मेनोनाइट इत्यादि।

---

१. दृष्टान्तके लिए देखिये ल्यूक, १३, ३४ और २३, २८–३०।

२. एन आउटलाइन हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड, पृ० ५३१-३२।

सोलहवीं शताब्दीके आरंभमें इरेस्मसने हिंसाकी धारणाकी निन्दा की और उसके स्थान पर समझाने-बुझानेकी पद्धति पर जोर दिया।

सोलहवीं शताब्दीके एक फ्रांसीसी लेखक एतीं देलावोतीके एक लेख 'ऑफ वालंटरी सर्विटयूड' का थोरो, टॉल्स्टॉय और अन्य विचारकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसका मत है कि शासकोंकी सत्ता जनताके आज्ञा-पालन पर आधारित है और इसका स्वरूप शारीरिककी अपेक्षा नैतिक अधिक है। "उसका आधार हिंसा पर उतना नहीं होता जितना आदर अर्थात् शासकोंके शासन करनेके अधिकारमें लोगोंके विश्वास पर होता है।"[१]

इस समय यूरोपमें बहुतसे अनावैप्टिस्ट ईसाई सम्प्रदाय किसी भी परिस्थितिमें प्रयुक्त हिंसाका विरोध कर रहे थे। इनमें से कुछ सम्प्रदाय मुकदमोंसे और राजनैतिक कार्योंसे अलग रहते थे। उनके मतसे तत्त्वतः राज्यका आधार हिंसा है और इसलिए राज्यसे संबंध रखनेवाले कार्योंमें भाग नहीं लेना चाहिए। इन सम्प्रदायोंने अपने हिंसा-विरोधी विचारोंके कारण बहुत मुसीबतें झेलीं। उनमें से कुछ तो समाप्त हो गये और कुछ अमेरिकामें जाकर बस गये।

क्वेकर्स

सन् १६६० में जॉर्ज फॉक्सने क्वेकर्सकी विख्यात सोसाइटी ऑफ फ्रेन्ड्स (मित्र-समाज)की नींव डाली। फॉक्स, विलियम पेन और बार्क्ले युद्ध-विरोधी क्वेकर-सिद्धान्तोंके प्रतिपादक थे। क्वेकरोंके लिए युद्ध-विरोध और (हिंसक) अप्रतिरोधका आधार यह मान्यता है कि प्रत्येक मनुष्यका पथ-प्रदर्शन आंतरिक प्रकाशके द्वारा होता है। इस अन्तर्ज्योतिकी स्थिति बाइबलसे भी ऊंची है और मनुष्योंमें उसके अस्तित्वके कारण किसीको भी उन्हें मजबूर करनेका अधिकार नहीं।[२] किंतु अधिकांश अनावैप्टिस्ट सम्प्रदायोंके विपरीत क्वेकर राजनीतिमें भाग लेनेके विरुद्ध नहीं हैं। दूसरी ओर अशोककी तरह उनकी प्रवृत्ति विधायक है। उनका कहना है कि ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे राजनीति आध्यात्मिकताके रंगमें रंग जाय, उसकी हिंसा दूर हो जाय और राज्यका संचालन अहिंसा-मार्गसे हो। युद्धके संबंधमें भी क्वेकर्सकी देन केवल निषेधात्मक ही नहीं है। वे केवल सेना-संबंधी कार्योंमें सहायता देनेसे इनकार ही नहीं करते, बल्कि विधायक रूपसे यह भी प्रयत्न करते हैं कि शान्ति बनी रहे और झगड़ोंका फैसला पंचायतों द्वारा हो।[३]

---

१. लाइटकी ऊपर उद्धृत पुस्तक, पृ० १०५।

२. बील्स : हिस्ट्री ऑफ पीस, पृ० ३१।

३. केसकी ऊपर उद्धृत पुस्तक, पृ० ९२-९३, ९७।

एक अहिंसक राज्य

क्वेकर राज्य, पेनसिलवेनिया, की स्थापना पेन और रेड इंडियन्सकी सन् १६८२ की संधिके आधार पर हुई थी। पेनने रेड इंडियन्ससे कहा था, "दोनोंमें से कोई भी दूसरेसे अनुचित लाभ उठानेका प्रयत्न न करेगा। सब बातें प्रकट और प्रेमकी होंगी। हम लोग ऐसे ही हैं जैसे कि एक शरीरके दो हिस्से। हम सब एक मांस और एक खून हैं।"[1] यह भी तय हो गया था कि रेड इंडियन्स और उपनिवेशवासियोंके झगड़ोंका फैसला एक पंचायती न्यायालय करेगा। क्वेकर राज्य ७० वर्ष तक चलता रहा। उसकी असफलताका कारण एक तो उपनिवेशमें बहुतसे अन्य गोरोंका आ बसना था, जिनके कारण क्वेकर्सका बहुमत न रह गया। दूसरे, पड़ोसके फ्रांसीसी उपनिवेशसे झगड़ा हो जानेके कारण पेनसिलवेनियाके गवर्नरको क्वेकर सिद्धान्तोंके विपरीत सैनिक कार्रवाई करनी पड़ी। परन्तु पेनसिलवेनिया तथा अन्य उपनिवेशोंके क्वेकर्स रेड इंडियन्सके हिंसक आक्रमणोंसे बचे रहे। सेनाकी सहायताके बिना क्वेकर्सका राज्य-संचालनका यह अपूर्व प्रयोग और ७० साल तक उसकी सफलता शान्ति और अहिंसाके लिए प्रयास करनेवालोंके प्रोत्साहनका महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

दूखोबोर्स

दूखोबोर्स एक शान्तिप्रिय, अहिंसावादी रूसी सम्प्रदायके सदस्य हैं। वे संन्यासियोंके आचार-नियमोंका पालन करते हैं, शाकाहारी हैं, सब तरहकी हिंसाके विरोधी हैं और किसी भी सत्ताका, जो दैवी नहीं है, आधिपत्य अस्वीकार करते हैं। मॉडके शब्दोंमें दूखोबोर वस्तुतः अराजकतावादी हैं।[2] अपने अस्तित्वके दो सौ वर्षोंमें उन्होंने अपने शान्तिप्रिय विश्वासोंके कारण बहुत कष्ट सहा है। पिछली सदीकी अन्तिम दशाब्दीमें सैनिक सेवासे इनकार करनेके कारण उन पर कठोर अत्याचार हुए। उनमें से बहुतसे लोग सन् १८९९ में कनाडामें जा बसे। किन्तु वहां भी उनका सरकारसे झगड़ा हुआ। रूसमें नई कम्यूनिस्ट सरकारने भी उन पर सख्तियां कीं; क्योंकि उन्होंने फौजमें भर्ती होनेसे दृढ़तापूर्वक इनकार कर दिया और सामूहिक खेतोंका इसलिए उग्र प्रतिरोध किया कि वे ईश्वर-सेवाके लिए नहीं परन्तु केवल मनुष्य-हितके लिए हैं।

उन्नीसवीं सदीके मध्यमें फ्रांसीसी क्रांतिकारी बेलगरीगके विचारोंमें हमको कुछ हद तक गांधीजीकी राजनैतिक पद्धतिकी झलक मिलती है। बेलगरीगका विश्वास था कि सरकार हिंसा पर आश्रित है और इसलिए

---

१. वीलसकी ऊपर उद्धृत पुस्तक, पृ० ३२।

२. केसकी ऊपर उद्धृत पुस्तक, पृ० ११५।

एक बुराई है। उन्होंने शांतिके सिद्धान्तकी शिक्षा दी, जिसके अनुसार सरकार निष्क्रियता अर्थात् असहयोगके द्वारा जीती जा सकती है।[1]

थोरो

गांधीजी पर अमेरिकाके प्रसिद्ध अराजकतावादी हेनरी डेविड थोरोके कार्यों और विचारोंका बड़ा प्रभाव पड़ा है, जिसने दासप्रथाके विरोधमें कर देनेसे इनकार कर दिया था। थोरोने ही "सिविल डिसओबीडियन्स" (सविनय कानून-भंग) शब्दका प्रयोग सबसे पहले सन् १८४९ में अपने एक भाषणमें किया था। किन्तु गांधीजीने सविनय कानून-भंगकी अपनी कल्पना थोरोके लेखोंसे नहीं ली। उन्हें सविनय कानून-भंग पर लिखा थोरोका निबन्ध मिला, उससे पूर्व दक्षिण अफ्रीकामें सत्ताका प्रतिरोध काफी आगे बढ़ चुका था। उस समय यह आन्दोलन 'पैसिव रेज़िस्टेन्स' के नामसे पहचाना जाता था। अपने अंग्रेज पाठकोंको सत्याग्रहकी लड़ाईका रहस्य समझानेके लिए गांधीजीने थोरोके शब्द-प्रयोग 'सिविल डिसओबीडियन्स' (सविनय कानून-भंग) का उपयोग करना आरंभ किया, परन्तु उन्होंने देखा कि 'सिविल डिसओबीडियन्स' शब्द भी इस लड़ाईका पूरा अर्थ नहीं दे पाता। इसलिए गांधीजीने 'सिविल रेज़िस्टेन्स' (सविनय प्रतिरोध) शब्दको अपना लिया।[2]

संक्षेपमें थोरोका सिद्धांत यह है कि जिन मनुष्यों और संस्थाओंसे भलाई हो उनसे अधिक-से-अधिक सहयोग और जिनसे बुराईको प्रोत्साहन मिले उनसे अधिक-से-अधिक असहयोग करना चाहिए। किन्तु गांधीजीके विपरीत थोरोने दासताको हटानेके आन्दोलनमें अमेरिकन सरकारके विरुद्ध निष्क्रिय प्रतिरोधको ही नहीं, सक्रिय (हिंसक) प्रतिरोधको भी न्यायोचित बताया। थोरोका विश्वास था कि मनुष्यकी प्राकृतिक प्रवृत्तियां भलाईकी ओर हैं और प्रत्येक परिस्थितिमें मनुष्यको अपनी अन्तरात्माके फैसले पर चलना चाहिए। थोरोका आदर्श समाज राज्यरहित समाज है।

रस्किन

गांधीजीके विचारोंके निर्माणमें जॉन रस्किनकी 'अन्टु दिस लास्ट' (सर्वोदय) नामकी पुस्तिकाका बड़ा प्रभाव पड़ा है, विशेषकर उसमें वर्णित शारीरिक परिश्रमके आदर्शका। गांधीजीने इस पुस्तकको दक्षिण अफ्रीकामें पढ़ा था और इससे जो तीन शिक्षाएं उन्हें मिलीं वे ये हैं:

(१) व्यक्तिका हित सबके हितमें सम्मिलित है।

(२) सबको अपने कार्यसे जीविकोपार्जनका समान अधिकार है, इसलिए वकीलके कार्यका वही मूल्य है जो नाईके कार्यका है।

---

१. लाइटकी ऊपर उद्धृत पुस्तक, पृ० १०९-१०।

२. गांधीजीका कोदंडरावको लिखा पत्र: ता० १०-९-'३५।

(३) परिश्रमका जीवन अर्थात् किसानका और मजदूरका जीवन ही मनुष्योचित जीवन है।[१]

रस्किनकी एक दूसरी पुस्तक 'क्राउन ऑफ वाइल्ड ऑलिव्ज़'(जंगली जैतूनोंका ताज) गांधीजीको बहुत प्रिय थी।

गांधीजीके बहुतसे विचार रस्किनके विचारोंसे मिलते-जुलते हैं। दोनों आत्माको परम तत्त्व मानते हैं और मनुष्य-स्वभावकी अच्छाईमें विश्वास करते हैं। दोनों बुद्धिकी अपेक्षा चरित्रको अधिक महत्त्व देते हैं। दोनों राजनीति और अर्थशास्त्रको नैतिकतामय बनाना चाहते हैं। दोनों राजनैतिक सुधारकी अपेक्षा सामाजिक नव-निर्माणकी प्राथमिकता पर जोर देते हैं। दोनों बड़ी मशीनोंको अविश्वासकी दृष्टिसे देखते हैं और यह चाहते हैं कि उनका उपयोग यदि करना ही पड़े, तो इस प्रकार होना चाहिए कि उनसे मनुष्यकी दासताकी नहीं, स्वतंत्रताकी वृद्धि हो। दोनों इस बात पर जोर देते हैं कि पूंजीपतिको अपने मजदूरोंके प्रति एक बुद्धिमत्तापूर्ण पितृतुल्य दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

रस्किनके गुरु कार्लाइलका कहना था कि प्रत्येक मनुष्यके मताधिकारका अर्थ है घोड़ों, कुत्तोंका अधिकार। कार्लाइलकी तरह ही रस्किनका भी राजनैतिक आदर्श है सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमानका शासन।[२] रस्किनका विश्वास जनतंत्रवादमें नहीं, परन्तु "कुछ मनुष्योंकी और कभी कभी तो एक मनुष्यकी औरोंकी अपेक्षा सर्वकालीन श्रेष्ठता" में है। उनका मत है कि इन श्रेष्ठ मनुष्योंको शासक बनाना चाहिए, जिससे वे अपने ज्ञान और बुद्धिमत्तापूर्ण संकल्पसे साधारण मनुष्योंका पथ-प्रदर्शन करें, उनका नेतृत्व करें, अवसर पड़ने पर उनको विवश करें और अपने आधीन रखें।[३] रस्किन इस प्रकार सिद्धान्ततः अहिंसाके पक्षमें नहीं हैं। लेकिन साथ ही वे बदला लेने और दण्डके विरुद्ध हैं और

---

१. आत्मकथा, भाग–४, अ० १८, पृ० २६०।

२. अपने गुरुकी तरह और गांधीजीके विपरीत, रस्किन जनताको अविश्वासकी दृष्टिसे देखते हैं। एक बार ग्लासगो विश्वविद्यालयके विद्यार्थियोंसे उन्होंने कहा था, "आपका राजनीतिसे उतना ही संबंध है जितना चूहे पकड़नेसे। . . . मैं उदारतावादसे उसी प्रकार घृणा करता हूं जैसे शैतानसे। अब इंग्लैंडमें केवल कार्लाइल और मैं ही ईश्वर और रानी (विक्टोरिया) के पक्षमें हैं।"—दि वर्क्स ऑफ रस्किन, भाग–३४, पृ० ५४८-४९।

३. बार्कर: पोलिटिकल थॉट फ्राम स्पेन्सर टु टुडे, पृ० १९३। रस्किनके अनुसार प्रत्येक महत्त्वपूर्ण क्षणमें ठीक राय बहुमतकी नहीं, एक मनुष्यकी होती है। रस्किनके अनुसार प्रत्येक आवश्यक कार्यका संचालन इस समझदार, सम्मानपूर्ण और सहृदय मनुष्यके हाथमें होना चाहिए।—दि वर्क्स ऑफ रस्किन, भाग–३१, पृ० ५०५।

चाहते हैं कि मजदूर शस्त्र-उत्पादनके कार्यमें भाग न लें। गांधीजीके विपरीत रस्किन यह भी चाहते हैं कि राज्यका कार्यक्षेत्र बढ़ाया जाय।[1]

टॉल्स्टॉय

गांधीजीके विचार रस्किनकी अपेक्षा टॉल्स्टॉयसे अधिक मिलते-जुलते हैं।

टॉल्स्टॉयका तत्त्व-दर्शन, जिसे क्रिश्चियन अराजकतावाद कहा जाता है, आधुनिक राजनैतिक और सामाजिक प्रश्नोंके समाधानमें पर्वतकी धर्मशिक्षाका प्रयोग है। टॉल्स्टॉयके अनुसार ईसाकी शिक्षाओंका मूलभूत सिद्धांत और सब समस्याओंके निवटारेका पर्याप्त साधन प्रेम है। प्रेम ही टॉल्स्टॉयके अप्रतिरोध और असहयोगके सिद्धान्तोंका आधार है।[2] मॉडका कहना है कि टॉल्स्टॉयके सिद्धान्तका स्रोत बाइबलका निम्न उद्धरण है:

"तुम बुराईका प्रतिरोध ही न करो, बल्कि जो कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे, उसकी ओर बायां भी कर दो।

"और अगर कोई तुम्हारे ऊपर मुकदमा चलाकर तुम्हारा कोट छीन ले, तो उसको अपना लबादा भी दे दो।"[3]

टॉल्स्टॉयकी धारणा है कि किसी भी जीव पर किसी प्रकारका बल-प्रयोग या जबरदस्ती, उसे अपने संकल्पके अनुसार चलाना, एक अपराध है और यही धारणा उनकी अहिंसाका मूल है। गांधीजीको कोचेटीसे ७ सितम्बर १९१० को उन्होंने एक पत्रमें लिखा था कि "विरोधके त्यागका अर्थ है . . . भ्रमपूर्ण युक्तियोंसे अदूषित प्रेमका नियम। जीवनका उच्चतम या वास्तवमें एकमात्र नियम है प्रेम या दूसरे शब्दोंमें मनुष्योंकी आत्माओंका एकत्वकी ओर प्रयास और उस (प्रयास) से उत्पन्न एक-दूसरेके प्रति विनम्र व्यवहार। जीवनके सर्वश्रेष्ठ नियमके रूपमें प्रेमसे किसी प्रकारका बल-प्रयोग मेल नहीं खाता। जैसे ही एक मामलेमें भी बल-प्रयोग वैध प्रतीत होता है, वैसे ही तुरन्त स्वयं इस (प्रेमके) नियमका ही निषेध हो जाता है।"[4]

---

१. विलेन्स्की : जॉन रस्किन, पृ० २९६-९८।

२. ए० मॉडका गांधी और टॉल्स्टॉय पर लेख : लीडर, १८–६–'३०। टॉल्स्टॉयका विश्वास है कि संसारको सुखी बनानेका एकमात्र मार्ग है संसारमें ऐसी स्थिति पैदा करना, जिसमें सभी अपनी अपेक्षा दूसरोंसे अधिक प्रेम कर सकें। उन्होंने 'सबके सुख' की परिभाषा इन शब्दोंमें की है: "मैं जितना अपने आपसे प्रेम करता हूं, उसकी अपेक्षा दूसरोंसे अधिक प्रेम करूं।" रोमा रोलांको ४ अक्तूबर, १८८७ को लिखा टॉल्स्टॉयका पत्र, मॉर्डन रिव्यू, जनवरी १९२७, पृ० ८८ (कालिदास नाग द्वारा फ्रेन्चसे अनुवादित)।

३. ल्यूक, २३, २४।

४. टॉल्स्टॉय : एसेज़ एण्ड लेटर्स, पृ० ४३५-३६।

ईसाई सभ्यता ईसाई होनेका दावा तो करती है, लेकिन बल-प्रयोगके
द्वारा सुरक्षाकी भी छूट देती है। टॉल्स्टॉयका विश्वास है कि ईसाई सभ्यता
ईसाई होनेका दावा करती है और बल-प्रयोग द्वारा सुरक्षाकी छूट भी देती
है, इसलिए वह परस्पर विरोधिनी हिंसा और अहिंसा दोनोंका औचित्य
स्वीकार करती है। प्रेमके नियममें अपवादकी गुंजाइश नहीं, इसलिए वह
नियम तो इस सभ्यतामें चालू ही नहीं है। वास्तवमें इस सभ्यतामें एक ही
नियम है, वह है सबसे अधिक शक्तिशालीका नियम। टॉल्स्टॉयने राज्य
और उसकी संस्थाओंको—न्यायालयोंको, पुलिस और फौजको, निजी सम्पत्ति
और पूंजीवादको तथा स्कूलोंको भी—त्याज्य बताया है, क्योंकि ये सब
प्रेमके नियमके विपरीत हैं। वे बल-प्रयोग, टैक्स देने और अनिवार्य सैनिक-
सेवाके विरोधी हैं। उनका मत है कि संगठित समाजके स्थान पर
अनौपचारिक सहयोगकी स्थापना होनी चाहिए, यद्यपि वे आदर्श अहिंसक
समाजके विस्तृत विवेचनकी चिन्ता नहीं करते।

टॉल्स्टॉयका विचार है कि इस प्रकारके सहयोगके विकासका साधन हिंसा
नहीं, बल्कि प्रेम, अप्रतिरोध और असहयोग है। वे व्यक्तिके नैतिक सुधार पर
बहुत जोर देते हैं और खेती तथा शारीरिक श्रमके गौरवकी शिक्षा देते हैं।
टॉल्स्टॉय वैध विवाहके भी विरुद्ध हैं, क्योंकि विवाहके कारण स्त्री-पुरुष एक-
दूसरेको वासनापूर्तिका साधन समझने लगते हैं। अपनी 'क्रूजर सोनाटा' नामकी
पुस्तकमें टॉल्स्टॉयने स्त्री-पुरुषके प्रेमको घोरतम पाप बताया है और पति-
पत्नीके संबंधको भाई-बहनके पवित्र स्नेहमें परिवर्तित करनेकी शिक्षा दी है।

गांधीजीके मित्र पादरी जे० जे० डोकने गांधीजीको टॉल्स्टॉयका शिष्य
बताया है।[1] गांधीजी भी अपनेको टॉल्स्टॉयका श्रद्धावान प्रशंसक मानते हैं
और जीवनमें बहुतसी बातोंके लिए उनके प्रति आभारी हैं।[2] वे लिखते हैं,
"स्वर्गीय राजचन्द्रके बाद टॉल्स्टॉय उन तीन आधुनिक मनुष्योंमें से एक हैं,
जिनका मेरे जीवन पर अधिकतम आध्यात्मिक प्रभाव पड़ा है।"[3] इनमें तीसरे

---

१. डोककी ऊपर उद्धृत पुस्तक, पृ० ३।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० ६५२।

३. कवि राजचन्द्र बंबईके जौहरी और प्रसिद्ध जैन सुधारक थे।
इंग्लैंडसे लौटने पर गांधीजी उनके निकटतम संपर्कमें आये और उनके गंभीर
शास्त्रज्ञान, निर्मल चरित्र और आत्म-दर्शनकी उत्कंठासे बहुत प्रभावित हुए।
उन्होंने बहुत अवसरों पर धार्मिक और नैतिक उलझनोंमें गांधीजीका पथ-
प्रदर्शन किया, विशेषकर उन्होंने हिन्दू धर्मके अध्ययनमें गांधीजीकी
सहायता की। देखिये आत्मकथा, भाग–२, अ० १, पृ० ७४-७६; और
डॉ० जे० एन० फरकुहर: मॉडर्न रेलिजस मूवमेन्ट्स, पृ० ३२७–२८।

व्यक्ति रस्किन है। गांधीजीने पचास वर्ष पूर्व दक्षिण अफ्रीकामें टॉल्स्टॉयकी पुस्तक "दि किंगडम ऑफ गाड इज़ विदिन यू' उस समय पढ़ी थी, जब वे हिंसामें विश्वास करते थे और संशयवादकी उलझनमें थे। वे कहते हैं कि "इसके अध्ययनने मेरे संशयवादको दूर कर दिया और मुझको अहिंसामें दृढ़ विश्वास करनेवाला बना दिया।"[१]

अहिंसाके इन दो महान आधुनिक शिक्षकोंके सिद्धान्तोंमें उल्लेखनीय समानताएं हैं। दोनों सत्यके सतत जागरूक साधक हैं और अपनी कठोर साधनाके प्रति उनमें अनुपम दृढ़ता है। टॉल्स्टॉयने लिखा है, "मेरे लेखोंकी नायिका सत्य है, जिसे मैं अपने जीवनकी सम्पूर्ण शक्तिसे प्रेम करता हूं, जो सदा सुन्दरी थी, है और रहेगी।"[२] दोनोंने आधुनिक सभ्यताकी निन्दा की है, क्योंकि उसका आधार हिंसा और शोषण है और वह वासनाओंको प्रोत्साहित करती है और इसलिए अनैतिक है। दोनों बुराईसे लड़नेके हिंसात्मक साधनोंके विरोधी हैं। दोनों व्यक्तिके सुधारको, उसकी आत्मशुद्धिको, समाजके नव-निर्माणका पहला चरण मानते हैं। दोनों आदर्श समाजके विस्तृत विवेचन पर नहीं, परन्तु साधनोंकी शुद्धता पर अधिक ध्यान देते हैं। दोनोंका मत है कि व्यक्तिके नैतिक विकासके लिए त्याग-प्रधान नैतिकता, जीवनकी चरम सरलता, शारीरिक श्रम और इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक हैं।

लेकिन गांधीजी और टॉल्स्टॉयके सिद्धान्तोंमें अन्तर भी है और उसके दो मुख्य कारण मालूम होते हैं। पहला कारण तो यह है कि टॉल्स्टॉयकी अपेक्षा गांधीजी कहीं अधिक व्यावहारिक हैं। वे जीवनके निकट सम्पर्कमें रहते हैं और अनावश्यक बातोंमें सदा समझौता करनेको तैयार रहते हैं। उनका विचार है कि समझौता आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य-ज्ञात सत्य सापेक्ष होता है। अपने साधनोंकी पवित्रताका उन्हें सदा ध्यान रहता है। किन्तु टॉल्स्टॉयके विपरीत वे परिवर्तनशील संसारकी स्थितिके अनुसार अपने कार्योंमें हेरफेर करनेको सदा तैयार रहते हैं। उनका मत है कि आदर्शकी पूर्ण सिद्धि असंभव है, इसलिए जहां तक हो सके आदर्श तक पहुंचनेका प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे, गांधीजीकी अहिंसाकी धारणा टॉल्स्टॉयकी धारणासे थोड़ी भिन्न है। टॉल्स्टॉयके अनुसार अहिंसाका अर्थ है दूसरेके प्रति किसी भी प्रकारका बल-प्रयोग न करना। गांधीजी प्रेरक हेतु पर जोर देते हैं और उनकी अहिंसाकी परिभाषा है—किसी जीवको क्रोधसे या स्वार्थपूर्ण हेतुसे आघात या कष्ट न पहुंचाना। गांधीजीके अनुसार कुछ परिस्थितियोंमें जान लेना भी अहिंसा

---

१. यं० इं०, भाग—३, पृ० ८४३।
२. यं० इं०, भाग—३, पृ० ८३०।

हो सकती है।[1] जीवनमें थोड़ी-वहुत हिंसा आवश्यक है, इसलिए टॉल्स्टॉय
जीवनसे विमुख हो गए। दूसरी ओर गांधीजी गीताके निष्काम कर्मके आदर्शके
अनुगामी हैं और जीवनके कार्योंमें मनोयोगपूर्वक भाग लेते हैं। इसी अन्तरके
कारण जिन सामाजिक कुरीतियोंको टॉल्स्टॉयने इतनी कुशलतासे उद्घाटित
किया और जिनकी इतनी उग्रतासे निन्दा की, उनको सुधारनेके अहिंसक
साधनोंके विकासमें और उन साधनोंके प्रयोगमें गांधीजी टॉल्स्टॉयकी अपेक्षा
वहुत अधिक आगे वढ़ गये हैं।

अति आधुनिक काल

टॉल्स्टॉयके वाद शान्ति और अहिंसासे संवंध रखनेवाली हलचलोंमें वड़ी
प्रगति हुई है। इसका कारण कुछ तो यह है कि अति आधुनिक कालमें
युद्धकी विनाशकतामें वहुत वृद्धि हुई है। यह विनाशकता पहलेकी अपेक्षा
आज मनुष्य-जातिके अस्तित्वके लिए कहीं अधिक संकटमय वन गई है।

अमेरिकन अराजकतावादी वेंजमिन टकरके तत्त्व-दर्शनका आधार मेधावी
मनुष्यका स्वाभाविक आत्महित है। वे अत्याचार-पीड़ित जनताके लिए निष्क्रिय
प्रतिरोधकी सिफारिश करते हैं, क्योंकि आधुनिक सरकार हिंसात्मक विद्रोहको
तो आसानीसे दवा सकती है, लेकिन सैनिक-शक्तिसे निष्क्रिय प्रतिरोधको नहीं
जीत सकती। उनका कहना है कि यदि जनताका पांचवां भाग भी टैक्स
देनेसे इनकार कर दे, तो उसको वसूल करनेके प्रयत्नमें वाकी जनताके दिये
हुए टैक्ससे अधिक धन व्यय हो जायगा। सरकारकी उनकी परिभाषा है: "अना-
क्रमणशील व्यक्तिका वाह्य संकल्पके अधीन होना।"[2] उनके अनुसार जनतंत्र
सव मनुष्यों द्वारा एक मनुष्य पर आक्रमणके सिवा और कुछ नहीं है। टकर
ऐसे समाजके पक्षमें हैं, जिसमें राज्य, सरकार आदि हिंसाका प्रयोग करनेवाले
समुदायोंका लोप हो गया हो और उनके स्थान पर ऐसी संस्थाओं और समु-
दायोंकी स्थापना हो गई हो, जिनकी सदस्यता मनुष्य अपनी इच्छासे स्वीकार
कर सके और छोड़ सके। लेकिन टकरको रक्षासंस्थाओंका यह अधिकार
मान्य है कि वे आक्रमणकारी व्यक्तियोंके विरुद्ध उन सभी दमन और दंडके
साधनोंका प्रयोग करें, जो आजकलके राज्योंमें काम आते हैं। इस प्रकारके
दमनकी आवश्यकता वहुत घट जायगी, क्योंकि जव राज्य और उससे रक्षित
अन्यायपूर्ण आर्थिक प्रणालीका अन्त हो जायगा, तो प्राकृतिक रूपसे अपराध
भी न होंगे।

सन् १९१५ से और विशेष रूपसे १९१९ से युद्ध-विरोधी आन्दोलन
भी जोर पकड़ रहा है। पिछले महायुद्धके पहले संसारके लगभग सभी देशोंमें

---

१. देखिये इस पुस्तकका अध्याय ३।
२. एफ० डब्ल्यू० कोकर: रीसेन्ट पोलिटिकल थॉट, पृ० १९८।

अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-विरोधी संस्था — वार-रेजिस्टर्स इंटरनेशनलकी शाखाएं थीं। पीस-प्लेज यूनियन इसी संस्थाकी ब्रिटिश शाखा थी। इन युद्ध-विरोधी संस्थाओं-की योजनाओंके पांच मूलभूत सिद्धान्त थे—अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ोंका निपटारा पंचायतों द्वारा कर लेनेके लिए संधियां, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाका संगठन, अन्तर-र्राष्ट्रीय विधान-संहिताका निर्माण, निःशस्त्रीकरण और आक्रमणकारी राष्ट्रोंके विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा लगाई जा सकनेवाली पावन्दियोंका निश्चय। इन शांतिसंस्थाओंने युद्धके विरुद्ध व्यापक प्रचार-कार्य किया, लेकिन उनमें दो वातोंके वारेमें मतभेद था। वे थीं सुरक्षात्मक युद्ध और व्यक्तिगत जीवनमें अहिंसाका स्थान। यह उल्लेखनीय वात है कि पहले महायुद्धके वाद सन् १९१९ में जव राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) की स्थापना हुई, तो पश्चिममें यह मान लिया गया कि युद्ध-विरोधी आन्दोलनके उद्देश्योंमें से वहुतोंकी पूर्ति हो गई। लेकिन तवसे आज तककी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इस वातका प्रमाण है कि युद्धोंका निराकरण, जो विश्वशांतिके आन्दोलनका प्रमुख ध्येय है, तव तक असंभव है जव तक वैयक्तिक और सामूहिक जीवनसे हिंसाको दूर करनेका प्रयत्न नहीं किया जाता।

वहुतसे शान्तिप्रिय विचारक, जैसे मेजर विचमन, रोलैंड होल्स्ट, चार्ल्स नेन, अल्डुस हक्सले, जेराल्ड हर्ड इत्यादि, साधन और साध्यके सामंजस्यकी आवश्यकता पर जोर देते हैं। वे आधुनिक समाजवादकी इस भयंकर भूलको उद्घाटित करते हैं कि उसके ध्येय औ साधन परस्पर-विरोधी हैं। सामाजिक नव-निर्माण और सव प्रकारकी हिंसाके निराकरणका समाजवादी ध्येय आव-श्यक रूपसे मानवतावादी है। लेकिन इस ध्येयके लिए समाजवाद युद्ध, हिंसा और डिक्टेटर प्रणालीका उपयोग करता है। इन साधनोंके प्रयोगसे जिन प्रवृ-त्तियोंको प्रोत्साहन मिलता है, वे समाजवादियोंके आदर्श समाजके आधारभूत गुणोंके विरुद्ध हैं और इस प्रकार उनका ध्येय सिद्ध नहीं होता।[1]

पिछले महायुद्ध और आक्रामक नीतिसे पश्चिममें युद्ध-विरोधी आन्दोलनको वहुत धक्का पहुंचा। युद्ध-विरोधी सिद्धान्तोंसे कुछ अग्रगण्य विचारकोंकी भी आस्था डिग गई और उन्होंने इस वातका समर्थन किया कि जनतंत्रवादी राज्य प्रचुर मात्रामें युद्ध-सामग्री रखें और आक्रमणकारी राज्योंके विरुद्ध सैनिक सहयोग करें। इन विचारकोंमें प्रमुख थे सी० ई० एम० जोड, वर्ट्रेंड रसेल और स्वर्गीय रोमां रोलां। परन्तु इस समय युद्ध-विरोधी विचारक अपने विश्वासको विधायक और गतिशील रूप देनेका तथा अहिंसाके सिद्धान्तके अनुसार व्यक्तिगत और सामूहिक जीवनके निर्माणके साधन खोजनेका प्रयत्न कर रहे हैं।

---

[1] विस्तृत विवेचनके लिए देखिये पुस्तकका अध्याय १०।

पिछले डेढ़ सौ वर्षोंमें व्यक्तियों और समूहों द्वारा अहिंसक प्रतिरोधके प्रयोगके अनेक दृष्टान्त हमारे सामने हैं। इन सबकी विस्तृत विवेचना या इन सबका उल्लेख अनावश्यक है। मजदूरोंकी हड़ताल आजके आर्थिक जीवनका सामान्य अंग है। जीवनके दूसरे क्षेत्रोंमें भी अहिंसा सफल सिद्ध हुई है। भारतके बाहर विदेशोंमें सामूहिक अहिंसाके कुछ उल्लेखनीय उदाहरण हैं : १९ वीं सदीके मध्यमें फ्रान्सिस डीकके नेतृत्वमें हंगरीका अहिंसात्मक आन्दोलन, सन् १९०५ में नार्वे और स्वीडनमें युद्धको रोकनेके लिए दोनों देशोंके समाजवादियोंका सफल अहिंसक प्रतिरोध और सन् १९२० से १९३६ तक न्यूज़ीलैंडकी सरकारके विरुद्ध पश्चिमी समोआकी जनताका वीरतापूर्ण अहिंसक संघर्ष, क्विसलिंग शासन तथा द्वितीय महायुद्धके समय जर्मन सेनाओंके विरुद्ध नार्वेकी जनताका प्रमुख रूपसे अहिंसक प्रतिरोध और सन् १८९८ से १९१७ तक फिनलैण्डकी स्वाधीनताको नष्ट करने और रूसी संस्कृतिके आरोपणके रूसी प्रयासके विरुद्ध फिनलैण्डकी जनताका निष्क्रिय प्रतिरोध।[1] लेकिन सामूहिक प्रतिरोधका रूप अधिकतर निष्क्रिय प्रतिरोधका रहा है।[2]

गांधीजीने अहिंसाके परम्परागत तत्त्व-दर्शनका नव-संस्करण किया है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अहिंसाके उपयोगकी संभावनाका अन्वेषण किया है और उसका प्रयोग देशव्यापी जन-आन्दोलनोंमें किया है। उनकी धारणा है कि मनुष्य-जातिके सब प्रश्नोंके समाधानका एक-मात्र मार्ग सत्याग्रह है। उनके शब्दोंमें "अहिंसा सब परिस्थितियोंमें काम करनेवाला सार्वभौम नियम है। उसकी उपेक्षा विनाशका सबसे अधिक निश्चित मार्ग है।"[3] लेकिन सत्याग्रह जीवनके अहिंसामय दृष्टिकोणका अविभाज्य अंग है। मनुष्य वास्तवमें सफल सत्याग्रही तभी बन सकता है जब वह उन आध्यात्मिक विश्वासों और नैतिक सिद्धान्तोंको अच्छी तरह समझ ले, जिन पर सत्याग्रह आधारित है।

---

१. ऊपर लिखे हुए तथा दूसरे दृष्टान्तोंके लिए देखिये, फेनर ब्रॉकवे : नॉन-कोआपरेशन इन अदर लैंड्स; ग्रेग : पावर ऑफ नॉन-वायोलेन्स; केस : नॉन-वायोलेन्ट कोअर्शन; हक्सले : इन्साइक्लोपीडिया ऑफ पैसिफिज्म।

२. निष्क्रिय प्रतिरोध और सत्याग्रहकी तुलनाके लिए देखिये अध्याय ७।

३. ह०, १५–७–'३९, पृ० २०१।

२

आध्यात्मिक विश्वास

गांधीजीने एक बार पोलक साहबसे कहा था, "बहुतसे धार्मिक मनुष्य, जिनसे मैं मिला हूं, भेष बदले हुए राजनीतिज्ञ हैं; लेकिन मैं जो राजनीतिज्ञका जामा पहिने हूं, हृदयसे धार्मिक मनुष्य हूं।"[१] सन् १९२९ में उन्होंने डॉ० अरुन्डेलको एक पत्रमें लिखा था, "मेरा रुझान राजनैतिक नहीं, धार्मिक है।"[२] गांधीजीके ये कथन सर्वोदय तत्त्व-दर्शनकी कुंजी हैं। धर्म और नैतिकताके सिद्धान्त उनके विचारों और आचरणकी आधार-शिला हैं, उनका जीवन-प्राण हैं। वे कहते हैं, "जबसे मैंने यह जाना है कि सार्वजनिक जीवन क्या है, तबसे मेरे प्रत्येक शब्द और कार्यके मूलमें धार्मिक चेतना और नितान्त धार्मिक हेतु रहे हैं।"[३]

धर्म और राजनीति

उनका राजनैतिक दर्शन और उनकी प्रतिरोध-पद्धति उनके धार्मिक और नैतिक सिद्धान्तोंके निष्कर्ष हैं। उनकी दृष्टिमें धर्म-विहीन राजनीति आत्माके विनाशकी फांसी है, क्योंकि मनुष्यके दूसरे कार्योंकी भांति राजनीति भी या तो धर्म द्वारा अथवा अधर्म द्वारा अनुशासित होती है। धर्मके नैतिक आधारके बिना जीवन अर्थहीन और निष्फल है।

परन्तु धर्मसे उनका आशय किसी विशेष धर्म, जैसे हिन्दू धर्मसे, नहीं है। उनके लिए धर्म वह है जो सब धर्मोंमें सामंजस्य स्थापित करता है, "जो मनुष्य-स्वभावका कायापलट कर देता है, जो मनुष्यका आतंरिक सत्यसे संबंध स्थापित करता है और सदा उसको शुद्ध करता है। धर्म मनुष्य-स्वभावका वह स्थायी तत्त्व है, जो पूर्ण अभिव्यक्तिके लिए बड़े-से-बड़े त्याग करनेको तैयार रहता है और जिसके कारण आत्मा तब तक नितांत व्याकुल रहती है जब तक वह अपनेको और अपने निर्माताको पहिचान नहीं लेती और दोनोंके तादात्म्यकी अनुभूति नहीं कर लेती।"[४] संक्षेपमें धर्मका अर्थ है "विश्वके सुव्यव-

---

१. स्पीचेज़, एपेंडिक्स २, पृ० ४०।
२. विशाल भारत, अक्तूबर १९३८, पृ० ४०१।
३. यं० इं०, भाग–३, पृ० ३५०।
४. स्पीचेज, पृ० ८०७।

स्थित नैतिक शासनमें विश्वास।"[१] गांधीजीके अनुसार धर्मका वही अर्थ है जो नैतिकताका है और "सत्य नैतिकताका सार" है।[२] धर्म तत्त्वतः व्यावहारिक है और किसी प्रकार संसारसे मुंह नहीं मोड़ता। "परलोक जैसी कोई वस्तु नहीं है। सव लोक एक हैं। 'यहां' और 'वहां'का कोई अस्तित्व नहीं है।" उनका विश्वास है कि आध्यात्मिक नियमका कोई अलग कार्यक्षेत्र नहीं वरन उसकी अभिव्यक्ति जीवनके सामान्य कार्योंमें ही होती है। इस प्रकार धर्म सव कार्योंको नैतिकताका आधार प्रदान करता है। जीवनके कार्योंसे पृथक् किसी धर्मको गांधीजी नहीं मानते। और न वे धर्मको मनुष्य-जातिके अनेक कार्योंमें से एक मानते हैं।[३]

राज्यसत्ताकी विशेषता है वल-प्रयोग और राजनीति इस सत्ताके नियंत्रण और उपयोगसे संवद्ध है। इसीलिए गांधीजी राजनीतिको एक ऐसी अशुभ वात मानते हैं, जिससे छुटकारा नहीं हो सकता। "यदि मैं राजनीतिमें भाग लेता हूं, तो इसका कारण केवल यही है कि आज राजनीति हमें सर्पकी कुण्डलियोंकी भांति घेरे हुए है, जिससे वाहर अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी कोई निकल नहीं सकता। मैं इस सर्पसे लड़ना चाहता हूं। . . . मैं राजनीतिमें धर्मको लानेका प्रयत्न कर रहा हूं।"[४] इस प्रकार धर्म ही उनको राजनीति न त्यागनेको विवश करता है। जीवनका लक्ष्य है आत्म-साक्षात्कार। गांधीजीका विश्वास है कि इस उपलब्धिके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य सम्पूर्ण मानव-जातिके साथ तादात्म्य स्थापित करे और सवके अधिकतम हितकी सिद्धिमें प्रयत्नशील रहे। राजनीतिमें भाग लिये विना वह ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि मनुष्यके सभी कार्य जीवन-समष्टिके अविभाज्य अंग हैं। आज सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और शुद्ध धार्मिक कार्य कृत्रिम, एक-दूसरेको न स्पर्श करनेवाले अलग-अलग क्षेत्रोंमें नहीं वांटे जा सकते।[५] राजनैतिक वुराइयां—जैसे राजनैतिक पराधीनता, अनुपयुक्त राजनैतिक संस्थाएं इत्यादि—ऐसी रुकावटें हैं, जिनके कारण सर्वभूत-हितकी सिद्धि असम्भव है। सर्वभूत-हित अहिंसक राज्यमें ही सम्भव है। इस राज्यके विकासके लिए राजनैतिक स्वतंत्रता आवश्यक है। इसलिए गांधीजीका मत है कि "जो यह कहते हैं कि राजनीतिसे धर्मका कोई सम्वन्ध नहीं है, . . .

---

१. ह०, १०–२–'४०, पृ० ४४५।
२. एथिकल रेलिजन, पृ० २३-२४।
३. ह०, २४–१२–'३८, पृ० ३९३।
४. स्पीचेज़, पृ० ८०७; रोमां रोलां: महात्मा गांधी, पृ० ९८।
५. ह०, २४–१२–'३८, पृ० ३९३।

वे लोग धर्मको नहीं जानते।"[1] "जो मनुष्य देशप्रेमको नहीं जानता वह अपने सच्चे कर्तव्य या धर्मको भी नहीं पहचानता।"[2]

सत्याग्रही और ईश्वरमें विश्वास

ईश्वरमें जीवित, अटल श्रद्धा, आत्माकी प्राथमिकता पर जोर, गांधीजीके दर्शनका केन्द्रीय तथ्य है। उनकी श्रद्धा इतनी अचल है कि वे अनुभव करते हैं कि हवा-पानीके विना तो वे रह सकते हैं; लेकिन ईश्वरके विना नहीं।[3] उनका यह भी विश्वास है कि यदि उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायं, तो भी ईश्वर उनको ऐसी शक्ति देगा कि वे उसके अस्तित्वसे इनकार न करेंगे।[4] उनका यह निश्चित मत है कि ऐसी श्रद्धाके विना पूर्ण जीवन असम्भव है।[5] उन्होंने सदा इस वात पर जोर दिया है कि ईश्वरमें जीवित श्रद्धाके विना सत्याग्रहके प्रयोगकी क्षमता मनुष्यमें हो ही नहीं सकती।[6] इसलिए यह आवश्यक है कि हम कुछ विस्तारसे विवेचन करें कि वे ईश्वर-श्रद्धाको सत्याग्रहीके लिए क्यों आवश्यक समझते हैं और ईश्वर तथा आत्माके सम्बन्धमें उनके विचार क्या हैं।

सत्याग्रह इन मूलभूत सत्यों पर आधारित है कि आत्मा बड़ीसे बड़ी शरीर-शक्तिके द्वारा भी अविजित और अजेय है, और मनुष्य चाहे जितना भी पतित हो उसमें दैवी अंश रहता है। इसलिए उसके विकासकी असीम सम्भावना है और वह दया और उदारताके व्यवहारसे सुधर सकता है।

जव तक मनुष्यकी ईश्वरमें और आत्मशक्तिमें दृढ़ श्रद्धा नहीं होती, वह सच्चे हृदयसे, पूरे विश्वाससे और अधिकतम लाभप्रद रीतिसे सत्याग्रहका उपयोग नहीं कर सकता। ईश्वरके विना अहिंसा शक्तिहीन है। "ईश्वर जीवन है। . . . अच्छाई ईश्वर है। उससे पृथक् जिस अच्छाईकी धारणा की जाती है, वह निर्जीव वस्तु है और तभी तक चलती है जब तक लाभप्रद रहती है। यही बात दूसरे नैतिक गुणोंकी है। वे गुण हममें तभी रह सकते हैं जब हम उनको ईश्वरसे सम्बद्ध करके उन पर विचार करें और उनका विकास करें। हम अच्छे बननेका प्रयत्न इसीलिए करते हैं, क्योंकि हम चाहते हैं कि हम

१. आत्मकथा, भाग–५, अ० ४४, पृ० ४३३।

२. होम्स : 'महात्मा गांधी' में संलग्न 'एफ्रिकन जेल एक्स्पीरियेंसेज़', पृ० ८३।

३. ह०, १४–५–'३८, पृ० १०९।

४. यं० इं०, भाग–३, पृ० ५०४।

५. ह०, २४–४–'३४, पृ० ८४।

६. ह०, ३–६–'३९, पृ० १४६।

ईश्वरके समीप पहुंच जायं और उसका अनुभव करें।"[१] "सत्य और अहिंसाका केवल यन्त्रवत् पालन संकटके क्षण पर सम्भवतः असफल हो जायगा।... ईश्वर जीवित शक्ति है। वही शक्ति हमारा जीवन है। वह शक्ति शरीरमें निवास करती है, परन्तु शरीर नहीं है। जो भी उस महान शक्तिके अस्तित्वसे इनकार करता है वह अपने लिए उस अनन्त शक्तिका निषेध कर लेता है और इस प्रकार पौरुषहीन बना रहता है। वह उस निर्देशन-रहित जहाजके समान है, जो बिना आगे बढ़े इधर-उधर थपेड़े खाता हुआ नष्ट हो जाता है।"[२] "बिना ईश्वरमें जीवित श्रद्धाके वह (अहिंसामें जीवित श्रद्धा) असम्भव है। उसके बिना उसमें (सत्याग्रहीमें) ऐसा साहस ही न होगा कि वह बिना क्रोधके, बिना डरके और बिना बदलेकी भावनाके अपनी जान दे सके। ऐसे साहसका स्रोत यह विश्वास है कि ईश्वर सबके हृदयमें स्थित है और उसकी उपस्थितिमें भय न होना चाहिये। ईश्वरके सर्व-शक्तिमान होनेके ज्ञानका अर्थ है ऐसोंके भी जीवनके लिए सम्मान, जिन्हें विरोधी या गुण्डे कहा जाता हो।"[३] "वास्तवमें साधक अहिंसामें अपनी शक्तिसे काम नहीं करता। उसे शक्ति ईश्वरसे मिलती है।"[४] "इस ज्ञानके कारण कि शरीरके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है, वह (सत्याग्रही) इसी शरीरमें सत्यकी विजय देखनेको अधीर नहीं हो उठता। वास्तवमें विजय तो इस बातका प्रयत्न करनेमें जान दे देनेकी क्षमतामें है कि विरोधीको वह सत्य प्रदर्शित किया जा सके, जिसको सत्याग्रही उस समय अभिव्यक्त करता है।"[५] इसीलिए गांधीजीके अनुसार "ईश्वरमें अडिग श्रद्धा अहिंसक मनुष्यकी प्रथम और अन्तिम ढाल है।"[६] "सत्याग्रहीका एकमात्र शस्त्र ईश्वर है, मनुष्य उसे चाहे जिस नामसे जाने। उसके बिना सत्याग्रही दानवी शस्त्रोंसे युक्त विरोधीके सामने शक्तिहीन है। लेकिन जो ईश्वरको अपना एकमात्र रक्षक मान लेता है, वह बड़ीसे बड़ी ऐहिक शक्तिके सामने भी न झुकेगा।"[७]

दूसरी ओर सामान्य कार्योंसे ईश्वरका निषेध असहायताकी भावना उत्पन्न करता है और लोगोंको हिंसामें आस्था रखनेकी प्रेरणा देता है। इस प्रकार गांधीजीने १९२१ में लिखा था: "हम सभी व्यावहारिक प्रयोजनोंके

---

१. ह०, २४–८–'४७, पृ० २८५।
२. ह०, २०–७–'४७, पृ० २४०।
३. ह०, १८–६–'३८, पृ० १५२।
४. ह०, १८–८–'४०, पृ० २५६।
५. स्पीचेज़, पृ० ५०४।
६. ह०, १३–१०–'४०, पृ० ३१८।
७. ह०, १९–१०–'४०, पृ० ३११।

वे लोग धर्मको नहीं जानते।"[१] "जो मनुष्य देशप्रेमको नहीं जानता वह अपने सच्चे कर्तव्य या धर्मको भी नहीं पहचानता।"[२]

सत्याग्रही और ईश्वरमें विश्वास

ईश्वरमें जीवित, अटल श्रद्धा, आत्माकी प्राथमिकता पर जोर, गांधीजीके दर्शनका केन्द्रीय तथ्य है। उनकी श्रद्धा इतनी अचल है कि वे अनुभव करते हैं कि हवा-पानीके बिना तो वे रह सकते हैं; लेकिन ईश्वरके बिना नहीं।[३] उनका यह भी विश्वास है कि यदि उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायं, तो भी ईश्वर उनको ऐसी शक्ति देगा कि वे उसके अस्तित्वसे इनकार न करेंगे।[४] उनका यह निश्चित मत है कि ऐसी श्रद्धाके बिना पूर्ण जीवन असम्भव है।[५] उन्होंने सदा इस बात पर जोर दिया है कि ईश्वरमें जीवित श्रद्धाके बिना सत्याग्रहके प्रयोगकी क्षमता मनुष्यमें हो ही नहीं सकती।[६] इसलिए यह आवश्यक है कि हम कुछ विस्तारसे विवेचन करें कि वे ईश्वर-श्रद्धाको सत्याग्रहीके लिए क्यों आवश्यक समझते हैं और ईश्वर तथा आत्माके सम्बन्धमें उनके विचार क्या हैं।

सत्याग्रह इन मूलभूत सत्यों पर आधारित है कि आत्मा बड़ीसे बड़ी शरीर-शक्तिके द्वारा भी अविजित और अजेय है, और मनुष्य चाहे जितना भी पतित हो उसमें दैवी अंश रहता है। इसलिए उसके विकासकी असीम सम्भावना है और वह दया और उदारताके व्यवहारसे सुधर सकता है।

जब तक मनुष्यकी ईश्वरमें और आत्मशक्तिमें दृढ़ श्रद्धा नहीं होती, वह सच्चे हृदयसे, पूरे विश्वाससे और अधिकतम लाभप्रद रीतिसे सत्याग्रहका उपयोग नहीं कर सकता। ईश्वरके बिना अहिंसा शक्तिहीन है। "ईश्वर जीवन है।... अच्छाई ईश्वर है। उससे पृथक् जिस अच्छाईकी धारणा की जाती है, वह निर्जीव वस्तु है और तभी तक चलती है जब तक लाभप्रद रहती है। यही बात दूसरे नैतिक गुणोंकी है। वे गुण हममें तभी रह सकते हैं जब हम उनको ईश्वरसे सम्बद्ध करके उन पर विचार करें और उनका विकास करें। हम अच्छे बननेका प्रयत्न इसीलिए करते हैं, क्योंकि हम चाहते हैं कि हम

---

१. आत्मकथा, भाग—५, अ० ४४, पृ० ४३३।

२. होम्स : 'महात्मा गांधी' में संलग्न 'एफ्रिकन जेल एक्स्पीरियेंसेज़', पृ० ८३।

३. ह०, १४—५—'३८, पृ० १०९।

४. यं० इं०, भाग—३, पृ० ५०४।

५. ह०, २४—४—'३४, पृ० ८४।

६. ह०, ३—६—'३९, पृ० १४६।

ईश्वरके समीप पहुंच जायं और उसका अनुभव करें।"[१] "सत्य और अहिंसाका केवल यन्त्रवत् पालन संकटके क्षण पर सम्भवतः असफल हो जायगा।... ईश्वर जीवित शक्ति है। वही शक्ति हमारा जीवन है। वह शक्ति शरीरमें निवास करती है, परन्तु शरीर नहीं है। जो भी उस महान शक्तिके अस्तित्वसे इनकार करता है वह अपने लिए उस अनन्त शक्तिका निषेध कर लेता है और इस प्रकार पौरुषहीन बना रहता है। वह उस निर्देशन-रहित जहाजके समान है, जो बिना आगे बढ़े इधर-उधर थपेड़े खाता हुआ नष्ट हो जाता है।"[२] "बिना ईश्वरमें जीवित श्रद्धाके वह (अहिंसामें जीवित श्रद्धा) असम्भव है। उसके बिना उसमें (सत्याग्रहीमें) ऐसा साहस ही न होगा कि वह बिना क्रोधके, बिना डरके और बिना बदलेकी भावनाके अपनी जान दे सके। ऐसे साहसका स्रोत यह विश्वास है कि ईश्वर सबके हृदयमें स्थित है और उसकी उपस्थितिमें भय न होना चाहिये। ईश्वरके सर्व-शक्तिमान होनेके ज्ञानका अर्थ है ऐसोंके भी जीवनके लिए सम्मान, जिन्हें विरोधी या गुण्डे कहा जाता हो।"[३] "वास्तवमें साधक अहिंसामें अपनी शक्तिसे काम नहीं करता। उसे शक्ति ईश्वरसे मिलती है।"[४] "इस ज्ञानके कारण कि शरीरके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है, वह (सत्याग्रही) इसी शरीरमें सत्यकी विजय देखनेको अधीर नहीं हो उठता। वास्तवमें विजय तो इस बातका प्रयत्न करनेमें जान दे देनेकी क्षमतामें है कि विरोधीको वह सत्य प्रदर्शित किया जा सके, जिसको सत्याग्रही उस समय अभिव्यक्त करता है।"[५] इसीलिए गांधीजीके अनुसार "ईश्वरमें अडिग श्रद्धा अहिंसक मनुष्यकी प्रथम और अन्तिम ढाल है।"[६] "सत्याग्रहीका एकमात्र शस्त्र ईश्वर है, मनुष्य उसे चाहे जिस नामसे जाने। उसके बिना सत्याग्रही दानवी शस्त्रोंसे युक्त विरोधीके सामने शक्तिहीन है। लेकिन जो ईश्वरको अपना एकमात्र रक्षक मान लेता है, वह बड़ीसे बड़ी ऐहिक शक्तिके सामने भी न झुकेगा।"[७]

दूसरी ओर सामान्य कार्योंसे ईश्वरका निषेध असहायताकी भावना उत्पन्न करता है और लोगोंको हिंसामें आस्था रखनेकी प्रेरणा देता है। इस प्रकार गांधीजीने १९२१ में लिखा था: "हम सभी व्यावहारिक प्रयोजनोंके

१. ह०, २४–८–'४७, पृ० २८५।
२. ह०, २०–७–'४७, पृ० २४०।
३. ह०, १८–६–'३८, पृ० १५२।
४. ह०, १८–८–'४०, पृ० २५६।
५. स्पीचेज़, पृ० ५०४।
६. ह०, १३–१०–'४०, पृ० ३१८।
७. ह०, १९–१०–'४०, पृ० ३१९।

लिए नास्तिक हो गये हैं। और इसीलिए हम विश्वास करते हैं कि जीवनमें हमें अपनी रक्षाके लिए शरीर-शक्ति पर ही निर्भर रहना चाहिये।"[१]

गांधीजीके इस निश्चित मतको एक रहस्यवादी संतका तर्कहीन अन्ध-विश्वास कहकर टाल देना नितान्त अनुचित है। ईश्वर केवल पलायनवाद अथवा कोरी काल्पनिक कथामात्र नहीं है। ईश्वर मनुष्यका केन्द्रीय सत्य और जगतकी एकताका आधार है। हम ससीमको तव तक नहीं समझ सकते जव तक हम यह न जान लें कि असीममें ही उसका आधार है। ईश्वरमें श्रद्धा रखे विना न मनुष्यको अपनेमें श्रद्धा हो सकती है, न दूसरेमें। यह विचारणीय वात है कि भूतकालके लगभग सभी अहिंसक प्रतिरोधकारियोंका ईश्वरमें दृढ़ विश्वास रहा है। पश्चिमके युद्ध-विरोधी भी प्रायः गांधीजीसे इस वातमें सहमत हैं। इंग्लैण्डकी युद्ध-विरोधी संस्था, पीस-प्लेज यूनियनके मैक्स प्लोमन साहव अनुरोधपूर्वक कहते हैं कि युद्ध-विरोधीके लिए यह आवश्यक है कि वह ईश्वरको जीवनके श्रेष्ठतम मूल्यका प्रतीक और प्रत्येक व्यक्तिमें अन्तर्निहित माने।[२] दूसरी ओर साम्यवाद, समाजवाद और पूंजीवादका मूल है भौतिकवाद।

ईश्वर

गांधीजी इस वातकी परवाह नहीं करते कि ईश्वरकी क्या परिभाषा की जाती है; वे जानते हैं कि "परमेश्वरकी परिभाषाएं अगणित हैं; क्योंकि उसकी विभूतियां भी अगणित हैं।"[३] "ईश्वर अवर्णनीय है और अज्ञात है, क्योंकि वह प्रत्येक मनुष्यमें और प्रत्येक वस्तुमें है। . . . वह प्रत्येक वस्तुमें है . . . अतः उसका कोई भी वर्णन पर्याप्त नहीं।"[४] गांधीजी स्वयं विशेष रूपसे ईश्वरको मूक निर्धन जनता, प्रेम और सवसे अधिक सत्यके साथ समीकृत करते हैं। "सत्य शब्दका मूल सत् है। सत्के माने हैं होना, सत्य अर्थात् होनेका भाव। सिवा सत्यके और किसी चीजकी हस्ती ही नहीं है। इसलिए परमेश्वरका सच्चा नाम सत् अर्थात् सत्य है। इसलिए परमेश्वर सत्य है, ऐसा कहनेके वदले सत्य ही परमेश्वर है, यह कहना ज्यादा सही है।"[५]

---

१. यं० इं०, भाग – १, पृ० ७२०।

२. ह०, २५–६–'३८, पृ० १६३।

३. आत्मकथा, प्रस्तावना, पृ० ८।

४. वार, पृ० १००। स्वयं गांधीजी उसका वर्णन शुद्ध, पवित्र, चेतन, प्रत्येक वस्तुमें व्याप्त, परिभाषातीत रहस्यमय शक्ति, शुद्धतम एवं सारतत्त्व आदिके रूपमें करते हैं।

५. आत्म-शुद्धि, पृ० १।

सत्यकी शक्ति और आवश्यकता पर किसीको भी, नास्तिकको भी, आपत्ति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त "ईश्वर सत्य है, लेकिन ईश्वर और भी बहुत कुछ है।" इसलिए गांधीजी यह कहना अधिक उचित समझते हैं कि सत्य ईश्वर है।[1] और मानव-वाणीमें सम्भवतः इसे ईश्वरकी सर्वाधिक पूर्ण परिभाषा मानते हैं।[2]

ईश्वर या सत्य, उनका विश्वास है, अन्तर्निहित तत्त्वमात्र नहीं है, वह अतिक्रमण करनेवाला तत्त्व भी है। वह केवल हममें निहित ही नहीं, हमसे परे भी है। वह विश्वका जीवन ही नहीं है, वह उससे परे उसका स्रष्टा, पालक और न्यायकर्ता भी है।[3]

ईश्वर-सम्बन्धी हिन्दू धारणा इतनी सूक्ष्म और व्यापक है कि उसे व्यक्त करना सरल नहीं। वह अनन्त, पूर्ण, निरपेक्ष कहा जाता है, परन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट रूपसे माना जाता है कि ईश्वर सभी विधेयोंसे परे है। वास्तवमें सभी विधेय अपर्याप्त माने जाकर अस्वीकृतिके लिए ही प्रस्तुत किये जाते हैं। ईश्वर-सम्बन्धी इस धारणाके साथ साथ मानव आत्मा और ईश्वरका समीकरण भी एक सुविदित सिद्धान्त है। अतएव ईश्वर-सम्बन्धी यह सामान्य हिन्दू धारणा कि वह सृष्टि, पालन और संहारकी तीन शक्तियोंसे सम्पन्न परम पुरुष है, परम्पराके प्रतिकूल नहीं मानी जा सकती। वास्तवमें यह कहा जा सकता है कि ईश्वर-सम्बन्धी आस्तिक धारणा "मनुष्यकी गम्भीरतम दार्शनिक अन्तर्दृष्टिकी परम्परागत अभिव्यक्ति है।"[4]

यह बात गांधीजीके ध्यानमें है कि ईश्वर तत्त्वतः व्यक्ति नहीं अपितु सत्य, स्वयं अपना नियम है।[5] उनका विश्वास है कि जिसको ईश्वरके सम्पर्ककी आवश्यकता है, उसके लिए ईश्वर व्यक्ति-स्वरूप भगवान है और भक्त प्रार्थना और

---

१. ह०, २५-५-'३५, पृ० ११५।

२. डायरी, भाग-१, पृ० १०६। गांधीजीने अपनी युवावस्थामें ही 'सत्य'को ईश्वरकी सबसे सच्ची परिभाषाके रूपमें चुन लिया था। उन्होंने तब कहा था, "ईश्वर सत्य है"। किन्तु १९२९ में वे एक पग और आगे बढ़े और कहने लगे, "सत्य ईश्वर है"।—बापूज लेटर्स टु मीरा, पृ० १८९; देखिये ह०, १८-८-'४६, पृ० २६८, "उनका अन्तिम लेख"।

३. ह०, १४-११-'३६, पृ० ३१४; २०-१-'३७, पृ० ४०७; यं० इं०, भाग-२, पृ० ४९७।

४. आनन्द के० कुमारस्वामी—जोसेफ कैम्पबेल कृत 'दि हीरो विथ ए थाउजण्ड फेसेज'में उद्धृत, पृ० ३८२।

५. ह०, २३-३-'४०, पृ० ५५। गांधीजीके अनुसार ईश्वरका नियम संक्षेपमें ब्रह्मचर्यका नियम है।

शुद्धताके अभ्यास द्वारा भगवानके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। अपने लेखोंमें उन्होंने भगवानके सृष्टि और लयके कार्यकी अपेक्षा उसके प्रेम पर अधिक जोर दिया है। भगवान विश्वका स्रष्टा, शासक और स्वामी है और विना उसकी इच्छाके घासका एक तिनका भी नहीं हिल सकता।[१]

ईश्वर हमारा न्यायकर्ता है, लेकिन वह बड़ा सहनशील और धैर्यवान है और हमको चेतावनी देता रहता है।[२] वह बड़ा भयंकर भी है। "वह हमारे साथ वही करता है जो हम अपने पड़ोसियोंके साथ करते हैं। उसके साथ अज्ञानका वहाना नहीं चलता।"[३] अनेक अवसरों पर जब गांधीजीको प्रतीत हुआ कि उन्होंने भूल की, तब उन्होंने यह भी अनुभव किया कि ईश्वरने उन्हें चेतावनी दी और उन्होंने अपनी भूल सुधार ली। उनका विश्वास है कि मनुष्य-जाति पर पड़नेवाली प्राकृतिक विपत्तियां भी असंगत दैवी इच्छाका फल नहीं, उसके पापोंका उचित परिणाम हैं।[४]

भगवान असहायोंका सहायक और पथ-निर्देशक भी है। गांधीजी सच्चे वैष्णव थे और सोते-जागते जीवनके प्रतिक्षण उन्हें भगवानका ध्यान रहता था। वे लिखते हैं, ". . . छाती पर हाथ रखकर मैं कह सकता हूं कि एक मिनटके लिए भी मैं भगवानको भूलता नहीं।"[५] उनका जीवन ईश्वरके साक्षात्कारके अनवरत प्रयत्नकी कथा है और वे दूर-दूरसे विशुद्ध सत्यकी — ईश्वरकी — झलक भी देखते थे। यह वात उन्हें प्रतिक्षण कांटेकी तरह चुभती रहती थी कि वे ईश्वरसे दूर थे।[६] वे पूरी तरह उसके सहारे रहते थे, अपूर्व नम्रतासे वे उसके पथ-प्रदर्शनकी वाट जोहते थे। और उन्हें अनुभव होता था कि जैसे-जैसे समय वीतता गया उसकी आवाज उनको अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ने लगी।[७] अधिकसे अधिक अन्धकारपूर्ण परिस्थितियोंमें और वड़ीसे वड़ी

---

१. ह०, १४–११–'३६, पृ० ४०७ और ४१०।

२. यं० इं०, भाग–३, पृ० १७८।

३. यं० इं०, भाग–१, पृ० ४९७।

४. ह०, ७–७–'३४, पृ० १ और ४। गांधीजीके इस विश्वासके कारणोंके लिए देखिये ह०, ६–४–'३४, पृ० ६१ और ८–६–'३५, पृ० १३५।

५. यं० इं०, भाग–२, पृ० ६५।

६. आत्मकथा, प्रस्तावना, पृ० ८।

७. ह०, ९–५–'३३। क्या आपको कोई रहस्यात्मक अनुभव हुआ है? — इस प्रश्नके उत्तरमें एक बार उन्होंने कहा, "यदि रहस्यात्मक अनुभवसे आपका आशय दर्शनसे हो तो वह नहीं हुआ। . . . परन्तु उस आवाजका मुझे बहुत भरोसा है, जो मेरा पथ-प्रदर्शन करती है।"

तेन्दुलकर आदि: गांधीजी, हिज़ लाइफ एण्ड वर्क, पृ० ६०–६१।

मुसीवतोंमें अन्तिम क्षण पर उसकी सहायता गांधीजीको अप्राप्य नहीं होती थी। और यह सहायता उनके लिए अव्यक्त ईश्वरका दृश्य हाथ था।[1] प्रायः ईश्वरके नाम पर, उसकी पुकारके उत्तरमें, उन्होंने उपवास किये हैं। उनको कुछ वास्तविक रहस्यवादी अनुभव भी हुए हैं। उनके शब्दोंमें वर्णित एक निम्नलिखित अनुभव है:

"उसका सम्वन्ध अस्पृश्यता-निवारणके लिए किये गये मेरे २१ दिनके उपवाससे है। मैं सो गया था। . . . रातके लगभग १२ वजे किसीने मुझे अचानक जगा दिया और किसी आवाजने चुपकेसे कहा, 'तुझे उपवास करना होगा।'

'कितने दिनका?' मैंने पूछा।

आवाजने कहा, '२१ दिनका।'

'उसका आरम्भ कव होगा?' मैंने पूछा।

उसने कहा, 'तुम कल प्रारम्भ करो।'

"इस प्रकारका अनुभव मेरे जीवनमें इसके पूर्व या वादमें कभी नहीं हुआ।"[2] ". . . मेरा मन उसके लिए तैयार न था, मेरा रुझान उसके विपरीत था। लेकिन वात इतनी स्पष्ट थी जितनी कि हो सकती थी।"[3] एक अन्य अवसर पर उन्होंने अपने अनुभवका वर्णन इन शब्दोंमें किया है, "मैंने कोई रूप नहीं देखा . . . परन्तु मैंने जो आवाज सुनी वह दूरकी होते हुए भी अत्यन्त समीपकी आवाजके समान थी। उसके विषयमें उसी प्रकार भ्रम नहीं होता था जैसे किसी मानवीय आवाजके वारेमें, जो निश्चित रूपसे मुझे आदेश दे रही थी और जो उपेक्षित नहीं की जा सकती थी। जिस समय मैंने आवाज सुनी थी उस समय मैं स्वप्न नहीं देख रहा था। उस आवाजके सुननेके पूर्व मेरे अन्दर एक भीषण संघर्ष हुआ था। एकाएक वह आवाज आयी। मैंने सुना और निश्चित कर लिया कि यह (ईश्वरीय) आवाज है, और मेरा (आन्तरिक) संघर्ष वन्द हो गया। मैं शान्त हो गया।

१. आत्मकथा, भाग–२, पृ० ४३२।

२. ह०, १०–१२–'३८, पृ० ३७३।

३. ह०, १४–५–'३८, पृ० ११०। हो सकता है कि आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोणकी संकीर्णता और रूढ़िवादिता गांधीजीके इस असाधारण आध्यात्मिक अनुभवको अविश्वसनीय और भ्रमपूर्ण वता दे। लेकिन भारतकी आध्यात्मिक परम्पराके अनुसार यदि साधक आध्यात्मिक साधना द्वारा गीताके वुद्धियोगको प्राप्त कर ले, तो उसमें सत्यके दर्शनकी क्षमता विकसित हो जाती है। निस्सन्देह पचाससे भी अधिक वर्षो तक गांधीजी स्थितप्रज्ञके लिए आवश्यक साधनाके अभ्यासमें निरन्तर प्रयत्नशील थे।

उसके अनुसार मैंने निश्चय कर लिया और उपवासका दिन तथा समय नियत हो गया . . .।"[१]

यद्यपि गांधीजी कभी कभी आस्तिककी भाषाका प्रयोग करते हैं, पर ईश्वर-सम्बन्धी विचारोंमें वे अत्यन्त उदारचेता हैं। हम ऊपर लिख आये हैं कि गांधीजी ईश्वरको सत्यके साथ समीकृत करते हैं। वे उसको प्रेम, नीति और विधि, अन्तरात्मा इत्यादिके साथ भी समीकृत करते हैं। उन्होंने एक वार कहा था कि ईश्वर व्यक्तिकी 'अनन्त गुनी आत्मश्रद्धा है।'[२] उनके शब्दोंमें, "आप किसी सिद्धान्तमें विश्वास कीजिये, उसको जीवनका जामा पहनाइये और कहिये कि वह आपका ईश्वर है। . . . मैं उसे मानूंगा।"[३]

आत्मा

गांधीजीके लिए ईश्वर और मनुष्यमें कोई विरोध नहीं है। मनुष्यमें और निम्न-कोटिकी सृष्टिमें आत्मा ही परम तत्त्व है; वह देश, कालसे परे है और पृथक् भास होनेवाले सभी जीवधारियोंमें एकात्मकताका सूत्र है। वे लिखते हैं, "मैं ईश्वरकी और इसलिए मानवताकी भी निरपेक्ष एकतामें विश्वास करता हूं। यद्यपि हमारे शरीर अनेक हैं, परन्तु हमारी आत्मा एक है।"[४] "मैं अद्वैतमें विश्वास करता हूं। मैं मनुष्यकी और इसलिए सभी जीवधारियोंकी आवश्यक एकतामें विश्वास करता हूं।"[५] गांधीजीका यह भी विश्वास है कि मानव जीवधारी सचेत अथवा अचेत रूपसे आध्यात्मिक एकात्म्यके साक्षात्कारके लिए प्रयत्नशील हैं।[६] ईश्वर और व्यक्तिकी आत्माका सम्बन्ध यह है कि यदि व्यक्ति अहंकारके बन्धन तोड़कर मानवताके महासागरमें अपनेको मिला देता है, तो वह उसके गौरवका भागी होता है; दूसरी ओर यदि वह यह अनुभव करता है कि वह भी कुछ है, तो वह अपने और ईश्वरके बीचमें

---

१. ह०, ६–५–'३३।

२. ह०, ३–६–'३९, पृ० १५१।

३. ह०, १७–६–'३९, पृ० १६७।

४. यं० इं०, भाग–२, पृ० ८१।

५. यं० इं०, भाग–२, पृ० ४२१। विख्यात सूत्र 'तत्त्वमसि' और 'सोऽहम्' तथा ईसाका यह कथन कि "मैं और मेरे पिता एक ही हैं" और वाइबिलके ये शब्द कि "इस प्रकार ईश्वरने मनुष्यको अपनी आकृतिका बनाया" मनुष्य और ईश्वरकी एकात्मकताकी इसी धारणाको अभिव्यक्त करते हैं।

६. सरकारके साथ गांधीजीका पत्र-व्यवहार, पृ० ८२।

एक अवरोध उत्पन्न कर लेता है। "...हम भी कुछ हैं, इस भावनाका परित्याग ही ईश्वरके साथ एक होना है।"[१]

सब जीवधारियोंकी मूलभूत एकता मनुष्योंके केवल भ्रातृत्वके सिद्धान्तसे कहीं उच्चतर सिद्धान्त है। यह महान सत्य मनुष्यको ईश्वरकी सृष्टिका स्वामी नहीं, सेवक बनाता है।[२] आत्माकी एकता और उसके स्वभावका एक दूसरा निष्कर्ष गांधीजीके तत्त्व-दर्शनमें बहुत महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यमें आत्मा ईश्वरीय तत्त्व है, आत्मा अपने-आप (बिना जड़ पदार्थोंकी सहायताके) कार्य कर सकती है; मृत्युके बाद भी उसका अस्तित्व रहता है; उसका अस्तित्व भौतिक शरीर पर निर्भर नहीं होता। इसलिए जो घटना एक शरीरधारी पर घटती है, उसका प्रभाव समग्र जड़ पदार्थो पर और सबकी आत्मा पर पड़ता है।[३] यही कारण है कि यदि एक मनुष्यका आध्यात्मिक विकास होता है, तो उसके साथ-साथ सारे संसारको लाभ होता है; और यदि एक मनुष्यका पतन होता है, तो उस अंशमें सारे संसारका पतन होता है।[४]

स्पष्ट है कि आत्मशक्तिकी भौतिक शक्तिके साथ तुलना नहीं की जा सकती। गांधीजीके शब्दोंमें, "संसारकी दूसरी शक्तियां महान हैं; ... आत्माकी शक्ति महानतम है।"[५] वे आत्माकी शक्तिको अहिंसाके साथ समीकृत करते हैं और कहते हैं कि अपूर्ण मनुष्यके लिए वह तत्त्व पूरी तरह ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य उसके पूर्ण प्रकाशको सहन न कर सकेगा। लेकिन जब आत्मशक्तिका लघुतम अंश भी मनुष्यके अन्दर सक्रिय हो जाता है, तब वह आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है।[६]

ज्ञानके साधन

लेकिन ईश्वर और आत्मामें गांधीजीके विश्वासका क्या आधार है, यह प्रश्न गांधीजीके राजनैतिक तत्त्व-दर्शनमें बहुत महत्त्व रखता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, गांधीजीके लिए सत्य ईश्वर है, इसलिए आध्यात्मिक तत्त्वको जाननेका ठीक साधन उन सिद्धान्तोंका निर्देश करेगा, जिनके अनुसार कठिन नैतिक परिस्थितियोंमें सत्याग्रही उचित कार्य-पद्धतिका निश्चय करेगा।

---

१. यरवडा मंदिर, पृ० ४६।
२. ह०, २६–१२–'३६, पृ० ३६५।
३. ह०, १२–११–'३८, पृ० ३२६–२७।
४. यं० इं०, भाग–२, पृ० ४२१।
५. ह०, २२–८–'३७, पृ० २२०।
६. ह०, ३०–१०–'३७, पृ० ३२६।

बहुतसे विचारकोंके अनुसार सत्यको इन्द्रियोंके द्वारा अथवा बुद्धिसे नहीं जाना जा सकता। इन्द्रियजन्य ज्ञान पदार्थोंके बाह्य गुणोंसे परे नहीं जा सकता। पश्चिमके कुछ दार्शनिकों हेगेल, बोसांके आदिका मत है कि विश्वके परम तत्त्वका ज्ञान बुद्धिके द्वारा हो सकता है। उनके अनुसार (परम तत्त्व या) सत्य बुद्धिमय (rational) है। इस प्रकार बोसांके यथार्थताकी परिभाषा विचार द्वारा स्वीकृत पदार्थके रूपमें करते हैं। किन्तु बुद्धि स्वयं ज्ञाताके ज्ञानका साधन नहीं हो सकती और यह (स्वयंका) ज्ञान समग्र ज्ञानकी पूर्व-मान्यता और शर्त है। बृहदारण्यकमें याज्ञवल्क्य पूछते हैं, "जो सबको जानता है, वह अपने आपको कैसे जान सकता है? ज्ञाताका ज्ञान किस प्रकार सम्भव है?"[१] इस प्रकार "मैं हूं" का आधार "मैं सोचता हूं" नहीं है, क्योंकि फिर "मैं सोचता हूं" को भी सिद्ध करना होगा और इस प्रकार तर्ककी एक अनन्त शृंखला बन जायगी। आत्म-चेतना बुद्धि द्वारा नहीं उत्पन्न हो सकती। जहां तक बाह्य पदार्थोंका सम्बन्ध है, बुद्धि द्वारा हमें उनकी वास्तविकताका नहीं, उनके आभासका धारणात्मक ज्ञान होता है।

गांधीजी भी परम तत्त्वके ज्ञानके साधन-स्वरूप इन्द्रियों और बुद्धिको अपर्याप्त समझते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर "अवर्णनीय, अचिन्त्य और अमाप्य" है। वह इन्द्रियों और बुद्धिसे परे है। "हम उसे इन्द्रियों द्वारा जाननेमें सदा असफल होंगे, क्योंकि वह उनसे परे है। यदि हम अपने आपको इन्द्रियोंसे हटा लें, तो हम उसका अनुभव कर सकते हैं। दैवी संगीत हमारे अन्दर निरंतर हो रहा है, किन्तु कोलाहल करनेवाली इन्द्रियां इस कोमल संगीतको दबा देती हैं।"[२] "उसे जाननेके लिए बुद्धिवादका उपयोग ही क्या हो सकता है? वह तो बुद्धिसे अतीत है।"[३] बुद्धि ईश्वरके ज्ञानके मार्गमें सहायता तो नहीं कर सकती, केवल अवरोध उत्पन्न कर सकती है। आत्मानुभूति बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा नहीं, परन्तु जीवित श्रद्धाके आधार पर ही हो सकती है। श्रद्धाका स्रोत हृदय है।[४] "ईश्वरकी अनुभूति बुद्धिके द्वारा नहीं हो सकती। बुद्धि केवल कुछ दूर तक ले जा सकती है, उससे आगे नहीं। ईश्वरका साक्षात्कार श्रद्धा और श्रद्धा द्वारा प्राप्त अनुभवकी

---

१. येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

२. ह०, १३–६–'३६, पृ० १४१।

३. हिं० न० जी०, २१–१–'२६; सुमन : गांधी-वाणी, पृ० ६६ पर उद्धृत।

४. ह०, १८–६–'३८, पृ० १५३।

वात है। . . . पूर्ण श्रद्धाको अनुभवकी कमी नहीं प्रतीत होती।"[१] "जो वुद्धिसे परे है वह निश्चित रूपसे वुद्धिके प्रतिकूल नहीं है। . . . किसीसे ऐसी वात पर विना प्रमाणके विश्वास करनेके लिए कहना, जिसके सम्वन्धमें प्रमाण दिया जा सकता है, वुद्धिके प्रतिकूल है। . . . परन्तु एक अनुभवी व्यक्तिका विना सिद्ध किये दूसरे व्यक्तिसे ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करनेके लिए कहना विनम्रतापूर्वक अपनी सीमाओंकी स्वीकृति है और अपने अनुभवके कथनको दूसरेसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार करनेके लिए कहना है। . . . श्रद्धाके विना यह संसार एक क्षणमें नष्ट हो जायगा। सच्ची श्रद्धा उन लोगोंके वुद्धिसंगत अनुभवको स्वीकार करना है, जिन्होंने हमारे विश्वासके अनुसार प्रार्थना और तपस्या द्वारा शुद्ध जीवन विताया है। इसलिए प्राचीन युगोंके पैगम्वरों या अवतारों पर आस्था कोरा अन्धविश्वास नहीं है, वल्कि एक आन्तरिक आध्यात्मिक आवश्यकताकी परितुष्टि है। गांधीजीके अनुसार पथ-प्रदर्शनका सूत्र यह है कि यदि कोई वात प्रमाणित की जा सकती है, तो इस वातको अस्वीकार कर देना चाहिए कि वह श्रद्धाके आधार पर मान ली जाय; किन्तु यदि किसी वातका प्रमाण व्यक्तिगत अनुभूतिके अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं हो सकता, तो उसे श्रद्धाके आधार पर निर्विवाद स्वीकार कर लेना चाहिए।"[२] "आत्मा अथवा ईश्वर ज्ञानका विषय नहीं। वह स्वयं ज्ञाता है, अतः वुद्धिसे परे है। ईश्वरको जाननेके दो चरण हैं। प्रथम है श्रद्धा तथा दूसरा और अन्तिम चरण उस (श्रद्धा) से उत्पन्न अनुभव-ज्ञान है।"[३] इस प्रकार "श्रद्धा वुद्धिका खंडन नहीं करती, वरन् उसका अतिक्रमण करती है। श्रद्धा उन मामलोंमें काम करनेवाली एक प्रकारकी छठी इन्द्रिय है, जो वुद्धिके क्षेत्रसे वाहर हैं।"[४] "श्रद्धा अन्तर्वासी ईश्वरकी जीवित, सुजागृत चेतनाके अतिरिक्त कुछ नहीं है।"[५]

ईश्वर वुद्धिसे परे अवश्य है, "पर एक सीमित अंश तक ईश्वरके अस्तित्वको प्रमाणों द्वारा समझना सम्भव है।"[६] इस वाक्यसे गांधीजीका आशय यह मालूम पड़ता है कि यद्यपि वुद्धिकी सीमाएं हैं तव भी, जैसा कि कांटका भी मत था, वह हमें ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करनेसे नहीं रोकती।

---

१. ह०, ४-८-'४६, पृ० २४९।
२. यं० इं०, भाग-३, पृ० १४३।
३. डायरी, भाग-१ में उद्धृत गांधीजीका पत्र, पृ० १३५।
४. ह०, ६-३-'३७, पृ० २६।
५. यं० इं०, भाग-२, पृ० ११११६।
६. यं० इं० भाग-३, पृ० ८७०।

गांधीजीका एक तर्क यह है कि हम विश्वको एक अतिक्रमण करनेवाली
की मान्यताके विना नहीं समझ सकते। गांधीजीके शब्दोंमें, "विश्वमें
स्था है और प्रत्येक अस्तित्ववान वस्तु और जीवधारीका संचालन
वाला अपरिवर्तनीय नियम है। यह नियम अन्ध-नियम नहीं है, क्योंकि
-नियम जीवधारियोंके व्यवहारका अनुशासन नहीं कर सकता। और
तो सर जगदीशचन्द्र वोसके आश्चर्यजनक अनुसन्धानोंके फलस्वरूप यह
किया जा सकता है कि जड़ पदार्थोंमें भी जीवन है। सब प्रकारके
नका अनुशासक नियम ही ईश्वर है। नियम और नियम-निर्माता
ही हैं।"[१]

इसके अतिरिक्त गांधीजी यह भी कहते हैं कि धर्मकी पद्धति विज्ञानकी
तिसे विपरीत नहीं है। वैज्ञानिक सत्यकी परख वैज्ञानिकोंकी वताई हुई
तिसे होती है और इस परखमें उनके कहनेके अनुसार कुछ वातोंको
कर चलना पड़ता है। दृष्टांतके तौर पर विद्युत्का ज्ञान गेलवेनो-मीटर
के यन्त्रके द्वारा परीक्षाके बिना सम्भव नहीं है। "ऋषियों और पैगम्बरोंका
ठीक यही कहना है। वे कहते हैं कि कोई भी उनके चले हुए मार्गका
गामी होकर ईश्वरकी अनुभूति कर सकता है।"[२] संसारके धर्मग्रंथोंके
य और ऋषियोंके अनुभवको न मानना अपने आपको न मानना है।[३]

फिर, ईश्वर और उसके नियमको न माननेसे हम उसके अनुशासनसे
त नहीं हो सकते, जब कि दैवी सत्ताकी विनम्र और मौन मान्यता
.न-यात्राको सुगम बना देती है।[४]

गांधीजीके इन तर्कोंका विस्तृत विवेचन अनावश्यक है। कांटने यह
र्शित किया है कि परम तत्त्वके ज्ञानके लिए बुद्धि अपर्याप्त है और
वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिए दी हुई युक्तियां दोषपूर्ण होती
। गांधीजीका भी यह विश्वास है कि अनुभूति इन्द्रियों और बुद्धिके द्वारा
सम्भव है। बुद्धि केवल इतना ही कर सकती है कि वह श्रद्धा द्वारा
वरके अस्तित्वमें उत्पन्न विश्वासका औचित्य प्रदर्शित करे।

संक्षेपमें गांधीजीका अनुरोध है कि आत्मा मनुष्यका केन्द्रीय तथ्य है
ार देवत्व या ईश्वरमें अटल श्रद्धा आदर्श जीवनके लिए और अहिंसात्मक
तिरोधके उपयोगके लिए आवश्यक है। और अन्य कर्तव्योंका बन्धन वहीं

१. यं० इं०, भाग–३, पृ० ८७१।
२. ह०, १३–६–'३६, पृ० १४०।
३. यं० इं०, भाग–३, पृ० ८७१; ह०, १३–६–'३६, पृ० १४०।
४. यं० इं०, भाग–३, पृ० ८७१।

तक मान्य है जहां तक वे सत्यके प्रति आधारभूत भक्तिसे मेल खाते हैं। इसमें किसीको आपत्ति न होगी कि अपनी ईश्वर-सम्बन्धी धारणामें गांधीजी परम उदार हैं। उनके लिए ईश्वर केवल वास्तविकताका, सत्यका, नियमका और विश्वमें व्याप्त सामंजस्यका ही दूसरा नाम है। उनका यह मत कि ईश्वर और आत्मामें विश्वास श्रद्धाकी बात है, सन्तों और पैगम्बरों द्वारा अनुमोदित है।

कर्म और पुनर्जन्म

गांधीजी कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तोंमें भी विश्वास करते हैं। उनके अनुसार "कर्मका नियम अटूट है, और टाला नहीं जा सकता। इस प्रकार उसमें ईश्वरके हस्तक्षेपकी शायद ही कोई आवश्यकता हो। उसने नियम निर्धारित कर दिया और अलग-सा हो गया।"[१] "हम स्वयं अपने भाग्यके निर्माता हैं। हम अपने वर्तमानको सुधार या बिगाड़ सकते हैं और इसी पर हमारा भविष्य निर्भर होगा।"[२]

पुनर्जन्मके सिद्धान्तके बारेमें वे लिखते हैं, "मैं पुनर्जन्ममें उतना ही विश्वास करता हूं जितना अपने वर्तमान शरीरके अस्तित्वमें। इसलिए मैं जानता हूं कि थोड़ा भी प्रयत्न व्यर्थ न जायगा।"[३]

ये दोनों सिद्धान्त अप्रमाणित सिद्धान्त नहीं हैं। वे जीवनके नियन हैं, जिनको भारतके ऋषियोंने आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टिसे जाना था और अपने अनुभवसे जांचा था। कर्मके नियमको नैतिक धारावाहिकताका नियम या नैतिक कारणत्वका नियम भी कहते हैं।[४] यह मनुष्यके विकासको अनुशासित करनेवाला

---

१. आत्मकथा (अं०), भा–१, पृ० ५६३।

ईसाई धर्मग्रंथोंमें भी इस नियमका हवाला है, "धोखा मत खाओ, ईश्वरका उपहास नहीं किया जा सकता, क्योंकि जैसा मनुष्य करेगा वैसा ही वह भरेगा भी।" (गैलेशियन्स, ६, ७) ईसामसीहने पर्वत पर कहा था, "किसी (के चरित्र) का निर्णय तुम न करो, जिससे तुम्हारे साथ भी ऐसा न हो। क्योंकि जिस प्रकार तुम निर्णय करोगे वैसे ही तुम्हारे साथ भी होगा। और जिस मापसे तुम मापोगे उसी मापसे फिर तुमको भी मिलेगा।" (मैथ्यू, ७, १–२)

२. ह०, ८–६–'४७, पृ० १७६।

३. यं० इं०, भाग–२, पृ० १२०४।

४. देखिये राधाकृष्णन् : एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ, अ० ८; दि हार्ट ऑफ हिन्दुस्तान, पृ० १ और १११।

नियम है। भारतीय परम्पराके अनुसार हमारे वे कार्य जो सहेतुक होते हैं, कुछ-न-कुछ संस्कार छोड़ जाते हैं। ये संस्कार गत्यात्मक होते हैं और हमारे भविष्यका निर्धारण इन्हीं संस्कारों द्वारा होता है।[1] इस नियमके अनुसार हमारा भविष्य वर्तमानमें से उसी प्रकार विकसित होगा, जिस प्रकार वर्तमान हमारे भूतकालका परिणाम है। तथापि इस नियममें अपराधोंके दंडकी अपेक्षा धारावाहिकता पर कहीं अधिक वल दिया गया है। यदि हम यह मान लें कि इस विश्वके पीछे एक सप्रयोजन वास्तविकताका अस्तित्व है, तो कर्मका सिद्धान्त मनुष्योंकी असमताकी एकमात्र वुद्धिसंगत व्याख्या है।

पुनर्जन्मका सिद्धान्त[2] हिन्दुओंमें ऋग्वेदके कालसे मान्य रहा है। यह वात युक्तिसंगत मालूम होती है कि जब तक मनुष्यको पूर्ण आत्मानुभूति न हो जाय, उसे आत्म-विकासके लिए अनवरत अवसर मिलना चाहिए और मृत्युसे इस अवसरमें वाधा नहीं पड़नी चाहिए।

कर्तृ-स्वातन्त्र्य या संकल्प-स्वातन्त्र्य

तथापि कर्मके नियमको माननेका यह अर्थ नहीं कि गांधीजीके अनुसार मनुष्यका जीवन और उसके कार्य पूरी तरह निर्धारित हैं। इस प्रकारका नियतवाद नैतिक प्रयासको पंगु वना देगा और नैतिकताका मूलोच्छेद कर देगा। निरपेक्ष नियतवादका अर्थ होगा मनुष्यकी सृजनशीलताका निषेध और मनुष्यसे स्वशासनके अधिकारको छीन लेना। कर्मके नियम और संकल्प-स्वातन्त्र्यमें कोई विरोध नहीं। वास्तवमें कर्मके नियमका अर्थ है स्वतन्त्रता, क्योंकि उसके अनुसार मनुष्य स्वयं अपने प्रारब्धका निर्माता है। भूतकालके साथ जीवनकी धारावाहिकतामें मनुष्यका सृजनशील स्वातन्त्र्य अन्तर्हित है। निस्सन्देह हमारे पूर्वकर्म हमारे संकल्प-स्वातन्त्र्यको मर्यादित करते हैं। गांधीजीके शब्दोंमें, "जिस संकल्प-स्वातन्त्र्यका हम उपभोग करते हैं वह उससे भी कम है, जो एक यात्रीको मनुष्योंसे भरे जहाजके डेक पर होता है।"[3] लेकिन हमारा यह सीमित स्वातन्त्र्य इस अर्थमें वास्तविक है कि हम इस स्वतन्त्रताकी उपयोग-विधिके चुनावमें स्वतन्त्र हैं। गांधीजीका मत है कि विश्वका सवसे वड़ा जनतंत्रवादी ईश्वर हमको "वुराई और अच्छाईमें

---

१. देखिये रिव्यू ऑफ फिलासफी ऐंड रेलिजन, अप्रैल १९३९, पृ० २७ और ३३।

२. इस सिद्धान्तके लिए देखिये ऊपर उद्धृत एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ, पृ० २८६–८७।

३. ह्र०, २३–३–'४०, पृ० ५५।

चुनाव करनेकी पूरी छूट देता है।"[1] भूल करनेका अधिकार, जिसका अर्थ है प्रयोग करनेकी स्वतन्त्रता, प्रगतिकी शर्त है।

लेकिन यद्यपि हमारा संकल्प स्वतन्त्र है, "परिणाम पर हमारा नियंत्रण नहीं है; हम प्रयत्नमात्र कर सकते हैं।"[2] इसके अतिरिक्त, "मनुष्य अपने स्वभावकी स्थितिको बदल सकता है; उसे अपने वशमें कुछ हद तक कर सकता है; पर उसे जड़से कौन बदल सकता है? जगत्कर्ताने मनुष्यको यह स्वतंत्रता नहीं दे रखी है। शेर अगर अपने चमड़ेकी विचित्रताको बदल सकता हो, तो मनुष्य भी अपने स्वभावकी विचित्रताको बदल सकता है।"[3] गांधीजीके अनुसार पूर्ण अनासक्तिकी उपलब्धिके द्वारा मनुष्य पिछली भूलोंके प्रभावसे छुटकारा पा सकता है।[4] परन्तु अनासक्तिके लिए अधिकतम प्रयास करने पर भी मनुष्य अपने वातावरण तथा अपने पालन-पोषणके प्रभावसे पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकता।[5] इस प्रकार गांधीजी ऐसे पूर्ण स्वातंत्र्यमें विश्वास नहीं करते, जिसके कारण मनुष्य अपनेको प्रकृतिसे पृथक् कर ले अथवा उसका अतिक्रमण कर जाय। इस प्रकारके स्वातन्त्र्यका अर्थ होगा अव्यवस्था।

मनुष्यकी आध्यात्मिकतामें विश्वास होनेके कारण गांधीजी इस धारणाको नहीं मानते कि मनुष्य पूरी तरहसे अपने वातावरणके हाथका खिलौना है। वे वातावरणके प्रभावको घटाकर नहीं बताते। वे जानते हैं कि अधिकांश मनुष्यों पर वातावरणका प्रमुख प्रभाव होता है। लेकिन

---

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० ४९७। बहुतसे विचारकोंका मत है कि यद्यपि वर्तमान पर भूतकालका प्रभाव पड़ता है, परन्तु भूतकाल वर्तमानको पूरी तरह निर्धारित नहीं करता और मनुष्य अपने व्यवहारके नियमनके लिए कल्पित भविष्यका भी प्रयोग करता है। उदाहरणके लिए, देखिए 'जर्नल ऑफ फिलासफी', ४१, १२, पृ० ३२० और आगे। आधुनिक सामाजिक दर्शनकी यह सुविख्यात मान्यता है कि कारणका परिणाम पर नितांत नियन्त्रण नहीं है। कारणका केवल यह अर्थ है कि परिणामके उत्पादनकी संभावना है। किस अंश तक संभावना है, इसका हिसाब किसी विशेष स्थितिमें आंकड़ों द्वारा लगाया जा सकता है। कारणत्वकी इस आधुनिक धारणाके अनुसार भी निरपेक्ष नियतवाद असंगत है।

२. ह०, ६–५–'३९, पृ० ११२।

३. दक्षिण अफ्रीकामें सत्याग्रह, पृ० २१९।

४. ह०, ७–४–'४६, पृ० ७२।

५. यं० इं०, ३०–१–'३०, पृ० ३७।

उनका यह भी मत है कि मनुष्यके जीवनका आधार आदतें नहीं, संकल्पका प्रयोग या आत्म-संचालन होना चाहिए।[१]

बुराईका प्रश्न

संकल्प-स्वातंत्र्यकी समस्यासे बुराईकी समस्याका निकटका संबंध है। गांधीजी कहते हैं कि वे "किसी बौद्धिक रीतिसे बुराईके अस्तित्वकी व्याख्या नहीं कर सकते।" तथापि बुराई सीमित मानवीय दृष्टिकोणसे ही वास्तविक है। ईश्वरके लिए न तो कुछ अच्छा है न बुरा है।[२] परन्तु अच्छाई और बुराईकी आपेक्षिकताकी धारणा उनको मान्य नहीं, क्योंकि व्यावहारिक जीवनकी नैतिक समस्याओंमें उसका उपयोग हमें पथभ्रष्ट कर देगा।[३] गांधीजीके शब्दोंमें "प्रकाश और अंधकारकी प्रतीक होनेके कारण अच्छाई और बुराई मानवीय प्रयोजनोंके लिए एक-दूसरेसे पृथक् और असंगत हैं।"[४] "अच्छाईका स्वयं अपने-आपमें अस्तित्व है, बुराईका नहीं। बुराई अच्छाईके चारों ओर और उस पर निर्भर रहनेवाली परजीवीकी भांति है। अच्छाईका सहारा हट जाने पर बुराई अपने आप ही हट जायगी।"[५] "किन्तु अच्छाई और बुराई मानवीय प्रयोजनोंके लिए एक-दूसरेसे भिन्न और असंगत हैं; वे प्रकाश और अंधकारकी प्रतीक हैं।"[६] "बुराई स्वयं बांझ है। वह स्वयं विनाशक है; वह अपनेमें अन्तर्निहित अच्छाईके द्वारा जीती और पनपती है। विज्ञान हमें सिखाता है कि एक लीवर (बोझ उठानेका यंत्र) तब तक किसी वस्तुको हटा नहीं सकता, जब तक उसका आश्रय-स्थान हटाई जानेवाली वस्तुके बाहर न हो। उसी प्रकार बुराईको जीतनेके लिए मनुष्यको पूरी तरह उससे परे, अर्थात् शुद्ध अच्छाईके दृढ़, ठोस तल पर रहना होगा।"[७] इस प्रकार बुराईको हटानेके लिए साधनोंकी शुद्धता आवश्यक है। परन्तु साधनोंकी शुद्धता पर जोर देते हुए गांधीजी इसके प्रति भी सचेत हैं कि "कुछ परिस्थितियोंमें जो अच्छाई है वही भिन्न परिस्थितियोंमें बुराई अथवा पाप बन जाती है।"[८]

---

१. यं० इं०, भाग–३, पृ० ३१४; मॉडर्न रिव्यू, अक्तूबर १९३५, श्री निर्मलकुमार वसुका लेख, पृ० २०३।

२. ह०, २–९–'३५, पृ० २३३।

३. यं० इं०, भाग–३, पृ० ८७२।

४. ह०, २०–२–'३७, पृ० ९।

५. ह०, १४–९–'४७, पृ० ३२३-२४।

६. ह०, २०–२–'३७, पृ० ९।

७. यं० इं०, भाग–१, पृ० २२५–२६।

८. ह०, ९–६–'४६, पृ० १७२।

गांधीजीका यह भी विश्वास है कि बुराई मनुष्यके इच्छा-स्वातन्त्र्यके दुरुपयोगका परिणाम है।[1] गांधीजी मानते हैं कि प्रगतिकी योजनामें बुराईका स्थान है। विकास सदा प्रयोगोंके आधार पर होता है और प्रगतिका मार्ग है भूलोंका होना और उनका सुधार। कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धांतोंसे ज्ञात होता है कि क्रमशः मनुष्य बुराइयोंको कम करता रहेगा।

गांधीजीने बुराईकी दार्शनिक व्याख्या पर इतना ध्यान नहीं दिया है जितना विशेष प्रकारकी राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक बुराइयों पर। १९२८ में उन्होंने लिखा था: "मैं यह भी जानता हूं कि मैं ईश्वरको कभी नहीं जान पाऊंगा, यदि मैं बुराईके साथ और उसके विरुद्ध युद्ध न करूं, भले ही उसमें मेरे प्राण चले जायं।"[2] अपने दीर्घकालीन सार्वजनिक जीवनमें बुराईके विरुद्ध अनवरत संघर्ष उनका विशिष्ट कार्य रहा है। इस धर्मयुद्धमें वे वातावरणकी उपेक्षा नहीं करते। उन्होंने एक नई नैतिक युद्ध-पद्धतिका विकास किया। उनके तत्त्व-दर्शनमें राजनैतिक, आर्थिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रोंमें सामूहिक जीवनके संचालनके अहिंसात्मक मार्गका प्रतिपादन है। लेकिन उनके हृदयके सबसे समीप, उनकी चेतनाके केन्द्रमें व्यक्ति है। विकासके पथ पर पहला पग व्यक्तिका होगा। व्यक्तिके नैतिक सुधारका उनके तत्त्व-दर्शनमें प्राथमिक स्थान है। उन्होंने मनुष्यके ध्येयका विवेचन किया है और बतलाया है कि किस प्रकार व्यक्ति इस ध्येयकी ओर बढ़ सकता है। ये नैतिक सिद्धांत उनके राजनैतिक तत्त्व-दर्शनके अविभाज्य अंग हैं, क्योंकि इन सिद्धान्तोंके अनुसार अपने जीवनका निर्माण करके ही मनुष्य अच्छा नागरिक और सत्याग्रही बन सकता है।

---

१. गांधी-अर्विन समझौतेके बाद गांधीजीका वक्तव्य: हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० ७५१।

२. यं० इं०, भाग–३, पृ० ८७२।

३

नैतिक सिद्धांत–१ : साध्य और साधन

साध्य

गांधीजीके अनुसार मानव-जीवनका परम साध्य आत्मानुभूति है। आत्मानुभूतिका अर्थ है ईश्वरसे साक्षात्कार, निरपेक्ष सत्यका अनुभव, मोक्षप्राप्ति अथवा आत्मज्ञान। वे आध्यात्मिक एकताके सिद्धान्तमें विश्वास करते हैं। इसलिए मनुष्योंकी प्रत्यक्ष सेवा इस प्रयासका आवश्यक अंग है; क्योंकि ईश्वर-प्राप्तिका एकमात्र मार्ग है ईश्वरको उसकी सृष्टिमें देखना और उसके साथ एक हो जाना। व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह केवल अपने ही आध्यात्मिक विकासके लिए नहीं, वल्कि दूसरोंके आध्यात्मिक विकासके लिए भी प्रयत्नशील हो। इस प्रकार गांधीजी आत्मानुभूति और समाज-सेवामें सामंजस्य स्थापित करते हैं। उनको यह धारणा मान्य नहीं कि मुक्तिकी प्राप्ति केवल एकांतमें, अकेले रहकर, ही हो सकती है। उनके निकट आत्मानुभूतिका अर्थ है "सबके अधिकसे अधिक हितकी सिद्धि।"[१] सबके अधिकसे अधिक हितमें या, जैसा वे इसे गुजरातीमें कहते हैं, सर्वोदयमें राजनीतिक उन्नति भी शामिल है, क्योंकि राजनैतिक अध:पतन नैतिक और आध्यात्मिक उन्नतिके मार्गमें वड़ी रुकावट है। तथापि राजनीति इस ध्येयका एक अंशमात्र है। गांधीजी इस वात पर भी जोर देते हैं कि सवकी सेवाका सवसे अच्छा मार्ग है अपने ही देशकी सेवा, क्योंकि देशवासी हमारे निकटतम पड़ोसी हैं।[२]

वे अधिकतम मनुष्योंके अधिकसे अधिक हितके उपयोगितावादी सिद्धान्तको जीवनके ध्येयके रूपमें अस्वीकार करते हैं। क्योंकि अपने नग्न रूपमें इसका अर्थ है ५१ प्रतिशत व्यक्तियोंकी कल्पित भलाईकी उपलब्धिके लिए ४९ प्रतिशत व्यक्तियोंके हितका वलिदान। यह एक हृदयहीन सिद्धान्त है और इसने मानवताको हानि पहुंचायी है। सबके अधिकसे अधिक हितका सिद्धान्त ही एकमात्र वास्तविक, गौरवपूर्ण मानव-सिद्धान्त है और यह केवल चरम आत्म-बलिदान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।[३] १९२६ में उन्होंने लिखा, "वह (अहिंसावादी) सबके अधिकसे अधिक हितके लिए प्रयास करेगा

---

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० ९५६।

२. ह०, २९–८–'३६, पृ० २२६। पड़ोसियोंकी सेवा पर गांधीजी क्यों जोर देते हैं, इसके विस्तृत विवेचनके लिए देखिये अध्याय ४।

३. डायरी, भाग–१, पृ० २०१।

और इस आदर्शकी प्राप्तिके प्रयासमें प्राण दे देगा। . . . सबके अधिकसे अधिक हितमें अनिवार्य रूपसे बहुसंख्यकका हित भी सम्मिलित है, इसलिए वह (अहिंसावादी) तथा उपयोगितावादी अपनी जीवन-यात्रामें अनेक बातोंमें मिलेंगे, परन्तु एक समय ऐसा आयेगा जब उनको अलग होना पड़ेगा और विपरीत दिशाओंमें भी काम करना पड़ेगा। यदि उसका व्यवहार तर्कसंगत है, तो उपयोगितावादी कभी अपना बलिदान नहीं करेगा। निरपेक्षवादी स्वयं अपना बलिदान भी कर देगा।"[१]

साधनोंकी नैतिकता

परम साध्यसे साधनकी समस्याका निकटतम सम्बन्ध है। कम्युनिस्ट, फासिस्ट और अधिकतर व्यावहारिक राजनीतिज्ञोंका इस सिद्धान्तमें विश्वास है कि साधनके औचित्यका आधार साध्य है। दूसरे शब्दोंमें, यदि साध्य वांछनीय है, तो जो भी साधन साध्यप्राप्तिमें सहायक हों वे उचित हैं। इस दृष्टिकोणसे धूर्तता, धोखा और हिंसा जैसे साधनोंका प्रयोग न्यायोचित कार्यको पूरा करनेमें नीतियुक्त है। लेकिन गांधीजी इस धारणाको हानिकर और भ्रमपूर्ण बताते हैं। गांधीजीके तत्त्व-दर्शनमें साध्य और साधनमें कोई अन्तर नहीं है। साध्य और साधन अलग नहीं किये जा सकते और दोनोंको समान रूपसे शुद्ध होना चाहिये। उनके लिए यह पर्याप्त नहीं है कि साध्य उच्च और श्लाघ्य है; यह भी आवश्यक है कि साधन नैतिक हों। वास्तवमें उनके निकट साधन ही सब-कुछ हैं।[२]

गांधीजी जो साधनोंकी नैतिकता पर इतना जोर देते हैं, उसका एक कारण यह है कि मनुष्यका अधिकार केवल साधनों पर है, साध्य पर नहीं। वह प्रयत्न कर सकता है, लेकिन परिणाम उसके हाथमें नहीं। इसके अतिरिक्त साधन ही विकसित होकर साध्य बन जाता है। गांधीजीके शब्दोंमें, "जैसा साधन वैसा साध्य"।[३] "साधन बीज है और साध्य वृक्ष; इसलिए जो सम्बन्ध बीज और वृक्षमें है, वही सम्बन्ध साधन और साध्यमें है।"[४] गीताके निष्काम कर्मके सिद्धान्तसे भी हमको यही शिक्षा मिलती है कि अच्छे कामका अच्छा ही परिणाम होता है। इसलिए गांधीजीका विश्वास है कि "यदि कोई साधनोंकी शुद्धताका ध्यान रखे, तो साध्य अपने आप ठीक रहेगा।"[५] "जिस अनुपातमें साधनका अनुष्ठान होगा, ठीक उसी अनुपातमें

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० ९५६।
२. यं० इं०, भाग–२, पृ० ४३५, ३६४।
३. यं० इं०, भाग–२, पृ० ३६४।
४. हिंद स्वराज, पृ० ६०।
५. यं० इं०, भाग–१, पृ० ७१४; ह०, ११–२–'३९, पृ० ४८।

ध्येयप्राप्ति होगी।"[१] इसीलिए गांधीजी कहते हैं कि "स्वराज्य-प्राप्तिके लिए किया गया प्रयत्न स्वयं स्वराज्य ही है।"[२]

फिर गांधीजीका व्यक्तिगत अनुभव भी यही बताता है कि जब कभी साधनोंके सम्बन्धमें उनसे कोई त्रुटि हो गई, तो सत्य और अहिंसाका आन्दोलन पिछड़ गया। राजकोटका मामला इसका एक दृष्टांत है। सन् १९३९ में उन्होंने राजकोटके शासकके हृदय-परिवर्तनके लिए उपवास किया। साथ ही उन्होंने वाइसरायसे प्रार्थना की कि वे राजकोटके शासकको बाध्य करें कि वह शासन-सुधारकी योजनाके लिए एक कमेटी नियत करनेके सम्बन्धमें अपने वादेको पूरा करे। गांधीजीके अनुसार उपवास करनेके साथ-साथ ब्रिटिश सरकारसे हस्तक्षेप करनेकी प्रार्थना अधैर्यकी सूचक थी, यह एक प्रकारकी हिंसा थी, और इसलिए उपवाससे शासकका हृदय-परिवर्तन न हो सका।

साध्य-साधनके सम्बन्धमें एकमात्र गांधीजीका सिद्धांत ही युक्ति-संगत है। इसका विरोधी सिद्धान्त, जिसके अनुसार सब प्रकारके साधनोंका, हिंसात्मक साधनोंका भी, औचित्य साध्यकी अच्छाई पर निर्भर है, व्यवहारमें संकटपूर्ण और नैतिक दृष्टिकोणसे असंगत है। इस पिछले सिद्धान्तके अनुसार यदि साध्य न्याय्य है, तो हिंसा, धूर्तता, असत्य, अवसरवादिता आदि सबका प्रयोग वैध है। लेकिन इन साधनोंके प्रयोगसे हम विकासके पथ पर तो नहीं बढ़ पाते, उलटे मनुष्यको साध्यकी अपेक्षा साधनमात्र समझने लगते हैं और हमारी उच्च भावनाएं कुंठित होने लगती हैं तथा अन्त होता है उत्पीड़न और नृशंसतामें। इसके अतिरिक्त सामान्यतः यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि हिंसापूर्ण कार्यका हेतु सदा अच्छा साध्य ही होता है। अत्याचारी और आतंकवादी अधिकसे अधिक अमानुषी अपराध भी उच्च साध्योंके नाम पर ही करते हैं। फिर किसी कार्य या नीतिकी तात्कालिक सफलता मात्रको ही उसके औचित्यकी कसौटी मान लेना एक संकटमय नैतिकता है। यह भी याद रखना चाहिये कि तात्कालिक परिणामोंमें, जो अल्पजीवी होते हैं और जिनमें सफलताका आभास मात्र होता है, तथा वास्तविक स्थायी उपलब्धियोंमें, जिनकी सिद्धिमें पर्याप्त समय लग जाता है, आकाश-पातालका अन्तर है। कभी-कभी ऐसा मालूम होता है कि हिंसा और धूर्तता, आतंकवाद और कुटिल नीतिकी सत्य और प्रेम, न्याय और स्पष्ट व्यवहार पर विजय हो गई है। लेकिन हिंसा और अन्यायकी जीत आंशिक और क्षणिक होती है और उनके लाभ निरे भार-स्वरूप होते हैं। केवल अच्छे साधन ही हमें स्थायी शांति और उन्नतिकी ओर ले जा सकते हैं। इतिहास और साथ ही अनुभव हमें शिक्षा देता है कि

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० ३६४।
२. स्पीचेज, पृ० ७२०।

हिंसा और द्वेष प्रतिहिंसा और प्रतिकारकी भावनाको दृढ़ करते हैं, और
एक युद्ध दूसरे युद्धोंका बीज बोता है। प्रकट रूपसे न्याय और जनतंत्रकी
रक्षाके लिए लड़े गये पिछले दो महायुद्ध इस युक्तिकी पुष्टि करते हैं।

यदि हमको ऊपर वर्णित परम साध्य और जीवनकी आधारभूत एकता
मान्य है, तो हक्सलेके शब्दोंमें अच्छे साध्यका अर्थ होगा "अधिकतम एकी-
करणकी स्थिति।" प्रकट है कि इस स्थितिकी प्राप्ति एकता स्थापित करनेवाले
अर्थात् अच्छे साधनों द्वारा ही हो सकती है, विभाजक या पृथकत्व उत्पन्न
करनेवाले बुरे साधनों द्वारा नहीं।[१] टॉल्स्टॉयके शब्दोंमें, "वे सब जिनका
झुकाव मनुष्य-जातिका एकीकरण करनेकी ओर है शिव और सुन्दर हैं।
वे सब जिनका झुकाव पृथक्‌ता लानेकी ओर है अशुभ और असुन्दर हैं।"[२]

गांधीजी साधनोंके महत्त्व पर जोर अवश्य देते हैं, पर इससे यह गलत
धारणा नहीं बना लेनी चाहिये कि उनके लिए साध्य केवल एक गौण वस्तु
है। उनका विश्वास है कि साध्य और साधनमें अभिन्नताका सम्बन्ध है और
वे उत्सुक हैं कि प्रयुक्त साधन किसी तरह हमारे साध्यकी नैतिकताको कम
न कर सकें। इसीलिए वे बार-बार अनुरोध करते हैं कि हमारा साधन
उतना ही शुद्ध होना चाहिये जितना साध्य और हमें "शुद्ध अच्छाईके दृढ़,
ठोस तल पर" अटल रहना चाहिये। साध्य और साधनके नैतिक समीकरणके
सिद्धांतको सत्याग्रहके रूपमें अभिव्यक्त करनेका गांधीजीका प्रयत्न क्रांतिकी
पद्धति और दर्शनको आधुनिक संसारको सर्वश्रेष्ठ देन है।

नैतिक अनुशासन

परम साध्यकी सिद्धि किन साधनों द्वारा हो सकती है? गांधीजीके
अनुसार आत्मानुभूतिके लिए आत्मशुद्धिकी आवश्यकता है और आत्मशुद्धिके
लिए नैतिक अनुशासनकी। गांधीजीका निश्चित मत है कि "जो भी नीतिके
नियमोंके अनुसार अपने जीवनका निर्माण करनेके लिए तैयार नहीं है, उसे
शब्दके पूर्ण अर्थमें मनुष्य नहीं कहा जा सकता।"[३] यह नैतिक दृष्टिकोण
गांधीजीके राजनैतिक तत्त्व-दर्शनको उसी प्रकार निर्धारित करता है, जिस
प्रकार उनके आध्यात्मिक विश्वास उनके नैतिक सिद्धांतोंका आधार हैं। उनके
अनुसार व्यक्तिका नैतिक अनुशासन समाजके पुनर्निर्माणका सबसे अधिक
महत्त्वपूर्ण साधन है और उनके तत्त्व-दर्शनमें इस अनुशासनका वही प्राथमिक
स्थान है, जो साम्यवाद और फासिज्ममें राज्यशक्ति और राज्यकी संस्थाओं

---

१. ए० हक्सले: एन्ड्स एंड मीन्स, पृ० ३२०-२१।

२. टॉल्स्टॉयके रोमां रोलांको फ्रेन्चमें लिखे एक पत्रका डॉ० कालिदास
नाग द्वारा अनुवाद: मॉडर्न रिव्यू, जनवरी १९२७।

३. एथिकल रेलिजन, पृ० ३६।

पर बलपूर्वक अधिकार कर लेनेका है। अहिंसक राज्यका संगठन भी इन्हीं नैतिक सिद्धांतोंसे निर्धारित होता है।

गांधीजीने उन नैतिक नियमोंका विवेचन किया है, जिनका पालन मनुष्यको व्रतकी भांति करना चाहिए। उन्होंने ये नियम सन् १९१६ में सावरमती आश्रमके सदस्योंके लिए निर्धारित किये थे। इनमें से अधिकांशको हिन्दू शास्त्र हजारों वर्षोंसे नैतिक विकासके लिए आवश्यक मानते आये हैं। इनमें से पहले पांच व्रत — सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य हिन्दू शास्त्रकारोंके अनुसार 'यम' अर्थात् आवश्यक अनुशासन हैं। सन् १९१६ के वर्षों पहलेसे गांधीजी इन आदर्शोंके अनुसार अपने जीवनका निर्माण करनेका प्रयत्न कर रहे थे और उन्होंने अपने अनुभवके अनुसार इनमें आवश्यक परिवर्तन किये हैं और इनका विस्तृत विवेचन किया है।

गांधीजीका विचार है कि व्रतोंका नैतिक अनुशासन आत्मानुभूतिके लिए नितान्त आवश्यक है। व्रतका अर्थ है जो काम करना उचित है उसे चाहे जो हो, करना।[1] व्रत शक्तिके स्रोत हैं, क्योंकि वे नैतिक नियमों पर चलनेके अटल निश्चयके सूचक हैं। यदि हम व्रत न लें तो अड़चनों, मुसीबतों और परीक्षाओंमें फिसल जायं और दृढ़ता खो बैठें। इसके अतिरिक्त व्रत लेनेकी अनिच्छा दुर्बलताकी द्योतक है और जिस चीजसे हमें बचना चाहिए उसके प्रति सूक्ष्म आसक्ति प्रकट करती है। तथापि व्रत उन्हीं नियमोंके लेना चाहिए जो सर्वमान्य हों। परन्तु व्रत लेनेका यह अर्थ नहीं कि हम व्रत लेते ही उसका सम्पूर्ण पालन करने लग जायं। "व्रत लेनेका अर्थ है, उसका सम्पूर्ण पालन करनेके लिए मन, वचन और कर्मसे प्रामाणिक तथा दृढ़ प्रयत्न करना।"[2] व्रतोंके विषयमें सन्देह होने पर व्रतीको स्वयं अपने विरुद्ध अधिकाधिक संयमके पक्षमें उनका अर्थ करना चाहिए।[3]

सत्य

सत्य गांधीजीके जीवन और दर्शनका ध्रुव-तारा है, और इन व्रतोंमें उसका प्रथम स्थान है।[4]

१. आत्म-शुद्धि, पृ० ६२-६३।

२. वही, पृ० १९, ६१ और ६४; और ऊपर उद्धृत 'गांधीजी — हिज़ लाइफ एंड वर्क,' पृ० ३६६।

३. वापूज़ लेटर्स टु मीरा, पृ० ४३।

४. ईसाकी शिक्षामें भी सत्यकी वड़ी महत्ता है। ईसाका कहना था, "तुम सत्यको जानोगे और सत्य तुमको मुक्त कर देगा।" और "मैंने इसलिए जन्म लिया और मैं इस कारण संसारमें आया हूं कि मैं सत्यका साक्षी बनूं।" जॉन, ८, ३२; १८, ३७।

गांधीजी सत्यके दो प्रकार बताते हैं—(१) साधन या व्रतरूप सत्य, आंशिक या आपेक्षिक सत्य, जैसा कि ससीम व्यक्ति परिस्थिति-विशेषमें उसे जान पाता है; और (२) साध्यरूप सत्य, निरपेक्ष, सार्वभौम, पूर्ण सत्य, जो देश-कालसे परे है।

निरपेक्ष सत्यको गांधीजी ईश्वरके साथ समीकृत करते हैं। उनके निकट सत्य ईश्वर है और ईश्वर सत्य है। दूसरे अध्यायमें बताया गया है कि किस प्रकार गांधीजीके अनुसार केवल 'सत्य' ही, जिसका अर्थ है वह 'जिसका वास्तवमें अस्तित्व है', ईश्वरका सही और पूरी तरहसे अर्थयुक्त नाम है। पूर्ण सत्यमें समस्त ज्ञान (चित्) भी सम्मिलित है और ज्ञान शाश्वत आनन्दका स्रोत है। इसीलिए हम ईश्वरको सच्चिदानन्दके नामसे जानते हैं।[१] गांधीजी ईश्वरके सत्यरूपके ही पुजारी हैं, सत्यके अतिरिक्त अन्य किसीके नहीं।[१]

सर्वोदय तत्त्व-दर्शनका आधार है यह अटल नियम कि केवल सत्यकी ही सफलता हो सकती है, क्योंकि 'सत्य' का अर्थ है 'वह जिसका अस्तित्व है', जब कि 'असत्य' का अर्थ है वह 'जिसका अस्तित्व नहीं है'। "जहां असत् अर्थात् अस्तित्व ही नहीं है, उसकी सफलता कैसे हो सकती है? और जो सत् अर्थात् 'है' उसका नाश कौन कर सकता है।"[२]

लेकिन गांधीजी जैसे महानुभाव भी, जिनका असाधारण आध्यात्मिक विकास हो गया है, दूर-दूरसे विशुद्ध सत्यकी झलक ही देख पाते हैं। गांधीजीके शब्दोंमें, "सत्यका सम्पूर्ण दर्शन देह द्वारा नहीं हो सकता—असम्भव है। . . . क्षण-भंगुर देह द्वारा शाश्वत धर्मका साक्षात्कार होना सम्भव नहीं।"[३]

शुद्ध, निरपेक्ष सत्यकी अनुभूतिका साधन क्या है? गांधीजीका मत है कि शुद्ध सत्यकी ओर अग्रसर होनेके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य उसकी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है उसी आपेक्षिक सत्यके अनुसार जीवन व्यतीत करनेका प्रयत्न करे।[४] सत्यकी अनुभूतिके लिए मनुष्यको सत्याग्रही बनना होगा। शाश्वत सत्यकी अनुभूतिका यही मार्ग है कि हम सत्यको परिस्थिति-विशेषमें जैसा जान सकें उसीके अनुसार चलें, उसका जो प्रकाश हमें दिखाई दे उसीको दीप-स्तम्भ समझें। "किसी विशेष समय पर एक शुद्ध हृदय जो

---

१. आत्म-शुद्धि, पृ० २; आत्मकथा, भाग–१, पृ० ७; ह०, २५–५–'३५, पृ० ११५।

२. दक्षिण अफ्रीकाका सत्याग्रह, उत्तरार्द्ध, पृ० १३७।

३. आत्मकथा, प्रस्तावना; आत्म-शुद्धि, पृ० ५।

४. आत्मकथा, प्रस्तावना, पृ० ८; ह०, २५–५–'३५, पृ० ११४।

अनुभव करता है, वह सत्य है और उस पर अडिग रहकर ही शुद्ध सत्य प्राप्त किया जा सकता है।"[१] "प्रकृतिसे सत्यका स्वयं-साक्ष्य है।" परन्तु अपूर्ण होनेके कारण मनुष्य अज्ञानके जालसे उसे घेरे हुए हैं। अज्ञान समस्त बुराइयोंकी जड़ है। जब शुद्ध आचरण अज्ञानको दूर कर देता है, तो सत्य स्पष्ट प्रकाशित हो जाता है।[२] गांधीजीके लिए सत्यसे ऊंचा कोई धर्म नहीं।[३] सत्यके नियमका सम्बन्ध केवल सत्य-भाषणसे नहीं, वल्कि कार्य और विचारके सत्यसे भी है। और न सत्य केवल सन्त-महात्माओं तक ही सीमित आदर्श है। सत्यका सम्बन्ध जीवनके सब क्षेत्रोंसे है और इनमें राजनीति भी सम्मिलित है। सत्यकी खोजका मार्ग है सबकी सेवा, और उसका अर्थ है जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें पुर्ननिर्माणके लिए निरन्तर प्रयत्न और जो प्रयोजन मनुष्यको सत्य मालूम पड़े उसकी सिद्धिके लिए सब-कुछ संकटमें डालनेके लिए तैयार रहना। यदि मनुष्य ऐसा नहीं करता तो वह सत्यके रास्तेसे विमुख हो जाता है, स्वयं अपनी आत्माका निषेध कर देता है और नैतिक विनाशकी ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार सत्यके अर्थमें न्यायसंगत सामाजिक संबंध —उदाहरणके लिए, अपने देशकी और दूसरे देशोंकी राजनैतिक स्वतन्त्रता —भी सम्मिलित हैं।

पक्षपात, टाल-मटोल, दुराव, धोखा तथा वास्तविकताको घटा-बढ़ाकर बताना या दबाना—इन सबके लिए सत्यमें कोई स्थान नहीं है। सत्यके लिए यह भी आवश्यक है कि मनुष्य अपनी भूल माननेसे या चले हुए गलत रास्तेसे लौटनेमें न डरे। मनुष्य जिस सत्यको देख पाता है वह आंशिक और आपेक्षिक होता है। इसलिए सत्यका यह भी अर्थ है कि हम परस्पर सहिष्णु हों और कटुता और कट्टरतासे बचें। सत्य व्यक्तिगत आचारके लिए सच्चा पथ-प्रदर्शक है, लेकिन दूसरोंको इस बात पर मजबूर करना कि वे इसी प्रकार आचरण करें, उनकी अन्तरात्माकी स्वतन्त्रताके साथ असह्य हस्तक्षेप है।[४] इसके अलावा "कटुता हमारी दृष्टिको धुंधला कर देती है और उस हद तक हमको सीमित सत्य देखनेके भी अयोग्य बना देती है।"[५] कटुता या कठोरता आध्यात्मिक एकताके आधारभूत सिद्धान्तके भी विरुद्ध है, वह पृथक्ता-उत्पादक और विभाजक है और उसके कारण हम एकताको भुला बैठते हैं। इसलिए गांधीजीके अनुसार,

---

१. ह०, २७-११-'४९, पृ० ३४०।
२. यं० इं०, भाग-२, पृ० ७८१।
३. एथिकल रेलिजन, पृ० ५१।
४. यं० इं०, भाग-२, पृ० ११८२।
५. यं० इं०, भाग-२, पृ० १२८६।

"यदि हम सत्यको विनम्रतासे नहीं कह सकते तो उसे न कहना ही अच्छा। ... अहिंसाके विना सत्य सत्य नहीं वरन् असत्य है।"[1] लेकिन अहिंसात्मक सत्य या विनम्र भाषणका यह अर्थ नहीं कि कपटपूर्ण रीतिसे या घुमा-फिराकर वात की जाय। "कठोर सत्य शिष्टतासे और नम्रतासे कहा जाय, लेकिन पढ़नेमें तो शब्द कठोर ही होंगे। सत्यवादी होनेके लिए आपको झूठेको झूठा कहना होगा — शायद शब्द कठोर हैं, लेकिन उनका प्रयोग अनिवार्य है।"[2] इस वातको स्पष्ट करनेके लिए गांधीजी ईसाका उदाहरण देते हैं: "ईसा धूर्तोंको जानते थे, उनके वर्णनमें उन्होंने झूठी विनम्रता नहीं वरती, किन्तु उनके लिए दयाकी याचना की।"[3] लेकिन कठोर सत्य कहनेवालेका इरादा विपक्षीको हानि पहुंचानेका न होना चाहिए।

गांधीजीने व्यक्तिगत जीवनके और देशके जीवनके विविध क्षेत्रोंमें सत्यकी खोजके लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया था। उनकी अनुसन्धान-पद्धति निरीक्षण (Hypothesis) और प्रयोगकी सामान्य वैज्ञानिक पद्धति है। जव कभी उनको अपनी भूल मालूम पड़ती थी, वे उसे तुरन्त मान लेते थे और अपने प्रयोगमें हेर-फेर कर देते थे, जिससे उस सामाजिक प्रश्न-विशेषको हल करनेका ठीक मार्ग मालूम हो जाय। जव उनको कोई मार्ग ठीक लगता था तो किसी दूसरे पर उसकी परीक्षा करनेके पूर्व उसकी पहली परीक्षा वे अपने ऊपर करते थे। रिचर्ड ग्रेगके शब्दोंमें, "वे सामाजिक सत्यके क्षेत्रमें महान वैज्ञानिक हैं। उनके महान वैज्ञानिक होनेके कारण हैं, समस्याओंका उनका चुनाव, उनको हल करनेकी उनकी समाधान-पद्धति, उनके अन्वेषणकी व्यापकता, अध्यवसाय और मनुष्य-स्वभावका उनका गम्भीर ज्ञान।"[4] गांधीजीने स्वयं १९३३ में कहा था, "सत्याग्रहका विज्ञान मुझे वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा प्राप्त हुआ है। यह मनुष्य द्वारा सम्भव कठोरतम परिश्रमका परिणाम है। इस अनुसन्धानमें मैंने वैज्ञानिककी समस्त कुशलता लगा दी है।"[5]

सत्यका ज्ञान

गांधीजीके अनुसार प्रत्येक मनुष्यको अपने लिए सत्य-निर्धारणका अधिकार और क्षमता प्राप्त है; और यही क्षमता वह आवश्यक गुण है, जो मनुष्यको जानवरोंसे अलग करता है। निस्सन्देह उस मनुष्यके लिए, जो अपने

---

१. यं० इं०, भाग—२, पृ० १२९५।
२. ह०, ६–२–'३७, पृ० ४१४।
३. ह०, १९–१२–'३६, पृ० ३६२।
४. राधाकृष्णन्: महात्मा गांधी, पृ० ८
५. कनवर्सेशन्स, पृ० ४१।

निजी प्रयाससे सत्यका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, उच्च नैतिक और बौद्धिक योग्यताकी आवश्यकता है। "जिन्होंने सत्यके प्रयोग किये हैं, वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि . . . कठोर प्रारंभिक अनुशासन आध्यात्मिक क्षेत्रमें प्रयोग करनेवाले व्यक्तिके लिए आवश्यक है।" लेकिन यह बौद्धिक और नैतिक उच्चता उन मनुष्योंके लिए आवश्यक नहीं, जो महान आत्माओं द्वारा ज्ञात सत्यको स्वीकार करते हैं, उस पर आचरण करते हैं और उसके लिए कष्ट सहन करते हैं। भारतवर्षके और बाहरके देशोंके सत्याग्रह-आन्दोलन इस सिद्धान्तकी सत्यता सिद्ध करते हैं। दक्षिण अफ्रीकाके भारतीय और सीमा-प्रान्तके पठान, जिन्होंने सत्याग्रहमें कठोर मुसीबतें उठाईं, साधारण सांस्कृतिक और नैतिक स्तरके मनुष्य थे। गांधीजीका विश्वास है कि जनतामें सत्यके लिए कष्ट-सहनकी क्षमता है, यद्यपि यह क्षमता कुछ परिस्थितियोंमें सीमित हो सकती है।[1]

सत्यके स्वतन्त्र अनुसन्धानके लिए उत्कृष्ट नैतिक जीवन आवश्यक है। गांधीजीके मतसे सत्यकी अनुभूतिके लिए निरन्तर अभ्यास, वैराग्य अर्थात् इन्द्रिय-वासनाओंके प्रति विरक्ति और सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रहके व्रत आवश्यक हैं। सत्यके सम्बन्धमें अंतरात्माकी आवाज सुननेका उचित दावा केवल वही कर सकता है, जिसने इस नैतिक अनुशासनका पालन किया हो। गांधीजीके अनुसार ये सब यम-नियम सत्यके निष्कर्ष हैं और उसकी अनुभूतिमें सहायता करना ही उनका प्रयोजन है।

सत्य और अहिंसा

सत्यकी अनुभूति केवल अहिंसाके द्वारा ही सम्भव है। हिंसाकी जड़ क्रोध, स्वार्थपरता, वासना इत्यादि विभाजक, पृथक्कारी प्रवृत्तियोंमें है, इसलिए हिंसाके द्वारा हम सत्यप्राप्तिके लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकते। हिंसा अज्ञान द्वारा उत्पन्न होती है। हिंसा असत्य है और असत्यका अर्थ है 'वह जिसका अस्तित्व नहीं'। यदि असत्य ही स्थायी होता और यदि कोई भी वस्तु अपने प्रति और दूसरोंके प्रति सत्य न होती, यदि जीवन और प्रकृतिके सब नियम अनिश्चित होते और हम उन पर निर्भर न रह सकते, तो यह विश्व अव्यवस्थित हो जाता।

लेकिन हिंसा असत्य क्यों है? एक कारण तो यह है कि मनुष्य-ज्ञात सत्य सदा आंशिक, आपेक्षिक होता है; वह पूर्ण शुद्ध और निरपेक्ष नहीं होता। मनुष्य एक ही वस्तुको विभिन्न दृष्टिकोणोंसे देखते हैं। सबकी अन्तरात्माकी आवाज एक ही नहीं होती। कोई मनुष्य इस बातका दावा नहीं कर सकता

१. यं० इं०, भाग-१, पृ० ३४-३६।

कि उसकी ही वात निरपेक्ष सत्य है। इसलिए सत्यकी खोजमें इस वातकी गुंजाइश नहीं कि विरोधीके साथ वल-प्रयोग किया जाय; विरोधीकी भूल-सुधारका मार्ग धैर्य और सहानुभूतिसे अर्थात् उसको कष्ट न देकर स्वयं कष्ट सहना है।[१] क्योंकि यदि सुधारक कष्ट-सहन द्वारा अन्याय या भूल दूर करनेका प्रयत्न कर रहा है और स्वयं गलती पर है, तो सुधारकके अतिरिक्त किसी दूसरेको कष्ट नहीं मिलेगा।

इसके अतिरिक्त हिंसाका आक्रमण केवल पाप, वुराई या अन्याय पर ही नहीं, वल्कि अपराधी और अन्यायी पर भी होता है। इस प्रकार हिंसा सर्व-श्रेष्ठ सत्य, सव जीवधारियोंकी एकता और पवित्रताके विरुद्ध अपराध है। सत्यकी खोजका अर्थ है सवके प्रति प्रेम और उनकी सेवा, अर्थात् सवके लिए कष्ट-सहनके द्वारा इस एकताकी अनुभूति। हिंसा हिंसक मनुष्य और पीड़ित दोनोंको इस एकताकी अनुभूतिसे रोकती है, क्योंकि वह उनकी क्रोध, डर, घृणा आदि भावनाओंको उकसाती है।

फिर, सत्य जो हमारे अनुसन्धानका विषय है, हमारे वाहर नहीं हमारे अन्दर ही है। जितना अधिक हम कठिनाइयां उत्पन्न करनेवालोंके साथ हिंसात्मक वर्ताव करते हैं, उतना ही अधिक हम सत्यसे दूर होते जाते हैं। वाहरके काल्पनिक शत्रुसे लड़नेमें हम आन्तरिक वास्तविक शत्रुकी उपेक्षा करते हैं।[२]

इस प्रकार अहिंसा आध्यात्मिक एकताके, या रिचर्ड ग्रेगके शव्दोंमें, सव जीवोंके 'आध्यात्मिक जनतन्त्र' के, महान सत्यका व्यावहारिक प्रयोग है। गांधीजीके शव्दोंमें, "वह मूलभूत सिद्धान्त, जो कि अहिंसाके व्यवहारका आधार है, यह है कि जो वात अपने वारेमें लागू है वही समस्त विश्वके वारेमें भी उसी प्रकार लागू है।"[३]

गांधीजीके अनुसार अहिंसा सम्पूर्ण धर्मका सार है। साध्य और साधन एक हैं,[४] इसलिए अहिंसा स्वयं सत्य है, उसकी आत्मा है, उसका प्रौढ़तम फल है। "अहिंसा और सत्य इतने ही ओतप्रोत हैं, जितने कि सिक्केके दोनों वाजू या चिकनी चकरीके दोनों पहलू।" उनको अलग-अलग करना और यह कहना कि कौन उलटा और कौन सीधा है वड़ा कठिन है।[५]

---

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० ३६; यं० इं०, भाग–२, पृ० ११८२; स्पीचेज़, पृ० ५०१; हिन्द स्वराज, पृ० १४५-४६।

२. फ्राम यरवडा मंदिर, पृ० १०।

३. ह०, १२–११–'३८, पृ० ३२९।

४. यं० इं०, भाग–२, पृ० ३९६; यं० इं०, भाग–३, पृ० १५४।

५. आत्म-शुद्धि, पृ० ८–९।

तब भी अहिंसा साधन है और सत्य साध्य। इसीलिए गांधीजी अहिंसाकी अपेक्षा सत्यके पुजारी अधिक हैं। वे सत्यके लिए अहिंसाका बलिदान कर सकते हैं, लेकिन सत्यका त्याग किसी भी वस्तुके लिए नहीं कर सकते।[1] वे लिखते हैं, "सत्यके मनन और खोजमें ही अहिंसाके रत्नका अनुसन्धान हुआ था।"[2] उनका अनुभव उनको बतलाता है कि यदि सत्य उनके हाथसे जाता रहे, तो वे अहिंसाकी गुत्थीको कभी सुलझा न सकेंगे।[3] उनके अनुसार सत्य सर्वोच्च नियम है, किन्तु अहिंसा सर्वोच्च कर्तव्य है।[4]

गांधीजीके अहिंसाको नहीं परन्तु सत्यको साध्य माननेका एक कारण यह है कि उनका विश्वास है कि सत्यका अस्तित्व देश-कालसे परे है, जब कि अहिंसाके अस्तित्वका संबंध केवल ससीम जीवधारियोंके पारस्परिक व्यवहारसे है।[5] सत्यको त्याग कर अहिंसा विमुक्तिका नहीं अधःपतनका साधन बन जाती है। गांधीजीके शब्दोंमें, "बिना सत्यके (शुद्ध) प्रेम नहीं होता; बिना सत्यके वह ऐसा देशप्रेम हो सकता है, जिससे दूसरोंको हानि पहुंचे, या एक युवकका एक लड़कीके लिए वासनामय अनुराग हो सकता है; या (सत्यके बिना) बुद्धिविरोधी अन्धप्रेम हो सकता है, जैसे अज्ञानी माता-पिताका अपने बच्चेके लिए होता है।"[6] किन्तु "अहिंसाके साधन होनेके कारण प्राकृतिक रूपसे दैनिक जीवनमें हमारा उसके साथ अधिक सम्बन्ध है, इसलिए जनताको अहिंसाकी शिक्षा देना चाहिए। सत्यकी शिक्षा प्राकृतिक परिणामके रूपमें उससे (अहिंसासे) आवेगी।"[7]

अहिंसा

सत्यकी तरह अहिंसा भी सर्वशक्तिमान और असीम है और ईश्वरका समानार्थक है।[8] अहिंसा हमारे अन्दर आत्मशक्ति या ईश्वरीय शक्ति है। जिस प्रकार आत्माका अस्तित्व बिना भौतिक शरीरके हो सकता है, उसी प्रकार अहिंसा भी देश-कालका अतिक्रमण करती है और बिना भौतिक

---

१. ह०, २८–३–'३६, पृ० ४९।

२. आचार्य कृपालानी : दि गांधियन वे (गांधीजीकी भूमिका)।

३. आत्मकथा, भाग–५, अ० २९, पृ० ३९५।

४. ह०, २८–३–'३६, पृ० ४९।

५. रिचर्ड ग्रेगसे गांधीजीकी एक बातचीत। देखिये 'पावर ऑफ नॉन-वायोलेन्स', पृ० २७६।

६. स्पीचेज़, पृ० ५०३।

७. ह०, २३–६–'४६, पृ० १९९।

८. ह०, १–५–'३७, पृ० ८९।

साधनोंकी सहायताके भी कार्य कर सकती है। वह संसारकी सबसे बड़ी और सबसे अधिक क्रियात्मक शक्ति है, वह विद्युत्से भी अधिक भावात्मक है, आकाश-तत्त्व (Ether) से भी अधिक बलवान है, दूसरी सब शक्तियोंके योगसे भी अधिक शक्तिशाली है, जीवनकी एकमात्र शक्ति है।[1]

सत्यकी तरह ही अहिंसा भी श्रद्धा और अनुभूतिका विषय है और एक सीमाके बाहर तर्कका विषय नहीं है। गांधीजीका मत है कि अहिंसा इतनी मन और बुद्धिकी बात नहीं है जितनी कि हृदय और आत्माका गुण है।[2] प्रेममय ईश्वरमें और शरीरसे अलग आत्माके अस्तित्वमें जीवित श्रद्धा अहिंसाके सफल प्रयोगके लिए अनिवार्य है।

प्लैटोकी तरह गांधीजीका भी मत है कि विश्वका संचालन अहिंसा या प्रेम द्वारा होता है, क्योंकि विनाशके मध्यमें जीवन प्रतिष्ठित है। वे लिखते हैं, "यद्यपि प्रकृतिमें पर्याप्त अपकर्षण है, तब भी वह आकर्षणसे ही जीवित रहती है। पारस्परिक प्रेमसे प्रकृति प्रतिष्ठित रहती है। मनुष्य विनाश द्वारा जीवित नहीं रहता। आत्मप्रेम औरोंके प्रति आदर (प्रदर्शित करने) के लिए विवश करता है।"[3] "हम सब प्रेमके बन्धनसे बंधे हैं। प्रत्येक वस्तुमें केन्द्राभिमुखी शक्ति है, जिसके बिना किसी भी वस्तुका अस्तित्व नहीं रह सकता। . . . जिस प्रकार नेत्रहीन भौतिक पदार्थोंमें आकर्षण शक्ति है, उसी प्रकार जीवधारियोंमें भी अवश्य होगी और जीवधारियोंकी इस संयोगात्मक शक्तिका नाम है प्रेम। जहां प्रेम है वहां जीवन है; घृणा विनाशकी ओर ले जाती है।"[4]

इस प्रकार अहिंसा सर्वकालीन, सर्वव्यापक नियम है, जिसका जीवनकी प्रत्येक परिस्थितिमें बिना किसी अपवादके प्रयोग हो सकता है। इसीलिए

१. ह०, १४–३–'३९, पृ० ३९।
२. यं० इं०, भाग–२, पृ० १११३।
३. यं० इं०, भाग–१, पृ० २८४।
४. यं० इं०, भाग–१, पृ० ७३४।

प्रकट है कि गांधीजी डारविन साहबके मतके समर्थक जीवशास्त्रके उन विद्वानोंसे सहमत नहीं, जिनका मत है कि विकास और रक्षाका निर्धारक पारस्परिक संघर्ष है। लेकिन कुछ विख्यात आधुनिक वैज्ञानिकोंका मत है कि किसी विशेष जातिके जीवोंकी रक्षा और विकासके लिए यह आवश्यक है कि उनमें पारस्परिक संघर्षकी अपेक्षा पारस्परिक सहयोगकी मात्रा अधिक हो। पारस्परिक सहयोगकी अपेक्षा संघर्षकी अधिकता सदा विनाशक होती है। सहयोगकी महत्ता पर जोर देनेवाले इन वैज्ञानिकोंमें ए० एन० ह्वाइटहेड और क्रोपाटकिनके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

गांधीजी अनुरोधपूर्वक कहते हैं कि अहिंसाकी पूर्ण सफलताकी शर्त यह है कि "जब अहिंसाको हम अपने जीवन-नियमके रूपमें स्वीकार कर लें, तो वह हमारे सम्पूर्ण जीवनमें व्याप्त होनी चाहिये। और उसका प्रयोग जीवनके विशेष प्रकारके कार्यो तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए।"[१] क्योंकि टॉल्स्टॉयकी तरह गांधीजीका भी विश्वास है कि यदि हम एक बार भी अहिंसामें हिंसाका समावेश करते हैं, तो हम मान लेते हैं कि अहिंसा अपर्याप्त है और इस प्रकार उसका नैतिक जीवनके नियमके रूपमें निषेध करते हैं। इस प्रकार केवल अहिंसा ही वह शक्ति है, जो महत्त्वपूर्ण है। गांधीजीके अनुसार वह ईश्वरीय राज्य है और यदि हम उसे पहले प्राप्त कर लें तो अन्य सब हमें अपने आप मिल जायगा।[२] वे लिखते हैं, "मेरे लिए अहिंसा स्वराज्यसे पहले आती है। . . . जब तक अहिंसा स्वीकार की जाती है, उसको सबसे प्रथम स्थान देना चाहिए। तभी वह अजेय होती है।"[३] उनके अनुसार अहिंसा उनके समस्त कार्योंके मूलमें है।

लेकिन अहिंसा है क्या?

निषेधात्मक अहिंसा

अहिंसा शब्द स्वरूपमें निषेधात्मक प्रतीत होता है। क्योंकि इसके पूर्व निषेधवाची 'नञ' प्रत्यय है। गांधीजीके अनुसार इस सर्वोच्च धर्मकी निषेधात्मक परिभाषाका कारण यह है कि हिंसा शारीरिक जीवनकी अपरिहार्य आवश्यकता है; जीवहिंसाके बिना जीवन ही असम्भव है; इसलिए अहिंसाका अर्थ है जीवनके लिए आवश्यक हिंसाके परित्यागका प्रयत्न।[४] अहिंसा शरीरके बन्धनसे मनुष्यकी मुक्तिका प्रतीक है। यह मुक्ति वह स्थिति है, जिसमें जीवहिंसा पर आश्रित नश्वर शरीरके बिना जीवन सम्भव है।

गांधीजीके अनुसार निषेधात्मक अहिंसाका अर्थ है किसी जीवको दुर्भावनासे — क्रोध, स्वार्थवश या चोट पहुंचानेके इरादेसे — दुःख न देना और उसकी जान न लेना। इस प्रकार "अहिंसाका अर्थ है पृथ्वीके किसी जीवको विचार, शब्द या कर्म द्वारा चोट पहुंचानेसे बचना।"[५]

निषेधात्मक अहिंसाका अर्थ केवल जान न लेना ही नहीं है। गांधीजीके अनुसार हिंसाके दूसरे और अधिक दोषपूर्ण प्रकार हैं दुःख देनेके लिए प्रयुक्त

१. ह०, ५–९–'३६, पृ० २३७।
२. ह०, १४–३–'३६, पृ० ३७।
३. ह०, २४–६–'३९, पृ० १७४।
४. ह०, १–९–'४०, पृ० २७१।
५. ह०, ७–९–'३५, पृ० २३४।

कठोर शब्द और कठोरतापूर्ण निर्णय, दुर्भावना, क्रोध, निर्दयता, घृणा, मनुष्यों और जानवरोंको यंत्रणा देना, दुर्बल पर अत्याचार, उसका अपमान और उसको भूखों मारना, उनके आत्म-सम्मानका विनाश इत्यादि।[१] गांधीजीके अनुसार "शोषण हिंसाका सार है।"[२] निषेधात्मक रूपसे अहिंसक रहनेके लिए यह आवश्यक है कि हमारे विचार उस मनुष्यके बारेमें भी अनुदार न हों, जो अपनेको हमारा शत्रु समझता है।[३]

अहिंसा-सम्बन्धी अपने विचारोंमें गांधीजी अहिंसाके शाब्दिक अर्थसे बंध कर नहीं चलते। उनके अनुसार हिंसाका सार है किसी विचार, शब्द या कार्यके पीछे हिंसामय अर्थात् हानि पहुंचानेका इरादा। यदि किसी जीवका जीवन उसकी भलाईके लिए लिया जाय, तो प्राण लेना हिंसा नहीं है। ऐसे जीवोंके शरीरका विनाश, जो धीमी किन्तु निश्चित मृत्युकी यंत्रणा निस्सहाय रूपसे भोग रहे हैं, अहिंसा है। गांधीजी लिखते हैं, "यदि मेरा बच्चा पागल कुत्तेके काट लेनेसे बीमार पड़ जाय और उसकी यन्त्रणा कम करनेका कोई सहायक उपाय न हो, तो मैं उसके प्राण लेना अपना कर्तव्य मानूंगा।"[४] जैसा कि सुविदित है, गांधीजीने एक बार अपने आश्रमके एक बछड़ेको जहर दिलवा दिया था, क्योंकि उसकी असह्य वेदना उपचारसे परे थी। इसी प्रकार आगकी ओर दौड़ते हुए बच्चेको बलपूर्वक रोक लेना और उस बच्चेको, जिसे सांपने काट लिया हो, जागते रहनेके लिए पीटना अहिंसाके दृष्टान्त है, यदि प्रेरक हेतु क्रोध न हो, बल्कि बच्चेको हानिसे बचानेकी इच्छा हो।[५] गांधीजी अहिंसक प्राण लेनेका एक दूसरा दृष्टान्त भी देते हैं, "जरा देरके लिए मान लीजिये कि मेरी लड़कीके — जिसकी इच्छा जाननेका उस समय मेरे पास

---

१. यं० इं०, भाग–३, पृ० ८६०। रिचर्ड ग्रेग हिंसाकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं, "हिंसा कोई ऐसा कार्य, हेतु, विचार, क्रियात्मक भावना या बाह्य परिचालित रुख है, जो स्वभावसे या परिणामसे विभाजक है। . . . दृष्टांतके लिए, हिंसामें अभिमान, घृणा, अवज्ञा, क्रोध, अधैर्य, बेजा शिकायत, द्वेष और मारना, जख्मी करना, डराना, शोषण करना, धोखा देना, जहर देना, बुराईके लिए प्रलोभन देना, चापलूसी करना, जान-बूझ कर चरित्रको दुर्बल करना और ऐसे ही दूसरे अन्याय शामिल हैं।" — दि पावर ऑफ नॉन-वायोलेन्स, पृ० २८२।

२. ह०, ४–११–'३९, पृ० ३३१।

३. स्पीचेज, पृ० ३२०।

४. ह०, १९–१२–'३६, पृ० ३६२; यं० इं०, भाग–२, पृ० ९७१, ९७८।

५. ह०, ६–२–'३७, पृ० ४१४; हिंद स्वराज्य, पृ० १३८-३९।

कोई साधन नहीं है—असम्मानित किये जानेका भय है और कोई ऐसा मार्ग नहीं जिससे मैं उसे बचा सकूं, तब मेरे लिए लड़कीके प्राण लेना और अपने आपको उस क्रोधित गुण्डेके प्रचण्ड क्रोधके सामने समर्पण कर देना शुद्धतम प्रकारकी अहिंसा होगी।"[१]

गांधीजीके अनुसार इन चार शर्तोंके पूरा होने पर अहिंसाके अनुसार किसी रोगी व्यक्तिके प्राण लेना उचित हो सकता है :

(१) रोग उपचारसे परे हो।
(२) सभी सम्बन्धित व्यक्तियोंने रोगीके जीवनकी आशा छोड़ दी हो।
(३) रोग ऐसा हो जिसमें कोई सेवा या सहायता लाभदायी न हो।
(४) रोगीके लिए यह असम्भव हो कि वह अपनी इच्छा प्रकट करे।[२]

विधायक अहिंसा

अकसर भ्रमसे अहिंसा केवल निषेधात्मक मान ली जाती है। दृष्टांतके लिए, *बर्नार्ड शॉ साहबका यही मत है।*[३] *गांधीजीके अनुसार अहिंसा आवश्यक* रूपसे विधायक और गत्यात्मक शक्ति है। विधायक और क्रियात्मक रूपमें अहिंसाका अर्थ है प्रेम। यह प्रेम केवल मनुष्योंके लिए ही नहीं, बल्कि समग्र सृष्टिके लिए है; फूलों, पौधों, हानिकर कीड़े-मकोड़ों और जानवरोंके लिए भी। "इसलिए क्रियात्मक रूपमें अहिंसा सब जीवोंके प्रति सद्भावना है।"[४] हिंसासे बचना अहिंसाका शरीर मात्र है, प्रेम उसका प्राण है। लेकिन गांधीजी अहिंसाको प्रेमके साथ इसलिए समीकृत नहीं करते कि इस आध्यात्मिक शक्तिमें और प्रेमके वासनामय अशुद्ध रूपमें अन्तर मालूम हो सके। अहिंसाका प्रेम हानि-लाभके हिसाब-किताबका वह सौदा नहीं जो उस व्यक्तिकी, जो प्रेमका लक्ष्य है, अच्छाई पर आधारित है। अहिंसाका प्रेम वह सच्चा और शुद्ध प्रेम है, जो अपनेको मिटा देता है और प्रतिफल नहीं मांगता।[५]

गांधीजी सच्चे प्रेमकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं, "सच्चा प्रेम शरीरसे अन्तरात्माके प्रति अपने स्थानान्तरणमें और तब असंख्य शरीरोंमें निवास करनेवाले समस्त जीवनकी एकताकी आवश्यक अनुभूतिमें है।"[६]

---

१. यं० इं०, भाग—३, पृ० ८५९।
२. यं० इं०, भाग—३, पृ० ८९७।
३. देखिये आर० एफ० मिलर : गांधी — दि होली मैन, पृ० १६०-६२।
४. यं० इं०, भाग—२, पृ० २८६।
५. यं० इं०, भाग—२, पृ० ५५१।
६. बापूज लेटर्स टु मीरा, पृ० १५७।

"सच्चा प्रेम है उन लोगोंसे प्रेम करना जो आपसे घृणा करते हैं, अपने पड़ोसीसे प्रेम करना, यद्यपि आप उस पर विश्वास नहीं करते।... मेरा प्रेम किस कामका यदि वह तभी तक बना रहे जब तक मैं अपने मित्रका विश्वास करता हूं। ऐसा तो चोर भी करते हैं।"[1]

बाघ, सांप और दूसरे विषैले जानवर भी हमारे सजातीय हैं; और हमारी ही तरह ईश्वरकी सृष्टि होनेके नाते उनका भी जीवित रहनेका उतना ही अधिकार है जितना कि हमारा। यह सच है कि हम नहीं जानते कि बहुतसे तथाकथित हानिकारक जीवोंका प्रकृतिकी व्यवस्थामें क्या स्थान है। लेकिन यदि ईश्वरकी बुद्धिमत्ता और अच्छाईमें, उसके प्रेममय और दयालु होनेमें हमारा विश्वास है, तो हमें मानना होगा कि ईश्वरने इन प्राणियोंको मनुष्यके विनाशके लिए नहीं रचा है। गांधीजीका विश्वास है कि थोड़े बहानेसे भी मनुष्य-हिंसा करनेकी बानने हमारी बुद्धिको कलुषित कर दिया है। हम अभी तक यह नहीं सीख पाये कि इन साथी जीवोंके साथ शान्तिपूर्वक कैसे रहें। अज्ञानके कारण हम उनसे डरते हैं और उनका विनाश करते हैं। लेकिन जिस जीवनको हम उत्पन्न नहीं कर सकते, उसके विनाशका हमको कोई अधिकार नहीं; और पूर्ण विकासके लिए वह अधिकसे अधिक प्रेम आवश्यक है, जो सब प्रकारसे निर्भय हो और जिसकी पहुंच इन जीवों तक भी हो।[2] किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सत्याग्रहीको मनुष्येतर जीवनके प्रति मानव-जीवनकी अपेक्षा अधिक दयालु होना चाहिए।[3]

इस प्रकार अहिंसाका अर्थ है अधिक-से-अधिक प्रेम — बुराई करनेवालेके प्रति भी प्रेम। तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि बुराई करनेवालेके प्रति निष्क्रिय आत्म-समर्पण कर दिया जाय। इसके विपरीत अहिंसाका अर्थ है अन्यायीका जान लड़ाकर विरोध। लेकिन गांधीजीका मत है कि अशुभ या बुराईको हम बुराई, हिंसा और प्रतिघातसे नहीं जीत सकते। बुराई करनेवालेके प्रति हिंसाका प्रयोग करना उसके साथ अपनी आध्यात्मिक एकताका निषेध करना है और बुराई करनेवालेकी भूलको दोहराना है। हिंसात्मक विरोध करके हम अपनेको बुराई करनेवालेके तल पर गिरा देते हैं, बुराईके प्रचारमें उसके साथ सहयोग करते हैं और इस प्रकार पापपूर्ण वृत्तमें पड़ जाते हैं।

इसके विपरीत अहिंसा बुराईको अच्छाईसे जीतनेका प्रयास है। अहिंसा-वादी अनैतिकताका विरोध नैतिकतासे और शरीर-बलका प्रतिरोध आध्यात्मिक शक्तिसे करता है। अहिंसा समस्याकी जड़ तक पहुंचती है। उसका विश्वास

१. ह०, ३–३–'४६, पृ० २८।
२. ह०, ९–१–'३७, पृ० ३८२; यं० इं०, भाग–२, पृ० ९५७, ९८४।
३. ह०, ९–६–'४६, पृ० १७२।

है कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा है और प्रत्येक परिस्थितिमें उसके सुधारकी सम्भावना है। इसलिए वह जिस तरह बुराई करनेवालेने अपना मूल्यांकन किया है उसे अस्वीकार करती है। अहिंसक मनुष्य धैर्यपूर्वक इस बातका प्रयत्न करता है कि कष्ट-सहन और प्रेमकी शक्तिसे बुराई करनेवालेका हृदय-परिवर्तन कर दे, जिससे उसको दूसरोंके साथ — जिनके साथ वह बुराई कर रहा है — अपनी आध्यात्मिक एकताका बोध हो जाय। अहिंसक मनुष्य तब तक प्रेम और धैर्यसे कष्ट सहता है जब तक अन्यायी अपनी भूलको नहीं समझ लेता और अपनी बुराईके लिए पश्चात्ताप नहीं करता।

इस प्रकार विधायक पक्षमें अहिंसाका यह अर्थ है कि आत्मपाती दृष्टिकोणसे अहिंसावादीको यथासम्भव पूर्ण आत्मशुद्धि प्राप्त करना चाहिए।[१] उसको क्रोधकी भावना पर — जिसकी अभिव्यक्ति सामान्यतः प्रतिघात और घृणामें होती है — विजय पाकर आन्तरिक शक्तिका विकास करना चाहिए। यह आंतरिक शक्ति, जिसकी अभिव्यक्ति आत्म-संयम और क्षमाकी सुबुद्धिमें होती है, शारीरिक नहीं वरन् आध्यात्मिक शक्ति है, और दुर्बलसे दुर्बल शरीरवाला व्यक्ति भी इस शक्तिका विकास कर सकता है। वस्तुपाती दृष्टिकोणसे इस आत्म-विजयके बाद अहिंसावादीको बुराई करनेवालेमें न्याय-भावना जागृत करनेका प्रयास करना चाहिए।

संक्षेपमें, "अपने आप अधिकतम असुविधा उठाकर दूसरोंको अधिकतम सुविधा देना अहिंसा है।"[२] और "किसी जीवको कष्ट पहुंचानेका प्रत्येक कार्य और जब कभी सम्भव हो, ऐसे कार्यको रोकनेके लिए अहिंसात्मक प्रयत्नसे अलग रहकर उसका समर्थन करना अहिंसाकी अवहेलना है।"[३]

निरपेक्ष अहिंसा और अनिवार्य हिंसा

निरपेक्ष अहिंसाका अर्थ है हिंसासे पूर्ण मुक्ति, अर्थात् अज्ञान पर आधारित दुर्भावना, क्रोध और घृणासे छुटकारा और सबके प्रति विवेकपूर्ण प्रेमका बाहुल्य। निरपेक्ष अहिंसाके दृष्टिकोणसे प्रत्येक प्रकारकी हिंसा त्याज्य है। लेकिन इस प्रकारकी अहिंसा पूर्णताकी स्थिति है और वह तभी प्राप्त हो सकती है जब मन, वचन और कर्ममें पूर्ण अन्वय हो।[४] समग्र अहिंसा एक शक्ति है, और निरपेक्ष अहिंसा असीम शक्ति है। लेकिन इस प्रकारकी निरपेक्ष अहिंसा केवल ईश्वरका गुण है। अपूर्ण मनुष्य जिस प्रकार निरपेक्ष

---

१. ह०, १२-१०-'३५, पृ० २७६।
२. यं० इं०, भाग-२, पृ० ९८४।
३. यं० इं०, भाग-३, पृ० ८१२।
४. यं० इं०, १-१०-'३१।

सत्यको नहीं जान सकता, उसी प्रकार वह अहिंसाका पूर्ण अर्थ भी नहीं जान सकता और न उसे पूरी तरह व्यवहारमें उतार सकता है।

समाजमें जो हिंसा होती है उसके उत्तरदायित्वमें समाजमें रहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिका भाग है। गांधीजी लिखते हैं, "क्योंकि अहिंसाके अन्तर्गत समस्त जीवनकी एकता है, इसलिए एककी भूलका प्रभाव सब पर पड़ता ही है और इसलिए मनुष्य हिंसासे पूरी तरह छुटकारा नहीं पा सकता। जब तक वह सामाजिक प्राणी है उसको उस हिंसामें भाग लेना ही पड़ेगा, जो समाजके अस्तित्वके कारण ही होती है।"[1]

इसके अतिरिक्त, जीवन विनाशकी शृंखलामें बंधा हुआ है और हिंसा शारीरिक जीवनकी अन्तर्निहित आवश्यकता है। इसलिए कोई भी मनुष्य हिंसासे पूर्णतः मुक्त नहीं रह सकता।[2] इस प्रकार मनुष्यके रहने, खाने, पीने और इधर-उधर घूमने-फिरनेमें आवश्यक रूपसे जीवोंका विनाश होता है — वे जीव चाहे जितने छोटे क्यों न हों। कुछ जीवहिंसा मनुष्यको अपने शरीरके भरण-पोषणके लिए ही नहीं वरन् अपने आश्रितोंकी रक्षाके लिए भी करनी पड़ती है।[3] यह अनिवार्य हिंसा है, और वैध मानी गयी है।

खाने, पीने इत्यादिमें होनेवाली हिंसाके अतिरिक्त गांधीजीने अपने लेखोंमें कुछ ऐसे भी उदाहरण दिये हैं, जिनमें हिंसासे बचाव नहीं हो सकता। इनमें से कुछ हैं: पागल कुत्तोंको और इधर-उधर घूमनेवाले कुत्तोंको, जो समाजके लिए संकटमय हो जायं, मार देना; इसी प्रकार संकटमय स्थितिमें सांपों, बाघों आदिको मारना; प्लेगके कीटाणु-युक्त चूहों, पिस्सुओं और मच्छरों आदिका विनाश; जन-कल्याणके लिए बंदरोंको डराना और हिंसापूर्ण उपायोंसे भगाना तथा मार भी डालना; ऐसे मनुष्यको मार देना जो अपने आश्रितकी हत्या करनेको हो और जिसको किसी अन्य प्रकारसे रोका नहीं जा सकता; पागलके साथ बल-प्रयोग; इत्यादि। लेकिन ये आपद्-धर्मके दृष्टान्त हैं और उनका स्रोत है मनुष्यकी अपूर्णता। ये जीवनके सर्वोच्च नियमके रूपमें अहिंसाकी मान्यताको अप्रमाणित करनेवाले अपवाद नहीं हैं। जितना ही मनुष्यका पूर्णताकी ओर विकास होगा उतना ही इन संकटपूर्ण स्थितियोंमें अहिंसक व्यावहारिक पद्धतिका उसका ज्ञान बढ़ेगा और हिंसात्मक युक्तियोंके प्रयोगकी आवश्यकता घटेगी।

---

१. आत्मकथा, (अं), भाग–२, पृ० २२९।

२. आत्मकथा, (अं), भाग–२, पृ० २२९; यं० इं०, भाग–२, पृ० ९६०।

३. यं० इं०, भाग–२, पृ० ९७१।

यदि मनुष्यको सच्चा अहिंसावादी बने रहना है, तो यह आवश्यक है कि जो अनिवार्य हिंसा उसे करनी पड़े वह स्वाभाविक हो और कम-से-कम हो, उसकी जड़ दयामें हो और उसके पीछे विवेक, नियन्त्रण और अनासक्ति हो।[१] अहिंसावादीको अनिवार्य हिंसा तभी करनी चाहिये, जब उससे बचनेका कोई रास्ता न हो।

इस निर्णयके लिए कि किसी विशेष कार्यको करना या उससे बचना अहिंसा है या नहीं, इरादे और कार्य दोनों पर विचार करना आवश्यक है। इरादा संबन्धित कार्य-समूहसे जाना जा सकता है। लेकिन यद्यपि इरादा अहिंसाकी आवश्यक परख है, परन्तु वह एकमात्र परख नहीं है। "किसी जीवको उसके ही हितके अतिरिक्त किसी अन्य कारणसे मारना हिंसा है, (मारनेवालेका) हेतु दूसरे दृष्टिकोणसे चाहे जितना उच्च क्यों न हो। और वह मनुष्य भी हिंसाका अपराधी है, जो हृदयमें दूसरेके प्रति दुर्भावनाको स्थान देता है, यद्यपि समाजके डरके कारण या अवसरके अभावके कारण वह अपनी दुर्भावनाको कार्यमें परिणत नहीं कर पाता।"[२]

अहिंसामें मनुष्येतर जीवों, पशु-पक्षियों आदिके प्रति निष्प्रयोजन हिंसा — शिकार, शरीरकी बनावटके ज्ञानके लिए जानवरोंकी चीर-फाड़, मांस-भोजन, आदि — के लिए स्थान नहीं। गांधीजी निरामिष-भोजनको हिन्दू धर्मकी अमूल्य देन बताते हैं और अपने स्वास्थ्यको संकटमें डाल कर भी वे इस सिद्धान्तको मानते रहे हैं। उनका मत है कि मांस-भोजन मनुष्यकी नैतिक और आध्यात्मिक संवेदनशीलताको कुंठित करता है और उनके लिए अनुपयुक्त है, जो अपनी वासनाओंको संयमित करना चाहते हैं। लेकिन वे भोजनको अनावश्यक महत्त्व नहीं देते और उस संकुचित दृष्टिकोणके विरुद्ध हैं, जिसके अनुसार भोजन-सम्बन्धी सिद्धान्त ही धर्मका सार है।[३] वे लिखते हैं, "अहिंसा केवल भोजनशास्त्रकी बात न होकर उसका अतिक्रमण करती है। मनुष्य क्या खाता-

---

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० ९७१ और ९८३।

गांधीजीके अनुसार कष्ट देना या प्राण लेना उस स्थितिमें :

(१) अहिंसा है जब वह शान्तिपूर्ण और स्पष्ट निर्णयका परिणाम हो और उसका प्रयोजन जिसे कष्ट दिया जा रहा है उसे लाभ पहुंचानेका और उसकी यंत्रणा कम करनेका हो।

(२) वैध हिंसा है जब वह शरीरके भरण-पोषणके लिए या आश्रितोंकी रक्षाके लिए की गई हो।

(३) हिंसा है जब वह क्रोधसे, स्वार्थवश या दुर्भावनासे की गई हो।

२. यं० इं०, भाग–३, पृ० ८८३।

३. यं० इं०, भाग – २, पृ० ११८४-८५।

पीता है, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि उसके (खाने-पीनेके) पीछे कितना आत्मत्याग और आत्म-नियन्त्रण है।"[१] इसी प्रकार अहिंसाका विकास केवल शाकाहारियों तक सीमित नहीं है।

इसी प्रकार अहिंसाके विकासके लिए आवश्यक है कि साधक वही धंधा करे, जिसमें कम-से-कम हिंसा हो। अहिंसक व्यक्तिके व्यवसायको आवश्यक रूपसे हिंसासे मुक्त होना चाहिए और उसमें दूसरोंका शोषण न होना चाहिए। उन धंधों और उद्योगोंमें, जिनका आधार शरीर-श्रम है, कम-से-कम शोषण होता है और वे ही सत्याग्रहीके लिए उपयुक्त हैं। प्रकट है कि कसाईका धंधा, शिकार, युद्ध और युद्धकी तैयारीसे सम्बन्धित कार्य अहिंसासे मेल नहीं खाते।[२]

संक्षेपमें, जितना मनुष्य हिंसासे दूर रहेगा उतना ही वह पूर्ण अहिंसाके अर्थात् निरपेक्ष सत्यके या ईश्वरके निकट होगा।

लेकिन यह प्रश्न हो सकता है कि इससे क्या लाभ कि पहले तो आप अहिंसाको शाश्वत सिद्धान्तकी उच्चता पर आसीन करें और फिर यह स्वीकार करें कि मनुष्यके लिए उसका पूरी तरह जीवनकी प्रत्येक परिस्थितिमें प्रयोग असम्भव है? क्या पश्चिमके युद्ध-विरोधियोंकी भांति यह मानना अधिक अच्छा न होगा कि कुछ परिधिवर्ती कठिन मामलोंमें अहिंसा अनुपयुक्त है और हिंसा अधिक सुचारु रूपसे कार्य करती है? इस आलोचनाका गांधीजी यह उत्तर देते हैं कि जो आदर्श पूरी तरह जीवनमें सिद्ध किया जा सकता है वह वास्तवमें ऊंचा आदर्श नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें अनवरत प्रयास, निरन्तर खोजकी—जो संपूर्ण आध्यात्मिक प्रगतिका आधार है—गुंजाइश नहीं रहती।[३] किन्तु अपनी अपूर्णता और दुर्बलताके कारण आदर्शको व्यावहारिकताके निम्न स्तर पर ले आना संकटमय है। गांधीजी अनुरोधपूर्वक कहते हैं, "एक शाश्वत सिद्धान्तमें अपवाद माननेकी अपेक्षा मेरे लिए यह कहना अधिक अच्छा है कि मुझमें पर्याप्त अहिंसा नहीं है। फिर, मेरा अपवादोंको न मानना मुझे अहिंसाकी पद्धतिमें अपनेको पूर्ण बनानेके लिए प्रोत्साहित करता है।"[४]

तीन प्रकारकी अहिंसा

यदि निरपेक्ष अहिंसा अपूर्ण मनुष्यके वशकी बात नहीं है और यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए यह निश्चय करनेको स्वतन्त्र है कि वह किस सीमा तक अहिंसाका प्रयोग करेगा, तो प्रश्न उठता है कि अहिंसा और हिंसाकी

---

१. यं० इं०, भाग—३, पृ० ८२१।

२. ह०, ८–९–'४०, पृ० २७२।

३. यं० इं०, भाग—३, पृ० १९४०।

४. ह०, ९–३–'४०, पृ० ३१।

सीमारेखा कहां खींची जाय? क्या कायरकी अहिंसा भी हिंसाकी अपेक्षा उच्चतर है?

इन प्रश्नोंका गांधीजी जो उत्तर देते हैं उसे बतानेसे पहले इस बातका उल्लेख आवश्यक है कि उनके अनुसार नैतिक दृष्टिकोणसे अहिंसाके तीन स्तर होते हैं:

इनमें से उच्चतम है साधनशील ज्ञानवान व्यक्तिकी अहिंसा अथवा वीरोंकी अहिंसा। इस अहिंसाको मनुष्य संकटमें आवश्यकतासे विवश होकर नहीं, वरन् नैतिकता पर आधारित आन्तरिक विश्वासके कारण ग्रहण करता है। मनुष्य वीरोंकी अहिंसाको इसलिए नहीं स्वीकार करता कि उससे तात्कालिक प्रयोजन सिद्ध हो जायगा, वरन् इसलिए स्वीकार करता है कि वह नैतिक विकासके उस स्तर पर पहुंच गया है जहां हिंसा असह्य है। यह अहिंसा केवल राजनैतिक नहीं होती, बल्कि जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें व्याप्त होती है। यह मानसिक अपवादोंसे रहित अहिंसा है — ऐसी अहिंसा जो स्वार्थयुक्त हानि-लाभके हिसाब-किताब पर निर्भर नहीं होती और जो कभी झुकती नहीं। इस प्रकारकी अहिंसा पहाड़को भी हटा देती है, जीवनका कायापलट कर देती है और अपनी अटल श्रद्धासे किसी भी परिस्थितिमें मुंह नहीं मोड़ती। जो लोग अहिंसाको एक जीवित नियमके रूपमें स्वीकार कर लेते हैं, वे संकटमय संघर्षमें भी मानव-एकता और भ्रातृत्वकी भावनाको कभी नहीं छोड़ते।[१]

इससे नीचेके स्तर पर है कामचलाऊ, व्यावहारिक अहिंसा, जो जीवनके किसी विशेष क्षेत्रमें उचित नीतिकी तरह स्वीकार की गई हो। गांधीजी इसको दुर्बलकी अहिंसा या निस्सहायका निष्क्रिय प्रतिरोध कहते हैं — दुर्बलकी अहिंसा इसलिए कि इसमें हिंसाके त्यागका कारण नैतिक विश्वास नहीं, दुर्बलता है। यदि इस प्रकारकी अहिंसाका प्रयोग कायरताके आवरणकी तरह नहीं, बल्कि ईमानदारीसे और जब तक वह स्वीकृत है तब तक वास्तविक साहसके साथ होता है, तो कुछ सीमा तक उसका परिणाम ठीक होता है।[२] लेकिन वह इतनी कारगर नहीं होती जितनी कि वीरोंकी व्यापक अहिंसा। दुर्बलकी अहिंसाका आधार है व्यावहारिकता, न कि छोटे-बड़े सब मनुष्योंकी नैतिक और आध्यात्मिक समता और एकतामें विश्वास। इसलिए जब आवश्यकता होती है तब दुर्बलकी अहिंसा हिंसाके प्रयोगकी, अर्थात् मनुष्योंको साधन-मात्र समझ कर व्यवहार करनेकी भी छूट दे सकती है।

पहले प्रकारकी अहिंसाका समुदायों द्वारा विकास होना कठिन है; क्योंकि समुदायोंके लिए नैतिक विकासका वह ऊंचा तल, जो जीवन-नियमकी तरह

---

१. ह०, ३१–८–'४७, पृ० ३०२।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० २६५।

अहिंसाके प्रयोगके लिए आवश्यक है, प्राप्त करना कठिन है। भारतमें कांग्रेसकी अहिंसा व्यावहारिक प्रकारकी रही है। गांधीजीने समय-समय पर, विशेषकर सन् १९३५के बाद, कांग्रेसको वीरोंकी अहिंसाके रास्ते पर ले चलनेका भरसक प्रयत्न किया; किन्तु वे अपने प्रयासमें सफल नहीं हुए।

भारत द्वारा स्वतन्त्रता-संग्राममें अपनायी गई दुर्बलकी अहिंसाकी सफलताके विषयमें गांधीजीको सदैव सन्देह रहता था। इस प्रकार सन् १९३१में उन्होंने लिखा, "नीति आवश्यक रूपमें एक अस्थायी व्यावहारिकता है, जिसे मनुष्य परिस्थितियां बदलने पर बदल सकता है। जब तक कष्ट न सहना पड़े तब तक सत्य और अहिंसाका पालन पर्याप्त सुगम है।"[१]

जीवनके अन्तिम दिनोंमें भारतमें प्रज्वलित साम्प्रदायिक हिंसाने उनके भ्रमको दूर कर दिया। उन्होंने देखा कि भारतका स्वतन्त्रता-संग्राम अहिंसा पर नहीं वरन् निष्क्रिय प्रतिरोध पर आधारित था। यह आवश्यक रूपमें दुर्बलका शस्त्र है और अब अवसर पाकर सशस्त्र प्रतिरोधमें परिवर्तित हो गया है। उन्होंने अनुभव किया कि "दुर्बलकी अहिंसा जैसी कोई वस्तु नहीं है। अहिंसा और दुर्बलतामें पारस्परिक विरोध है।"[२] पराधीनताका बन्धन टूटने पर जब सत्ताके वितरणका प्रश्न उठा, तो हिंसक प्रवृत्तिके कारण — जो दुर्बलकी अहिंसाका आवश्यक लक्षण है — लोग एक-दूसरेका गला काटनेको तैयार हो गये।[३]

नीतिके रूपमें अहिंसा तभी सफल हो सकती है, जब लोग इसका आदर्शके साथ पालन करें और उसे वीर पुरुषकी अहिंसाके रूपमें विकसित कर दें।

अहिंसा आघात करनेकी क्षमताको, न कि इच्छाको, पहलेसे ग्रहण करती है। गांधीजी वास्तवमें इसको स्वयंसिद्ध सिद्धान्त मानते हैं कि "मनुष्य मनुष्यकी तुलना करनेमें अहिंसक मनुष्यकी अहिंसाकी शक्ति उसकी हिंसा करनेकी शक्तिके — इच्छाके नहीं — ठीक अनुपातमें होगी।"[४] लेकिन इस अहिंसाके पीछे जो वास्तविक शक्ति है उसका स्रोत शारीरिक शक्ति नहीं, वरन् निर्भयता और अजेय संकल्प है।[५] इस प्रकार, अहिंसा बलवान और वीरका गुण है और वह निर्भयताके बिना असम्भव है।[६]

सीमारेखा कहां खींची जाय? क्या कायरकी अहिंसा भी हिंसाकी अपेक्षा उच्चतर है?

इन प्रश्नोंका गांधीजी जो उत्तर देते हैं उसे बतानेसे पहले इस बातका उल्लेख आवश्यक है कि उनके अनुसार नैतिक दृष्टिकोणसे अहिंसाके तीन स्तर होते हैं:

इनमें से उच्चतम है साधनशील ज्ञानवान व्यक्तिकी अहिंसा अथवा वीरोंकी अहिंसा। इस अहिंसाको मनुष्य संकटमें आवश्यकतासे विवश होकर नहीं, वरन् नैतिकता पर आधारित आन्तरिक विश्वासके कारण ग्रहण करता है। मनुष्य वीरोंकी अहिंसाको इसलिए नहीं स्वीकार करता कि उससे तात्कालिक प्रयोजन सिद्ध हो जायगा, वरन् इसलिए स्वीकार करता है कि वह नैतिक विकासके उस स्तर पर पहुंच गया है जहां हिंसा असह्य है। यह अहिंसा केवल राजनैतिक नहीं होती, बल्कि जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें व्याप्त होती है। यह मानसिक अपवादोंसे रहित अहिंसा है — ऐसी अहिंसा जो स्वार्थयुक्त हानि-लाभके हिसाब-किताब पर निर्भर नहीं होती और जो कभी झुकती नहीं। इस प्रकारकी अहिंसा पहाड़को भी हटा देती है, जीवनका कायापलट कर देती है और अपनी अटल श्रद्धासे किसी भी परिस्थितिमें मुंह नहीं मोड़ती। जो लोग अहिंसाको एक जीवित नियमके रूपमें स्वीकार कर लेते हैं, वे संकटमय संघर्षमें भी मानव-एकता और भ्रातृत्वकी भावनाको कभी नहीं छोड़ते।[1]

इससे नीचेके स्तर पर है कामचलाऊ, व्यावहारिक अहिंसा, जो जीवनके किसी विशेष क्षेत्रमें उचित नीतिकी तरह स्वीकार की गई हो। गांधीजी इसको दुर्बलकी अहिंसा या निस्सहायका निष्क्रिय प्रतिरोध कहते हैं — दुर्बलकी अहिंसा इसलिए कि इसमें हिंसाके त्यागका कारण नैतिक विश्वास नहीं, दुर्बलता है। यदि इस प्रकारकी अहिंसाका प्रयोग कायरताके आवरणकी तरह नहीं, बल्कि ईमानदारीसे और जब तक वह स्वीकृत है तब तक वास्तविक साहसके साथ होता है, तो कुछ सीमा तक उसका परिणाम ठीक होता है।[2] लेकिन वह इतनी कारगर नहीं होती जितनी कि वीरोंकी व्यापक अहिंसा। दुर्बलकी अहिंसाका आधार है व्यावहारिकता, न कि छोटे-बड़े सब मनुष्योंकी नैतिक और आध्यात्मिक समता और एकतामें विश्वास। इसलिए जब आवश्यकता होती है तब दुर्बलकी अहिंसा हिंसाके प्रयोगकी, अर्थात् मनुष्योंको साधन-मात्र समझ कर व्यवहार करनेकी भी छूट दे सकती है।

पहले प्रकारकी अहिंसाका समुदायों द्वारा विकास होना कठिन है; क्योंकि समुदायोंके लिए नैतिक विकासका वह ऊंचा तल, जो जीवन-नियमकी तरह

---

१. ह०, ३१-८-'४७, पृ० ३०२।

२. यं० इं०, भाग-१, पृ० २६५।

अहिंसाके प्रयोगके लिए आवश्यक है, प्राप्त करना कठिन है। भारतमें कांग्रेसकी अहिंसा व्यावहारिक प्रकारकी रही है। गांधीजीने समय-समय पर, विशेषकर सन् १९३५ के वाद, कांग्रेसको वीरोंकी अहिंसाके रास्ते पर ले चलनेका भरसक प्रयत्न किया; किन्तु वे अपने प्रयासमें सफल नहीं हुए।

भारत द्वारा स्वतन्त्रता-संग्राममें अपनायी गई दुर्वलकी अहिंसाकी सफलताके विषयमें गांधीजीको सदैव सन्देह रहता था। इस प्रकार सन् १९३१ में उन्होंने लिखा, "नीति आवश्यक रूपमें एक अस्थायी व्यावहारिकता है, जिसे मनुष्य परिस्थितियां वदलने पर वदल सकता है। जव तक कष्ट न सहना पड़े तव तक सत्य और अहिंसाका पालन पर्याप्त सुगम है।"[१]

जीवनके अन्तिम दिनोंमें भारतमें प्रज्वलित साम्प्रदायिक हिंसाने उनके भ्रमको दूर कर दिया। उन्होंने देखा कि भारतका स्वतन्त्रता-संग्राम अहिंसा पर नहीं वरन् निष्क्रिय प्रतिरोध पर आधारित था। यह आवश्यक रूपमें दुर्वलका शस्त्र है और अव अवसर पाकर सशस्त्र प्रतिरोधमें परिवर्तित हो गया है। उन्होंने अनुभव किया कि "दुर्वलकी अहिंसा जैसी कोई वस्तु नहीं है। अहिंसा और दुर्वलतामें पारस्परिक विरोध है।"[२] पराधीनताका वन्धन टूटने पर जव सत्ताके वितरणका प्रश्न उठा, तो हिंसक प्रवृत्तिके कारण — जो दुर्वलकी अहिंसाका आवश्यक लक्षण है — लोग एक-दूसरेका गला काटनेको तैयार हो हो गये।[३]

नीतिके रूपमें अहिंसा तभी सफल हो सकती है, जव लोग इसका साहसके साथ पालन करें और उसे वीर पुरुषकी अहिंसाके रूपमें विकसित कर लें।

अहिंसा आघात करनेकी क्षमताको, न कि इच्छाको, पहलेसे ग्रहण करके चलती है। गांधीजी वास्तवमें इसको स्वयंसिद्ध सिद्धान्त मानते हैं कि "मनुष्य मनुष्यकी तुलना करनेमें अहिंसक मनुष्यकी अहिंसाकी शक्ति उसकी हिंसा करनेकी शक्तिके — इच्छाके नहीं — ठीक अनुपातमें होगी।"[४] लेकिन इस क्षमताके पीछे जो वास्तविक शक्ति है उसका स्रोत शरीर-शक्ति नहीं, वरन् निर्भयता और अजेय संकल्प है।[५] इस प्रकार अहिंसा वलवान और वीरका गुण है और वह निर्भयताके विना असम्भव है।[६]

---

१. यं० इं०, २६–३–'३१, पृ० ४९।

२. ह०, २७–७–'४७, पृ० २५३।

३. ह०, ३१–८–'४७, पृ० ३०२।

४. ह०, ११–१०–'३५, पृ० २७६।

५. स्पीचेज़, पृ० ७९०; यं० इं०, भाग–१, पृ० २६०; हिन्द स्वराज्य, पृ० ६१।

६. यं. इं०, भाग–२, पृ० १११३।

सीमारेखा कहां खींची जाय? क्या कायरकी अहिंसा भी हिंसाकी अपेक्षा उच्चतर है?

इन प्रश्नोंका गांधीजी जो उत्तर देते हैं उसे बतानेसे पहले इस बातका उल्लेख आवश्यक है कि उनके अनुसार नैतिक दृष्टिकोणसे अहिंसाके तीन स्तर होते हैं:

इनमें से उच्चतम है साधनशील ज्ञानवान व्यक्तिकी अहिंसा अथवा वीरोंकी अहिंसा। इस अहिंसाको मनुष्य संकटमें आवश्यकतासे विवश होकर नहीं, वरन् नैतिकता पर आधारित आन्तरिक विश्वासके कारण ग्रहण करता है। मनुष्य वीरोंकी अहिंसाको इसलिए नहीं स्वीकार करता कि उससे तात्कालिक प्रयोजन सिद्ध हो जायगा, वरन् इसलिए स्वीकार करता है कि वह नैतिक विकासके उस स्तर पर पहुंच गया है जहां हिंसा असह्य है। यह अहिंसा केवल राजनैतिक नहीं होती, बल्कि जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें व्याप्त होती है। यह मानसिक अपवादोंसे रहित अहिंसा है—ऐसी अहिंसा जो स्वार्थयुक्त हानि-लाभके हिसाब-किताब पर निर्भर नहीं होती और जो कभी झुकती नहीं। इस प्रकारकी अहिंसा पहाड़को भी हटा देती है, जीवनका कायापलट कर देती है और अपनी अटल श्रद्धासे किसी भी परिस्थितिमें मुंह नहीं मोड़ती। जो लोग अहिंसाको एक जीवित नियमके रूपमें स्वीकार कर लेते हैं, वे संकटमय संघर्षमें भी मानव-एकता और भ्रातृत्वकी भावनाको कभी नहीं छोड़ते।[१]

इससे नीचेके स्तर पर है कामचलाऊ, व्यावहारिक अहिंसा, जो जीवनके किसी विशेष क्षेत्रमें उचित नीतिकी तरह स्वीकार की गई हो। गांधीजी इसको दुर्बलकी अहिंसा या निस्सहायका निष्क्रिय प्रतिरोध कहते हैं—दुर्बलकी अहिंसा इसलिए कि इसमें हिंसाके त्यागका कारण नैतिक विश्वास नहीं, दुर्बलता है। यदि इस प्रकारकी अहिंसाका प्रयोग कायरताके आवरणकी तरह नहीं, बल्कि ईमानदारीसे और जब तक वह स्वीकृत है तब तक वास्तविक साहसके साथ होता है, तो कुछ सीमा तक उसका परिणाम ठीक होता है।[२] लेकिन वह इतनी कारगर नहीं होती जितनी कि वीरोंकी व्यापक अहिंसा। दुर्बलकी अहिंसाका आधार है व्यावहारिकता, न कि छोटे-बड़े सब मनुष्योंकी नैतिक और आध्यात्मिक समता और एकतामें विश्वास। इसलिए जब आवश्यकता होती है तब दुर्बलकी अहिंसा हिंसाके प्रयोगकी, अर्थात् मनुष्योंको साधन-मात्र समझ कर व्यवहार करनेकी भी छूट दे सकती है।

पहले प्रकारकी अहिंसाका समुदायों द्वारा विकास होना कठिन है; क्योंकि समुदायोंके लिए नैतिक विकासका वह ऊंचा तल, जो जीवन-नियमकी तरह

---

१. ह०, ३१–८–'४७, पृ० ३०२।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० २६५।

अहिंसाके प्रयोगके लिए आवश्यक है, प्राप्त करना कठिन है। भारतमें कांग्रेसकी अहिंसा व्यावहारिक प्रकारकी रही है। गांधीजीने समय-समय पर, विशेपकर सन् १९३५के वाद, कांग्रेसको वीरोंकी अहिंसाके रास्ते पर ले चलनेका भरसक प्रयत्न किया; किन्तु वे अपने प्रयासमें सफल नहीं हुए।

भारत द्वारा स्वतन्त्रता-संग्राममें अपनायी गई दुर्वलकी अहिंसाकी सफलताके विषयमें गांधीजीको सदैव सन्देह रहता था। इस प्रकार सन् १९३१में उन्होंने लिखा, "नीति आवश्यक रूपमें एक अस्थायी व्यावहारिकता है, जिसे मनुष्य परिस्थितियां वदलने पर वदल सकता है। जब तक कष्ट न सहना पड़े तब तक सत्य और अहिंसाका पालन पर्याप्त सुगम है।"[1]

जीवनके अन्तिम दिनोंमें भारतमें प्रज्वलित साम्प्रदायिक हिंसाने उनके भ्रमको दूर कर दिया। उन्होंने देखा कि भारतका स्वतन्त्रता-संग्राम अहिंसा पर नहीं वरन् निष्क्रिय प्रतिरोध पर आधारित था। यह आवश्यक रूपमें दुर्वलका शस्त्र है और अब अवसर पाकर सशस्त्र प्रतिरोधमें परिवर्तित हो गया है। उन्होंने अनुभव किया कि "दुर्वलकी अहिंसा जैसी कोई वस्तु नहीं है। अहिंसा और दुर्वलतामें पारस्परिक विरोध है।"[2] पराधीनताका वन्धन टूटने पर जब सत्ताके वितरणका प्रश्न उठा, तो हिंसक प्रवृत्तिके कारण — जो दुर्वलकी अहिंसाका आवश्यक लक्षण है — लोग एक-दूसरेका गला काटनेको तैयार हो गये।[3]

नीतिके रूपमें अहिंसा तभी सफल हो सकती है, जब लोग इसका साहसके साथ पालन करें और उसे वीर पुरुषकी अहिंसाके रूपमें विकसित कर लें।

अहिंसा आघात करनेकी क्षमताको, न कि इच्छाको, पहलेसे ग्रहण करके चलती है। गांधीजी वास्तवमें इसको स्वयंसिद्ध सिद्धान्त मानते हैं कि "मनुष्य मनुष्यकी तुलना करनेमें अहिंसक मनुष्यकी अहिंसाकी शक्ति उसकी हिंसा करनेकी शक्तिके — इच्छाके नहीं — ठीक अनुपातमें होगी।"[4] लेकिन इस क्षमताके पीछे जो वास्तविक शक्ति है उसका स्रोत शरीर-शक्ति नहीं, वरन् निर्भयता और अजेय संकल्प है।[5] इस प्रकार अहिंसा वलवान और वीरका गुण है और वह निर्भयताके विना असम्भव है।[6]

---

१. यं० इं०, २६–३–'३१, पृ० ४९।

२. ह०, २७–७–'४७, पृ० २५३।

३. ह०, ३१–८–'४७, पृ० ३०२।

४. ह०, ११–१०–'३५, पृ० २७६।

५. स्पीचेज, पृ० ७९०; यं० इं०, भाग–१, पृ० २६०; हिन्द स्वराज्य, पृ० ६१।

६. यं. इं०, भाग–२, पृ० १११३।

सीमारेखा कहां खीची जाय? क्या कायरकी अहिंसा भी ि
उच्चतर है?

इन प्रश्नोंका गांधीजी जो उत्तर देते है उसे बतानेसे पह
उल्लेख आवश्यक है कि उनके अनुसार नैतिक दृष्टिकोणसे
स्तर होते है:

इनमे मे उच्चतम है साधनशील ज्ञानवान व्यक्तिकी
वीरोंकी अहिंसा। इस अहिंसाको मनुष्य संकटमें आवश्यकतासे वि
वरन् नैतिकता पर आधारित आन्तरिक विश्वासके कारण ग्र
मनुष्य वीरोंकी अहिंसाको इसलिए नही स्वीकार करता कि ए
प्रयोजन सिद्ध हो जायगा, वरन् इसलिए स्वीकार करता है ि
विकासके उस स्तर पर पहुंच गया है जहां हिंसा असह्य है। य
राजनैतिक नही होती, वल्कि जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें व्याप्त
मानसिक अपवादोंसे रहित अहिंसा है—ऐसी अहिंसा जो स्वार्थप्
हिसाव-किताव पर निर्भर नही होती और जो कभी झुकती नही
अहिंसा पहाड़को भी हटा देती है, जीवनका कायापलट व
अपनी अटल श्रद्धासे किसी भी परिस्थितिमें मुंह नही मोड
अहिंसाको एक जीवित नियमके रूपमे स्वीकार कर लेते हैं, वे
भी मानव-एकता और भ्रातृत्वकी भावनाको कभी नहीं छो

इससे नीचेके स्तर पर है कामचलाऊ, व्यावहारिक अहि
किसी विशेप क्षेत्रमें उचित नीतिकी तरह स्वीकार की गई
इसको दुर्वलकी अहिंसा या निस्सहायका निष्क्रिय प्रतिरोध कह
अहिंसा इसलिए कि इसमे हिंसाके त्यागका कारण नैतिक विश्वा
है। यदि इस प्रकारकी अहिंसाका प्रयोग कायरताके आवरण
वल्कि ईमानदारीसे और जव तक वह स्वीकृत है तव तक वास
साथ होता है, तो कुछ सीमा तक उसका परिणाम ठीक होत
वह इतनी कारगर नही होती जितनी कि वीरोंकी व्यापक अ
अहिंसाका आधार है व्यावहारिकता, न कि छोटे-बड़े सब मन्
और आध्यात्मिक समता और एकतामें विश्वास। इसलिए जव
होती है तव दुर्वलकी अहिंसा हिंसाके प्रयोगको

आत्मबल होनेके कारण अहिंसा हिंसाके भौतिक बलसे असीम रूपसे अधिक शक्तिशालिनी है और हिंसाकी अपेक्षा अहिंसाके लिए अधिक उच्चकोटिके साहसकी — बिना मारे मरनेके साहसकी — आवश्यकता है। जिस मनुष्यमें यह साहस नहीं उसको भी गांधीजी अहिंसाके नाम पर निर्लज्जताके साथ संकटसे भागनेकी अपेक्षा मारने और मरनेकी सलाह देते हैं।

अहिंसा और हिंसा

संसार प्रायः भ्रमसे हिंसाको वास्तविक शक्ति मान लेता है और बुराइयोंको दूर करनेके लिए उसे अनिवार्य समझता है। कुछ अंश तक इसका कारण यह है कि स्वाभाविक होनेके कारण अहिंसाकी ओर ध्यान आकृष्ट नहीं होता; लेकिन प्रकृतिके क्रममें बाधक होनेके कारण हिंसा ध्यान आकृष्ट करती है। प्रेमके असरसे करोड़ों कुटुम्बोंके लड़ाई-झगड़े मिट जाते हैं, लेकिन इतिहास इसका उल्लेख नहीं करता। यदि दो भाइयोंमें हथियारोंसे या अदालती — गांधीजीके अनुसार अदालतें भी एक प्रकारका हथियार या पशुबल ही हैं — लड़ाई हो, तो उनका नाम अखबारोंमें छपे, पास-पड़ोसवाले उन्हींकी चर्चा करें और शायद इतिहासमें भी उनका उल्लेख हो जाय।[1]

इसके अतिरिक्त, अहिंसक मनुष्यका आश्रय होता है आत्मबल और उसके पास कोई बाह्य शस्त्र नहीं होते। उसकी बातें ही नहीं, उसके कार्य भी प्रभावहीन मालूम होते हैं। इसके प्रतिकूल हिंसा केवल पशुबल है और उसके शस्त्र और प्रभाव दृश्य हैं। संसार आभाससे धोखेमें आ जाता है और उसके ऊपर हिंसाका जादू चल जाता है।

वास्तवमें अहिंसा संसारमें सबसे अधिक क्रियात्मक शक्ति है। वह अपने आप कार्य कर सकती है और उसके प्रचारके लिए शारीरिक शक्तिकी आवश्यकता नहीं होती।[2] उसकी तुलनामें शारीरिक शक्ति कुछ भी नहीं। गांधीजी दोनों शक्तियोंकी कार्यविधिकी तुलना इन शब्दोंमें करते हैं, "जो मनुष्य घातक शस्त्रोंका प्रयोग करता है और जिनको वह अपना शत्रु समझता है उनके विनाश पर तुला हुआ है, उसे भी प्रति २४ घंटेमें कमसे कम कुछ आरामकी आवश्यकता होती है और थोड़ी देरके लिए हथियार रख देने पड़ते हैं। . . . सत्य और अहिंसाके पुजारीके लिए यह बात नहीं है; और उनका सीधासा कारण यह है कि वे बाह्य हथियार नहीं हैं। उनका स्थान मनुष्यके हृदयमें है और आप सोते हों या जागते हों, वे सक्रिय रूपसे अपना कार्य

1. हिंद स्वराज, पृ० १४२-४३।
2. ह०, १२-११-'३८, पृ० ३२७।

तीसरे प्रकारकी अहिंसा, जिसको हम भ्रमसे अहिंसा कहते हैं, कायर और नामर्दका निष्क्रिय प्रतिरोध है। प्रेम और भय परस्पर विरोधी शब्द हैं। और इसलिए "कायरता और अहिंसा उसी प्रकार साथ-साथ नहीं रह सकते, जिस प्रकार पानी और आग नहीं रह सकते।"[१] कायरता संकटका सामना करनेके बजाय उससे दूर भागती है और अस्वाभाविक, अमानवोचित और अपमानजनक है। "कायरता नपुंसकता है और हिंसासे भी अधिक बुरी है। कायर प्रतिकार चाहता है, परन्तु मृत्युके भयसे अपनी रक्षाके लिए दूसरोंका सहारा लेता है। कायरकी गणना मनुष्योंमें नहीं है। वह स्त्रियों तथा पुरुषोंके समाजका सदस्य होनेके योग्य नहीं।"[२]

जब कायरता और हिंसामें चुनाव करना हो, तो गांधीजी हिंसाकी सलाह देते हैं। उनके निकट बदला नपुंसकता और लाचारीके निष्क्रिय आत्म-समर्पणसे कहीं अधिक अच्छा है। "यदि हमारे हृदयमें हिंसा है तो नपुंसकता पर अहिंसाका आवरण रखनेकी अपेक्षा हिंसक होना कहीं अधिक अच्छा है।"[३] कायरको ईश्वरमें श्रद्धा नहीं होती और जब वह अहिंसक होनेका ढोंग रचता है, तो सत्यके विरुद्ध अपराध करता है। दूसरी ओर हिंसक मनुष्य साहसी और अपनी भावनाओंके प्रति सच्चा होता है। इसीलिए "हिंसक मनुष्यके किसी दिन अहिंसक हो जानेकी आशा है, लेकिन कायरके लिए कोई आशा नहीं। इसलिए मैंने अनेक बार कहा है कि यदि हम अपने आपको, अपनी स्त्रियोंको और अपने पूजाके स्थानोंको कष्ट-सहनकी शक्तिसे, अर्थात् अहिंसासे, बचाना नहीं जानते, तो हमको -- यदि हम मनुष्य हैं -- कमसे कम लड़कर इनकी रक्षाके योग्य बनना होगा।"[४]

"अहिंसाकी शिक्षा उस व्यक्तिको नहीं दी जा सकती, जो मरनेसे डरता है और जिसमें प्रतिरोधकी शक्ति नहीं है। . . . इसके पूर्व कि वह अहिंसाको समझ सके, उसको यह शिक्षा देनी होगी कि ऐसे आक्रमणकारीके विरुद्ध, जो उसे अभिभूत करना चाहता है, आत्मरक्षाके प्रयासमें वह अपनी स्थितिमें दृढ़ रहे और मृत्यु तकका सामना करे। इसके अतिरिक्त और कुछ करना उसकी कायरताको दृढ़ करना और उसे अहिंसासे और दूर ले जाना होगा। यद्यपि बदला लेनेमें मैं, वास्तवमें, किसीकी सहायता नहीं कर सकता, पर मुझे कायरको तथाकथित अहिंसाके पीछे शरण भी नहीं लेने देनी चाहिए।"[५]

---

१. ह०, ४–११–'३९, पृ० ३३१।
२. ह०, १५–९–'४६, पृ० ३१२।
३. ह०, २१–१०–'३९, पृ० ३१०।
४. यं० इं०, भाग–३, पृ० २२२-२३।
५. ह०, २०–७–'३५, पृ० १८०।

कष्ट-सहनकी क्षमताकी सीमा है। . . . जिसे पराजय कहा जाता है वह विजयकी ऊषा हो सकती है। वह जन्मकी पीड़ा हो सकती है। . . . क्रोधरहित और दुर्भावनारहित कष्ट-सहनके चढ़ते हुए सूर्यके सामने कठोरतम हृदय और गुरुतम अज्ञान अदृश्य हो जाते हैं।"[1] फिर, "अहिंसाकी कोई सीमा नहीं है। यदि उसकी एक विशेष मात्रा प्रभाव उत्पन्न करती न जान पड़े, तो उसकी मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। यह अचूक दवा है।"[2]

लेकिन अहिंसा केवल संत-ऋषियोंका ही सद्गुण नहीं है। आत्मशक्ति होनेके कारण वह सबके लिए सामान्य रूपसे व्यवहार्य है। बच्चे, युवा और वयस्क, स्त्रियां और पुरुष, व्यक्ति और समुदाय, सभी उसका प्रयोग कर सकते हैं। अहिंसा मानव-जातिका नियम है, इसलिए जनता भी — बिना अहिंसाके अर्थका पूरा ज्ञान हुए भी — उसका प्रयोग कर सकती है।[3]

सत्य और अहिंसा कोई नये आदर्श नहीं हैं। वे जीवनके शाश्वत नियम हैं और सहस्रों वर्षोंसे संसारके विभिन्न देशोंमें उनकी शिक्षा दी जाती रही है; लेकिन इन आदर्शोंमें गांधीजीके पहले आजकी-सी गतिशीलता, अर्थकी परिपूर्णता और प्रयोगकी व्यापकता नहीं थी। ये आदर्श या तो केवल सन्त-महात्माओंके प्रयोगके लिए थे या दुर्बलों और कायरोंके आवरण-रूप थे। वे सही आदर्शोंके रूपमें स्वीकार कर लिये गये थे, परन्तु वास्तविक जीवनमें अव्यवहार्य समझकर उपेक्षित होते थे। यह कहा जाता था कि उद्योग-धन्धोंमें और व्यवसायमें और इनसे भी अधिक न्यायालयोंमें और विशेष रूपसे राजनीतिमें कोरा सत्य नहीं चल सकता। इसी प्रकार गौतम बुद्ध और ईसाकी धर्मशिक्षाके बाद भी अहिंसा प्रायः सब प्रकारके झगड़ोंको निपटानेकी, समाजके संगठनकी और वैयक्तिक तथा सामुदायिक सम्बन्धोंके संचालनकी पर्याप्त पद्धति नहीं मानी जाती थी। गांधीजीसे पहले अहिंसाका प्रयोग अधिकतर व्यक्तियों और छोटे-छोटे समुदायों तक ही सीमित था।

गांधीजीने इन मूलभूत नियमोंकी आधुनिक जीवनकी पृष्ठभूमिमें पुन-र्व्याख्या की है। संसारके इतिहासमें सबसे पहले उन्होंने अहिंसाका प्रयोग इतने व्यापक पैमाने पर जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें मौलिक ढंगसे किया है। इस व्यापक प्रयोगके लिए उन्होंने उपयुक्त संस्थाओंका निर्माण किया है और विशेषज्ञोंको प्रशिक्षित किया है। उन्होंने अपने प्रयोगों द्वारा शिक्षा दी है और यह प्रदर्शित किया है कि ये आदर्श जीवनकी प्रत्येक परिस्थितिमें समग्र मानव-जातिके व्यवहारके लिए हैं। संशयवादी संसारको उन्होंने दिखाया है कि

---

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० ८४६।

२. ह०, २०–८–'३८, पृ० २२६।

३. ह०, ४–११–'३९, पृ० ३३१।

सत्य और अहिंसा मनुष्यके हाथमें सबसे अधिक शक्तिशाली अस्त्र हैं। इस प्रकार उन्होंने इन आदर्शोंके अर्थको व्यापक और विशद बनाया है और उनको नए जीवनकी स्फूर्ति प्रदान की है, जो शक्तिका अनन्त स्रोत है।

४

नैतिक सिद्धांत–२ : सत्याग्रही नेताका अनुशासन

ब्रह्मचर्य

सत्य साध्य है और अहिंसा साधन है

अहिंसा स्वार्थ-रहित, कष्ट-सहन करनेवाला प्रेम है, जो शरीर और मनकी शुद्धिके विना असम्भव है। इसलिए सत्याग्रहीके लिए यह आवश्यक है कि वह आत्मशुद्धि-सम्बन्धी अनुशासनके पालन द्वारा अहिंसाके प्रयोगकी क्षमताका विकास करे। जिन व्रतोंको गांधीजी अहिंसाके विकासके लिए आवश्यक मानते हैं, उनमें ब्रह्मचर्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वे इस व्रतको सत्यके समान ही महत्त्व देते हैं और उनका यह विश्वास है कि सत्याग्रही नेताको ब्रह्मचर्य पालन करनेका प्रयत्न करना चाहिए और इस व्रतको व्यावहारिक प्रयोजनके लिए सिद्ध कर लेना चाहिए।[१]

सामान्य भापामें ब्रह्मचर्यका अर्थ है काम-वासनाका संयम। किन्तु गांधीजी इस सद्‌गुणको बड़े व्यापक अर्थमें लेते हैं। निरुक्तिके अनुसार ब्रह्मचर्यका अर्थ है ब्रह्मके साक्षात्कारकी ओर ले जानेवाला अनुशासन। "वह जीवित शक्ति, जिसे हम ईश्वर कहते हैं, प्राप्त की जा सकती है, यदि हम उसके उस नियमको जानें और उसका पालन करें, जो हमारे अन्दर ही उसको पानेका मार्ग वताता है।...एक शब्दमें, इस नियमको ब्रह्मचर्य कहा जा सकता है।" अतः गांधीजी ब्रह्मचर्यकी परिभाषा "ब्रह्मकी ओर ले जानेवाले सही मार्ग" के रूपमें करते हैं।[२] इसलिए ब्रह्मचर्यका अभिप्राय है मन, वचन और कर्मसे समस्त इंद्रियोंका पूर्ण संयम। अशुद्ध विचार या क्रोध ब्रह्मचर्यकी अवहेलना है।[३] इस प्रकार ब्रह्मचर्यका अर्थ है समस्त क्षेत्रोंमें आत्म-संयम। "जब तक

---

१. ह०, २३–७–'३८, पृ० १९२; सर्वोदय, अक्तूबर १९३८, पृ० ३५ पर प्रकाशित गांधीजीका पत्र।

२. ह०, २२–६–'४७, पृ० २००।

३. फ्रॉम यरवडा मन्दिर, पृ० २३; आत्मकथा (अं०), भाग–१, पृ० ४८५–८९; ह०, २३–७–'३८, पृ० १९२।

अपने विचारों पर इतना नियंत्रण न हो जाय कि अपनी इच्छाके विना एक भी विचार न आने पावे तब तक वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं।" गांधीजीका मत है कि विस्तृत अर्थको भुलाकर संकुचित अर्थमें ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनका प्रयत्न निष्फल जाता है। . . . और इन्द्रियोंको इधर-उधर भटकने देकर जननेन्द्रिय-निरोधका प्रयत्न सदा असफल होगा। इसलिए जो संकुचित अर्थमें ब्रह्मचर्य-पालनका प्रयत्न करे, उसे पहलेसे ही प्रत्येक इन्द्रियको विकारसे रोकनेका निश्चय कर लेना चाहिए।"[1]

गांधीजीके अनुसार ब्रह्मचर्य मानसिक स्थिति है। मनुष्यका वाह्य व्यवहार उसकी आन्तरिक अवस्थाका परिचायक होता है। परन्तु "ब्रह्मचर्य ऐसा सद्गुण नहीं है जो वाह्य संयमों द्वारा विकसित किया जा सके।" इस व्रतके लिए यह आवश्यक है कि स्त्री या पुरुषको अनुशासन नष्ट करनेवाला समझकर उसका परित्याग करनेकी अपेक्षा तथाकथित वासनाओंके वीच भी अपनेको शुद्ध रखनेकी क्षमता ब्रह्मचारीमें हो। "वह अनुशासन न तो अनुशासन है और न ब्रह्मचर्य, जिसका पालन केवल उस साहचर्यके परित्याग द्वारा हो सकता है, जो प्राकृतिक है और जिसका मूल सेवामें है। यह आसक्ति-रहित त्याग है।" ब्रह्मचर्यके वास्तविक सहायक हैं अन्य अहिंसक व्रत — न कि केवल वाह्य संयम, जो व्रतोंके विपरीत ब्रह्मचर्यका आवश्यक अंश नहीं हैं और अस्थायी हैं।[2]

अपने ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी विचारोंमें गांधीजी इस परम्परागत विश्वासको नहीं मानते कि अधिक संसारी होनेके कारण स्त्रियां पुरुषोंकी अपेक्षा नैतिक दृष्टिसे निम्न हैं और ब्रह्मचर्य-प्राप्तिका प्रयास करनेवालेको उनके सम्पर्कसे दूर रहना चाहिए। उनके अनुसार स्त्रीका स्पर्श पुरुषको अपवित्र नहीं करता, वरन् वह स्वयं प्रायः इतना अशुद्ध होता है कि स्त्रीका स्पर्श करने योग्य नहीं है। गांधीजी स्त्री-पुरुषकी समतामें विश्वास करते हैं और उनका विचार है कि स्त्री माता होनेके कारण अपनी कष्ट-सहनकी क्षमतामें पुरुषसे श्रेष्ठ है। ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला सत्याग्रही न पुरुषसे भागता है, न स्त्रीसे। इस व्रतका पालन उसकी प्रजनन-शक्तिको ऊर्ध्वगामी वना देता है, उसकी काम-वासनाको भस्म कर देता है और उसे काम-चेतनासे ऊपर उठाकर इस योग्य वना देता है कि उसके लिए सब स्त्रियां माताएं, बहनें और पुत्रियां बन जाती हैं। सन् १९३८ में गांधीजी इस बात पर निश्चित नहीं

चाहिए। जीवनके अन्तिम भागमें उनका विचार था कि यदि किसी अवसर पर आवश्यक हो तो ब्रह्मचारी कर्तव्यकी भावनासे किसी स्त्रीको उसी प्रकार अपनी शय्या पर स्थान दे सकता है, जिस प्रकार माता अपनी सन्तानको देती है।[१] ब्रह्मचारीकी तेजमयी शुद्धता उस स्त्रीको अनुप्राणित करेगी, उसकी नैतिकताको बल देगी और उसे काम-वासना रहित स्थिति प्राप्त करनेमें सहायक होगी।

मृत्युसे कुछ समय पूर्व गांधीजीकी पूर्णताकी खोजने इस दिशामें प्रयोग करनेके लिए उन्हें प्रेरित किया।[१] उनके कुछ साथियोंका मत था कि ये प्रयोग परम्पराके विरुद्ध होनेसे स्थापित मान्यताको शिथिल और नैतिक आचरणकी जनप्रिय धारणाको अस्तव्यस्त कर सकते हैं। इसलिए उन्होंने उनके विषयमें गम्भीर शंकाएं व्यक्त कीं। तथापि गांधीजी इस पर दृढ़ थे कि सत्यके एकाकी मार्ग पर उन्हें अपनी साधनामें लगे रहना चाहिए और इस आलोचना द्वारा निरुत्साहित हुए बिना ब्रह्मचर्यके नियम सम्बन्धी अपनी खोज जारी रखनी चाहिए। अन्य कोई मार्ग सत्य और अहिंसाका परित्याग होगा। यदि उनकी हत्या न हुई होती तो वे जनताको अपने प्रयोगोंके परिणामसे परिचित कराते।

सच पूछिये तो ब्रह्मचर्यके व्रतके अनुसार विवाहकी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि विवाह आत्म-साक्षात्कारके लिए आवश्यक नहीं। "विवाह उसी प्रकार (उच्चतम आध्यात्मिक स्थितिसे) पतन है जिस प्रकार जन्म है।"[२]

गांधीजी जानते थे कि पूर्ण ब्रह्मचर्य एक आदर्श स्थिति है और अपूर्ण मनुष्य इस व्रतको पूरी तरह सिद्ध नहीं कर सकता। किन्तु तब भी हमें चाहिए कि हम उसी प्रकार सही आदर्शको अपने सामने रखें और उस तक पहुंचनेकी शक्तिभर चेष्टा करें, जिस प्रकार जब बच्चोंको बारह-खड़ी लिखना सिखाया जाता है तो उन्हें अक्षरका अच्छेसे अच्छा नमूना दिखाया जाता है और वे यथाशक्ति उसकी हूबहू नकल करनेकी चेष्टा करते हैं।[३] लेकिन गांधीजी व्यावहारिक आदर्शवादी हैं और वे एक ओर आत्म-संयम तथा प्रवृत्तियोंको ऊर्ध्वगामी बनानेके प्रयत्नके और दूसरी ओर केवल बलपूर्वक इन्द्रियोंको दबानेके बीच सीमारेखा खींचते हैं; और यद्यपि वे आदर्शको नीचा नहीं करते, फिर भी भिन्न-भिन्न नैतिक स्तरोंके व्यक्तियोंके लिए क्रमसे बढ़ता हुआ आत्म-संयम वे ठीक समझते हैं।

---

१. विस्तारके लिए देखिये प्यारेलाल लिखित 'महात्मा गांधी — दि लास्ट फेज', भाग–१, अध्याय २३।

२. स्पीचेज, पृ० ८२९।

३. ब्रह्मचर्य पर महात्मा गांधीके विचार, पृ० २८।

उदाहरणके लिए, यदि संतानकी इच्छा है अथवा स्त्री-पुरुषमें घनिष्ठ मित्रता और पवित्र साहचर्यका प्रयोजन है — और गांधीजी इन इच्छाओंको प्राकृतिक मानते हैं — तो विवाह आवश्यक है; किन्तु यदि आवश्यक भी हो तो यथासंभव विवाह देरसे किया जाय और विवाह अनुशासनका, न कि वासनाका, साधन होना चाहिए। विवाहके ध्येयका आदर्श है शारीरिक संयोग द्वारा आध्यात्मिक संयोग। इस संयोगमें मूर्त मानवीय प्रेम दैवी अथवा सार्वभौमिक प्रेमकी ओर ले जानेवाली सीढ़ी है।[१]

वैवाहिक स्थितिका मूलभूत नियम यह है कि स्त्री-पुरुष-संयोग केवल तभी उचित है जब उसका एकमात्र हेतु संतानोत्पत्ति हो। प्रजोत्पादनके हेतुके अभावमें विषयेच्छा निम्न-कोटिका भ्रष्टाचार है, और इसलिए वह उचित ही निन्द्य माना गया है।[२] मर्यादित रूपमें यौनक्रिया सुन्दर और श्रेष्ठ वस्तु है। उसमें लज्जाकी कोई बात नहीं है।[३] गांधीजी हिन्दू स्मृतियोंके इस मतका समर्थन करते हैं कि उन विवाहित लोगोंको, जो इस मूलभूत नियमके अनुसार आचरण करते हैं, ब्रह्मचारी मानना चाहिए।[४] वे इसे विवाहित ब्रह्मचर्यका आदर्श कहते हैं और मनुस्मृतिकी तरह एक बच्चेको 'धर्मज' और दूसरोंको 'कामज' समझते हैं।

वे युवा स्त्री-पुरुषोंकी कठिनाइयों और दुर्बलताओंको जानते हैं तथा पाखंड और केवल बाह्य दमनके विरुद्ध हमें चेतावनी देते हैं। सन् १९३७ में दो विवाहित दम्पतियोंको आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा था, "पाखंडी मत बनो। जो तुम्हारे लिए असंभव हो उसे करनेके निष्फल प्रयत्नमें अपने स्वास्थ्यको मत खो बैठो। अपनी सीमाओंको समझो और उतना ही करो जितना तुम कर सकते हो। मैंने तुम्हारे सामने सही आदर्श, समकोण रखा है; जहां तक हो सके उस समकोणको प्राप्त करनेकी चेष्टा करो।"[५] वे लिखते हैं, "जब किसीको यह ज्ञात हो कि वह अपने दैनिक विचारोंमें अपनी इच्छाके प्रतिकूल भी विवाहित जीवन व्यतीत कर रहा है, तब विवाह ही अधिकतम प्राकृतिक और वांछनीय स्थिति है।"[६] उनका विश्वास है कि "मनको

विकारपूर्ण रहने देकर शरीरको दवानेकी कोशिश करना हानिकर है।"[१] किन्तु गांधीजी संतति-नियमनके कृत्रिम उपायोंके विरोधी हैं, क्योंकि ये कृत्रिम उपाय मनुष्यको उसके कर्मके फलसे बचानेका प्रयत्न करते हैं और दुर्गुणोंके पोपक है।

गांधीजीने इस वातके कारण वताये हैं कि क्यों सत्याग्रही नेताको ब्रह्मचर्य या विवाहित ब्रह्मचर्यके आदर्शको व्यावहारिक प्रयोजनोंके लिए सिद्ध कर लेना चाहिए। यदि नेता लगभग पूर्ण ब्रह्मचारी है, तो व्यावहारिक दृष्टिकोणसे उसके लिए कुछ भी असंभव न होगा। यदि प्रजनन-शक्तिका दुरुपयोग होनेके वजाय उसकी रक्षा होती है, तो वह उच्चतम सृजनात्मक शक्तिमें परिणत हो जाती है। वासना पर अनुशासन व्यक्तिको शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक वल देता है और उसे वह शक्ति प्रदान करता है जो किसी अन्य साधन द्वारा अप्राप्य है। पूर्ण ब्रह्मचर्यका अर्थ है विचारों पर पूर्ण नियंत्रण। "विचार ही हमारे वचन और कर्मकी जड़ हैं। हमारे वचन और कर्म वैसे ही होते हैं जैसे हमारे विचार। इसलिए पूर्णरूपसे नियंत्रित विचार सर्वश्रेष्ठ शक्ति है और वह स्वयं (विना किसी वाह्य सहायताके) कार्य कर सकता है।"[२] "विचार-नियत्रणका अर्थ है कम-से-कम शक्ति द्वारा अधिक-से-अधिक कार्य।"[३] इसके अतिरिक्त सत्य और अहिंसाकी सिद्धि — जिसका अर्थ है मनुष्य-जातिकी सेवा द्वारा सार्वभौम प्रेमकी सिद्धि — केवल ब्रह्मचारीके लिए ही संभव है। मनुष्य आध्यात्मिक मार्ग और शरीर-सुख दोनोंको साथ साथ नहीं अपना सकता। वासनामय जीवन शरीरके वंधनको दृढ़ करता है और आत्म-संयम, निःस्वार्थ भाव और अनासक्तिका — जिनके विना मनुष्य सत्याग्रही नहीं हो सकता —

---

१. आत्म-शुद्धि, पृ० १३।

देखिये गांधीजी और श्रीमती मार्गरेट सेंगरकी वातचीत, श्री महादेव देसाई लिखित विवरण: ह०, २५-१-'३६, पृ० ३९३-९८।

२. ह०, २३-७-'३८, पृ० १९२।

३. ह०, १०-६-'३९, पृ० १६०।

श्री रामकृष्ण परमहंसके अनुसार यदि कोई मनुष्य १२ वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचारी रहे, तो उसे श्रेष्ठ शक्ति प्राप्त होती है। उसके अन्दर एक नवीन ज्ञान-नाड़ीका विकास होता है, वह सव कुछ याद रख सकता है और सव कुछ जान सकता है। देखिये रोमां रोलां कृत 'लाइफ ऑफ रामकृष्ण', पृ० २७७। इसी पुस्तकमें रोमां रोलांका कहना है कि सभी महान रहस्यवादियों और अधिकतर आदर्शवादियोंका यह स्पष्ट अनुभव है कि विषय-वासनाके शारीरिक और मानसिक त्यागसे उच्च कोटिकी आध्यात्मिक शक्ति और संचित [illegible]क शक्ति प्राप्त होती है। वही, पृ० २२६।

विरोधी है। ब्रह्मचर्य या विवाहित ब्रह्मचर्य सार्वजनिक सेवामें लगे हुए सत्याग्रहीको निजी कुटुम्बकी झंझटोंसे बचाता है।[1]

गांधीजीके अन्य सिद्धान्तोंकी अपेक्षा ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी उनके सिद्धान्तोंके बारेमें बहुत अधिक गलतफहमी और आलोचना हुई है। कहा गया है कि आधुनिक मनोविज्ञान और चिकित्साशास्त्रके अनुसन्धानोंके विरुद्ध गांधीजी प्रवृत्तियोंको बलपूर्वक दबानेके पक्षमें हैं; संन्यास और त्यागके जीवनमें विश्वास होनेके कारण उनके ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी विचार वास्तविकतासे दूर जा पड़े हैं; यौनकार्य केवल शारीरिक कार्य न होकर जीवनको निरन्तर बनाये रखनेका साधन है; और यदि इन सब बातोंको ध्यानमें रखें तो उनका यह सिद्धान्त दुर्बल है।[2]

लेकिन गांधीजी पर बलपूर्वक प्रवृत्तियोंको दबानेका दोषारोपण अनुचित है। उनके लेख यह सिद्ध करते हैं कि गांधीजी आधुनिक मनोविज्ञान और चिकित्साशास्त्रकी इस शिक्षाके प्रति उदासीन नहीं हैं कि प्रवृत्तियोंको केवल दबाना संकटमय और रोगकारी है। इसी अध्यायमें ऊपर दिये गये तीन उद्धरण इस बातके प्रमाण हैं।[3] अधिक उद्धरण देना अनावश्यक है।

जैसा कि ऊपर सत्यके सम्बन्धमें विवेचना करते हुए बताया गया है, गांधीजी उन लोगोंमें, जो स्वतंत्र रीतिसे, स्वयं अपने ही प्रयाससे, सत्यका निर्धारण करते हैं और उनमें जो दूसरों द्वारा विकसित सत्यको स्वीकार करते हैं और उस पर आचरण करते हैं — नैतिक पूर्णताके लिए क्रियात्मक साधना करनेवाले नेताओं और साधारण स्थितिके अनुगामियोंमें — अन्तर करते हैं। *व्यावहारिक प्रयोजनोंके लिए ब्रह्मचर्यके आदर्शकी सिद्धिकी अपेक्षा* गांधीजी सत्याग्रही नेताओंसे ही रखते हैं। जहां तक साधारण मनुष्योंका सम्बन्ध है, गांधीजी उनके सामने भी सही आदर्श रखते हैं, लेकिन वे चाहते हैं कि साधारण मनुष्य यथाशक्ति उस आदर्श तक पहुंचनेका प्रयास करें।

---

१. आत्म-शुद्धि, पृ० ११।

बाइबलका निम्न उद्धरण गांधीजीसे मिलता-जुलता है:

"वह जो अविवाहित है, ईश्वरीय बातोंकी और ईश्वरको प्रसन्न करनेकी चिन्ता करता है; किन्तु वह जो विवाहित है, सांसारिक बातोंकी और अपनी स्त्रीको प्रसन्न करनेकी चिन्ता करता है।" — कोरिन्थियन्स, ७, ३२–३३।

२. राधाकृष्णन्: महात्मा गांधी, पृ० १८, ४८, १०५, १९१; आर्यन पाथ, सितम्बर १९३८, पृ० ४५२; सी० एफ० एन्ड्रूज: महात्मा गांधीज़ आइडियाज, पृ० १०१; स्पीचेज़, श्री एन्ड्रूज़की प्रस्तावना; इण्डियन रिव्यू, जुलाई १९३८, स्प्रैटका 'गांधीजी इज ए साइकोलॉजिस्ट' शीर्षक लेख।

३. देखिये पुस्तकके पृ० ८१-८२।

लेकिन प्रजननके हेतुके विना यौनकार्यको वे संयमहीनता समझते हैं और उसके विपक्षमें सवल तर्क उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं, "किसी आदर्शके व्यवहारकी कोई सीमा नहीं हो सकती। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति इस वातको मानेगा कि अमर्यादित विषय-सेवनका एकमात्र परिणाम व्यक्ति या मनुष्य-जातिका निश्चित विनाश ही हो सकता है।"[१]

गांधीजी ब्रह्मचर्यको असंभव आदर्श नहीं मानते। वे मनुष्यकी विकास-क्षमताको सीमावद्ध करनेसे इनकार करते हैं। उनका विश्वास है कि सवकी आत्मा एक है और सफल आत्म-नियन्त्रणके एक भी उदाहरणका साक्ष्य विश्वसनीय निर्णायक है। इस प्रकार यदि ब्रह्मचर्य गांधीजीके लिए सम्भव है, तो आवश्यक प्रयत्न करनेवाले किसी अन्य मनुष्यके लिए भी सम्भव है।[२] उनका कहना है कि सभी देशोंके कुछ महान व्यक्तियोंने इस उच्च आदर्श पर आचरण किया है। मानव-प्रवृत्तियोंमें दिशा-परिवर्तनकी अत्यधिक क्षमता है। स्वर्गीय डॉ० जे० डी० अनविनके अनुसन्धानोंका भी यह निष्कर्ष है कि समाजका सांस्कृतिक विकास उसी अनुपातसे होता है, जिस अनुपातसे वह विवाहके पहले और वादमें विषय-सेवनके अवसरोंको मर्यादित करता है।[३] लेकिन जैसा कि आल्डुस हक्सलेका कहना है, अनिवार्य यौन-नियंत्रणके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न सामाजिक शक्तिसे सांस्कृतिक विकासकी आशा की जा सकती है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उससे नैतिक विकास भी हो।[४] लेकिन गांधीजीका आदर्श केवल यंत्रवत् यौन-नियंत्रणकी अपेक्षा कहीं अधिक उच्च है और इसलिए हक्सलेकी आलोचना उस पर लागू नहीं हो सकती।

अस्वाद

ब्रह्मचर्यके साधनोंमें से गांधीजीने अस्वादको स्वतन्त्र व्रतका स्थान दिया है।[५] इस व्रतका अर्थ है कि हमारा खाना सादा होना चाहिए और हमको रसके लिए नहीं, वरन् शरीरको कायम रखनेके लिए ही भोजन करना चाहिए।[६] स्वादवृत्तिसे छुटकारा पानेके लिए गांधीजी उपवास और भोजन-सम्वन्धी

---

१. ह०, २०–३–'३७, पृ० ४४।

२. ह०, ३०–५–'३८, पृ० १२५।

३. जे० डी० अनविन: सेक्स एण्ड कल्चर।

४. हक्सले: एण्ड्स एण्ड मीन्स, पृ० ३१८।

५. ब्रह्मचर्यके अन्य मुख्य साधन हैं: ब्रह्मचर्यकी आवश्यकताका अनुभव, पवित्र साथी और पवित्र पुस्तकें रखना, प्रार्थना तथा सत्य, अहिंसा आदि १० व्रत।

६. आत्मकथा, भाग–४, अध्याय २७।

प्रतिबन्धकी, विशेषकर वासनोत्तेजक भोजनसे बचनेकी, सिफारिश करते हैं। लेकिन यह अनुशासन तभी उपयोगी होता है जब मन भी देह-दमनमें साथ देता है, अर्थात् जब मनमें विषय-भोगके प्रति वैराग्य हो जाता है।[१] गांधीजीका मत है कि प्रार्थनाके रूपमें निरन्तर प्रयास भी आवश्यक है; क्योंकि परिपूर्णता अर्थात् भूलोंसे छुटकारा केवल ईश्वरकी कृपासे ही प्राप्त होता है।

अभय

सत्य और अहिंसाके विकासके लिए अभय अनिवार्य है। असत्य और हिंसाकी जड़ भय ही है। भय ही कायरताको जन्म देता है। गांधीजीके शब्दोंमें "सम्भवत: कायरता बड़ीसे बड़ी हिंसा है। वह निश्चय ही रक्तपात और ऐसी ही दूसरी बातोंकी अपेक्षा, जिन्हें हिंसाका नाम दिया जाता है, अधिक बड़ी हिंसा है; क्योंकि वह ईश्वरमें श्रद्धाकी कमीसे और उसके गुणोंके अज्ञानसे उत्पन्न होती है।"[२] सत्य और अहिंसाका विकास केवल बलवान ही कर सकते हैं। लेकिन बल निर्भयतामें है, शरीरका मांस बढ़ जानेमें नहीं।[३] निरंकुश शासन आतंकके आधार पर ही पनपता है। गांधीजी निर्भयता पर बहुत जोर देते हैं, उसे आत्मशुद्धिका लक्षण मानते हैं और भयके त्यागके रूपमें स्वराज्यकी परिभाषा करते हैं।[४]

गांधीजीका एक उद्देश्य यह रहा है कि वे अपने देशवासियोंके आत्म-विश्वासको दृढ़ करें और उनकी डरने और दबनेकी भावनाको दूर करें। निस्सन्देह वे भारतवासियोंको निर्भयताके गुणका विकास करने और उसको व्यवहारमें लानेकी शिक्षा देनेमें बहुत परिमाणमें सफल हुए हैं। वाईकाउंट सैम्युअल लिखते हैं, "गांधीने भारतवासियोंको अपनी पीठ सीधी करने, अपनी आंखें ऊंची उठाने और परिस्थितिका निश्चल दृष्टिसे सामना करनेकी शिक्षा दी।"[५]

गांधीजी अभयका अर्थ इन शब्दोंमें करते हैं: "समस्त बाह्य भयोंसे मुक्ति — मौतका भय, धन-माल लुटनेका भय, कुटुम्ब-परिवार सम्बन्धी भय, रोगका भय, आघातका भय, मान-मर्यादाका भय, किसीको बुरा लगनेका भय — यों भयकी वंशावली जितनी बढ़ावें बढ़ाई जा सकती है।"[६]

---

१. आत्मकथा, भाग–३, अ० ८।
२. यं० इं०, भाग–३, पृ० ९७६।
३. हिन्द स्वराज्य, पृ० ६१।
४. स्पीचेज़, पृ० ८२४; यं० इं०, ७–१–'३२।
५. राधाकृष्णन् : महात्मा गांधी, पृ. २९५।
६. आत्म-शुद्धि, पृ० ३३।

लेकिन निर्भयता आवे कैसे? "हम ईश्वरसे डरें, तो हम मनुष्यसे निर्भय हो जायंगे।"[१] "भयमात्र देहके कारण हैं; देह-सम्बन्धी रोग — आसक्ति दूर हो, तो अभय सहज ही प्राप्त हो।"[२] अनासक्तिके विकासके लिए हमको अपनी वासनाओंको, आंतरिक शत्रुओंको, जीतना होगा। गांधीजी इस बात पर जोर देते हैं कि वासनाओंके नियंत्रण द्वारा हमको मानसिक समता प्राप्त करनी चाहिए। उस स्थितप्रज्ञके लिए, जिसने अपने आपको जीत लिया है, बाह्य भय अपने आप छूट जाते हैं; लेकिन इस दशाकी सिद्धि उसीके लिए सम्भव है, जिसको शरीरका अतिक्रमण करनेवाली आत्माकी झलक दिखाई दे। ऐसे व्यक्तिमें ऊंचेसे ऊंचे बलिदानकी क्षमता होती है। इसीलिए गांधीजीका विश्वास है कि, "सचमुच वह महान राष्ट्र है जहांके लोग मौतके तकिये पर अपना सिर टकते हैं। जिसने मौतका डर छोड़ दिया है, उसे फिर कोई डर नहीं रहता है।"[३] गांधीजी प्रार्थनाकी और दृढ़तासे अन्तरात्माकी आज्ञा माननेकी आवश्यकता पर जोर देते हैं। अंतरात्माकी आवाज ईश्वरकी इच्छा है, और प्रत्येक विचार और कार्यका अन्तिम निर्णायक है।[४] दृढ़ और सतत प्रयत्न और आत्म-विश्वासका विकास भी आवश्यक है।[५]

अस्तेय

सत्य और अहिंसामें अस्तेय और अपरिग्रह, जो अस्तेयका निष्कर्ष है, का भी समावेश है। अस्तेय, अपरिग्रह, शारीरिक श्रम और स्वदेशी यही व्रत गांधीजीके तत्त्व-दर्शनके आर्थिक पक्षको निर्धारित करते हैं।

प्रकट है कि सत्य और सार्वभौम प्रेमके साधकको चोरी नहीं करना चाहिए। लेकिन गांधीजी अस्तेयका प्रयोग सामान्य अर्थकी अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थमें करते हैं। दूसरेकी वस्तुको उसकी अनुमति या जानकारीके बिना लेना या किसी वस्तुको इस विश्वाससे अपने पास रख लेना कि वह किसीकी नहीं है — चोरीके केवल यही दृष्टान्त नहीं हैं। किसी भी वस्तुको, जिसकी हमको आवश्यकता नहीं है, लेना; पिताका अपने बच्चोंसे छिपाकर किसी चीजको खाना; आवश्यकताओंको उचितसे अधिक बढ़ाना; किसीकी चीजको देख कर ललचाना; किसी वस्तुको भविष्यमें प्राप्त करनेके बारेमें चिंतित होना; विचारोंकी चोरी करना — ये सब अस्तेय-व्रतके विरुद्ध मानसिक या

१. स्पीचेज़, पृ० २१७।
२. आत्म-शुद्धि, पृ० ३४।
३. हिन्द स्वराज्य, पृ० १५५।
४. यं० इं०, १–७–'३२; एथिकल रेलिजन, पृ० ४१।
५. फ्रॉम यरवडा मन्दिर, पृ० ४४।

अपराधोंके दृष्टान्त हैं।[1] उनके अनुसार आवश्यकतासे अधिक संग्रह चोरी है। गांधीजीकी अर्थनीति आवश्यकताओं और कल्याणकी अर्थनीति है, संग्रहकी नहीं, जो पूंजीवादका लक्षण है।

अपरिग्रह

अपरिग्रह अस्तेयके अर्थका उन वस्तुओंको अधिकारमें रखनेकी सीमा तक किया गया विस्तार है, जिनकी हमको निकट वर्तमानमें आवश्यकता नहीं है। पूर्ण अपरिग्रह पूर्ण प्रेमका निष्कर्ष है, और इसका अर्थ है पूर्ण त्याग। उसके अनुसार न तो मनुष्यके मकान होने चाहिए और न कलके लिए खाने और कपड़ेका संग्रह। मनुष्यको अपने नित्यके खानेके लिए ईश्वरके सहारे रहना चाहिए। शरीर भी एक प्रकारकी सम्पत्ति है और मनुष्यको चाहिए कि जब तक शरीर रहे वह उसका उपयोग सेवाके लिए करना सीखे। इस प्रकार रोटी नहीं, सेवा ही उसका सच्चा आहार बन जाना चाहिए।[2] जब तक शरीरका अस्तित्व रहता है, उसे अनिवार्य रूपसे कुछ वस्तुओंकी आवश्यकता रहती है। जब सत्याग्रही अहिंसक व्रतोंको अपनाता है, तो शरीरमें उसकी आसक्ति घटती है और वह अपनी आवश्यकताओं और परिग्रहोंको घटानेमें समर्थ हो जाता है।[3] विचारोंके सम्बन्धमें अपरिग्रहका अर्थ है कि तथाकथित ज्ञान, जो हमें आंतरिक जीवनके मूल्योंसे और मनुष्य-जातिकी सेवासे हटाता है, सीधा-सादा अज्ञान है, और हमको उससे बचना चाहिए।[4] इस प्रकार अपरिग्रहका अर्थ है जड़ पदार्थों पर आश्रित न होना। उसका यह भी निष्कर्ष है कि हमारे पास किसी भी प्रकारकी निजी संपत्ति न होनी चाहिए। निजी संपत्तिको हटानेके बारेमें गांधीजीके विचार कम्युनिस्टोंसे भी आगे बढ़े हुए हैं।

लेकिन पूर्ण अपरिग्रह एक अमूर्त धारणा है और कोई उसके अनुसार पूरी तरह व्यवहार नहीं कर सकता। गांधीजीके शब्दोंमें, "आरंभमें किसी वस्तु पर अधिकार न रखना शरीर परसे अपने कपड़े उतार देनेके समान नहीं, बल्कि अपनी हड्डियों परसे अपना मांस उतार देनेके समान है।"[5] "लेकिन यदि हम इस (व्रतकी सिद्धि) के लिए प्रयत्नशील हों, तो

---

१. आत्म-शुद्धि, पृ० ३३–३५।
२. आत्म-शुद्धि, पृ० २९–३०।
३. आश्रम, पृ० ४७।
४. आत्म-शुद्धि, पृ० ३०–३१।
५. राधाकृष्णन् : महात्मा गांधी, पृ० ५६।

हम संसारमें समताकी स्थापनामें किसी भी दूसरी पद्धतिकी अपेक्षा अधिक आगे बढ़ सकेंगे।"[१]

गांधीजी यह मानते हैं कि सत्याग्रहीकी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नतिके लिए शारीरिक और सांस्कृतिक सुविधाओंकी एक परिमाण तक आवश्यकता है। लेकिन इन आवश्यकताओंकी पूर्ति एक स्तरसे परे न जानी चाहिए। यदि ऐसा न होगा और सत्याग्रहीकी आवश्यकताओंकी वृद्धि होती रहेगी, तो उसकी वासना-प्रियता बढ़ेगी और उसके सेवाकार्यमें रुकावटें पड़ेंगी।[२] भौतिक आवश्यकताओंकी वृद्धि नहीं वरन् सुविधाओंको ध्यानमें रखकर उनका नियन्त्रण ही सत्याग्रहीका ध्येय होना चाहिए। 'जो कुछ वह प्राप्त कर सकता है उसे प्राप्त करनेका विचार छोड़ देना चाहिए। संक्षेपमें, सत्याग्रही अपनी आवश्यकताकी उसी वस्तु पर अधिकार रख सकता है,

---

१. मॉडर्न रिव्यू (अक्तूबर १९३५) में एन० के० वसुका लेख : एन इंटरव्यू विद महात्मा गांधी।

२. कुछ आदिम जातियोंमें निजी सम्पत्तिका प्रायः अभाव है। उदाहरणके लिए, एस्किमो और अरापेश जातियोंमें लगभग सभी सम्पत्ति सार्वजनिक होती है। कहा जाता है कि एस्किमो लोग सम्पत्तिके प्रति इतने उदासीन हैं कि वे उससे घृणा-सी करते हैं। जैसा कि जिलेस्पीने लिखा है, जिन संस्कृतियोंमें संचय-वृत्ति पर जोर दिया जाता है, उनमें वह (संचय-वृत्ति) शक्ति और सुरक्षाकी आवश्यकताओंके साथ सम्बद्ध रहती है। जिलेस्पीका सुझाव है कि सामाजिक सुरक्षाका उचित प्रबन्ध करनेसे, शक्ति-वृत्तिके विकासको निरुत्साहित करनेसे और शक्ति तथा भौतिक दृश्य पदार्थोंके स्थान पर समाजमें सहयोगकी भावनाको आत्म-सम्मानका आधार बनानेसे मनुष्य-स्वभावकी किसी दृढ़, आन्तरिक आवश्यकताकी उपेक्षा न होगी, वरन् समाज द्वारा विरचित व्यक्तिगत सम्पत्तिकी आवश्यकता दूर हो जायगी और युवा व्यक्तियोंकी चिन्तायुक्त प्रतिक्रियाओंका और वयस्क मनुष्योंकी विषादयुक्त प्रतिक्रियाओंका एक कारण दूर हो सकेगा। जिस प्रकारका चरित्र सन्तोषप्रद नवसमाजके विकासके लिए आवश्यक है, उसके आधारभूत गुण जिलेस्पीके अनुसार ये हैं : समाजमें अज्ञात-नाम रहने (प्रसिद्धिसे बचने) की इच्छा; योग्यताका विकास और कुशलता-प्राप्ति, न कि बाह्य सम्पत्तिका संचय; सहयोग, न कि प्रतियोगिताकी भावना; स्वतन्त्रताके आधारको यथार्थवादी दृष्टिकोणसे स्वीकार करना अर्थात् स्वतन्त्रताके लिए जोखिम उठाना और यदि आवश्यकता हो तो प्रत्येक प्रकारके बलिदानको, मृत्युको भी स्वीकार करना।—साइकोलॉजिकल एफेक्ट्स ऑफ वॉर ऑन सिटिज़न एण्ड सोल्जर, अ० ३ और ७, विशेषकर पृ० १०० और २४०।

जिसकी अन्य किसी व्यक्तिको आवश्यकता न हो और जब उसके स्वामित्वमें हिंसा और शोषण न हो।

ट्रस्टी

अपरिग्रहमें संचित संपत्ति, लोगोंकी प्रतिभा और तात्कालिक आवश्यकताओंसे अधिक उनकी आयके सम्बन्धमें ट्रस्टीशिपका आदर्श निहित है। यदि सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व सच्चे और अहिंसक साधनोंसे दूर हो सके, तो गांधीजी उसके हटा देनेके पक्षमें हैं। हिंसाके बिना और समाजके दूसरे सदस्योंकी सहायता और सहयोगके बिना लोग सम्पत्तिका संचय नहीं कर सकते। इसलिए उनको कोई नैतिक अधिकार नहीं कि वे उसके किसी अंशका भी उपयोग व्यक्तिगत हित और दूसरोंके शोषणमें करें। जब तक मनुष्य अपनी तात्कालिक आवश्यकताओंके अतिरिक्त अन्य सम्पत्तिके त्यागके लिए तैयार नहीं हैं, उन्हें सम्पत्तिकी ओर अपना भाव बदल देना चाहिए और सम्पत्तिके स्वामीकी तरह नहीं, उसके प्रन्यासी (ट्रस्टी) की तरह आचरण करना चाहिए और सम्पत्तिका उपयोग समाजके हितके लिए करना चाहिए।[1]

इसी प्रकार कुछ प्रतिभाशाली लोगोंमें दूसरे लोगोंकी अपेक्षा अधिक उपार्जनकी क्षमता होती है। गांधीजी उनकी प्रतिभाको कुंठित न करेंगे और उन्हें अधिक उपार्जनकी छूट देंगे। परन्तु उनको प्रन्यासी (ट्रस्टी) का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और अपनी अपेक्षाकृत अधिक आयके अधिकांशको लोक-कल्याणमें लगाना चाहिए। आयके अतिरिक्त लोगोंको अपनी प्रतिभा भी जन-कल्याणके कार्यमें लगा देनी चाहिए। इस प्रकार गांधीजी सम्पत्ति और प्रतिभा दोनोंके समाजीकरणके पक्षमें हैं।

प्रन्यासी (ट्रस्टी) को स्वामीके रूपमें अपने अधिकारके नाते नहीं, वरन् समाजके अधिकारके नाते काम करना चाहिए। उसके द्वारा की हुई समाजकी सेवाके मूल्यके अनुपातमें उसे उचित कमीशन भी मिलना चाहिए। कमीशनकी दर राज्य द्वारा निर्धारित की जानी चाहिए।

मूल ट्रस्टीको अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करनेका अधिकार होना चाहिए, परन्तु उसके चुनावका अन्तिम निर्णय राज्य द्वारा ही होगा। गांधीजीकी आशाके अनुसार यह ऐसी व्यवस्था है, जो राज्य और व्यक्ति दोनों पर नियन्त्रण रखेगी। इस प्रकार गांधीजी उत्तराधिकारमें प्राप्त सम्पत्ति और अनुपार्जित आयके विरुद्ध हैं। उनके अनुसार "प्रन्यासी (ट्रस्टी) का जनताके अतिरिक्त कोई उत्तराधिकारी नहीं होता।" यदि ट्रस्टकी सम्पत्तिका

१. आत्म-शुद्धि, पृ० ३४–३५।

दुरुपयोग होता है, तो राज्यको कमसे कम हिंसाके प्रयोग द्वारा उसे अपने अधिकारमें लेकर उसका सुधार करना चाहिए। वे मृत्युकर और सम्पत्ति पर भारी कर लगानेके पक्षमें भी हैं।

गांधीजी सबसे प्रन्यासी (ट्रस्टी)की भांति सम्पत्तिका उपयोग करानेके लिए जिन साधनोंका आश्रय लेंगे, वे हैं सत्याग्रहीके आचरणका प्रभाव, समझाना-बुझाना, प्रन्यास (ट्रस्टीशिप) के पक्षमें सामान्य वातावरण उत्पन्न करना और अहिंसक असहयोग।[१] वे इस बातकी आशा करते थे कि यदि सामान्य रूपसे लोग इस सत्यको ग्रहण कर लेंगे, तो ट्रस्टीशिप एक वैधानिक संस्था बन जायगी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वे इस बातके विरुद्ध नहीं कि आवश्यकता पड़ने पर राज्य न्यूनतम हिंसाके कमसे कम प्रयोग द्वारा उसे अपने अधिकारमें ले ले। लेकिन वे राज्यको अविश्वासकी दृष्टिसे देखते हैं और स्वेच्छासे किये गये अहिंसक कार्यको अपेक्षाकृत अधिक अच्छा समझते हैं।[२]

आलोचक प्रायः गांधीजीकी प्रन्यास (ट्रस्टीशिप) की धारणाकी आलोचना करते हैं। वे कहते हैं कि पूंजीपति मजदूरोंके साथ अपने बर्तावमें गांधीजीके इन विचारोंसे अनुचित लाभ उठाते हैं; किन्तु गांधीजीके अनुसार प्रन्यास (ट्रस्टीशिप) का सिद्धान्त अहिंसाका आवश्यक निष्कर्ष है। क्योंकि प्रन्यास (ट्रस्टीशिप) के सिद्धान्तका चलन इसलिए हुआ कि राज्य सम्पत्ति जब्त न करे और समाजके हितमें मूल स्वामीकी उपार्जनकी क्षमता बनी रहे।

वे कहते हैं, "मेरा ट्रस्टीशिपका सिद्धान्त कोई क्षणिक साधन या धोखादेहीकी बात नहीं है। मुझे विश्वास है कि वह मेरे अन्य सब सम्पत्ति-संबंधी सिद्धान्तोंके बाद भी जीवित रहेगा। उसके पीछे दर्शन और धर्मकी स्वीकृति है। यह बात कि सम्पत्तिवालोंने उस सिद्धान्तके अनुसार आचरण नहीं किया, सिद्धान्तकी असत्यता नहीं, धनवानोंकी कमजोरी सिद्ध करती है। कोई दूसरा सिद्धान्त अहिंसासे मेल नहीं खाता।"[३] वे चाहते थे कि प्रन्यास (ट्रस्टीशिप) का आदर्श संसारके लिए भारतकी भेंट बने। उनका यह दृढ़ विचार था कि यदि संसार उसे स्वीकार कर ले, तो वह शोषण और अन्तर-राष्ट्रीय सम्बन्धोंमें युद्धके कारणोंको दूर कर देगा।

मार्क्सवादके सामाजिक आदर्शके अनुसार भी ट्रस्टीकी धारणा आवश्यक है। वर्गहीन समाजमें, जिसमें हिंसा और मुनाफेके हेतु दूर हो चुकेंगे, वे मनुष्य, जिनके सुपुर्द उत्पादन-सम्बन्धी तथा अन्य कार्य होंगे, वेतन पानेवाले राज्य-कर्मचारी न होंगे, क्योंकि वर्गहीन समाज राज्यहीन भी

---

१. यं० इं०, २६–११–'३१।

२. ऊपर उद्धृत एन० के० बसुका लेख।

होगा। इन मनुष्योंको अपने निर्वाहके लिए धन या उसके समतुल्य वस्तुओंकी आवश्यकता होगी और यदि वे उनके सुपुर्द किये गये कार्योंके प्रवन्धमें, स्वार्थरहित सेवाके आदर्शसे प्रेरित होकर ट्रस्टीकी भांति व्यवहार न करेंगे, तो वर्गहीन और राज्यहीन समाजका अस्तित्व ही संकटमें पड़ जायगा।[१]

निर्धनता

गांधीजीके आलोचकोंको निर्धनताके आदर्श पर भी आपत्ति है, जो पूंजीवाद और मार्क्सवादके भौतिकवादी दृष्टिकोणसे मेल नहीं खाता। लेकिन याद रखना चाहिए कि अपरिग्रहका व्रत स्वेच्छासे स्वीकृत निर्धनताका आदर्श है। वह दैवी नम्रताकी निर्धनता है, जो मनुष्यको श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न करके ऊंचा उठा देती है। वह निराशा और आलस्य पर आधारित विवशताकी निर्धनता नहीं, जो व्यक्तिका अधःपतन करती है। विवशताकी निर्धनतासे पीड़ित मनुष्योंको गांधीजी स्वेच्छासे स्वीकार की हुई निर्धनताकी शिक्षा नहीं देते। वे जानते हैं कि आर्थिक दृष्टिसे भारतकी जनताकी दशा वहुत ही असन्तोषप्रद है। भारत संसारके सवसे अधिक निर्धन देशोंमें से है। संतोष-जनक नैतिक जीवनके लिए जितनी आयकी आवश्यकता होती है, भारतके अधिकतर निवासियोंकी आय उससे भी वहुत कम है। "उन्होंने कभी वाहुल्यका दुःख नहीं जाना, जिससे वे स्वेच्छासे स्वीकार किये हुए कष्ट-सहन, भूख या दूसरी शारीरिक असुविधाके सुखका महत्त्व जान सकें।"[२] गांधीजी द्वारा अंग्रेजी सरकारके दृढ़ विरोधका एक कारण भारतका आर्थिक विनाश और शोषण था। उनके अनुसार "भारतका और इसी कारण संसारका आर्थिक विधान ऐसा होना चाहिए कि उसके अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति भोजन-वस्त्रके लिए पीड़ित न रहे। दूसरे शव्दोंमें, प्रत्येक व्यक्तिको पर्याप्त काम मिलना चाहिए, जिससे वह अपना भरण-पोषण कर सके। और यह आदर्श सार्वभौमिक रूपसे तभी प्राप्त किया जा सकता है जव जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताओंके साधन जनताके नियंत्रणमें हों।"[३] ग्रामोद्योग-संघ और चरखा-संघका कार्य भारतके ग्राम्य जीवनके आर्थिक नव-निर्माणकी और निर्धनता-पीड़ित जनताकी दशा सुधारनेकी गांधीजीकी तीव्र इच्छाकी मूर्तिमान अभिव्यक्ति है।

सार्वजनिक सेवाको समर्पित गांधीजीका लम्वा जीवन अपरिग्रहका एक आदर्श है। अपरिग्रहके तात्त्विक और शाब्दिक अर्थमें उन्होंने तत्परताके साथ

---

१. काका कालेलकर कृत 'गांधीवाद : समाजवाद', पृ० ५२–५८।

२. म० गांधी : दि ह्वील ऑफ फारचून (१९२२), पृ० ७५–७६।

३. यं० इं०, भाग–३, पृ० ९२३–२४।

इस व्रत पर आचरण किया, कठोर त्यागपूर्ण अनुशासन स्वीकार किया और अपनी शारीरिक आवश्यकताओंको घटा-घटा कर कम-से-कम कर दिया।

अपरिग्रहका औचित्य

गांधीजी संचय-प्रवृत्तिके नियन्त्रणको सत्याग्रहीके लिए आवश्यक अनुशासन क्यों मानते हैं? इसका कारण गांधीजीके मूलभूत सिद्धान्त हैं और कुछ व्यावहारिक बातें भी। अपरिग्रहका सिद्धान्त आत्मशक्तिमें गांधीजीके विश्वासका निष्कर्ष है। आत्मशक्ति सब जड़ साधनोंका अतिक्रमण करती है और आध्यात्मिक उन्नति अर्थात् आध्यात्मिक एकताकी अनुभूतिके लिए यह नितांत आवश्यक है कि हम शरीरको कसें और अपनी आवश्यकताओंको कम करें। प्रकृति उतना ही उत्पन्न करती है जितना कि तात्कालिक आवश्यकताओंके लिए पर्याप्त है, उससे अधिक नहीं।[१] आध्यात्मिक एकताके सिद्धान्तकी यह मांग है कि हम दरिद्रता और आर्थिक असमानता और उनसे सम्बद्ध बुराइयोंको दूर करनेका प्रयत्न करें और इसके लिए यह आवश्यक है कि हम कलकी बातको भुलाकर केवल उतना भर रखें जितना हमारी वर्तमान आवश्यकताओंके लिए पर्याप्त है।[२]

गांधीजी इस आदर्शकी अपने धार्मिक विश्वासोंके शब्दोंमें भी व्याख्या करते हैं। जिसे हम अज्ञानवश अपनी सम्पत्ति कहते हैं उस सबका एकमात्र स्वामी स्रष्टा है। मनुष्य इतना तुच्छ अणु है कि उसका सम्पत्तिके स्वामित्वका विचार हास्यास्पद मालूम होता है और ईश्वरके सर्वाधिकारके विरुद्ध अपराध है। मनुष्यका कुछ भी नहीं है, उसका शरीर भी उसका अपना नहीं है। ईश्वर-सृजित होनेके नाते उसे चाहिए कि वह सब कुछ त्याग दे और उसे स्रष्टाके चरणों पर अर्पण कर दे। सब जीवोंकी सेवामें जीवन व्यतीत करनेके दृढ़ निश्चयका सूचक यह समर्पण इस प्रकारके जीवनके लिए आवश्यक वस्तुओंके उपयोगका औचित्य या उसकी शर्त है। उन सन्तों और पैगम्बरोंका अनुभव, जिन्होंने स्वेच्छासे निर्धनताका जीवन व्यतीत किया और जिनकी देन इतिहासमें महानतम है, हमको विश्वास दिलाता है कि ईश्वरको पूर्ण समर्पण और यह अटल श्रद्धा कि हमारी आवश्यकताएं अवश्य पूरी होंगी, कभी निष्फल नहीं जाते।[३] ऐसी वस्तुओंका स्वामित्व, जो हमारे लिए इस समय आवश्यक नहीं है, ईश्वरकी अच्छाईमें हमारी दृढ़ श्रद्धाकी कमीका सूचक है।

---

१. आत्म-शुद्धि, पृ० २७–२८; स्पीचेज, पृ० ३२४; ह०, १०–१२–'३८, पृ० ३७३।

२. स्पीचेज, पृ० २८७, ३२४; आत्म-शुद्धि, पृ० २८।

३. ह०, ३०–१–'३७में प्रकाशित गांधीजीके व्याख्यान।

मनुष्यकी धन-प्रियताके हानिकर मानसिक और नैतिक प्रभावका गांधीजीका अनुभव भी उनके इस विश्वासको दृढ़ करता है। उनका विचार है कि धनके बारेमें ईसाकी सुविख्यात कठोर शिक्षा[1] हमारे लिए जीवनका शाश्वत नियम है। ईसाकी भांति गांधीजीका भी विश्वास है कि ईश्वर-सेवा और धन-प्रियताका साथ नहीं निभ सकता। उनका अनुभव है कि स्वामित्व आसक्ति उत्पन्न करता है, उसका मनुष्यके विचार और कार्य पर एकाधिकार होने लगता है, मनुष्य आत्माकी नितांत उपेक्षा करने लगता है और उसकी आध्यात्मिक अवनति होने लगती है। इस प्रकार सत्यकी साधना असम्भव हो जाती है। संसारमें बहुतसी हिंसाका कारण स्वामित्व-सम्बन्धी झगड़े ही हैं।

गांधीजीने सन् १९३६ मे अमेरिकन धर्मशिक्षक डॉ० मॉटसे कहा था, "यह मेरा अनुभव पर आधारित निश्चित विश्वास है कि आध्यात्मिक मामलोंमें धनका महत्त्व कम-से-कम है।"[2] डॉ० मॉटके साथ एक दूसरी बातचीतमें सत्याग्रहीके जीवनमें धनके स्थानके बारेमें अपने विचारोंका सार देते हुए उन्होंने कहा था, "मैंने सदा यह अनुभव किया है कि जब किसी धार्मिक संस्थाके पास आवश्यकतासे अधिक धन होता है, तो यह खतरा रहता है कि वह ईश्वरमें श्रद्धा खो दे और धनमें श्रद्धा रखे। . . . आपको धन पर निर्भर रहना छोड़ ही देना होगा। बात यह है कि जैसे ही आर्थिक स्वामित्व निश्चित हो जाता है, आध्यात्मिक दिवालियापन भी निश्चित हो जाता है।"[3]

---

१. "एक अमीर आदमीके ईश्वरीय राज्यमें जानेकी अपेक्षा ऊंटका सुईके नाकेमें से निकल जाना ज्यादा आसान है।" मैथ्यू, १९, २४। "न तो अपनी थैलियोंमें सोना, चांदी या पीतल रखो, न अपनी यात्राका थैला; न तो कोट, न जूते, न छड़ियां; क्योंकि मजदूर अपने भोजनका अधिकारी है।" मैथ्यू, १०, ९–१०।

२. ह०, २६–१२–'३६, पृ० ३६८।

३. ह०, १०–१२–'३८, पृ० ३७१। महादेव देसाईने अपरिग्रह पर गांधीजीके विचारोंका सार इन शब्दोंमें दिया है:

"हो सकता है कि आपके लिए जड़ पदार्थोंके प्रयोगका या उनके स्वामित्वका अवसर हो, लेकिन जीवनका रहस्य यह है कि उसका अभाव आपको कभी न अखरे। यदि आप किसी उद्देश्यके लिए जीवन समर्पण करनेको तैयार हैं तो उसके लिए धन आ जायगा, लेकिन यदि धन नहीं है तो उसका अभाव आपको अखरेगा नहीं और आपका उद्दिष्ट कार्य चलता रहेगा; शायद धनके अभावमें वह और भी अच्छी तरह चलता रहेगा।"

यदि सत्याग्रही अपरिग्रहके व्रतके अनुसार रहनेका प्रयास करता है, तो वह निर्भय हो जायगा और अपने सरल जीवनके कारण सत्यकी साधनाके लिए उसके पास पर्याप्त समय और शक्ति रहेगी। समाजकी आर्थिक व्यवस्थामें एक क्रान्ति उपस्थित हो जायगी। स्वेच्छासे स्वीकार की हुई निर्धनता सत्याग्रहीको कष्ट-सहनकी शिक्षा देगी, जो सेवामय जीवनका एक आवश्यक अंग है। वह जनतामें जीवनकी आवश्यक सुविधाओंका उचित वितरण करनेमें भी सहायक होगी।

शरीर-श्रम

इन्हीं व्रतोंसे सम्बद्ध शरीर-श्रमका व्रत है। यूरोपमें पहले-पहल रूसी विचारक वोन्दरेव्हने इस आदर्श पर वहुत जोर दिया था। किन्तु इस आदर्शके वास्तविक प्रचारक टॉल्स्टॉय और रस्किन थे। गांधीजी इस सिद्धान्तके लिए टॉल्स्टॉय और रस्किनके प्रति वहुत ऋणी हैं। यह व्रत अस्तेयके सिद्धान्तका निष्कर्ष है और अपरिग्रहकी सिद्धिका साधन है।

शरीर-श्रमके नियमका अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्यको अपने भोजन-वस्त्रके लिए शरीर-श्रम करना चाहिए। रोटी जीवनकी अनिवार्य प्राथमिक आवश्यकताओंका प्रतीक है। इन आवश्यकताओंके लिए उत्पादक श्रमकी आवश्यकता है और जो इन आवश्यक वस्तुओंका उपभोग इस श्रममें अच्छी तरह भाग लिये विना करता है वह चोर है। तथाकथित सभ्य परन्तु वास्तवमें भ्रष्ट मनुष्य, जो अपनी आवश्यकताएं बढ़ाते हैं और शारीरिक श्रम नहीं करते, गरीबोंका शोषण करते हैं और उनका केवल अपनी सन्तुष्टिके साधनकी तरह उपयोग करते हैं। गांधीजीका विचार है कि यदि लोग शरीर-श्रमका महत्त्व और आवश्यकताको समझ लें, तो रोटी और कपड़ेकी कोई कमी नहीं रह जायगी।

इन प्राथमिक आवश्यकताओंमें भोजनका स्थान पहला है, इसलिए शरीर-श्रमके आदर्श स्वरूपको खेतीसे सम्बद्ध होना चाहिये। यदि यह सम्भव न हो तो शरीर-श्रम प्राथमिक आवश्यकतासे सम्बद्ध किसी दूसरे उत्पादक श्रमके रूपमें होना चाहिए। इसके उदाहरण हैं कताई, बुनाई, बढ़ई या लोहारका काम, इत्यादि। चरखेके प्रति गांधीजीका प्रेम इस कारण है कि कताई खेतीसे भी अधिक शरीर-श्रमका सार्वभौम रूप बननेके योग्य है। वे लिखते हैं, "सत्याग्रही उत्पादक कार्यमें लगता है। लाखों मनुष्योंके लिए कताईसे अधिक सरल और अधिक उत्पादक कोई अन्य कार्य नहीं।"[1] इसके अतिरिक्त, "किसी दूसरे ग्रामोद्योगमें ग्रामवासियोंकी अधिकतम संख्याके हाथोंमें, अल्पतम पूंजी और संगठन-संबंधी प्रयाससे, इतना अधिक धन रखनेकी क्षमता नहीं है,

१. ह०, २–१२–'३९, पृ० ३६०।

जितनी कताई और उसकी सहायक प्रक्रियाओंमें है।"[१] सत्याग्रह आन्दोलनके साथ सम्बद्ध होनेके कारण चरखा भारतकी जनताकी सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रताका प्रतीक भी बन गया है।

किन्तु शरीर-श्रममें गांधीजी बौद्धिक श्रमको सम्मिलित नहीं करते। क्योंकि, "शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्ति शरीर द्वारा ही होनी चाहिए। . . . केवल मानसिक या बौद्धिक श्रम आत्माके लिए है। वह अपनी स्वयंतुष्टि है। उसके लिए कभी पारिश्रमिक नहीं मांगना चाहिए।"[२] बौद्धिक श्रम और रोटी कमानेके अतिरिक्त अन्य शरीर-श्रम प्रेमका श्रम होना चाहिए और उसे केवल समाजके हितके लिए करना चाहिए।[३] "बौद्धिक कार्यका जीवन-क्रममें असन्दिग्ध स्थान है। परन्तु जिस पर मैं जोर देता हूं, वह है सबके लिए शरीर-श्रमकी आवश्यकता। किसी भी मनुष्यको इस कर्तव्य (बन्धन)से मुक्त नहीं होना चाहिए। वह उसके बौद्धिक उत्पादनके गुणकी अभिवृद्धिमें भी सहायक होगा।"[४]

लेकिन यह आवश्यक है कि शरीर-श्रम, जिसको गांधीजी सर्वोत्कृष्ट समाज-सेवा समझते हैं,[५] दबावसे या जबरदस्ती नहीं, स्वेच्छासे स्वीकार किया गया हो। निःसंदेह आज करोड़ों भारतवासी आधे वर्ष शारीरिक श्रम करते हैं। लेकिन यदि सम्भव होता तो वे इस नियमको टाल देते। उनका नियम-पालन जबरदस्तीका है और वह उनकी उत्कृष्ट भावनाओंको कुंठित करता है तथा दरिद्रता, रोग और असन्तोषको जन्म देता है।

इस आदर्श पर पूरी तरह व्यवहार करना कठिन है; किन्तु यदि पूरे नियमका पालन न करके भी मनुष्य अपने दैनिक भोजनके लिए पर्याप्त शारीरिक श्रम करें, तो समाज इस आदर्शकी ओर बहुत आगे बढ़ेगा।[६] यदि लोग बौद्धिक श्रम द्वारा कमाते भी हैं, तो उनका पारिश्रमिक शरीर-श्रम करनेवालोंके बराबर होना चाहिए। अपनी आवश्यकतासे अधिक पैदा करनेवालोंको अपनी (आवश्यकतासे) अधिक आयके अधिकांशका उपयोग समाजके हितके लिए करना होगा। दूसरे शब्दोंमें, आवश्यकतासे अधिक सम्पत्तिके स्वामी उस सम्पत्तिके प्रन्यासी (ट्रस्टी) होंगे।[७]

---

१. ह०, १६–१२–'३९, पृ० ३७६।
२. ह०, २०–६–'३५, पृ० १५६।
३. ह०, १–६–'३५, पृ० १२५; २९–६–'३५, पृ० १५६।
४. ह०, २३–२–'४७, पृ० ३६।
५. ह०, १–६–'३९, पृ १२५।
६. ह०, २९–६–'३५, पृ० १५६।
७. यं० इं०, २६–११–'३१।

यदि सामान्य रूपसे यह नियम स्वीकार कर लिया जाय, तो जीवनमें सादगी आवेगी, अहिंसक मूल्योंका पालन सरल हो जायगा और "अन्तर्दृष्टिका शरीर-श्रमके साथ सामंजस्य" होगा। वह मनुष्योंको निरोग वनावेगा। शिक्षा-सम्वन्धी मनोविज्ञानने वहुत दिनोंसे यह मान रखा है कि शरीर-श्रम वौद्धिक विकासमें वहुत सहायक होता है। यह वड़े पैमाने पर होनेवाले उत्पादन और मुनाफेके हेतुका निराकरण करेगा और गांवों तथा देशको लगभग स्वावलम्वी वना देगा। यदि मनुष्य स्वेच्छासे शारीरिक श्रमके आदर्शको अपनायें, तो निस्सन्देह संसार आजसे कहीं अधिक सुखी, शान्तिपूर्ण और स्वस्थ हो जायगा। इस नियमका हमारे वातावरण पर क्रान्तिकारी प्रभाव होगा। नैतिक दृष्टिकोणसे जीवनमे सादगी आयगी, अहिंसात्मक सिद्धान्तोंके अनुसार जीवनको गढ़ना आसान हो जायगा और अन्तर्दृष्टिका शारीरिक श्रमके साथ सामजस्य होगा। शारीरिक दृष्टिकोणसे वीमारियां वहुत घटेंगी और शरीर स्वस्थ और सुदृढ़ होगा। वौद्धिक दृष्टिकोणसे मनोविज्ञानके पंडित और शिक्षा-विशेषज्ञ वहुत दिनोंसे यह मानते आये हैं कि हाथोंसे कार्य करनेसे मानसिक विकासमें वहुत सहायता मिलती है। आर्थिक दृष्टिसे यह नियम आधुनिक संसारके वहुतसे रोगोंकी अचूक दवा है। वह गांवों और देशको स्वावलम्वी वना देगा। वह गरीवी और अमीरी दोनोंको कम करेगा, गरीवोंका शोषण रोकेगा और अमीरोंके अहंकारको दूर करेगा। प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना स्वामी होगा और वर्गभेद मिट जायेंगे।[१]

सार्वभौम रूपसे व्यवहारमें आने पर अपरिग्रह और शरीर-श्रम आर्थिक समताकी ओर ले जायेंगे। यदि इनका पालन आंशिक रूपसे भी होता है और यदि अपनी तात्कालिक आवश्यकताओंसे अधिक कमानेवाले लोग प्रन्यासी (ट्रस्टी) का दृष्टिकोण अपनाते हैं, तो वितरण न्याय्य होगा। इसलिए गांधीजी कहते हैं, "मेरा आदर्श समान वितरण है, परन्तु जहां तक मैं देखता हूं यह सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए मैं न्याय्य वितरणके लिए कार्य करता हूं।"[२]

स्वदेशी

स्वदेशीका व्रत गांधीजीके तत्त्व-दर्शनमें एक प्रमुख धारणा है। स्वदेशीका अर्थ है वह जो अपने देशका हो या अपने यहां वना हो। गांधीजीके

---

१. अहिंसक आदर्शोंके साथ, विशेषतः शारीरिक श्रम और अपरिग्रहके साथ, केन्द्रित उत्पादन और मुनाफेके उद्देश्य मेल नहीं खाते। विस्तृत विवेचनके लिए पुस्तकके अध्याय ८ और ११ देखिये।

२. यं० इं०, भाग—३, पृ० १२४।

अनुसार स्वदेशी "धार्मिक अनुशासन है, जिसका पालन व्यक्तिको उससे होनेवाले शारीरिक कष्टकी बिलकुल उपेक्षा करके करना चाहिए।"[1] वे इसे जीवनका पवित्र नियम बताते हैं और उनका विचार है कि यह नियम मनुष्यकी मूलभूत प्रकृतिमें सन्निहित है।[2]

स्वदेशीका उद्देश्य राजनैतिक नहीं, आध्यात्मिक है। उद्देश्य यह है कि मनुष्यको सब जीवोंके साथ आध्यात्मिक एकताकी अनुभूति हो सके। शरीर उस एकताकी पूर्ण अनुभूतिमें बाधा डालता है और आत्माका स्थायी या स्वाभाविक निवास-स्थान नहीं है, इसलिए आध्यात्मिक और अन्तिम अर्थमें स्वदेशी आत्माकी सांसारिक बंधनसे मुक्तिका सूचक है।[3] जब तक आत्मा मुक्त न हो जाय, आध्यात्मिक एकताकी अनुभूतिका एकमात्र मार्ग है सब जीवोंकी सेवा। स्वदेशीका नियम सेवाके एकमात्र सही मार्गका निर्देशक है। गांधीजी इस नियमकी परिभाषा इन शब्दोंमें करते हैं: "स्वदेशी हमारे अन्दरकी वह भावना है, जो हम पर यह प्रतिबन्ध लगाती है कि हम अपेक्षाकृत अधिक दूरके वातावरणको छोड़कर पासके वातावरणका उपयोग करें और उसकी सेवा करें।"[4] "स्वदेशी वह भावना है, जो हमको अन्य किसीको छोड़कर अपने निकटतम पड़ोसीकी सेवा करनेका आदेश देती है। शर्त यह है कि जिस पड़ोसीकी सेवा इस प्रकार की गयी है, उसको अपनी बारीमें स्वयं अपने पड़ोसीकी सेवा करनी है।"[5]

स्वदेशी उच्च कोटिकी आध्यात्मिक सर्वमुखी देशभक्ति है। उसका यह अर्थ है कि हमको दूसरे देशोंकी तुलनामें अपनी जन्मभूमिकी सेवा करनी चाहिए और अपने देशके अन्दर दूरके स्थानोंकी तुलनामें अपने निकट पड़ोसकी सेवामें लगना चाहिये। इस आदर्शकी यह भी मांग है कि हम अपने आदर्शों और संस्थाओंको दृढ़तासे अपनाये रहें। इसका अर्थ सुपरिचित संस्थाओंके प्रति विचाररहित अन्ध आसक्ति नहीं, बल्कि उनके लिए विवेकपूर्ण सम्मान है, जो आवश्यकता होने पर उनको सुधार सकता है और दूसरोंकी स्वस्थ और हितकारी विशेषताओंको अपना सकता है।

---

१. स्पीचेज़, पृ० २८०।

२. वही, पृ० ३२५।

३. फ्रॉम यरवडा मंदिर, पृ० ८९।

४. स्पीचेज़, पृ० २७५।

५. ह०, २३–३–'४७, पृ० ७९। मालूम होता है कि यही नियम ईसाके बार-बार यह कहनेका कारण था कि उनका जीवनोद्देश्य यहूदियोंसे सम्बद्ध था और इसी कारण उन्होंने अपने शिष्योंको यहूदी लोगोंके अतिरिक्त दूसरोंके पास जानेसे रोका और उनको धर्मभ्रष्ट यहूदियोंके पास भेजा।

सेवाकी शुद्धता स्वदेशीका सार तत्त्व है। इस प्रकार स्वदेशीका आदर्श समुदायोंके संकीर्ण, स्वार्थपूर्ण हितोंको आगे बढ़ानेकी बातको और देशके या मनुष्य-जातिके हितकी उपेक्षाको कभी प्रोत्साहन नहीं देता। स्वदेशीकी केवल यह मांग है कि हम अपने पड़ोसियोंके प्रति अपने उचित कर्तव्योंका पालन करें और उनको इस बातके लिए तैयार करें कि आवश्यकता पड़ने पर वे अपने-आपको देश और विश्वकी सेवाके लिए बलिदान कर दें।

स्वदेशीमें निहित बलिदानकी भावनाको अपने समाजसे परे जाकर मनुष्यको सम्पूर्ण मानवता तक पहुंचा देना चाहिये। "... आत्म-बलिदानका तर्कसंगत परिणाम यह है कि व्यक्ति अपनेको समाजके लिए बलिदान कर दे, समाज अपनेको जिलेके लिए, जिला प्रदेशके लिए, प्रदेश राष्ट्रके लिए और राष्ट्र संसारके लिए अपनेको बलिदान कर दे।"[1] इस प्रकार मनुष्य अपने पड़ोसियोंकी और मानवताकी साथ साथ सेवा कर सकता है। शर्त यह है कि पड़ोसीकी सेवा किसी भी रूपमें स्वार्थमय अथवा निराकरणशील न हो, अर्थात् उसके द्वारा अन्य किसी मनुष्यका शोषण न होता हो। "तभी पड़ोसी की गई इस सेवाकी भावनाको समझेंगे। उन्हें यह भी ज्ञात होगा कि उनसे भी अपने पड़ोसियोंकी सेवाकी आशा की जाती है।" आत्म-बलिदानकी इस भावनामें यह भी निहित है कि "वस्तुतः स्वाधीन भारत अपने पड़ोसियोंके संकटमें सहायता करनेको बाध्य है।" उपलक्षणासे भारतके पड़ोसी देशोंके पड़ोसी भी भारतके पड़ोसी हैं।[2]

गांधीजीने स्वदेशीको "विश्वसेवाकी पराकाष्ठा"[3] बतलाया है, और उन्होंने इस बातका विवेचन किया है कि क्यों अपेक्षाकृत निकटतमकी सेवा वांछनीय है। वे कहते हैं कि हमारी सेवाकी क्षमता जिस संसारमें हम रहते हैं उसके ज्ञानसे परिमित है। इसलिए हमारा प्रथम कर्तव्य यह है कि हम अपने आपको अपने उन पड़ोसियोंकी सेवामें समर्पण कर दें, जो हमारे निकटतम हैं और जिनको हम सबसे अधिक अच्छी तरह जानते हैं।[4] पड़ोसियोंकी शुद्ध सेवासे उन लोगोंकी, जो हमसे दूर रहते हैं, कभी हानि नहीं हो सकती। इसके विपरीत जो मनुष्य दूरके निवासियोंकी सेवा करने जाता है वह दोहरा अपराधी है। वह अपने पड़ोसियोंकी—जिनका उसकी सेवा पर अधिकार है—दोषपूर्ण उपेक्षाका अपराधी है। उसका प्रयास दूरके निवासियोंके प्रति

---

१. स्पीचेज़, पृ० २८१।

२. ह०, २३–९–'४७, पृ० ७८–७९।

३. फ्रॉम यरवडा मन्दिर, पृ० ९३।

४. [illegible] २८ [illegible] '२६, पृ० २२७।

अनिच्छित बुराई होगी, क्योंकि अपने अज्ञानके कारण सम्भवतः वह नये स्थानके वातावरणको विक्षुब्ध कर देगा।[1] इसके अतिरिक्त जब मनुष्य अपने निकटवर्ती पड़ोसियोंकी भी ठीकसे सेवा करने योग्य नहीं है, तब दूरके स्थानोंकी सेवाकी बात सोचना दंभ है।[2] इस प्रकार स्वदेशी "सेवा करनेकी मानव-क्षमताकी वैज्ञानिक सीमा"को मान्यता देती है।

गांधीजीका विश्वास है कि गीताकी यह शिक्षा कि "अपने कर्तव्य (स्व-धर्म) पालनमें मृत्यु भी श्रेयस्कर है, परन्तु दूसरेका कर्तव्य (पर-धर्म) भयपूर्ण है"—स्वदेशीके कर्तव्य पर भी लागू होती है, क्योंकि अपने निकटवर्ती वातावरणके सम्बन्धमें स्वदेशी ही स्वधर्म है।[3]

गांधीजीका पूरा तत्त्व-दर्शन स्वदेशीके सिद्धान्तसे ओतप्रोत है। संस्कृति-सम्बन्धी उनके विचारों पर, आध्यात्मिक और नैतिक विश्वासों पर, सामाजिक और राजनैतिक सिद्धान्तों पर तथा आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर इस आदर्शकी गहरी छाप है।

उनके संस्कृति-सम्बन्धी विचारोंमें स्वदेशीकी धारणाकी अभिव्यक्ति भारतवर्षकी ग्रामीण सभ्यताके प्रति उनके दृढ़ प्रेममें व्यक्त हुई है और इस प्रेमका कारण है आध्यात्मिक और अहिंसक मूल्योंकी इस संस्कृतिमें अचूक परख। गांधीजी बिना सोचे-समझे पश्चिमकी प्रत्येक बातसे घृणा नहीं करते।[4] लेकिन निःसन्देह वे आधुनिक सभ्यताकी हिंसा और भौतिकवादकी निन्दा करते हैं। वे आधुनिक सभ्यताको अविश्वासकी दृष्टिसे देखते हैं, क्योंकि उनका कहना है कि शक्ति और सुखकी धुनमें यह सभ्यता आध्यात्मिकताकी उपेक्षा करती है। विनाशकी कलाका भयावह विकास और औद्योगीकरणके दोष—लोभ, होड़, शोषण, युद्ध और साम्राज्यवाद—ये सब नैतिक विकासको रोकते हैं और इन सबका परिणाम है आध्यात्मिक पतन। उनके अनुसार आधुनिक सभ्यता क्षणिक है और केवल नाममात्रकी सभ्यता है।[5] उनके आध्यात्मिक और नैतिक विश्वासोंके मूलमें भारतकी दार्शनिक परम्परा

---

१. फ्रॉम यरवडा मन्दिर, पृ० ८९–९१।

२. स्पीचेज, पृ० २८१।

३. फ्रॉम यरवडा मंदिर, पृ० ९१।

४. "मैं विनम्रतापूर्वक यह स्वीकार करता हूं कि पश्चिममें ऐसा बहुत कुछ है, जिसे अपनाना हमारे लिए लाभदायक होगा। बुद्धिमत्ता किसी एक महाद्वीप या जातिका एकाधिकार नहीं है। पश्चिमकी सभ्यताके प्रति मेरा प्रतिरोध वास्तवमें बिना विवेकके और बिना सोचे-समझे उसकी नकल करनेका प्रतिरोध है।" यं० इं०, भाग–३, पृ० २८६।

५. हिन्द स्वराज्य, अ० ६ और १३।

है। उन्होंने प्राचीन भारतीय आदर्शोंकी पुनर्व्याख्या की है और उनका आधुनिक जीवनकी परिस्थितिमें उपयोग किया है।

स्वदेशीका सिद्धान्त धर्मके प्रति उनके दृष्टिकोणको भी स्पष्ट करता है। "जहां तक धर्मका सम्बन्ध है . . . मुझे चाहिए कि मैं अपने आपको अपने पूर्वजोंके धर्म तक सीमित रखूं . . . अर्थात् अपने निकटवर्ती धार्मिक वातावरणका उपयोग करूं। यदि मुझे वह दोषपूर्ण मालूम हो, तो मुझे चाहिए कि मैं उसे दोषोंसे मुक्त करके उसकी सेवा करूं।"[१]

सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रोंमें भी गांधीजी देशी संस्थाओंका उपयोग करने और उनको दोषमुक्त करनेमें विश्वास करते हैं। उदाहरणके लिए, उनके अधिकतर सत्याग्रही अस्त्र — असहयोग, सविनय अवज्ञा, उपवास, धरना इत्यादि प्राचीन भारतकी राजनैतिक और सामाजिक प्रतिरोध-विधियोंके आधुनिक सुसंस्कृत रूप हैं। सामाजिक क्षेत्रमें वे वर्णाश्रम-धर्मके समर्थक हैं, यद्यपि वे आजकलकी जाति-पांतिकी प्रथाके विरोधी हैं।

शिक्षाके क्षेत्रमें दक्षिण अफ्रीकाके दिनोंसे ही वे आग्रह-पूर्वक यह कहते रहे हैं कि शिक्षा-प्रणालीको राष्ट्रीय परम्परासे मेल खाना चाहिए और उसका माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।

आर्थिक क्षेत्रमें वे देशके और गांवोंके भी स्वावलम्वनके पक्षमें हैं। हां, वे यह अवश्य मानते हैं कि वाहरसे ऐसी वस्तुओंके मंगानेमें कोई हानि नहीं है, जो उन्नतिके लिए आवश्यक हैं।[२] उनके अनुसार स्वदेशीका अर्थ है "विदेशी वस्तुओंका निराकरण करके देशमें वनी वस्तुओंका प्रयोग, जहां तक यह प्रयोग घरेलू धन्धोंकी रक्षाके लिए आवश्यक है — विशेषकर उन धन्धोंकी रक्षाके लिए जिनके बिना भारत कंगाल हो जायगा।"[३] "विदेशोंमें वनी हुई

१. स्पीचेज़, पृ० २७३–७४।

२. ऐसा प्रतीत होता है कि स्वदेशीके इस रूपके वारेमें गांधीजीके विचारोंमें विकास हुआ है। मिशनरी कान्फ्रेन्स, मद्रास (१९१६) में दिये हुए उनके 'स्वदेशी' शीर्षक भाषणसे पता चलता है कि तब वे देशके पूर्ण स्वावलम्वनके और शेष संसारसे आर्थिक पृथकत्वके पक्षमें थे। भारतके वैदेशिक व्यापारके वारेमें उन्होंने कहा था, "यदि भारतके वाहरसे व्यापारकी एक वस्तु भी न आई होती, तो आज यह देश दूध और शहदसे भरपूर होता। . . . यह देश अपने-आप (विना दूसरे देशोंकी सहायताके) रह सकता है, यदि केवल वह अपनी सीमाके अन्दर अपनी आवश्यकताकी प्रत्येक वस्तु उत्पन्न कर ले और उसको इस प्रकारके उत्पादनमें सहायता मिले।" स्पीचेज, पृ० २७८।

३. यं० इं०, भाग–२, पृ० ७९७।

वस्तुओंको केवल इस कारण अस्वीकार करना कि वे विदेशी हैं और राष्ट्रीय समय और धनको अपने देशमें उन वस्तुओंके उत्पादनकी उन्नतिमें व्यय करना, जिनके लिए देश अनुपयुक्त है, अपराधपूर्ण मूर्खता है और स्वदेशीकी भावनाका निषेध है।"[1]

स्पष्ट है कि गांधीजी सब प्रकारके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके विरोधी नहीं हैं, यद्यपि उनका मत है कि आयात केवल उन्हीं वस्तुओं तक परिमित रहना चाहिए, जो हमारे विकासके लिए आवश्यक हैं और जो यहां पैदा नहीं की जा सकतीं, और निर्यात विदेशियोंके वास्तविक लाभकी वस्तुओं तक परिमित रहना चाहिए।"[2]

स्वदेशीके आदर्शके अनुसार सब तरहके विदेशी कपड़ेका निराकरण आवश्यक है। अंग्रेजोंके आनेसे पहले भारत अपनी आवश्यकताका सारा कपड़ा बना लेता था और वैसा ही आज भी कर सकता है। इसके अतिरिक्त भारत जैसे खेतिहर देशमें खादी सार्वभौम सहायक धन्धा है, जिसके सहारे अधभूखे और आधे समय बेकार रहनेवाले किसान अपनी अपर्याप्त आय बढ़ा सकते हैं। इसके अतिरिक्त खादी विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्थाका प्रतीक है। इसीलिए गांधीजी खादीको स्वदेशीके सिद्धान्तका आवश्यक और अधिकतम महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष और समाजके प्रति स्वदेशी-धर्मके पालनका पहला आवश्यक चरण समझते हैं।[3] उन्होंने १९४७ में कहा था, "१९१५ में भारत लौटनेके तुरन्त बाद मुझे ज्ञात हुआ कि खादीमें स्वदेशीका केन्द्र है। मैंने तब भी प्रतिपादित किया था कि यदि खादीका विनाश होता है, तो स्वदेशी भी नहीं रह पायेगी। . . . भारतीय मिलोंका उत्पादन स्वदेशीका अंग नहीं है। आज भी मेरा यही विश्वास है।"[4] लेकिन खादीसे स्वदेशीके आर्थिक रूपका प्रारम्भ होता है, अन्त नहीं। स्वदेशीका अर्थ है अपने देशमें बनी हुई वस्तुओंको व्यापक रूपसे अपेक्षाकृत अधिक वांछनीय मानना और विदेशी कपड़ेका तथा उन वस्तुओंका, जो अपने देशमें बनाई जा सकती हैं, बहिष्कार—यद्यपि सब विदेशी वस्तुओंका नहीं।

खादीके द्वारा स्वदेशीको अपनानेका यह अर्थ नहीं कि भारत इंग्लैंड और दूसरे देशोंके मिल-मालिकोंको हानि पहुंचाना चाहता है। इन मिल-मालिकोंने भारतके मुख्य सहायक धन्धेका विनाश करके, उसके आर्थिक संगठनको विच्छृंखल करके और देशमें दरिद्रता और भुखमरी लाकर पाप

---

१. फ्रॉम यरवडा मंदिर, पृ० ९६–९७।
२. यं० इं०, भाग–२, पृ० ७९७।
३. यं० इं०, १८–६–'३१।
४. ह०, २९–६–'४७, पृ० २११।

किया है। यदि भारत स्वदेशीको अपनाये और विदेशी मिल-मालिक इस बुराईसे बच जायं, तो उनको नैतिक लाभ ही होगा।[१]

सन् १९३१ तक गांधीजी स्वदेशीके आर्थिक पक्षमें और विदेशी वस्तुओंके आर्थिक वहिष्कारमें अन्तर करते थे। स्वदेशी आध्यात्मिक अनुशासन है, वह विधायक कार्यक्रम है और शक्तिवर्धक तथा शुद्ध करनेवाली प्रक्रिया है। दूसरी ओर सन् १९३१ तक वे विदेशी वस्तुओंके आर्थिक वहिष्कारको तात्कालिक दंड-व्यवस्था और कामचलाऊ राजनैतिक शस्त्र मानते थे, जिसके प्रयोगसे विरोधी पर अनुचित दवाव पड़ता है। उनका मत था कि आर्थिक वहिष्कारका प्रयोग इसलिए होता है कि जान-वूझ कर हानि पहुंचा कर विरोधी देशको विवश किया जाय। दंड देनेकी भावना दुर्वलता-सूचक है और एक प्रकारकी हिंसा है।[२]

लेकिन सन् १९३१–३३ के सत्याग्रह-आन्दोलनमें कांग्रेसने जोरोंसे ब्रिटिश मालका वहिष्कार किया और गांधीजीने इस पर आपत्ति नहीं की।[३] इसके कुछ वर्ष वाद एक चीन-निवासीसे वातचीत करते हुए उन्होंने आक्रमणकारी राष्ट्रके आर्थिक वहिष्कारके पक्षमें मत प्रकट किया था।[४] मालूम होता है कि अब उनका यह विश्वास हो गया था कि आर्थिक वहिष्कारमें हिंसा और वदलेकी भावनाका समावेश आवश्यक नहीं है और उसका प्रयोग अहिंसात्मक असहयोगके साधनकी तरह भी हो सकता है।[५]

अस्पृश्यता-निवारण

गांधीजी अस्पृश्यता-निवारणके व्रतको भी आवश्यक मानते हैं। यह व्रत सब जीवोंकी आध्यात्मिक एकताके सिद्धान्तका निष्कर्ष है। हम सब उसी एक अग्निकी चिनगारियां हैं, उसी ईश्वरकी सन्तान हैं। इसलिए गांधीजीकी शिक्षा है कि हम मनुष्य-मनुष्य और विभिन्न जीवोंके वीचका भेद मिटा दें और जीवमात्रको अपने समान मान कर उनकी सेवा करें।[६] उनके लिए अस्पृश्यता-निवारण 'भारतकी स्वाधीनता-प्राप्तिकी समस्यासे वड़ी समस्या थी।[७] यदि

---

१. यं० इं०, १८–६–'३१।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० १४७ और ४८७–८८।

३. देखिये इस पुस्तकका अध्याय ९।

४. देखिये अध्याय ११।

५. देखिये अध्याय ९।

६. आत्म-शुद्धि, अ० ७।

७. ह०, २९–१–'५०, पृ० ४१२।

स्वाधीन भारतके संविधानको अस्पृश्यता-निवारणके रूपमें नैतिक आचारका सहारा न मिला, तो वह निरा भार होगा।[1]

गांधीजीके समाज-व्यवस्था संबंधी विचार वर्ण-नियम पर आधारित हैं। इस नियमका, जैसा कि हम पहले अध्यायमें बता आये हैं, अहिंसासे निकटका सम्बन्ध है और गांधीजी इसको सच्चा समाजवाद कहते हैं। किन्तु वर्णाश्रम-धर्मसे उनका आशय मौलिक वर्णोंके विकृत रूप आजकी ऐसी असंख्य जातियोंसे नहीं है, जिनमें ऊंच-नीचका भेद है और वैवाहिक तथा सामाजिक सम्बन्धों पर कठोर प्रतिबन्ध हैं। उनका विश्वास है कि यदि अस्पृश्यताको दूर करना है तो जातिप्रथा और ये प्रतिबन्ध समाप्त हो जाने चाहिए और अस्पृश्यता-निवारणके फलस्वरूप जातिप्रथा सच्चे वर्णाश्रम-धर्ममें परिवर्तित हो जायगी।[2] उनका विचार है कि वास्तविक अर्थमें वर्णोंका आज अस्तित्व नहीं रह गया है। वर्णका आदर्श-रूप केवल हिन्दुओंके लिए ही नहीं, सम्पूर्ण मानवताके लिए है। "वह ऊर्ध्वगामी स्थितिमें मनुष्यके लिए स्वाभाविक है।"[3] गांधीजी *वर्ण-नियमकी परिभाषा इन शब्दोंमें करते हैं,* "*वर्ण-नियमका अर्थ है कि प्रत्येक* व्यक्तिको अपने पूर्वजोंका पैतृक धंधा धर्म — कर्तव्य — की भांति अपनाना चाहिए, यदि वह (धंधा) मूलभूत नीतिसे असंगत न हो। उसी धंधेसे वह (व्यक्ति) अपनी जीविका कमाये। वह धन-संचय न करे, किन्तु बचतको जनहितमें लगा दे।"[4] गांधीजी जीवन-कर्मोंके पैतृक होने पर जोर देते हैं, क्योंकि यह प्रकृतिका नियम है। परन्तु वे निराकरणशील विभाजनके पक्षमें नहीं हैं। इस प्रकार वर्णका जन्मसे निकटका सम्बन्ध है, यद्यपि यह सम्बन्ध अटूट नहीं है। "वर्णका निर्धारण जन्मसे होता है, किन्तु उसकी रक्षा (वर्णके) कर्तव्य-पालनसे होती है। ब्राह्मण माता-पिताका पुत्र ब्राह्मण कहलावेगा, किन्तु वयस्क हो जाने पर यदि उसके जीवनमें ब्राह्मणके गुणोंकी अभिव्यक्ति न होगी, तो उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। उसका ब्राह्मणत्वसे पतन हो चुकेगा। दूसरी ओर वह व्यक्ति, जो जन्मसे ब्राह्मण नहीं है किन्तु अपने आचरणमें ब्राह्मणके गुणोंकी अभिव्यक्ति करता है, ब्राह्मण माना जायगा, यद्यपि वह स्वयं ब्राह्मण होना अस्वीकार करेगा।"[5] गांधीजी इस बातकी व्याख्या करते हैं कि जीविकोपार्जनके लिए वर्ण मनुष्यको क्यों अपने पूर्वजोंके धंधे तक ही सीमित रखता है। "वर्णाश्रम-धर्म इस पृथ्वी पर मनुष्यके कार्यकी परिभाषा करता है।

---

१. ह०, ११–२–'३३।

२. ह०, ११–२–'३३ तथा २८–७–'४६, पृ० २३३-३४।

३. कन्वर्शेसन्स, पृ० ६१।

४. ह०, २८–९–'३४, पृ० २६०-६१।

५. ह०, २८–९–'३४, पृ० २६०-६१।

वह इसलिए नहीं जन्मा है कि दिन-प्रतिदिन धन-संचयके मार्ग और जीवन-यापनके विविध साधन खोजता रहे; इसके विपरीत मनुष्य इसलिए जन्मा है कि वह अपनी शक्तिके प्रत्येक कणका उपयोग अपने निर्माताको जाननेके लिए करे।"[१] इस नियमका पालन स्वाभाविक रीतिसे होना चाहिए और उसमें शर्म या प्रतिष्ठाका विचार न आना चाहिए। इस नियमका यह भी अर्थ है कि धंधों और पेशोंमें कोई ऊंचा-नीचा नहीं, सब बराबर है, और सम्पत्तिका उपयोग समाजके हितके लिए प्रन्यासी (ट्रस्टी)की भांति ही करना चाहिए।[२] वर्ण-नियममें अस्पृश्यताकी कोई गुंजाइश नहीं।

जब गांधीजी अस्पृश्यताकी निन्दा करते हैं, तो उनके ध्यानमें विशेष रूपसे भारतमें प्रचलित अस्पृश्यता होती है। किन्तु अस्पृश्यताका नियम व्यापक महत्ताका है, क्योंकि संसारके प्रत्येक देशमें, हमारे देशकी तरह, मनुष्य-मनुष्यके बीच भेदभावकी दीवारें हैं। अमेरिकामें नीग्रो जातिके प्रति, उपनिवेशोंमें वहांके रहनेवालोंके प्रति, अन्य देशोंमें आदिवासियोंके प्रति दुर्व्यवहार इसी रोगका लक्षण है और धर्म, जाति, वर्ण, धंधे इत्यादिके भेदोंको भुलाकर सब मनुष्योंकी समताके सिद्धान्तका निषेध है।

सर्वधर्म-समभाव

गांधीजी केवल मनुष्योंकी समतामें ही नहीं, संसारके प्रमुख धर्मोंकी समतामें भी विश्वास करते हैं। सर्वधर्म-समभाव इस बातका निष्कर्ष है कि मनुष्यको ज्ञात सत्य सदा आपेक्षिक होता है, निरपेक्ष कभी नहीं होता।

जिस प्रकार आत्मा अनेक शरीरोंमें प्रकट होती है, उसी प्रकार एक ही सच्चा और पूर्ण धर्म है, लेकिन मनुष्य द्वारा प्रचारित होने पर वह अनेक हो जाता है। उन्होंने १९३४ में लिखा था, "मैं संसारके सब महान धर्मोंके मूलभूत सत्यमें विश्वास करता हूं। मूलमें वे सब एक हैं और एक-दूसरेके सहायक हैं।"[३] उनके अनुसार सब धर्मोंका प्रेरक हेतु एक ही है: वह है मनुष्य-जीवनको ऊर्ध्वगामी बनानेकी इच्छा। मनुष्य अपूर्ण हैं, इसलिए सभी धर्म सत्यके अपूर्ण प्रकाशन हैं और उनमें भूलकी संभावना है। इस प्रकार कोई भी धर्म नितान्त पूर्ण नहीं है, सभी धर्म समान रूपसे अपूर्ण हैं या न्यूनाधिक पूर्ण हैं।[४] धर्मोंकी अपूर्णता परम्पराओं पर आधारित किन्तु बुद्धिसे असंगत विश्वासों और कृत्योंमें अभिव्यक्त होती है। धर्मोंकी तुलनात्मक श्रेष्ठताका प्रश्न ही

---

१. यं० इं०, भाग–३, पृ० ४२६-२७।

२. ह०, २८–९–'३४, पृ० २६०--६१।

३. ह०, १६–२–'३४, पृ० ६।

४. ह०, ६–३–'३७, पृ० २५–२६।

नहीं उठता। इसलिए सत्याग्रहीको चाहिए कि वह प्रत्येक धर्मका आदर और अध्ययन करे। यह आदरपूर्ण अध्ययन उसे सब धर्मोंकी एकता समझनेमें और सर्वधर्म-समानत्वकी भावना विकसित करनेमें सहायक होगा। उसे चाहिए कि वह अपने धर्मके दोषोंके प्रति सजग रहे। लेकिन सभी धर्मोंमें दोष हैं, इसलिए उसे अपना धर्म न छोड़ना चाहिए।[1] सत्याग्रहीका कर्तव्य है कि वह दूसरे धर्मोंका अध्ययन करे, उनमें जो कुछ ग्राह्य प्रतीत हो उसे अपने धर्ममें सम्मिलित कर ले और अपने धर्मके दोषोंको दूर करे।[2] धर्मोंकी समताकी स्वीकृति आवश्यक रूपसे धर्म-परिवर्तनके लिए किये जानेवाले प्रचारके विरुद्ध है।[3] सत्याग्रहीके मनमें गुप्त रूपसे भी यह इच्छा नहीं होनी चाहिए कि दूसरोंका धर्म-परिवर्तन करके उन्हें अपने धर्ममें मिला लिया जाय। लेकिन सर्वधर्म-समभावका यह अर्थ नहीं कि हम अधर्मके प्रति सहिष्णु हों या दूसरे धर्मोंके दोषोंको न देखें।[4]

नम्रता

सत्याग्रही या सत्यके साधकके लिए नम्रता भी आवश्यक है। "शरीरका अस्तित्व केवल अहंके कारण सम्भव है। शरीरका पूर्ण विनाश ही मुक्ति (आत्मानुभूति) है। जो अहंको पूर्ण रूपसे नष्ट कर देता है, वह मूर्त सत्य बन जाता है।"[5] लेकिन नम्रताका कोई अलग व्रत नहीं है और न उसका प्रत्यक्ष अभ्यास हो सकता है। "नम्रताका अभ्यास करना तो दम्भ सीखना हुआ।"[6] यदि मनुष्य सत्यका भक्त है और उसका जीवन सेवापूर्ण है, तो नम्रता उसमें अपने-आप आयेगी।

नम्रता नैतिक और आध्यात्मिक अनुपातकी वह भावना है, जो सब मनुष्योंको असीम शाश्वत ईश्वरसे सम्बद्ध करती है और इस प्रकार उनको

---

१. ह०, ६–३–'३७, पृ० २५–२६।

२. गांधीजीको इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि कोई अपना धर्म स्वयं चुने। किन्तु वे अपना धर्म दूसरोंसे स्वीकार करानेके लिए किये गये संगठित प्रयासके विरुद्ध हैं। साथ ही, वे किसी व्यक्ति द्वारा अपने धर्मकी स्वीकृतिके लिए उपदेश देनेके मार्गमें वैधानिक नियन्त्रण लगानेके विरोधी हैं। ह०, १३–१–'४०, पृ० ४१३।

३. मीरा : ग्लीनिंग्स, पृ० ४।

४. आत्म-शुद्धि, अ० १०; ह०, २८–९–'३५, पृ० २६०-६१।

५. ह०, २७–११–'४९, पृ० ३४०।

६. आत्म-शुद्धि, पृ० ५५–५६।

उचित आपेक्षिक स्थान देती है।[1] वह सब मनुष्योंकी, वास्तवमें सब जीवोंकी, आध्यात्मिक एकता और समताकी चेतना है।[2] नम्रतामें शक्ति-प्रियता और पद-लोलुपताके लिए कोई गुंजाइश नहीं; नम्र मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसका कुछ भी महत्त्व नहीं। गांधीजी लिखते हैं, "मुझे अपने आपको शून्य बना लेना चाहिए। जब तक मनुष्य अपनी गिनती पृथ्वीके सारे जीवोंके अन्तमें नहीं करेगा, उसे मोक्ष नहीं मिलेगा।" नम्र मनुष्यको अपनी नम्रताकी चेतना नहीं रहती। नम्रता उत्कृष्टता और अपकृष्टताकी भावनाओंसे अलग रहती है, क्योंकि ये दोनों भावनाएं एकताका नहीं, पृथकत्वका लक्षण हैं। नम्रताका अर्थ आलस्य भी नहीं है। "नम्रताका अर्थ तीव्रतम पुरुषार्थ है, पर यह सब परमार्थके लिए होना चाहिए।"[3]

सत्याग्रहीके लिए नम्रता अनिवार्य है, क्योंकि जो नम्र नहीं वह विश्वात्मासे पृथक् है और इस प्रकार दुर्बल है। इस प्रकारका मनुष्य अहिंसाका अभ्यास नहीं कर सकता। वह अहिंसक नहीं है, क्योंकि उसमें सबके प्रति समभाव नहीं है। उसका अहंभाव सत्यका निषेध है, क्योंकि सभी जीवधारी विश्वमें अणुके समान हैं। नम्रताहीन मनुष्यके लिए अपनी भूल स्वीकार करना असंभव है। जो मनुष्य अपनेको कुछ समझता है, उसके लिए यह असंभव है कि वह ईश्वर पर ही पूरी तरह निर्भर रहे; और बिना इसके वह सत्याग्रही नहीं बन सकता।

अहंके बंधनको तोड़ देना, नम्र होना और विश्वात्माके साथ एकताकी अनुभूति — शक्तिका यही महानतम स्रोत है। अहिंसक प्रतिरोधके आन्दोलनमें सत्याग्रही नेताके लिए नम्रता अनमोल सम्पत्ति है। वह लम्बी-चौड़ी बात नहीं बनाता, उसका कार्य ही उसका प्रचारक होता है और उसकी स्थितिका औचित्य ही उसका शक्तिस्रोत है। उसका नम्रतापूर्ण व्यवहार उसके अनुगामियोंकी संख्या बढ़ाता है, तटस्थोंको भी उसकी ओर लाता है और विरोधियोंका विरोध ठंडा करता है। अहिंसात्मक आन्दोलनमें नम्रता निश्चित सफलताकी कुंजी है।

यही नैतिक अनुशासन सत्याग्रहीको स्वीकार करना होगा। इस अनुशासनमें पृथक्ताशील भावनाओं और प्रवृत्तियों, विशेष रूपसे प्रजनन-प्रवृत्ति, संचयशीलता, झगड़ालूपन, भय और घृणाका नियमन और उनको ऊर्ध्वगामी

---

१. आर० बी० ग्रेगका 'इण्डियन रिव्यू' (फरवरी १९३४) में 'दि पर्सनालिटी ऑफ महात्मा गांधी' शीर्षक लेख, पृ० ८४।

२. आर० बी० ग्रेग नम्रताको 'एक प्रकारका आध्यात्मिक समतावाद' कहते हैं। — दि पावर ऑफ नान-वायोलेन्स, पृ० २५८।

३. आत्म-शुद्धि, पृ० ५८।

बनाना आवश्यक है। मिस्टर एन्ड्रूज़के शब्दोंमें यह अनुशासन "विवेकबुद्धिके उन विभिन्न आन्तरिक कार्योंका अनोखा सम्मिश्रण है, जिनका प्रकाशन प्रतिपालनके बाह्य कार्योंमें होता है।"[1] गांधीजी मन, वचन और कर्मके सामंजस्य पर जोर देते हैं, क्योंकि "केवल बाह्य प्रतिपालन कोरा आवरण होगा, जो स्वयं उस मनुष्य तथा दूसरोंके लिए भी हानिकर होगा।"[2] सत्यसे व्युत्पन्न होनेके कारण विभिन्न व्रतोंमें पारस्परिक सम्बन्ध है और यदि उनमें से किसी एककी भी उपेक्षा की जाय तो दूसरे व्रतोंकी भी उपेक्षा होती है। "सब अनुशासनोंका समान महत्त्व है। यदि एक अनुशासन भंग होता है, तो सब भंग होते हैं। . . . यह आवश्यक है कि सब अनुशासनोंको एक ही माना जाय।"[3] इस प्रकार यह अनुशासन सत्याग्रहका अविभाज्य अंग है। यद्यपि प्रत्येक मनुष्यके अन्दर दैवी शक्ति है और इस अनुशासनके अनुसार जीवनको गढ़नेकी क्षमता है; पर गांधीजी इस पूरे अनुशासनको उन नेताओंके लिए अनिवार्य मानते हैं, जो अपने ही प्रयत्नोंसे सत्यकी स्वतन्त्र साधना करना चाहते हैं।

सामान्य स्वयंसेवकसे भी अनुशासन तो अपेक्षित है, किन्तु नेताके लिए आवश्यक नैतिक उत्कृष्टताके स्तरका नहीं।[4] परन्तु "केवल अनुशासन ही नेता बननेके लिए पर्याप्त नहीं। नेतामें श्रद्धा और सूझ भी होनी चाहिए।"[5] प्रारम्भिक अहिंसक आन्दोलनोंमें, जहां तक सत्याग्रही अनुगामियोंका सम्बन्ध था, गांधीजीका भार हेतुकी अपेक्षा प्रतिपालनके बाह्य कार्यों पर अधिक था। उन्होंने सन् १९२१ में लिखा था, "मैं मानता हूं कि सब असहयोगियोंका हेतु प्रेम नहीं, बल्कि अर्थहीन घृणा है। मैं इसे अर्थहीन इसलिए कहता हूं, क्योंकि असहयोगियोंकी घृणाका असहयोगकी योजनामें कोई अर्थ नहीं है। मनुष्य घृणासे अपनेको बलिदान नहीं करता। . . . किस हेतुसे मनुष्य सही काम करता है, इससे क्या मतलब?"[6] बादमें भी वे बाह्य प्रतिपालन पर बहुत जोर देते थे, विशेष रूपसे कताई पर, जिसको वे अहिंसात्मक अनुशासनकी कसौटी और निर्धनोंके साथ समीकरणका प्रतीक मानते थे। लेकिन अब उनका मापदण्ड कठिन हो गया था। पिछले आन्दोलनोंका हवाला देते हुए उन्होंने सन् १९३९ में लिखा था, "मैं तब अपनी शर्तोंमें इतना

१. सी० एफ० एन्ड्रूज़ : महात्मा गांधीज़ आइडियाज़, पृ० १११।
२. यं० इं०, १–१०–'३१, पृ० २८७।
३. ह०, ८–६–'४७, पृ० १८०।
४. यं० इं०, भाग–१, पृ० ३४-३६।
५. ह०, २८–७–'४०, पृ० २२७।
६. यं० इं०, भाग–१, पृ० २५३-५४।

सख्त न था जितना अब हूं।"[1] अहिंसाके बारेमें वे अब आग्रहपूर्वक कहते थे कि केवल बाह्य प्रतिपालन काफी नहीं है और जनताको भी प्रतिपक्षीके प्रति मनमें दुर्भावना या क्रोधको स्थान नहीं देना चाहिए।[2] उनका कहना है कि अगर अहिंसामें जनताका विश्वास बिना पूरी जानकारीके भी हो तो कोई बात नहीं। नेताओंके प्रति उसे सच्ची श्रद्धा होनी चाहिए। नेताओंका अहिंसामें विश्वास बुद्धियुक्त होना चाहिए और उन्हें चाहिए कि वे अपने जीवनको पूरी तरह अहिंसामय बनानेका प्रयत्न करें।[3]

लेकिन क्या यह अनुशासन व्यवहार्य है? क्या अनुशासनकी मांगमें गांधीजी मनुष्य-स्वभावकी सीमाको भुलाकर नहीं चलते? इसके अतिरिक्त क्या उनका आदर्श ठीक है? क्या उससे सबके अधिकतम हितकी सिद्धि हो सकती है? और यदि आदर्श ठीक भी हो तो इन अमूर्त सिद्धान्तोंका प्रयोग जीवनकी वास्तविक परिस्थितियोंमें कैसे होना चाहिए? इन प्रश्नोंका विवेचन हम अगले दो अध्यायोंमें करेंगे।

५

मनोवैज्ञानिक मान्यताएं और नैतिक आदर्शकी व्यावहारिकता

राजनैतिक सिद्धान्तोंका मनोवैज्ञानिक आधार होता है और गांधीजीके राजनैतिक तत्त्व-दर्शनकी प्रामाणिकता कुछ अंशमें इस बात पर आश्रित है कि वे कहां तक मनुष्यके वास्तविक स्वभावको समझनेमें सफल हुए हैं।

उनके आलोचक प्रायः ऐसा कहते हैं कि गांधीजीके तत्त्व-दर्शनका मनोवैज्ञानिक आधार दुर्बल है। वे मनुष्य-स्वभावसे असम्भवकी, देवतुल्य व्यवहारकी, आशा करते हैं। वे मनुष्य-स्वभावको वास्तविकताके दृष्टिकोणसे देखनेका प्रयत्न नहीं करते, मनुष्यकी स्वाभाविक त्रुटियोंकी उपेक्षा करते हैं और मनुष्य-स्वभाव तथा जीवनको शाश्वत आदर्शोंके अनुसार बनानेकी मानुषी क्षमताका अतिरंजित चित्र खींचते हैं।[4]

---

१. ह०, २–१२–'३९, पृ० ३६१।

२. उदाहरणके लिए, २८ अक्तूबर १९३९ के 'हरिजन' में गांधीजीका 'काज़ेज़' शीर्षक लेख देखिये।

३. ह०, ४–११–'३९, पृ० ३३२।

४. राधाकृष्णन्: महात्मा गांधी, पृ० १९१; एम० रत्नस्वामी: दि पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ मिस्टर गांधी, पृ० १६।

दूसरी ओर, गांधीजीका यह कहना है कि वे स्वप्नद्रष्टा नहीं, किन्तु व्यावहारिक आदर्शवादी हैं; उन्होंने 'रंग-बिरंगे मनुष्य-स्वभाव' को परखा है; और वे मनुष्य-स्वभावके सतर्क अध्येता हैं।[1] सत्याग्रही नेताकी हैसियतसे उनका दीर्घकालीन अनुभव, जनताके साथ उनका सम्पर्क, भारतके उनके दौरे, आधी सदीका उनका देश-विदेशके बहुतसे स्त्री-पुरुषोंसे हुआ पत्र-व्यवहार — निस्संदेह इन सबके कारण उनको मनुष्य-स्वभावका गम्भीर ज्ञान है।

मनुष्य-स्वभाव

मनुष्य-स्वभावके बारेमें गांधीजीके विचार उनके आध्यात्मिक विश्वासों और नैतिक सिद्धान्तोंके साथ अविभाज्य रूपसे सम्बद्ध हैं। वे केवल मनुष्यके शारीरिक, बाह्य आचार पर ही ध्यान नहीं देते, बल्कि मनुष्यके वास्तविक स्वभाव, उसके सच्चे आध्यात्मिक स्वरूपको भी जानते हैं। उनकी दृष्टि केवल मनुष्य-स्वभावकी वर्तमान अवस्था तक ही परिमित नहीं रहती; वे हमें बताते हैं कि मनुष्य किस प्रकार अपने स्वभावको सुधारे और कसे, जिससे उसकी क्षमताके अनुसार यथासंभव उसका विकास हो।

गांधीजीका यह विश्वास नहीं है कि मनुष्यमें जीवनके प्रारम्भमें अच्छाई ही अच्छाई होती है और वह एक फरिश्ता होता है। "हममें से प्रत्येकमें अच्छाई और बुराईका सम्मिश्रण है। क्या हममें प्रचुर मात्रामें बुराई नहीं है? मुझमें तो काफी है। . . . और मैं सदा ही ईश्वरसे अपनेको (बुराईसे) शुद्ध करनेकी प्रार्थना करता हूं। मनुष्यमें भेद केवल (अच्छाई-बुराईके) परिमाणका है।"[2]

वे यह मानते हैं कि मनुष्यके पूर्वज जानवर थे। "शायद हम सब मूल रूपमें जानवर थे। मैं यह विश्वास करनेको तैयार हूं कि हम विकासकी धीमी प्रक्रिया द्वारा पशुओंसे मनुष्य बने हैं।"[3] "मनुष्यको दो मार्गोंमें से एकको चुनना होगा — ऊर्ध्वगामी या अधोगामी; लेकिन क्योंकि उसके अन्दर पशु है, वह ऊर्ध्वगामी मार्गकी अपेक्षा अधोगामीको अधिक आसानीसे चुनेगा, विशेषकर यदि अधोगामी मार्ग उसके सामने सुन्दर रूपमें रखा जाये। . . . अधोगामी प्रवृत्ति उनमें (मनुष्योंमें) सन्निहित है।"[4]

ऊंचेसे ऊंचे वृक्ष भी आकाशको नहीं छू पाते। गांधीजीका भी विश्वास है कि महानतम मनुष्य भी जब तक वे शरीरके बन्धनमें बंधे हैं, अपूर्ण होते

१. गां० इं०, भाग-१, पृ० ६३५; ह०, २-२-'३४, पृ० १६; और आत्मकथा, पृ० ३१७।

२. ह०, १०-६-'३९, पृ० १८५-८६।

३. ह०, २-४-'३८, पृ० ६५।

४. ह०, १-२-'३५, पृ० ४१०।

हैं। "निर्दोष कोई (मनुष्य) नहीं है, ईश्वर-भक्त भी नहीं हैं। वे ईश्वरके भक्त इस कारण नहीं है कि वे निर्दोष हैं, वल्कि इस कारण हैं कि वे अपने दोषोंको जानते हैं और अपने आपको सुधारनेके लिए सदा तैयार रहते हैं।"[१] जहां तक गांधीजीका सम्बन्ध है वे अक्सर स्पष्ट शब्दोंमें उन कमजोरियोंको स्वीकार करते थे, जो कभी-कभी सूक्ष्म रूपसे उनको विक्षुब्ध करती थीं। स्वाभाविक नम्रताके साथ वे लिखते हैं, "मैं उसी तरह दूषित हो जानेवाले शरीरका जामा पहिने हूं, जैसे कि मेरे साथी मनुष्योंमें दुर्वलतम लोग पहिने हैं, और इसलिए मैं उसी प्रकार भूलें कर सकता हूं जैसे कि कोई और।"[२]

सामाजिक मनोविज्ञानके विद्यार्थी इस वातसे परिचित हैं कि व्यक्तिगत वर्तावकी अपेक्षा समुदायोंके सदस्यकी हैसियतसे मनुष्यका वर्ताव कम नीति-संगत होता है। समुदायमें साथियोंकी संख्यासे उसकी शक्ति और सुरक्षाकी भावना जागृत होती है, उत्तरदायित्वकी भावना दुर्वल हो जाती है और वह समुदायके उत्तेजक प्रभावके प्रति आत्म-समर्पण कर देता है तथा ऐसे कार्योंमें भाग लेता है, जिनसे वह साधारण रीतिसे अलग रहता। गांधीजीको भी समुदायोंकी अपेक्षा व्यक्तियों पर अधिक भरोसा है।[३] समुदायकी अपेक्षा व्यक्ति पर वुद्धिका और नैतिक विचारोंका अधिक प्रभाव पड़ता है। सत्याग्रही समुदाय इतना अहिंसात्मक और सच्चा नहीं हो सकता जितने व्यक्तिगत सत्याग्रही, क्योंकि प्रतिरोधके सामूहिक आंदोलनमें ध्यान आन्तरिक शुद्धतासे हटकर वाह्य प्रतिपालनकी ओर रहता है और आत्मशक्ति पर इसका हानिकर प्रभाव पड़ता है। इसी कारण सन् १९३३ में जव गांधीजीने सामूहिक सविनय अवज्ञा (Mass civil disobedience) के आन्दोलनको स्थगित कर दिया, तव भी उन्होंने आन्दोलनके व्यक्तिगत रूपको चालू रखा। १९४०-४१ के सत्याग्रहको भी उन्होंने सामूहिक अवज्ञासे अलग रखा और उसको वड़े पैमाने पर वैयक्तिक अवज्ञाका आन्दोलन वनाया। गांधीजी समुदायोंको अविश्वासकी दृष्टिसे नहीं देखते। "जनतामें मेरा असीम विश्वास है। उसके स्वभावमें प्रति-उत्तरकी आश्चर्यजनक क्षमता है। नेताओंको जनताकी आत्म-नियंत्रणकी क्षमता पर अविश्वास न करना चाहिए।" "जनसमूहोंको प्रशिक्षित करनेसे अधिक सरल कुछ भी नहीं, क्योंकि उनमें विचार, शक्ति और पूर्व चिन्तनकी क्षमता नहीं होती।"[४] यदि सच्चे और वुद्धिमान कार्यकर्ता मिल जायं, तो जनसमूहको सामूहिक सत्याग्रहके प्रयोगकी शिक्षा दी जा सकती है। लेकिन

---

१. ह०, २८-१-'३९, पृ० ४४६।
२. यं० इं०, भाग-१, पृ० ९९६।
३. यं० इं०, भाग-१, पृ० ६३५।
४. यं० इं०, भाग-१, पृ० ३२०।

वे अहिंसामें श्रद्धा, पर्याप्त अनुशासन और सुयोग्य नेतृत्वकी आवश्यकता पर बहुत जोर देते हैं।

यद्यपि वे व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवनमें मनुष्य-स्वभावकी दुर्बलताओंसे भलीभांति परिचित हैं, किन्तु वे मनुष्यको स्वभावसे भ्रष्ट, केवल पशु नहीं मानते। पाप और भूलें तथा स्वातन्त्र्यका दुरुपयोग मनुष्यका वास्तविक रूप नहीं है। मनुष्य सर्व-प्रथम आत्मा है और इसी कारण गांधीजीकी मानव-स्वभावमें अटल श्रद्धा है। मनुष्योंमें अधिकतम पशुतुल्य मनुष्यमें भी आध्यात्मिक तत्त्व अर्थात् सुधारकी क्षमता है, और वह इससे इनकार नहीं कर सकता। मनुष्य और पशुमें अन्तर यह है कि मनुष्यमें अन्तर्निहित देवत्वकी अनुभूतिकी स्वयं-चेतन प्रवृत्ति है। गांधीजीके शब्दोंमें, "हम पाशविक बलके साथ उत्पन्न हुए थे, लेकिन हम इसलिए उत्पन्न हुए थे कि हम अपने अन्दर रहनेवाले ईश्वरका साक्षात्कार कर सकें। यही मनुष्यका विशेषाधिकार है और यही मनुष्यको पशुसृष्टिसे पृथक् करता है।"[1] "मनुष्य पशुके रूपमें हिंसक है, परन्तु आत्माके रूपमें (वह) अहिंसक है। जैसे ही वह अन्तर्निहित आत्माके प्रति सजग होता है, वह हिंसक नहीं रह सकता।"[2]

दूसरे अध्यायमें गांधीजीके आत्मा और मनुष्यके विकासकी असीम क्षमता-सम्बन्धी विचारोंका विवेचन हो चुका है। मनुष्य-स्वभावके बारेमें गांधीजीके कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष इन्हीं विचारों पर आधारित हैं। वे मनुष्यके देवत्वमें विश्वास करते हैं। देवत्वका अर्थ यह है कि मनुष्यके लिए बुरा होनेकी अपेक्षा अच्छा होना अधिक स्वाभाविक है, यद्यपि पतन सुधारकी अपेक्षा अधिक सरल मालूम पड़ता है।[3] उनका दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य स्वभावसे ऊर्ध्वगामी है।[4] विनाशके बीच जीवनका अस्तित्व इस बातका प्रमाण है कि हिंसा, स्वार्थपरता इत्यादि की अपेक्षा प्रेम, सहयोग आदि सद्गुण अधिक प्रभावशाली हैं। "मेरा विश्वास है कि मनुष्य-जातिकी समग्र शक्ति हमारे पतनके लिए नहीं वरन् उत्थानके लिए है और यह प्रेमके नियमके निश्चित यद्यपि अचेतन कार्यका परिणाम है।"[5] "... मनुष्य उस (आध्यात्मिक) एकत्वके साक्षात्कारकी ओर सचेतन या अचेतन रूपमें क्रियाशील हैं।"[6] सन् १९४० में लिखे हुए लेखमें उन्होंने बताया है

१. ह०, २-४-'३८, पृ० ६५।

२. ह०, ११-८-'४०, पृ० २४५।

३. ह०, २५-३-'३९, पृ० ६४; १६-५-'३६, पृ० १०९; और ७-९-'३५, पृ० २३४।

४. ह०, १८-५-'४०, पृ० २५४।

५. यं० इं०, १२-११-'३१, पृ० ३५५।

६. सरकारके साथ गांधीजीका पत्र-व्यवहार, पृ० ८२।

कि नरमांस-भक्षणसे लेकर सभ्य सुस्थिर कृषि-जीवन तक मनुष्यके सामाजिक जीवनके परिवर्तन प्रगतिशील अहिंसा और घटती हुई हिंसाके लक्षण हैं। मनुष्य-जातिने अहिंसाकी ओर लगातार प्रगति ही नहीं की है, बल्कि उसे अहिंसाकी ओर और भी आगे बढ़ना है। "इस संसारमें कुछ भी स्थिर नहीं है। प्रत्येक वस्तु गतिशील है। यदि प्रगति नहीं है तो अवनति अनिवार्य है।"[1]

गांधीजीका यह भी विश्वास है कि मनुष्य-स्वभाव साररूपमें एक है और प्रत्येक मनुष्यमें उच्चतम विकासकी क्षमता है। उनके शब्दोंमें, "सबमें एक ही आत्मा है। इसलिए उसकी विकासकी सम्भावना सबमें समान है।"[2] "मेरे जीवनके नियामक आदर्श मनुष्य-जाति द्वारा स्वीकार किये जानेके लिए प्रस्तुत है। मैंने क्रमिक विकास द्वारा उनको प्राप्त किया है। मुझे तनिक भी सन्देह नहीं कि कोई भी पुरुष या स्त्री वही प्राप्त कर सकता है जो मैंने प्राप्त किया है, यदि वह वैसा ही प्रयत्न करे और उसी आशा और श्रद्धाका अभ्यास करे।"[3] "और मेरा दावा है कि जिस (सिद्धान्त) पर मैं व्यवहार करता हूं वह सभीके लिए व्यवहार्य है, क्योंकि मैं सामान्य नश्वर जीव हूं और उन्हीं प्रलोभनों और दुर्बलताओंमें पड़ सकता हूं जिनमें हममें से क्षुद्रतम मनुष्य पड़ सकते हैं।"[4] इसके सिवा, "मुझे बचपनसे यह शिक्षा मिली है और मैंने इस सत्यको अनुभवसे जांचा है कि मानवताके प्राथमिक गुणोंका विकास मनुष्य-जातिमें से निकृष्टतमके लिए भी संभव है। यही असन्दिग्ध सार्वभौम सम्भावना मनुष्यको ईश्वरके अन्य जीवोंसे पृथक् करती है।"[5] गांधीजीके इस विश्वासका समर्थन आधुनिक मनोविज्ञानके पण्डितोंके इस मतसे होता है कि मनुष्य-स्वभाव स्थिर नहीं है; उसमें बड़े बड़े सुधार और परिवर्तन हो चुके हैं और हो सकते हैं।

गांधीजीने इस बातका विस्तृत विवेचन किया है कि मनुष्यको अपना स्वभाव किस प्रकारका बनाना चाहिए, या दूसरे शब्दोंमें अपने व्यक्तित्वके विकासके लिए उसे किन प्रमुख गुणोंका अभ्यास करना चाहिए। व्रतों पर आधारित इस नैतिक अनुशासनका विस्तृत विवेचन हम तीसरे और चौथे अध्यायोंमें कर चुके हैं। इस अनुशासनका अर्थ है पाशवी प्रवृत्तियों और भावनाओंका — प्रजनन-प्रवृत्ति, संचयशीलता, झगड़ालूपन, भय और घृणाका — नियंत्रण। विधायक रूपसे इस अनुशासनकी यह मांग है कि हम सबके

---

१. ह०, ११–८–'४०, पृ० २४५।
२. ह०, १८–५–'४०, पृ० २५४।
३. यं० इं०, भाग–२, पृ० २०४।
४. यं० इं०, भाग–३, पृ० ५१७।
५. ह०, १६–५–'३६, पृ० १०९।

प्रति प्रेम, अर्थात् सबकी सेवा, द्वारा सत्यकी साधनामें लगें। इस प्रकार सचेतन रूपसे अहिंसाका अभ्यास करना पूर्णताका पथ है।

आदर्शकी व्यावहारिकता

लेकिन किसी आदर्शका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे संभव होना एक बात है, और व्यवहार्य होना दूसरी बात है। यद्यपि गांधीजीका आदर्श मनोविज्ञानकी दृष्टिसे असम्भव नहीं, परन्तु क्या वह व्यवहार्य है? क्या उच्चतम नैतिक आचरणकी मांगसे गांधीजी मनुष्य पर बहुत अधिक दबाव नहीं डालते? क्या साधारण मनुष्य गांधीजीके आदर्शसे प्रभावित होंगे? इसके अतिरिक्त, क्या गांधीजीके आदर्श पर पूरी तरह व्यवहार हो सकता है?

गांधीजीका आदर्श केवल तर्क-संगत काल्पनिक आदर्श या पांडित्यपूर्ण सिद्धान्त नहीं है। वे कर्मयोगी हैं और सिद्धान्तोंके बारेमें व्यवहारके सिवा अन्य शब्दोंमें सोचते ही नहीं। न वे कभी किसी ऐसी बातकी शिक्षा देते हैं, जिस पर उन्होंने स्वयं आचरण न किया हो। वे जोर देकर कहते हैं कि उनका आदर्श केवल थोड़ेसे चुने हुए मनुष्योंके लिए नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण मनुष्य-जातिके दैनिक जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें व्यवहारके लिए है।

गांधीजी इस बातकी आशा नहीं करते कि अहिंसाके आदर्शका पूर्ण अभ्यास हो सकेगा। वे इस बातमें विश्वास नहीं करते कि मनुष्य कभी पूर्ण हो जायगा। उनको मनुष्यकी पूर्णतामें नहीं, पूर्णताकी ओर बढ़नेकी क्षमतामें विश्वास है। जब तक मनुष्य इस शरीरके बंधनमें है, वह अधिकसे अधिक आदर्शके निकट पहुंच सकता है, लेकिन उसे पूरी तरह कभी सिद्ध नहीं कर सकता। वे लिखते हैं, "हमें आदर्शके बारेमें निश्चित होना चाहिए। हम सदा उसकी पूर्ण अनुभूतिमें असफल रहेंगे, लेकिन हमको उसके लिए प्रयत्न करनेसे कभी न रुकना चाहिए।"[1] "आदर्श और व्यवहारमें सदा अन्तर रहेगा। यदि आदर्शकी (पूर्ण) अनुभूति संभव हो, तो आदर्श आदर्श न रह जायगा।"[2]

गांधीजीके अनुसार आदर्श स्थिति पूर्ण स्थिति है और शरीरके बंधनसे मर्यादित होनेके कारण हम केवल शरीरके विनाशके बाद ही पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं।[3] इसके अतिरिक्त "यदि पूर्णताकी स्थिति शरीरधारी नश्वर जीवोंकी पहुंचमें होती, तो आदर्शकी उस अनवरत खोज, उस सतत प्रयासकी —जो संपूर्ण आध्यात्मिक प्रगतिका आधार है—गुंजाइश कहां होती?"[4]

---

१. स्पीचेज़, पृ० ३०१।

२. ह०, १४–१०–'३९, पृ० ३०३।

३. ह०, १७–४–'३७, पृ० ८७।

४. यं० इं०, भाग–२, पृ० ९४०।

इस कारण गांधीजी साध्यकी तुलनामें साधन पर, सफलताकी तुलनामें प्रयास पर जोर देते हैं। वे निरन्तर प्रयास करनेमें विश्वास रखते हैं।

गांधीजी जानते हैं कि स्वभावको नियन्त्रित करनेमें और उसको सुधारनेमें, जन्मसे प्राप्त लगभग अमिट संस्कारोंको मिटानेमें कितना कष्ट सहना और कठिन मानसिक संघर्षका सामना करना पड़ता है। वे लिखते हैं, "पुराने संस्कारोंको मिटाना सबके लिए आसान नहीं है, कमसे कम मेरे लिए तो नहीं है।"[१] वे जानते हैं कि स्वयं अपने जीवनमें बुराईको जीतना और सच्चा और अहिंसक बनना कठिन प्रक्रिया है। अहिंसाकी मानसिक स्थिति अत्यन्त कठिन प्रशिक्षणसे प्राप्त होती है। सन् १९३६ में डॉ० थर्मनसे बातचीत करते हुए उन्होंने कहा था, "स्वयं अपने जीवनमें अहिंसाकी अभिव्यक्तिकी पूर्व-मान्यता है महान अध्ययन, कठिन अध्यवसाय और अपने आपको सब दोषोंसे पूरी तरह शुद्ध करना। यदि भौतिक विज्ञानोंमें पारंगत होनेके लिए आपको पूरा जीवन लगा देना पड़ता है, तो मनुष्यको ज्ञात सबसे महानतम आध्यात्मिक शक्तिकी पूर्ण उपलब्धिके लिए कितने जीवनोंकी आवश्यकता होगी? लेकिन यदि कई जीवन भी लग जायं तो क्या चिन्ता है? क्योंकि यदि जीवनमें एक यही स्थायी वस्तु है, यदि यही एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु है, तो आप उसकी पूर्ण उपलब्धिके लिए जितना भी प्रयत्न करेंगे वह उचित ही होगा।"[२]

जीवनकी नैतिक पुनर्रचनाका कार्य आज बहुत कठिन हो गया है, क्योंकि आधुनिक सभ्यताने दोषपूर्ण मूल्यों पर—इन्द्रिय-सुख, संचयप्रियता, प्रतिस्पर्धा और दूसरी स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों पर—जोर देकर नैतिक भ्रम उत्पन्न कर दिया है।

गांधीजी अच्छी तरह जानते हैं कि उनका सत्याग्रही अनुशासन कठिन आदर्श है और अधिकतर मनुष्योंके लिए धनलिप्सा और वासनाप्रियताके प्रलोभनोंके कारण इस अनुशासनका पालन करना कठिन होगा। इसलिए वे प्रत्येकसे यह आशा नहीं करते कि वह तुरन्त इस आदर्श पर व्यवहार करने लगेगा। लेकिन वे निराशावादी भी नहीं हैं। उनका कहना है कि हमें न तो इस आदर्शसे डरना चाहिए, न निराशाके कारण आदर्श पर चलनेका प्रयत्न छोड़ देना चाहिए और न आदर्शको नीचे गिराना चाहिए, क्योंकि "अपनी सुविधाके लिए आदर्शको नीचे गिरानेमें असत्य है, हमारा पतन है।"[३]

गांधीजी हमसे बहुत अधिककी मांग भी नहीं करते। वे जानते हैं कि स्वभाव धीरे-धीरे, प्रयत्न और कष्ट-सहनकी क्रमिक प्रक्रिया द्वारा, बदलता

---

१. यं० इं०, भाग—२, पृ० १२०४।

२. ह०, १४—३—'३६, पृ० ३९।

आत्म-शुद्धि, पृ० १९।

है। उनकी मांग केवल यह है कि हमारा आदर्श ठीक हो, हम आशा और श्रद्धा रखें, अपनी मर्यादाओंको समझें और उनको ध्यानमें रखकर विना अपने ऊपर जवरदस्ती किये यथाशक्ति आदर्श तक पहुंचनेका सच्चा प्रयत्न करें।[1] उनका मत है कि अधिकतम सफलताका यही मार्ग है। एक वार उन्होंने मीरावहनको लिखा था, "प्रत्येक कार्यमें अपनी क्षमतासे परे न जाओ। यह सत्यका भंग है।"[2] इस प्रकार, यद्यपि वे यह चाहते हैं कि सत्याग्रही व्यावहारिक और तुरंत कार्य करनेवाला हो तथा कार्योंको स्थगित न करता रहे, परन्तु उन्हें अधैर्य नहीं।[3] वे उतावले नहीं हैं। वे धीमे सतत विकासके लिए पर्याप्त समय देते हैं। "यदि समय लगता है, तो वह समग्र कालचक्रका विन्दुमात्र है।"[4] इसके अतिरिक्त पुनर्जन्मके सिद्धान्तके अनुसार इस जीवनकी नैतिक प्रगति भविष्यमें हमें प्राप्त होगी। "मुझे पुनर्जन्ममें उसी प्रकार विश्वास है जिस प्रकार अपने वर्तमान शरीरके अस्तित्वमें है। इसलिए मैं जानता हूं कि थोड़ा भी प्रयत्न वेकार न जायगा।"[5] उनको जनता पर नेताओंके दृष्टान्तके प्रभावका भरोसा भी है। वे 'हिन्द स्वराज्य' में लिखते हैं, "जैसा कुछ लोग करेंगे वैसा ही उनकी देखादेखी दूसरे भी करेंगे। . . . पहले एक ही आदमी ऐसा करेगा, फिर दस, उसके वाद सौ, इस तरह वढ़ते ही जायंगे; क्योंकि समाजके वड़े आदमी यानी नेता लोग जो कुछ करते हैं, उसीका फिर आम लोग भी अनुसरण करने लगते हैं।"[6] इस प्रकार गांधीजी इस वात पर जोर देते हैं कि हमारा मार्ग ठीक हो और हम सच्चे उत्साहसे प्रयत्न करें।

हो सकता है कि सत्य और प्रेमका आदर्श आज मनुष्योंको वहुत कठोर, आकर्षणहीन और अव्यवहार्य लगे, लेकिन दीर्घकालमें वास्तविक महत्त्व है आदर्शकी शुद्धताका, न कि जन-साधारणको उसके अव्यवहार्य मालूम होनेका। एक समय ऐसा था जव मनुष्य हिंसाकी तरह दासता, नरमांस-भक्षण और ऐसी वहुतसी दूसरी वुराइयोंके—जो आज इतनी घृणित लगती हैं—त्यागके वारेमें संशयपूर्ण थे। "आधुनिक विज्ञान

---

१. "मेरी वुद्धि मेरे कार्योंसे आगे चलती है। मैं अपने साथ जवरदस्ती नहीं करता और इसलिए दम्भी नहीं वनता।" (मीरा: ग्लीनिंग्स, पृ० १४)।

२. वापूज़ लेटर्स टु मीरा, पृ० ७५।

३. वार, पृ० १७०–७१।

४. ह०, १५–६–'३५, पृ० १३८।

५. यं० इं०, भाग–२, पृ० १२०४।

६. हिन्द स्वराज्य, पृ० १८३।

हमारी यादमें असंभव मालूम पड़नेवाली बातोंके संभव हो जानेके दृष्टान्तोंसे भरा है।" लेकिन गांधीजीका मत है कि भौतिक विज्ञानकी सफलताएं जीवनके विज्ञानकी, अर्थात् जीवनके नियम अहिंसाकी विजयके सामने कुछ भी नहीं हैं।[१]

यह दोहराना आवश्यक नहीं कि गांधीजी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंको बलपूर्वक दबानेके हानिकर और रोगजनक प्रभावके प्रति सचेत हैं। वे सच्चे आत्म-संयम और यन्त्रवत् आत्म-नियन्त्रणमें अन्तर करते हैं। यन्त्रवत् आत्म-नियंत्रण मनुष्यको दुर्बल और विषादमय बनाता है, जब कि सच्चा आत्म-संयम उसको शक्ति-सम्पन्न बनाता है। पिछले अध्यायमें हम उनके लेखोंसे यह प्रमाणित करनेवाले उद्धरण दे चुके हैं कि वे प्रवृत्तियोंको बलपूर्वक दबानेकी बातको प्रोत्साहन नहीं देते और सच्चे आत्म-नियमनके पक्षमें हैं। उनका नैतिक अनुशासन आवश्यक रूपसे उर्ध्वगामी बननेकी प्रक्रिया है और उसमें केवल विवेक-बुद्धिके आंतरिक कार्य ही नहीं, उनके अनुरूप प्रतिपालनके बाह्य कार्य भी सम्मिलित हैं। अस्वाद, शरीर-श्रम और अपरिग्रह इत्यादिके व्रतोंसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि गांधीजी ऊर्ध्वगामी बननेकी प्रक्रियामें कार्यको बहुत महत्त्वपूर्ण समझते हैं। उनका विश्वास है कि, "जैसे ही व्यक्ति उन सिद्धान्तोंके अनुसार आचरण करता है, जिनमें उसको विश्वास है, वैसे ही उसे सफलता मिलती है।"[२] गांधीजी मौन, प्रार्थना और उपवासको भी ऊर्ध्वगामी बननेमें सहायक समझते हैं।[३]

संक्षेपमें, गांधीजी मनुष्यके शारीरिक आचरणको मनुष्य-स्वभावका एक अंशमात्र मानते हैं। अपने दर्शनमें वे मनुष्यके वास्तविक आध्यात्मिक स्वरूपको भी ध्यानमें रखते हैं। वे हमें यह बताते हैं कि किस प्रकार मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको नियंत्रणमें रख सकता है और अपना अधिकतम विकास कर सकता है। इस विकासके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य आदतोंका दास न बनकर, कृत संकल्प होकर आत्म-संचालनके मार्ग पर चले। यह गांधीजीका ईश्वरकी श्रद्धा पर आधारित दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य-स्वभाव पूरी तरह निर्धारित और अपरिवर्तनीय नहीं है और प्रत्येक मनुष्यके लिए जीवनको सुधारनेकी असीम सम्भावना है। सत्याग्रहका आधार यह मनोवैज्ञानिक पूर्व-मान्यता है कि अधिकतम पशुतुल्य प्रतिपक्षीकी आन्तरिक अच्छाई सच्चे मनुष्यके शुद्ध कष्ट-सहन द्वारा जागृत की जा सकती है। इस प्रकार सत्यकी साधना,

---

१. ह०, २६-९-'३६, पृ० २६०।

२. 'इंडियन रिव्यू' (जुलाई १९३८)में पी० स्प्रेट द्वारा गांधीजीके सम्बन्धमें लिखे लेखमें उद्धृत, पृ० ४४९।

३. इनके संक्षिप्त वर्णनके लिए देखिये अध्याय ६।

अर्थात् अहिंसाका बोधपूर्ण अभ्यास, न तो असंभव है और न अव्यवहार्य ही है, यद्यपि वह एक कठिन आदर्श है और उसे जीवनमें उतारनेके लिए अनवरत प्रयत्न और सतत जागरूकताकी आवश्यकता है।

कष्ट-सहन और त्यागका औचित्य

लेकिन यद्यपि गांधीजीका आदर्श मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे असंभव और अव्यवहार्य नहीं है, फिर भी स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ टैगोर और दूसरे विचारकोंने उसकी आलोचना की है और उसको शुद्धिवादी, त्याग-प्रधान, निषेधात्मक, अपूर्ण और अनुचित बतलाया है। यह कहा जाता है कि गांधीजीका आदर्श तपस्या और वैराग्य पर अनुचित जोर देता है और जीवनको अनाकर्षक और नीरस बना देता है। आलोचकोंके अनुसार गांधीजी त्यागके लिए त्यागकी व्यवस्था करते हैं; अर्थात् त्यागको ही जीवनका ध्येय बना देते हैं; कला और माधुर्यके लिए गुंजाइश नहीं छोड़ते और जीवनको बहुत-कुछ हर्ष और अर्थ-पूर्णतासे वंचित कर देते हैं। उनके आदर्शका अर्थ है अनुभवको अस्वीकार करना और जीवनसे भागना। जापानी कवि योन नगूची गांधीजीको "भूख और दुःखके अनन्त पथका पथिक" कहता है। उनका एक आलोचक, जो उनको "त्यागका धर्म-शिक्षक" कहता है, लिखता है, "गांधीजी उस प्रकारके संन्यासी हैं, जो इसलिए शरीरको कसते हैं, जान-बूझकर जीवनके राग-रंगको त्याग देते हैं, केवल जीविकाके लिए अनावश्यक प्रत्येक वस्तुकी निन्दा करते हैं और शरीरके विनाशके लिए जल्दी करते हैं, जिससे शरीरमें बन्दी आत्मा शीघ्रतासे ईश्वरके साथ मिल जाय।"[१]

निस्सन्देह गांधीजीका मत है कि सत्ता और भोग-विलासकी लालसावाला शरीर आत्माकी उच्चतम उन्नतिमें बाधक है।[२] उनका विश्वास है कि कष्ट-सहन और त्याग, "शरीरको निरन्तर सूली पर चढ़ाना," यह जीवनकी प्रासंगिक नहीं, केन्द्रीय वास्तविकतायें हैं और नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नतिके लिए आवश्यक हैं। जब वे लंदनमें विद्यार्थी थे तभी त्यागमें धर्म है यह बात उनके दिलको जंच गई थी।[३] अपने एक लेखमें, जिसमें उन्होंने अपने धार्मिक और नैतिक विश्वासोंका वर्णन किया है, वे लिखते हैं, "सामान्य रीतिसे यह

---

१. मिलर: गांधी -- दि होली मैन, पृ० १५७; राधाकृष्णन्: महात्मा गांधी, पृ० १९१, २०२, २५०; 'इंडियन रिव्यू' (जुलाई १९३८) में पी० स्प्रेटका गांधीजी पर लेख, पृ० ४५१; 'मॉडर्न रिव्यू' (जुलाई १९३१) में ए० आर० वाडियाका 'गांधीजी एण्ड मशीन्स' शीर्षक लेख, पृ० ८८।

२. यं० इं०, भाग–२, पृ० १०३४।

३. आत्मकथा, भाग–१, पृ० ७९।

सिद्धान्त बनाया जा सकता है कि भौतिक सुविधाओंकी वृद्धि किसी प्रकार भी नैतिक उन्नतिमें सहायक नहीं होती।"[1] "सुखी जीवनका भेद त्यागमें है। त्याग जीवन है। भोग-विलासका अर्थ है मृत्यु।"[2] सन् १९४६ में उन्होंने लिखा था, "धनपूजा द्वारा आरोपित तीव्र गति पर आधारित जटिल भौतिक जीवनसे उच्च विचार असंगत हैं।"[3] उनका यह दृढ़ विश्वास है कि, "जितना आप शरीरको कसते हैं उसी अनुपातमें आपको आत्मशक्ति बढ़ती है।"[4] "बिना शरीरको कसे ईश्वरका साक्षात्कार असंभव है। देव-मंदिर मानकर शरीरके लिए आवश्यक कार्य करना एक बात है और अस्थि-चर्मके शरीरकी तरह जो उसकी मांग है उसका निषेध दूसरी बात है।"[5] "मनुष्य-शरीरका प्रयोजन केवल सेवा है, वासना-तुष्टि नहीं। सुखी जीवनका रहस्य त्यागमें निहित है। त्याग ही जीवन है। . . . वासना-तुष्टिका अर्थ है मृत्यु।"[6] उनका विश्वास है कि "एक सीमाके बाद जैसे जैसे आत्माकी उन्नति होती है उसी अनुपातमें शरीर कृश होता है।"[7] इस प्रकार उनके अनुसार शब्दके सच्चे अर्थमें सभ्यता आवश्यकताओंकी वृद्धिमें नहीं, वरन् सोच-विचारकर स्वेच्छासे उनके नियन्त्रणमें है। केवल यही वास्तविक सुख और सन्तोषकी वृद्धि करती है और सेवाकी क्षमताको बढ़ाती है। "कष्ट-सहन करनेवालेके कष्ट-सहनका परिमाण प्रगतिकी माप है। जितना शुद्ध कष्ट-सहन होगा उतनी ही अधिक प्रगति होगी।"[8]

लेकिन गांधीजी कष्ट-सहनको आध्यात्मिक विकासके लिए आवश्यक क्यों मानते हैं? आध्यात्मिक स्वातंत्र्यका अर्थ है सबसे प्रेम करनेकी, अर्थात् सबके लिए कष्ट सहनेकी क्षमता। कष्ट सहनेवाले प्रेमके आदर्शके उच्चतम स्तर तक पहुंचनेके लिए हमें सबसे अधिक निर्धन और दीनकी-सी दशामें रहना होगा। इसलिए हमें अपनी आवश्यकताओंको परिमित करना होगा और आत्माके विकासके लिए शरीरको कसना होगा। गांधीजी कहते हैं, "सब जीवोंके साथ एकताकी अनुभूतिके लिए जो बलिदान मनुष्य कर सकता है उसकी कोई सीमा नहीं है; लेकिन निस्सन्देह इस आदर्शकी व्यापकता आपकी आवश्यकताओंको

---

१. स्पीचेज, पृ० ७७०।
२. ह०, २९–२–'४६, पृ० १९।
३. ह० १–९–'४६, पृ० २८५।
४. यं० इं०, भाग–१, पृ० १०७।
५. ह०, १०–१२–'३८, पृ० ३७३।
६. ह०, २९–२–'४६, पृ० १९।
७. यं० इं०, भाग–२, पृ० १२०३।
८. यं० इं०, भाग–१, पृ० २३१।

मर्यादित कर देती है . . . ।"[१] वासना-तुष्टि और आवश्यकताओंकी वृद्धिके
लिए गुंजाइश नहीं, "क्योंकि ये विश्वात्माके साथ अन्तिम रूपसे एकात्मकताकी
ओर प्रगतिमें वाधक हैं।"[२] यदि सत्याग्रही अहिंसा द्वारा आर्थिक समताकी
प्रतिष्ठा करना चाहता है, तो उसके लिए जीवनकी सादगी आवश्यक है।

अहिंसक जीवनमें निहित कष्ट-सहन और त्यागकी कोई सीमा नहीं।
परन्तु शरीर-संयमके साधनके रूपमें कष्ट-सहनकी भी सीमा है। कष्ट-सहन
स्वयं साध्य नहीं है और कष्ट-सहनमें अपने आपमें कोई गुण नहीं है। इसलिए
जव शरीर वशमें हो जाय और सेवाके साधनके रूपमें प्रयुक्त हो सके, तव
कष्ट-सहन अधिक हानिकर भी हो जाता है, क्योंकि वह मनुष्यको अपने
शरीरका सेवाके लिए पूरी तरह उपयोग करनेसे रोकता है।[३] "कष्ट-सहनकी
सुनिश्चित सीमाएं हैं । कष्ट-सहन बुद्धिमत्तापूर्ण और बुद्धिमत्तारहित दोनों
हो सकता है और जव वह सीमा प्राप्त हो जाती है तो कष्ट-सहनको चालू
रखना बुद्धिमत्तारहित नहीं वरन् चरम मूर्खता है।"[४]

लेकिन त्यागसे गांधीजीका अर्थ वह परलोक-प्रियता नहीं, जिसके कारण
मनुष्य वर्तमान जीवनकी मांगोंकी उपेक्षा करके जंगलकी राह लेता है। "कुछ
काम न करना त्याग नहीं है। वह अकर्मण्यता है।"[५] वे चाहते हैं कि हम उस
त्यागवृत्तिका विकास करें, जो कार्यको ईश्वर-प्रार्थनाका रूप देती है और हमें
प्रेम और सेवा करने योग्य वनाती है। वे चाहते हैं कि हमारा जीवन आत्म-
समर्पणका जीवन हो, हम प्रत्येक कार्य वलिदानकी भावनासे करें और अपनी
क्षमताका उपयोग जनसेवाके लिए करें।[६] इस प्रकार गांधीजी त्याग और आत्म-
विकासका सामाजिक और राजनैतिक जीवनके कर्तव्योंके साथ सामंजस्य स्थापित
करते हैं। यहां यह दोहराना शायद अनावश्यक है कि गांधीजीके आदर्शका अर्थ
अस्वास्थ्यकर इन्द्रिय-दमन नहीं, परन्तु विवेकपूर्ण त्याग है । इस प्रकार वे
त्यागकी व्यवस्था त्यागके लिए नहीं, किन्तु मनुष्यको ज्ञात उच्चतम आदर्श —
सेवामय प्रेमके आदर्श — की सिद्धिके लिए आवश्यक साधनके रूपमें करते हैं।

और न सच्ची भावनासे स्वीकृत कष्ट-सहन और त्याग हमारे जीवनको
विफल, अंधकारमय, शुष्क और हर्षरहित वना देते हैं । गांधीजी जिन
सिद्धान्तोंकी शिक्षा देते थे उनके ही अनुसार वे रहते भी थे। और वे संसारके

---

१. ह०, २६–१२–'३६, पृ० ३६५।
२. ह०, २६–१२–'३६, पृ० ३६५।
३. ह०, २–११–'३५, पृ० २९९।
४. यं० इं०, १२–३–'३१, पृ० ३०।
५. ह०, २०–४–'३५, पृ० ७५।
६. आत्म-शुद्धि, अ० १५।

श्रेष्ठतम ज्ञानी और प्रसन्न व्यक्तियोंमें से थे और उनमें अधिकतम विषादकी स्थितिमें भी विनोद उत्पन्न कर देनेकी असीम क्षमता थी। जिन लोगोंने ध्यानसे भारतवर्षके अहिंसात्मक आन्दोलनोंका अध्ययन किया है, उन्हें ज्ञात है कि स्वेच्छा और प्रसन्नतासे स्वीकार किया हुआ कष्ट-सहन नैतिक विकासमें कितना अधिक सहायक होता है।

सन् १९२१ में उन्होंने लिखा था, "प्रसन्नतापूर्वक सहन किया हुआ कष्ट कष्ट-सहन नहीं रह जाता और वह अनिर्वचनीय सुखमें परिवर्तित हो जाता है।"[1] जैसा कि गांधीजी कहते हैं, सुखका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; वह जीवनके प्रति हमारी मनोवृत्ति पर निर्भर है और व्यक्तिगत और राष्ट्रीय शिक्षाका परिणाम है। गांधीजीकी शिक्षा यह है कि हम आधुनिक सभ्यताकी नैतिक विच्छृंखलताकी स्थितिमें प्राचीन भारतीय ऋषियोंके प्रेयस और श्रेयसके — शारीरिक संवेदनोंके आनन्दवाले जीवन और जीवनके वास्तविक सुखके — भेदको भूल न बैठें।[2] वास्तविक सुखका स्रोत है नम्रता और आत्मत्याग, न कि अहंमन्यता; आवश्यकताओंको नियन्त्रित और कम करना, न कि उनकी निरन्तर असीम वृद्धि। वास्तविक सुख सामंजस्यपूर्ण, सप्रयोजन, संयमपूर्ण जीवनका, दूसरोंका दुःख बंटाने और उनका भार उठानेका फल है। हो सकता है कि दूरसे गांधीजीका बताया हुआ अनुशासन कठिन और भयावह मालूम पड़े, लेकिन जब मनुष्य उसके अनुसार अपने जीवनकी पुनर्रचना करने लगता है, तो उसे मालूम होता है कि जीवनको नीरस और दुःखद बनाना तो दूर रहा, उलटे वह अनुशासन हमारी स्वतन्त्रताको बढ़ाता है और उसका बोझ सह्य और हल्का बनाता है।

कला

यह कहना भी ठीक नहीं कि गांधीजीके नैतिक आदर्शमें कलाके लिए कोई स्थान नहीं।[3] हां, कलाके सौन्दर्य-निरूपण सम्बन्धी साधारणतः मान्य विचारोंसे गांधीजीका मतभेद है। यद्यपि उनको अपने जीवनमें कलाके बाह्य आकारोंका नितान्त अभाव भी अखरता नहीं था, किन्तु वे कलाकृतियोंके महत्त्वके सम्बन्धमें सचेत थे। उनका मत है कि प्राकृतिक सौन्दर्यके शाश्वत प्रतीकोंकी अपेक्षा — नक्षत्रोंवाले आकाशके विस्तृत, असीम दृश्य, सूर्यास्तकी विलक्षणता, बालचन्द्रका सौन्दर्य, सर्वोत्कृष्ट सत्य (स्रष्टा) की याद दिलानेवाली

---

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० ९००।

२. इस भेदके लिए कठोपनिषद् देखिये।

३. कला-सम्बन्धी गांधीजीके विचारोंके लिए देखिये यं० इं०, भाग–२, पृ० १०२५-३६; और फुलप मिलर: गांधी, दि होली मैन, पृ० ६०-६४।

इन प्राकृतिक कलाकृतियोंकी अपेक्षा — मानवीय कला तुच्छ और अपूर्ण है।
वे वृक्षपूजाकी प्रथामें सौन्दर्यके दर्शन उस सम्पूर्ण वनस्पति-जगतके प्रति
सच्चे आदरके प्रतीकके रूपमें करते हैं, जो अपने सुन्दर रूपों और आकारोंके
अनन्त दृश्य द्वारा हमारे समक्ष अपनी असंख्य जिह्वाओंसे ईश्वरकी महानता
और गौरवकी उद्घोषणा करता प्रतीत होता है। जहां तक मानवीय कलाका
सम्बन्ध है, गांधीजी उसका मूल्यांकन उसके बाह्य आकारकी सुन्दरतासे नहीं,
किन्तु उसके विषयकी नैतिकतासे और आत्म-साक्षात्कारमें उसकी सहायताकी
उपयोगितासे करते हैं। जिसमें सत्य मूर्त है, जिससे ऊर्ध्वगामी प्रकृतिकी,
आत्माके दैवी असन्तोषकी, अभिव्यंजना या सहायता होती है, वही सच्ची
कला है। इस तरह वे संगीतका मूल्यांकन इसलिए नहीं करते कि वह तथा-
कथित रस-सिद्धान्तके अनुसार ठीक उतरता है, बल्कि इसलिए करते हैं कि वह
प्रार्थना और नैतिक उन्नतिमें सहायक होता है। उनके लिए "बाह्य आकारोंका
वहीं तक महत्त्व है जहां तक वे मनुष्यकी अन्तरात्माकी अभिव्यक्ति हैं।"
वास्तविक सुन्दर रचनाएं सौन्दर्यकी सच्ची परखकी अभिव्यक्ति हैं, इसलिए
सत्यमें या सत्यके माध्यमसे ही सौन्दर्यका दर्शन करना चाहिए। "जब मनुष्य
सत्यमें सौन्दर्य देखना प्रारम्भ कर देंगे तभी सच्ची कलाका जन्म होगा।"
यदि कलाकी साधना आत्म-साक्षात्कारके लिए न होकर केवल कलाके लिए
ही होगी, तो वह बाधा बन जायगी और लोगोंको पथभ्रष्ट कर देगी।
इसके अतिरिक्त सौन्दर्यको स्वामित्वकी किसी भावनासे अलग होकर आनन्द
प्रदान करना चाहिए। उनका विश्वास है कि चित्र, गायन इत्यादि बाह्य
आकारोंकी अपेक्षा शुद्ध आचरणमें अभिव्यक्त मनुष्यकी नैतिक शुद्धता कलाका
उच्चतर प्रकाशन है। "यज्ञमय जीवन कलाकी पराकाष्ठा है।"[१] सच्चा
सौन्दर्य और कला निजी जीवनकी शुद्धतासे पृथक् नहीं है। "जीवनकी शुद्धता
सबसे सच्ची और उच्चतम कला है। सुसंस्कृत स्वरसे अच्छे संगीतके उत्पा-
दनकी कलाको अनेक लोग प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु शुद्ध जीवनके सामंज-
स्यसे उस संगीतके उत्पादनकी कलाको विरले ही प्राप्त कर सकते हैं।

गांधीजी यह मानते हैं कि सम्भवतः कलाकार सत्यको सुन्दरतामें
और सुन्दरताके द्वारा देख सके। लेकिन वे सदा जनहितकी बात सोचते हैं।
जनसाधारणको सुन्दरताको परखने और उसमें सत्यको देखनेका प्रशिक्षण नहीं
दिया जा सकता। यदि वे सत्यको जान लें तो सुन्दरताको भी देखने लगेंगे।[२]
गांधीजीके अनुसार वही सुन्दर है जो क्षुधा-पीड़ित जनताकी सेवा कर सके।
इस प्रकार वे खादी तथा शोषणहीन ग्रामीण उद्योगोंके अन्य उत्पादनोंके सौन्दर्य

१. आत्म-शुद्धि, पृ० ७२।
२. ह०, ७–४–'४६, पृ० ६७।

पर जोर देते हैं। सन् १९४६ में अगाथा हैरिसनसे उन्होंने कहा था, "हम लोगोंको यह विश्वास करना सिखाया गया है कि यह आवश्यक नहीं है कि जो सुन्दर है वह उपयोगी भी हो और जो उपयोगी है वह सुन्दर नहीं हो सकता। मैं यह दिखाना चाहता हूं कि जो उपयोगी है वह सुन्दर भी हो सकता है।"

चरित्र और बुद्धि

यह भी कहा गया है कि "गांधीजी पूरा जोर चरित्र पर देते हैं और वौद्धिक शिक्षा और विकासको महत्त्व नहीं देते,"[१] किन्तु बुद्धिके बिना चरित्रका वहुत मूल्य नहीं है। निःसन्देह गांधीजीका विश्वास है कि चरित्रहीन बुद्धि संकटमय है। विनाशकी कलाकी आश्चर्यजनक उन्नति यह प्रदर्शित करती है कि मनुष्य अपनी बुद्धिका प्रयोग अपने विनाशके लिए भी कर सकता है। इसी प्रकार बुद्धिको प्रशिक्षित करनेकी आधुनिक पद्धतियों पर भी गांधीजीकी आस्था वहुत कम है और वे वौद्धिक प्रशिक्षणको नहीं परन्तु सम्यक् चिन्तनको अहिंसाका सार मानते हैं। वे सम्यक् चिन्तनकी परिभाषा मूलभूत सिद्धान्तोंकी सम्यक् धारणाके रूपमें करते हैं।[२] लेकिन अहिंसाकी साधनामें गांधीजी बुद्धिकी महत्ता पर उचित जोर देते हैं। उनका मत है कि विशेषतः नेताओंका अहिंसामें विश्वास बुद्धियुक्त और सृजनात्मक होना चाहिए। "यदि हिंसाके क्षेत्रमें बुद्धिका महत्त्वपूर्ण स्थान है, तो अहिंसाके क्षेत्रमें उसका स्थान और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।"[३] "अहिंसाके सच्चे आचरणका अर्थ यह भी है कि जो मनुष्य अहिंसाका आचरण करता है उसमें तीक्ष्णतम बुद्धि और जागरूक अन्तरात्मा होनी चाहिए।"[४] "सुधारके प्रत्येक विभागमें अपने विषयमें पारंगत होनेके लिए निरन्तर अध्ययन आवश्यक है। उन सब सुधार-आन्दोलनोंकी आंशिक अथवा पूरी असफलताके मूलमें, जिनकी अच्छाई सर्वमान्य है, अज्ञान रहा है।"[५] किन्तु उनका यह विश्वास है कि अहिंसाके वोधपूर्ण अभ्याससे सत्याग्रहीका वौद्धिक विकास अवश्य होगा। "सत्य और अहिंसा मूर्खके लिए नहीं हैं। इनकी साधनासे निश्चित रूपसे शरीर, बुद्धि और हृदयका वहुमुखी विकास होगा। यदि ऐसा नहीं होता . . . तो हम सच्चे नहीं हैं।"[६] हरिजन-सेवाकी चर्चा करते हुए उन्होंने सन् १९३६ में

१. जवाहरलाल नेहरू: जवाहरलाल नेहरू (अं.), पृ० ४०९।
२. म॰रा: ग्लीनिग्स, पृ० २४।
३. ह०, २१-७-'४०, पृ० २१०।
४. ह०, ८-९-'४०, पृ० २७४।
५. ह०, २४-४-'३७, पृ० ८४।
६. ह०, ८-५-'३७, पृ० ९८।

लिखा था, "इस सेवाके प्रेम और शुद्ध चरित्रसे निःसन्देह आवश्यक बौद्धिक और प्रशासकीय क्षमता प्राप्त या विकसित होगी।"[१]

कष्ट-सहन और बलिदान पर आश्रित यह अनुशासन सत्याग्रही नेताकी अनिवार्य योग्यता है। वह उसकी नैतिक अनुभूतिको परिष्कृत करता है। इसके अतिरिक्त अहिंसात्मक प्रतिरोधके आन्दोलनमें जेलयात्रा, शारीरिक यातनाएं और कभी-कभी मृत्यु भी सहनी पड़ती है। इस कष्ट-सहनके लिए यह आवश्यक है कि सत्याग्रही अपने शरीरको इस प्रकार कसे कि शरीर उस अत्याचारीकी दी हुई यातनाओंको सह सके, जो सत्याग्रहीको अपने संकल्पके अनुसार चलानेका प्रयत्न करता है। जब तक सत्याग्रही नेता अपने जीवनमें सेवा और कष्ट-सहनके आदर्शोंको उतार न ले, तब तक वह अपने अनुगामियोंको इन आदर्शोंसे प्रभावित नहीं कर सकता।

गांधीजी और समाजवादी दोनोंका सामाजिक आदर्श है अहिंसक जनतन्त्र। इस समाजकी पूर्व-मान्यता है साधारण मनुष्यके स्वभावका सुधार, जिससे वह बिना किसी बल-प्रयोगके समाज-सेवाकी मांगको पूरा कर सके। लेकिन साधारण मनुष्यकी इस उन्नतिके लिए हमें ऐसे नेताओं और पथ-प्रदर्शकोंकी आवश्यकता है, जो प्रेम और बलिदानके आदर्शोंके जीवित दृष्टांत जैसे हों। जिनका जीवन विलासिता और वासनाप्रियताका है और जो दूसरोंका कष्ट बांटनेके बजाय हिंसाका प्रयोग करते हैं, अर्थात् दूसरों पर कष्ट-सहनका बोझ लादते हैं, वे समाजको विकासके अहिंसक धरातल पर नहीं पहुंचा सकते।

यह सोचना भ्रमपूर्ण है कि गांधीजीका अहिंसक आदर्श हमारे जीवनको आदिम और असंस्कृत बनाता है। उनके ही शब्दोंमें, "... यह कोई अज्ञानपूर्ण, अन्धकार युगकी ओर वापस जानेका प्रयत्न नहीं है। लेकिन यह स्वेच्छासे स्वीकार की हुई सादगी, निर्धनता और धीमेपनमें सौंदर्य देखनेका प्रयत्न है।"[२] जटिल और केन्द्रित राजनैतिक और आर्थिक जीवन शोषणके अवसरोंको बढ़ाता है और अहिंसक मूल्योंका बलिदान करता है। अहिंसक जीवन अर्थात् सेवाका जीवन गांधीजीके अनुसार आवश्यक रूपसे सरल और स्वावलम्बी होगा और धरतीके सान्निध्यमें होगा। इसका अर्थ है विकेन्द्रित सत्याग्रही समुदायकी ग्रामीण संस्कृति और सादगी, स्वतन्त्रता तथा विकासके अवसरोंसे भरापूरा नवीन बोधपूर्ण जीवन।

इस प्रकारके समाजकी ओर बढ़नेका एकमात्र मार्ग है जनता द्वारा सत्याग्रही नेताओंके पथ-प्रदर्शनमें अहिंसाकी साधना।

---

१. ह०, ७–११–'३६, पृ० ३०८।
२. ह०, १४–१०–'३९, पृ० ३०७।

६

सत्याग्रही नेताकी निर्णय-प्रक्रिया

सत्याग्रही नेता अहिंसक पद्धतियों द्वारा सत्यकी साधना करता है। उसका प्रमुख नैतिक सिद्धान्त यह है कि जो सत्य और अहिंसाके विरुद्ध है वह वर्ज्य है; किन्तु जब वह इस सिद्धान्तका जीवनकी वास्तविक परिस्थितियोंमें प्रयोग करता है और इस बातके निर्णयका प्रयत्न करता है कि सत्य और अहिंसाके विरुद्ध क्या है, तो उसके सामने कठिनाइयां आती हैं। कभी-कभी दो कर्तव्योंमें आन्तरिक विरोध होता है। इस आन्तरिक विक्षोभमें सत्याग्रही कर्तव्य-पथका निर्णय किस प्रकार करे? नैतिक संकटोंमें उसका अन्तिम पथ-प्रदर्शक कौन हो? क्या वह जनमतको अपने निर्णयका आधार बनावे या वह स्वयं अपने भरोसे रहे? और यदि वह स्वयं अपना कर्तव्य निश्चित करे, तो वह बुद्धिका सहारा ले या श्रद्धा और अन्तरात्माका?

जनमत

इस प्रश्न पर गांधीजीका मत उनके जीवनसे और लेखोंमें बिखरे हुए उनके विचारोंसे मिलता है। वे जनतन्त्रमें जनमतको उपयुक्त महत्त्व देते हैं। उनका विश्वास है कि जिन बातोंमें व्यक्तिगत धर्म या नैतिक सिद्धान्तोंके त्यागका प्रश्न नहीं उठता, उनमें सत्याग्रहीको जनमतके सामने झुकना चाहिए।[1] लेकिन नैतिक दृष्टिकोणसे प्राथमिक महत्त्वके मामलोंमें सत्याग्रहीको, जिसने नैतिक अनुशासनका अभ्यास किया है, अन्तिम निर्णय अपने-आप करना चाहिए। उसकी आत्मा नीति-निर्धारक सत्ताका स्थान है। उसकी विवेक-बुद्धि, जो ईश्वरकी आवाज है, प्रत्येक कार्य और विचारके नीति-संगत होनेकी अन्तिम निर्णायक है।[2]

बुद्धि और अन्तरात्मा

साधारण रीतिसे हमारे निर्णयोंमें बुद्धिका स्थान बहुत गौण और अधीनताका होता है। गांधीजीके शब्दोंमें, "... मनुष्यका अन्तिम पथ-प्रदर्शन बुद्धिसे नहीं, किन्तु हृदयसे होता है। हृदय निष्कर्षोंको स्वीकार कर लेता है और बुद्धि बादमें उनके लिए युक्ति खोजती है। तर्क विश्वासका

---

१. यं० इं०, भाग-१, पृ० २०७-०८।

२. नीति-धर्म, पृ० ४१।

अनुगामी होता है। मनुष्य जो कुछ करता है और करना चाहता है, उसके समर्थनमें कारण खोज लेता है।"[१] इस प्रकार वास्तविक जीवनमें वुद्धि भावनाके अधीन है। लेकिन गांधीजी वुद्धिको उचित महत्त्व देते हैं। उनका मत है कि "वुद्धिगम्य मामलोंमें जो तर्क-विरुद्ध है वह त्याज्य है।"[२] लेकिन वे वुद्धिके सर्व-शक्तिमान होनेके दावेको भी नहीं मानते। उनके अनुसार ऐसी भी वातें हैं, जिनमें वुद्धि हमें दूर तक नहीं ले जा सकती और हमें श्रद्धा पर आश्रित होना पड़ता है।

जैसा कि दूसरे अध्यायमें वताया गया है, आध्यात्मिक तत्त्वका ज्ञान केवल वुद्धि द्वारा नहीं, श्रद्धा द्वारा होता है। इस प्रकार नैतिक पथ-प्रदर्शनके लिए सत्याग्रही वुद्धिगम्य वातोंमें वुद्धि पर भरोसा कर सकता है; लेकिन सत्याग्रही आत्मशक्तिका उपयोग करता है और उसके महत्त्वपूर्ण निर्णयोंका आधार वुद्धि नहीं, किन्तु श्रद्धा और अन्तरात्मा ही होंगी। यद्यपि वुद्धि श्रद्धा और अन्तरात्माका स्थान नहीं ले सकती, परन्तु वह सत्याग्रहीको निर्णयका औचित्य परखनेमें और उसे दूसरों तक पहुंचानेमें सहायता करती है।

गांधीजीने कभी कभी यह वताया है कि उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण निर्णय कैसे किये। उन्हें ईश्वर या अन्तरात्मासे पथ-प्रदर्शन मिला। परन्तु उन्होंने तर्क द्वारा यह जांच लिया कि वह निर्णय, जिसकी उन्हें प्रेरणा मिली, ठीक था। इस प्रकार वे लिखते हैं:

"ठीक हो या गलत, मैं जानता हूं कि सत्याग्रहीके रूपमें प्रत्येक सोची जा सकनेवाली कठिनाईमें ईश्वरकी सहायताके अतिरिक्त मेरा अन्य कोई साधन नहीं और मैं यह विश्वास दिलाना चाहूंगा कि मेरे जो कार्य समझमें न आने जैसे लगते हैं, वे वास्तवमें आन्तरिक प्रेरणाओंके कारण हुए हैं।"[३]

"अपने जीवनमें जो भी महत्त्वपूर्ण कार्य मैंने किये हैं, उन्हें मैंने वुद्धिके सहारे नहीं, वरन् अन्तःप्रेरणाकी, मैं कहूंगा कि ईश्वरकी, प्रेरणासे किये हैं।"[४] सन् १९३४ में मेरी चेस्लेसे हुए अपने वार्तालापमें गांधीजीने कहा था कि उनका विश्वास है कि उन्हें पथ-प्रदर्शन ईश्वरकी ओरसे मिलता है और अक्सर मार्ग मिल जाने पर वे सचेत-रूपसे तर्क करते हैं कि वह मार्ग सर्वश्रेष्ठ क्यों है। इस प्रश्नके उत्तरमें कि "आप यह कैसे समझते हैं कि

---

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० ९३४।

२. ह०, ६–३–'३७, पृ० २६।

३. ह०, ११–३–'३९, पृ० ४६; साउथ अफ्रीका, पृ० ५।

४. ह०, १४–५–'३८, पृ० ११०।

आपके लिए ईश्वरका पथ-प्रदर्शन क्या है, जब कि दो अच्छी वस्तुओंमें से एकको चुननेका प्रश्न होता है?" उन्होंने कहा कि "इस विषयमें मैं अपनी बुद्धिका प्रयोग करता हूं और यदि मुझे दृढ़तासे ऐसा नहीं लगता कि दोमें से मैं किस एक वस्तुको चुनूं, तो मैं उसे यों ही छोड़ देता हूं; और शीघ्र ही एक दिन प्रातःकाल मैं पूरे निश्चयके साथ जागता हूं कि मेरा निर्णय क्या होना चाहिये, मुझे 'ख' नहीं किन्तु 'क' का चुनाव करना चाहिए।"[1]

इसी प्रकार सन् १९४१ में उन्होंने लुई फिशरको बताया था कि यद्यपि महत्त्वके मामलोंमें उन्हें पथ-प्रदर्शन श्रद्धा और अन्तःप्रेरणा द्वारा मिलता है, परन्तु वे उसका अनुसरण तब तक नहीं करते जब तक उनकी बुद्धि उसका समर्थन नहीं करती। उन्होंने यह भी बताया कि अपने उपवासोंमें उपवास प्रारम्भ करनेके पूर्व उनकी बुद्धिने उनकी अन्तःप्रेरणाका समर्थन किया है।[2]

गांधीजीके सब विख्यात निर्णय—सन् १९२२ का बारडोलीका निर्णय, सन् १९३० के नमक-सत्याग्रहका निर्णय और सन् १९४०-४१ का सत्याग्रह प्रारम्भ करनेका निर्णय, श्रद्धा पर आधारित थे। अन्तिम निर्णयके बारेमें गांधीजीने कहा था; "वह मेरी बुद्धिसे नहीं आया है। वह तो मेरे हृदयसे, जहां अन्तरतमका निवास है, आया है। उसीने यह निर्णय दिया है।"[3] सन् १९३४ में अपने उपवासोंकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था, "इन उपवासोंके लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूं।... ये उपवास केवल इसीलिए सह्य हैं, क्योंकि इनका आरोप मेरे ऊपर एक उच्चतर शक्ति द्वारा होता है और मुझे कष्ट-सहनकी क्षमता भी उसी शक्तिसे मिलती है।"

नेता और समुदाय

लेकिन अपूर्ण मनुष्य, उसने नैतिक अनुशासनका अभ्यास किया हो तो भी, सत्यको पूर्ण रूपसे नहीं जान सकता। इसलिए वह इस बातका दावा नहीं कर सकता कि उसे अचूक पथ-प्रदर्शन मिला है।[4] हो सकता है कि जिसे वह प्रेरणा मानता है वह उसकी भ्रान्ति हो; उसका अन्तर-ज्ञान प्रकाशहीन हो; उसकी बुद्धि उसे पथभ्रष्ट कर दे; उसकी भावनाएं, आशाएं और इच्छाएं कभी-कभी उसके निर्णयको दोषपूर्ण बना दें। तो क्या यह श्रेयस्कर न होगा कि सत्याग्रही महत्त्वकी बातोंमें भी जनमत पर, समाजकी सामूहिक बुद्धिमत्ता पर, आश्रित रहे?

---

१. बार, पृ० ११४–१५।

२. ह०, ४–८–'४६, पृ० २४६।

३. ह०, २२–९–'४०, पृ० २८९।

४. यं० इं० भाग २ [illegible]

गांधीजी इस मतको नहीं मानते। सत्याग्रहीको, जिसका ध्येय समाजका नैतिक नव-संस्करण करना है, परम्परागत औचित्य पर आधारित जनमतकी वाह्य मांगोंसे नहीं, स्वयं अपने आन्तरिक निर्णयसे परिचालित होना चाहिए। " . . . मनुष्य अपने-आप पर शासन करनेवाला जीव है, और स्वशासनमें आवश्यक रूपसे भूलें करनेकी शक्ति और जव-जव भूल हो जाय तव-तव उसे सुधारनेकी शक्ति सम्मिलित है।"[१] इसलिए, "सच्ची नैतिकताका अर्थ प्रचलित मार्गका अनुगमन नहीं, वल्कि अपने लिए सच्चा मार्ग खोजना और उस पर निडर होकर चलना है।"[२]

इसके अतिरिक्त " . . . अक्सर मनुष्य अनजाने की हुई भूलसे ही अनुचित वातको पहचानना सीखता है। दूसरी ओर अगर मनुष्य आन्तरिक प्रकाशके अनुसार चलनेमें जनमतके डरसे या ऐसे ही अन्य किसी कारणसे असफल हो, तो वह उचितको अनुचितसे भी अलग न कर सकेगा और दोनोंके भेदकी चेतनाको खो देगा। . . . अहिंसाके पथ पर . . . प्रायः मनुष्यको नितान्त अकेला ही चलना पड़ता है।"[३]

इस प्रकार महत्त्वपूर्ण मामलोंमें सत्याग्रही नेताको जनताका अनुगमन करनेसे इनकार कर देना चाहिए, नहीं तो वह विना लंगरके जहाजकी तरह भटकता फिरेगा। गांधीजी लिखते हैं, "मेरा विश्वास है कि (नेताओं द्वारा) केवल अपना विरोध-सूचक मत प्रदर्शित करना और जनताके मतके सामने आत्म-समर्पण करना केवल अपर्याप्त ही नहीं है, किन्तु महत्त्वपूर्ण वातोंमें नेताओंको उस जनमतके, जो उनको वुद्धिसंगत नहीं जंचता, विपरीत कार्य करना चाहिए"।[४] "जनसेवकके लिए जो वात महत्त्वकी होनी चाहिये वह है उसकी अन्तरात्माका अनुमोदन। जो अपनी अन्तरात्माकी अचूक शान्तिको छोड़कर सदा जनताको प्रसन्न करने और उसका अनुमोदन प्राप्त करनेका प्रयास करता रहता है, वह निर्देशन-रहित पोतकी भांति है। सेवा स्वयं अपना एकमात्र पुरस्कार होना चाहिए।"[५]

परन्तु गांधीजीके इस मतका अर्थ न तो जनतंत्र-विरोधी नेतृत्व है और न सत्ताकी अन्धपूजा। वे जानते हैं कि अनियंत्रित शक्ति मनुष्यको भ्रष्ट करती है। वे लिखते हैं, "मैं प्रकृति और प्रशिक्षण दोनोंसे जनतन्त्रवादी

---

१. यं० इं०, भाग–३, पृ० १५४।

२. नीति-धर्म, पृ० ३८।

३. यं० इं०, भाग–३, पृ० ८५८।

४. यं० इं०, भाग–१, पृ० २०९।

५. यं० इं०, ६–४–'३१, पृ० ७७।

होनेका दावा करता हूं।"[१] "मैं निरंकुश तंत्रसे घृणा करता हूं। मैं अपनी स्वाधीनता और स्वतन्त्रताको महत्त्व देता हूं और उतना ही उन्हें दूसरोंके लिए भी मूल्यवान मानता हूं। मुझे एक भी व्यक्तिको अपने साथ ले चलनेकी इच्छा नहीं है, यदि मैं उसकी बुद्धिको प्रभावित न कर सकूं।"[२]

गांधीजीके लिए व्यक्तिकी नैतिक स्वतन्त्रतामें समुदायोंकी नैतिक स्वतन्त्रता भी सन्निहित है। स्वयं गांधीजीका जीवन इस सिद्धान्तका उदाहरण है। उनकी आन्तरिक आवाज, जो इतिहासकी महान आत्माओंमें से एककी अन्तर्दृष्टि है, पन्द्रह सालकी अवस्थासे उनकी पथ-प्रदर्शक और संचालक रही है। अपने दीर्घकालीन नेतृत्वमें यद्यपि वे साधारण बातोंमें प्रायः जनमतको मानते थे, किन्तु प्रमुख सिद्धान्तोंके बारेमें वे सदा समझौतेके विरोधी थे। लेकिन उनका यह भी विश्वास था कि समुदायोंको सत्यका प्रयोग करने और भूलें करनेका उसी प्रकार अधिकार है जिस प्रकार व्यक्तिको है।[३] गिल्बर्ट मरे गांधीजीके अहिंसक नेतृत्वका वर्णन इन शब्दोंमें करते हैं, "उनका न तो कोई हठपूर्ण मत होता है, न कोई आज्ञा। उनकी प्रभावोत्पादक बात केवल हमारी आत्माके लिए पुकार होती है। वे जिसे सत्य समझते हैं, वही हमें प्रदर्शित करते हैं; लेकिन उन लोगोंकी न तो वे निन्दा करते हैं, और न उनका निराकरण करते हैं, जो प्रकाशकी खोज किसी दूसरे रास्तेसे करते हैं।"[४]

इस प्रकार गांधीजीके सत्याग्रही नेतृत्वके आदर्शमें दुर्बल, अवसरवादी नेताके लिए स्थान नहीं है, जो नेतृत्वकी रक्षाके लिए अपनी अन्तरात्माको बेच देता है और जनताका पथ-प्रदर्शन करनेके बजाय उसके पीछे चलता है। यदि मूलभूत सिद्धान्तों और अनुगामियोंके मतमें विरोध हो, तो सत्याग्रही नेताका स्पष्ट कर्तव्य है अपनी अन्तरात्माके आदेशको मानना और समुदायको अपना पथ निर्धारित करने देना।

अनुगामियोंकी वफादारीके सम्बन्धमें गांधीजी पश्चिमके जनतंत्रीय व्यवहारसे बहुत आगे बढ़े हुए हैं। वे इसके विरोधी हैं कि लोग प्रेमके कारण अन्धभक्तिसे नेताका अनुगमन करें। उनकी मांग है गम्भीर विश्वास पर आधारित आज्ञा-पालन। इसलिए सन् १९३४ में जब उन्हें प्रतीत हुआ कि कांग्रेसके बुद्धिशाली सदस्य, जो उनके प्रति वफादार और भक्तिपूर्ण थे, उनके साथ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर सहमत नहीं हैं, तो वे कांग्रेससे अलग हो गये, जिससे वे संस्था पर भार-स्वरूप न हो जायं, उनके कारण संस्थाका

---

१. ह०, २७–५–'३९, पृ० १३६।
२. यं० इं०, भाग–१, पृ० २०८।
३. स्पीचेज, पृ० ६०८।
४. राधाकृष्णन्: महात्मा गांधी, पृ० १९७-९८।

प्राकृतिक विकास न रुके और उसके सदस्य अपनी बुद्धिके अनुसार स्वतन्त्र रूपसे व्यवहार कर सकें।[१]

गांधीजीके अनुसार यदि स्पष्ट बहुमत भी सत्याग्रही नेताकी ओर हो, तो भी अल्पमतकी दृढ़तापूर्वक मानी हुई किसी रायकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि केवल संख्याशक्ति पर आधारित यह उपेक्षा एक प्रकारकी हिंसा है।[२]

सत्तावादी राज्योंमें नेतृत्वका सिद्धान्त गांधीजीके आदर्शके बिलकुल विपरीत है। इन देशोंमें नेतृत्वका सिद्धान्त है "ऊपरसे नीचेकी ओर अनियंत्रित सत्ता और नीचेसे ऊपरकी ओर असीम आज्ञाकारिता और उत्तरदायित्व।" आधुनिक युद्धवादी डिक्टेटर प्रचार-विशेषज्ञ नेता होता है। उसकी सत्ताका स्रोत जनताका गम्भीरतासे सोच-विचार कर दिया हुआ निर्णय नहीं होता; वह विरोधियोंके साथ बल-प्रयोग पर और जनताके सामान्य भय और घृणाको लगातार उकसाने पर निर्भर रहता है।

नेता और अहिंसक प्रतिरोधकारी

जब सत्याग्रही समुदाय अहिंसक प्रतिरोध प्रारम्भ करता है, तो नेताको डिक्टेटर (अधिनायक) की-सी सत्ता दे दी जाती है, समूहके आन्तरिक जनतंत्रमें कमी आ जाती है और सदस्योंके व्यक्तिगत निर्णयके अधिकार पर प्रतिबन्ध लग जाता है। सत्याग्रही समुदायके सदस्य नेताको और उसकी सम्पूर्ण प्रतिरोध-योजनाको स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं। लेकिन स्वीकृति बिना किसी मानसिक संगोपनके होनी चाहिए और अनुगामियोंको नेताके निर्णयमें पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए। उसका वचन ही विधान है और उसके अनुगामियोंको जी-जानसे उसकी आज्ञा माननी चाहिए। सैनिकोंकी तरह सत्याग्रही स्वयंसेवकोंको भी आज्ञाका कारण पूछनेका अधिकार नहीं; उनका कर्तव्य है जान लड़ाकर भी आज्ञा-पालन करना।

अहिंसक प्रतिरोधमें और हिंसात्मक युद्धमें सिपाहीकी स्थिति नेताके सम्बन्धमें लगभग एकसी है। जब तक वह सेनाका सदस्य है, फिर वह सेना हिंसात्मक हो या सत्याग्रही, उसे इस निर्णयका अधिकार नहीं कि जिस कामको करनेकी उसे आज्ञा मिली है उसको वह करेगा या नहीं?[३] यह निःसन्देह दबाव है, लेकिन नेता सत्याग्रही सिपाही पर उसकी इच्छाके विरुद्ध, उसे अपमानित

१. गांधीजीका १७ सितम्बर, १९३४ का वक्तव्य, हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० ९२२-३२।

२. यं० इं०, भाग—२, पृ० २१२।

३. यं० इं०, भाग—२, पृ० ११९१।

करनेके लिए या उसकी मनुष्योचित प्रतिष्ठा पर आघात करनेके लिए यह दवाव नहीं डालता। यह दवाव आत्म-नियंत्रण है, क्योंकि सत्याग्रही सिपाही स्वेच्छासे, आन्तरिक प्रेरणासे, सत्याग्रही अनुशासनको स्वीकार करता है और हिंसावादी सिपाहीके प्रतिकूल उसे सत्याग्रही समुदायको जव चाहे तव छोड़ देनेकी स्वतन्त्रता रहती है।

गांधीजी अहिंसक प्रतिरोधमें लगे हुए समुदायके नेताके निर्णय पर जनतंत्रात्मक प्रतिवन्ध क्यों नहीं रखते? इसका एक कारण तो यह है कि किसी भी प्रकारके युद्धमें सिपाहियोंके लिए अनुशासन अनिवार्य है। दूसरे, वहुतसे सत्याग्रहियोंके लिए अहिंसा कामचलाऊ नीतिकी वात होती है, न कि श्रद्धाकी। अत: उनके सामने सदा हिंसा और अहिंसाके चुनावका मौका रहता है और आवश्यकता पड़ने पर हिंसाके प्रयोगका प्रलोभन रहता है।[१] सत्याग्रही नेतामें यह कमी नहीं रहती; क्योंकि वह दुःखद आवश्यकता और दुर्वलताके कारण नहीं, परन्तु अपनी इच्छासे और नैतिक शक्तिके कारण अहिंसक है।

लेकिन सत्याग्रही नेताको चाहिए कि वह अपने अनुगामियोंकी वफादारी पर अनावश्यक दवाव न डाले। उसे चाहिए कि वह उनको तर्क द्वारा सन्तुष्ट करने और उनके हृदय और वुद्धिको अपने साथ ले चलनेका प्रयत्न करे। लेकिन यदि तर्क सन्तुष्ट न कर सके, तो अनुगामियोंको श्रद्धाका सहारा लेना चाहिए।[२]

नेताका आन्तरिक नियन्त्रण

लेकिन सत्यकी स्वतन्त्र शोधके लिए और अन्तरात्मा द्वारा ठीक पथ-प्रदर्शनके लिए सत्याग्रहीको वह शुद्धता प्राप्त करनी चाहिए, जो गांधीजीके शव्दोंमें "कठोरतम अनुशासनका प्रौढ़ परिणाम है।" यदि सत्याग्रहीको अपना विधि-निर्माता स्वयं वनना है, तो अनिवार्य शर्त यह है कि "उसे ईश्वरसे डरना होगा और इसलिए अपने हृदयको लगातार शुद्ध करते रहना होगा।"[३] सम्यक् पथ-प्रदर्शन प्राप्त करनेके लिए मनुष्यके हृदयको प्रेम, सत्य, शुद्धता, अपरिग्रह और निर्भयताके पांच आवश्यक नियमोंको अपना लेना होगा।[४] गांधीजीके अनुसार ईश्वरका पथ-प्रदर्शन प्राप्त करनेके लिए यह शर्त आवश्यक है कि मनुष्य अपने अहंको मिटा दे अथवा अपनेको शून्यमें परिवर्तित कर दे।

---

१. यं० इं०, २-२-'३०।

२. ह०, १०-६-'३९, पृ० १५८।

३. यं० इं०, भाग-३, पृ० १५४।

४. वार, पृ० ११५।

हम ऊपर शुद्ध करनेवाले अनुशासनका, जिसकी गांधीजीने व्यवस्था की है, विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। इस अनुशासनसे सत्याग्रहीके जीवनमें एक-रूपता आती है, उसकी अहिंसा गत्यात्मक हो जाती है और उसके अन्तर-ज्ञानमें निश्चितता आती है। उसमें उच्च अनुभूतिकी क्षमताका विकास होता है और आत्मशक्तिकी कार्य-पद्धति उसकी समझमें आने लगती है।

गांधीजी आध्यात्मिक विकासमें और सत्यके ज्ञानमें मौन, प्रार्थना और उपवासको बहुमूल्य सहायक बताते हैं। उनके अनुसार मौन सत्याग्रहीके आध्यात्मिक अनुशासनका एक अंग है। उनको प्रतीत होता था कि जैसे प्रकृतिने उनको मौनके लिए ही बनाया था। मौनके समय वे ईश्वरके साथ उत्तम रीतिसे सम्पर्क स्थापित कर सकते थे। इससे उनकी आत्माको आन्तरिक शान्ति मिलती थी। उनके अनुसार मौनमें आत्मा स्पष्टतर प्रकाशमें अपना मार्ग लेती है। साधकको एक स्वाभाविक मानवीय दुर्बलता पर विजय पानेके लिए भी मौन पालना आवश्यक है। यह दुर्बलता है जान-बूझकर या अनजानमें सत्यको दबाना या घटाना-बढ़ाना।

उपवास और प्रार्थना शरीर पर आत्माका आधिपत्य स्थापित करनेमें सहायक होते हैं और हमारी दृष्टिको परिष्कृत करते हैं। लेकिन उपवास और प्रार्थना तभी उपयोगी हो सकते हैं जब वे दिखावेके लिए यंत्रवत् न किये जायें। " . . . प्रार्थना धर्मका सार और उसकी आत्मा है और इसलिए प्रार्थना मनुष्य-जीवनका केन्द्र होनी चाहिए, क्योंकि धर्मके बिना कोई मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। . . . प्रार्थनाके बिना आन्तरिक शान्ति नहीं मिलती।"[१] शरीरके लिए जितना अनिवार्य भोजन है, उससे भी अधिक अनिवार्य आत्माके लिए प्रार्थना है। "क्योंकि कोई मनुष्य आवश्यकतासे अधिक भोजन तो कर सकता है, पर प्रार्थनाकी अधिकता कभी नहीं हो सकती।" "प्रार्थना व्यर्थका (श्लोकादि) दोहराना नहीं है और न उपवास शरीरको केवल भूखों मारना है। प्रार्थनाका स्रोत है ईश्वरको श्रद्धासे जाननेवाला हृदय; और उपवास है अशुभ या हानिकर विचार, कार्य अथवा भोजनसे अलग रहना।"[२] "हार्दिक प्रार्थना एक आन्तरिक आकांक्षा है, जिसकी अभिव्यक्ति मनुष्यके प्रत्येक शब्द, प्रत्येक कार्यमें ही नहीं, बल्कि प्रत्येक विचारमें भी होती है।"[३] उपवास मनुष्यकी प्रार्थनाको जीवित बनाता है और आत्माको ईश्वर-परायण बनाकर शान्ति देता है।[४] वास्तवमें उपवास सबसे सच्ची प्रार्थना

१. यं० इं०, २३–१–'३०, पृ० २५–२६।

२. ह०, १०–४–'३७, पृ० ६३।

३. यं० इं०, भाग–३, पृ० ९७६–७७।

४. गांधीजीका २३ अक्तूबर १९४४ का वक्तव्य।

है। विना उपवासके प्रार्थना नहीं हो सकती और ऐसा उपवास जो प्रार्थनाका अंग नहीं है केवल शरीरकी यातना ही है। इस प्रकारका उपवास तपस्या और आध्यात्मिक प्रयास है। इस प्रकार गांधीजी अपने २१ दिनके आत्मशुद्धिके लिए किये गये उपवासको, (जो ८ मई, १९३३ को आरम्भ हुआ था) "२१ दिनकी निरन्तर प्रार्थना" कहते हैं। प्रार्थनाका अंग होनेके लिए उपवासको अधिकतम व्यापक रूपवाला होना चाहिए। शरीरके उपवासके साथ साथ सव इन्द्रियोंका भी उपवास होना चाहिए। गांधीजी अल्प-भोजनको, जो सेवाके लिए शरीरके निर्वाह भरको पर्याप्त हो, शरीरका सतत उपवास मानते हैं।[1]

गांधीजीका जीवन प्रार्थना और उपवासकी संभावनाके अनुसंधानकी एक अनुपम कथा है। वे उपवासके विशेषज्ञ हैं। उपवास उनके जीवनका अविभाज्य अंग है और उसको उन्होंने यथाशक्ति एक विज्ञानमें परिणत कर दिया है।[2] गांधीजी प्रार्थनाको सवसे वड़ा अस्त्र मानते हैं।[3] सन् १९३१ में उन्होंने कहा था, "जैसे-जैसे समय वीतता गया ईश्वरमें मेरी श्रद्धा वढ़ती गयी और प्रार्थनाकी आंकाक्षा भी उतनी ही दृढ़ वनती गयी। प्रार्थनाके विना मुझे अपना जीवन नीरस और शून्य प्रतीत होता है।"[4] एक भी क्षण ऐसा नहीं होता था जव वे सर्वदर्शी साक्षीकी उपस्थितिका अनुभव न करते हों। उनका कोई भी कार्य विना प्रार्थनाके नहीं होता था। उन्हें ऐसा कभी नहीं लगा कि ईश्वर उनकी ओरसे उदासीन हो गया है। जव क्षितिज अधिकतम अन्धकारपूर्ण होता था, तव गांधीजी ईश्वरको निकटतम पाते थे। जव वे महत्त्वपूर्ण निर्णय करते थे तव उन्हे "धीमी शान्त आन्तरिक आवाज" स्पष्ट और ठीक सुन पड़ती थी। यह आन्तरिक पुकार ईश्वरकी आवाज थी। एक वार यह आवाज सुन लेने पर गांधीजी तुरन्त उसका पालन करते थे; उनके लिए निर्दिष्ट पथसे हटनेका तो कोई सवाल ही नहीं उठता था।

ईश्वरके निरन्तर ध्यानसे उनका जीवन इस प्रकारका वन गया था कि वे अनुभव करते थे कि उनके साधारण कार्य भी आत्म-प्रेरणाकी अभिव्यक्ति हैं।[5] वास्तवमें गांधीजी आत्माकी धुंधली, अस्पष्ट गतिकी अनुभूतिमें

---

१. वापूज लेटर्स टु मीरा, पृ० २४१–४२, २४५, २५४।

२. गांधीजीका २१–९–'३२ का वक्तव्य, हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० ९२३; यं० इं०, भाग–२, पृ० १२३।

३. ह०, ९–१२–'३९, पृ० ३७१।

४. नेगन्स वॉइस, पृ० १०२।

५. आत्मकथा, भाग–४, अ० ११, पृ० २४०।

प्रयत्नशील रहस्यवादी साधक हैं।[1] उन्हें विशुद्ध सत्यकी, विश्वात्माकी, पूर्ण अनु-
भूति नहीं होती — किसे होती है? — लेकिन दूर-दूरसे उसकी झलक वे
देखते हैं। इसी सफलताने उनको इतिहासके महानतम व्यक्तियोंकी पंक्तिमें
स्थान दिया है।

संक्षेपमें, नैतिक पथ-निर्धारण पर गांधीजीके विचार जनतंत्रीय नेतृत्वका
आदर्श उपस्थित करते हैं। वे अनियंत्रित शक्तिके अधःपतनकारी प्रभावको नहीं
भुलाते। इसीलिए वे सत्याग्रही नेता पर दोहरा — आन्तरिक और वाह्य —
प्रतिवन्ध लगाते हैं। वे नैतिक और आध्यात्मिक शुद्धता पर, आत्मानुशासन
पर जोर देते हैं। यह अनुशासन नेताकी नैतिक अनुपातकी भावनाको विकसित
करता है और उसे सत्यकी निडर साधना और सर्वश्रेष्ठ शक्ति, आत्मशक्ति,
के प्रयोगकी क्षमता देता है। गांधीजी इस वातके पक्षमें भी हैं कि अनुगा-

---

१. गांधीजीका विश्वास है कि उच्च प्रेरणाकी प्राप्तिकी आवश्यक शर्त
यह है कि, "आत्माकी एक ऐसी महान संकटपूर्ण स्थिति हो जाय कि आप
मानसिक दुःख और यंत्रणासे हिल उठें। उस संकट-कालमें या तो व्यक्तिकी
आत्मा अनन्त विश्वात्माकी ओर उठती है, या फिर उस भयंकर कष्टको
न सह पाकर पिछड़ती है और पार्थिव शरीरसे निकटतर सम्वन्ध स्थापित
करनेमें विश्राम ढूंढ़ती है। पहले विकल्पमें सत्यकी आवाज सुन पड़ती है,
दूसरेमें व्यक्ति जड़ जगत्से एकरूपता स्थापित करता है और अपने आचर-
णको उसीके अनुकूल वनाता है।" — कृष्णदास : सेवन मंथ्स विद महात्मा
गांधी, भाग–१, पृ० ४००–०१।

सन् १९४०-४१ के सत्याग्रह आन्दोलनके निर्णयके सम्वन्धमें भी
गांधीजीने कहा था, "असीम यातनाके वाद उसकी उत्पत्ति हुई थी।" ह०,
२२–९–'४०, पृ० २२९।

अपने "ईश्वरके अनुभव" की चर्चा करते हुए, जिसने उन्हें प्रलोभनके
भयसे मुक्त किया, एक वार उन्होंने कहा था, "फिरसे जन्म होनेका यह अनुभव
वही है जिसका वर्णन ईसाई लोग ईसामें अपने विश्वासके सम्वन्धमें करते हैं;
अर्थात् ऐतिहासिक ईसामें नहीं परन्तु एक ऐसे रहस्यात्मक सम्वन्धमें, जो अनुभव
करके ही समझा जा सकता है। इस फिरसे जन्म होनेका अर्थ है ईश्वरको
पितारूपमें जानना. और इससे भयका निराकरण होता है। . . . महान पीड़ाके
द्वारा ही ऐसा वना जा सकता है, परन्तु वादमें नवीन जन्मके हर्षमें सव
पीड़ा भूल जाती है।" वार, पृ० १०८।

गांधीजीका यह भी मत है कि "ऐसी विनम्रता, जिसके कारण मनुष्य
अपनेको ईश्वरके सामन शून्यवत् समझता है, रहस्यात्मक अनुभवके लिए
आवश्यक है।" वार, पृ० ११४।

मियोंकी आज्ञाकारिता विवेकपूर्ण होनी चाहिए और इस आज्ञाकारिताको उनके व्यक्तिगत निर्णय और अन्तरात्मा पर आधारित होना चाहिए। स्वतंत्रता और न्यायको सत्तावादकी विजयसे वचानेके लिए और शान्ति तथा जनतन्त्रकी रक्षाके लिए निस्संदिग्ध रूपसे ईमानदार नेता और जनतामें साहसपूर्ण, जागरूक, नागरिकताकी भावना नितान्त आवश्यक है।

७

सत्याग्रह — जीवन-मार्गके रूपमें

ऊपर वर्णित शुद्ध करनेवाले अनुशासनका ध्येय है व्यक्तिको सत्याग्रहके प्रयोगके लिए तैयार करना।

सत्याग्रहका अर्थ

सत्याग्रह शब्द गांधीजीने दक्षिण अफ्रीकामें वहांकी सरकारके विरुद्ध भारतीयोंके अहिंसक प्रतिरोधके सच्चे रूपका परिचय करानेके लिए गढ़ा था। वे विशेष रूपसे सामुदायिक सत्याग्रही प्रतिरोध और निष्क्रिय प्रतिरोध या पैसिव रेजिस्टेन्सके अन्तरको स्पष्ट करना चाहते थे।

प्रचलित भाषामें सत्याग्रह अहिंसात्मक प्रतिरोधके साथ समीकृत किया जाता है; लेकिन सत्याग्रह केवल अहिंसक प्रतिरोधके विभिन्न रूपों — असहयोग, सविनय अवज्ञा, उपवास, धरना इत्यादि — तक ही सीमित नहीं है। सत्याग्रह अहिंसात्मक प्रतिरोधसे कहीं अधिक व्यापक है। सत्याग्रहका शाब्दिक अर्थ है सत्य (जिसके अन्दर अहिंसा भी सम्मिलित है) को मानकर किसी वस्तुके लिए आग्रह करना, अथवा सत्य और अहिंसासे उत्पन्न होनेवाला बल।[१] सर्वोच्च सत्य है आध्यात्मिक एकता और उसकी उपलब्धिका एकमात्र मार्ग है अहिंसक होना, अर्थात् सबसे प्रेम करना और सबके लिए कष्ट सहना। इसीलिए गांधीजीके अनुसार सत्याग्रह आत्मशक्ति या प्रेमशक्तिका पर्याय-वाची है। इस प्रकार सत्याग्रह अहिंसक साधनों द्वारा सच्चे ध्येयकी साधना है। वह "प्रतिपक्षीको कष्ट देकर नहीं, स्वयं कष्ट सहकर सत्यकी रक्षा है।"[२] सत्याग्रह सत्यके लिए तपस्या है।[३] इस व्यापक अर्थमें सत्याग्रहमें सब विधायक

---

१. दक्षिण अफ्रीका (पूर्वार्द्ध), पृ० १७३-७४; आत्मकथा, भाग-४, अ० २६।

२. स्पीचेज, पृ० ५०१।

३. यं० इं०, भाग-२, पृ० ८३८।

सुधारों और संवैधानिक सेवाके कार्योंका समावेश हो जाता है। इस अर्थमें सत्याग्रह संवैधानिक पद्धतियोंका भी निराकरण नहीं करता। वास्तवमें गांधीजी अहिंसक प्रतिरोधको नागरिकका संवैधानिक अधिकार मानते हैं।[1]

सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध

सत्याग्रहको, विशेषकर उसकी दो प्रमुख शाखाओं — असहयोग और सविनय अवज्ञाको इस शताब्दीके प्रारंभमें इंग्लैण्डमें हुए निष्क्रिय प्रतिरोध (पैसिव रेजिस्टेन्स) आन्दोलनके साथ नहीं मिलाना चाहिए। दक्षिण अफ्रीकामें स्वयं गांधीजीने 'निष्क्रिय प्रतिरोध' शब्दका प्रयोग सत्याग्रहके अर्थमें किया था। 'हिन्द स्वराज्य' के अंग्रेजी संस्करणके १७ वें अध्यायका — जिसमें वास्तवमें सत्याग्रहका वर्णन है — शीर्षक 'पैसिव रेजिस्टेन्स' है। लेकिन सन् १९०९ में ही गांधीजी यह जानते थे कि 'पैसिव रेजिस्टेन्स' सत्याग्रहका अधिक प्रचलित परन्तु प्रेमशक्ति या आत्मशक्तिसे कम शुद्ध वर्णन है।[2] बादमें गांधीजी सत्याग्रह और पैसिव रेजिस्टेन्स (निष्क्रिय प्रतिरोध) में स्पष्ट भेद करने लगे।

सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध दोनों आक्रमणका सामना करनेकी, झगड़ोंको निपटानेकी और सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तनोंकी पद्धतियां हैं। लेकिन इन दोनोंमें मूलभूत अन्तर है। भेदका कारण यह है कि पैसिव रेजिस्टेन्स[3] — जिस रूपमें इंग्लैण्डमें वोटका अधिकार मांगनेवाली स्त्रियों और उग्र मतवाले नॉन-कन्फार्मिस्ट ईसाइयोंने और फ्रान्सीसियोंके विरुद्ध रूर प्रदेशके जर्मनोंने उसका प्रयोग किया था — कामचलाऊ राजनैतिक शस्त्र है। दूसरी ओर सत्याग्रह नैतिक अस्त्र है और उसका आधार है शरीर-शक्तिकी अपेक्षा आत्मशक्तिकी श्रेष्ठता। पैसिव रेजिस्टेन्स दुर्बलका शस्त्र है; जब कि सत्याग्रहका प्रयोग वे वीर ही कर सकते हैं, जिनमें बिना मारे मरनेका साहस है। पैसिव रेजिस्टेन्समें उद्देश्य होता है प्रतिपक्षीको इतना परेशान करना कि वह हार मान ले; सत्याग्रहका उद्देश्य है प्रेम और धैर्यपूर्वक कष्ट सहन करके

---

१. देखिये पुस्तकका अध्याय १०।

२. हिन्द स्वराज (अं.), पृ० ६५।

३. अंग्रेजी भाषामें पैसिव रेजिस्टेन्स (निष्क्रिय प्रतिरोध) का लगभग समानार्थक शब्द नॉन-रेजिस्टेन्स (अप्रतिरोध) है। किन्तु सी० एम० केस के अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध और अप्रतिरोधमें भेद है। अप्रतिरोध समर्पण कर देनेकी और निष्क्रिय कष्ट-सहनकी मनोवृत्ति है, जब कि निष्क्रिय प्रतिरोध अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय और आक्रमणशील है। देखिये, केस : नॉन-वायोलेन्ट कोअर्शन, पृ० ५१।

विरोधीका हृदय-परिवर्तन करना और उसकी भूल सुधारना। पैसिव रेज़िस्टेन्समें विरोधीके लिए प्रेमकी गुंजाइश नहीं; सत्याग्रहमें घृणा, दुर्भावना इत्यादिके लिए कोई स्थान नहीं। इस प्रकार "सत्याग्रह गत्यात्मक है, पैसिव रेज़िस्टेन्स स्थित्यात्मक है। पैसिव रेजिस्टेन्स निषेधात्मक रूपसे कार्य करता है और उसका कष्ट-सहन अनिच्छापूर्वक और निष्फल होता है; सत्याग्रह विधायक रूपसे कार्य करता है, प्रेमके कारण प्रसन्नतासे कष्ट सहन करता है और कष्ट-सहनको फलप्रद बनाता है।"[1] यद्यपि पैसिव रेज़िस्टेन्स और हिंसामें भेद किया जाता है और पैसिव रेजिस्टेन्स हिंसासे सामान्य रूपसे दूर रहता है, क्योंकि दुर्बल व्यक्ति हिंसाका प्रयोग नहीं कर सकता, फिर भी पैसिव रेज़िस्टेन्स उचित अवसर पर हिंसात्मक उपायोंके प्रयोगके विरुद्ध नहीं है; दूसरी ओर सत्याग्रह किसी भी रूपमें, अनुकूलतम परिस्थितिमे भी, हिंसाके प्रयोगकी आज्ञा नहीं देता। सत्याग्रहके विपरीत पैसिव रेज़ि-स्टेन्सका प्रयोग हिंसात्मक क्रान्तिके पूरकके रूपमें या प्राथमिक रूपमें हो सकता है। पैसिव रेजिस्टेन्समें आन्तरिक शुद्धताका अभाव है, सत्याग्रहकी तरह वह साधनोंकी शुद्धताको आवश्यक नही मानता और प्रयोग करने-वाले व्यक्तियोंके चरित्रकी नैतिकताकी उपेक्षा करता है। दूसरी ओर, सत्या-ग्रहमे उद्देश्य-सिद्धि और सत्याग्रहीके आन्तरिक सुधारमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। पैसिव रेजिस्टेन्सका प्रयोग सार्वभौम नहीं हो सकता। उदाहरणके लिए, सत्या-ग्रहकी तरह उसका प्रयोग अपने घनिष्ठ सम्बन्धियोंके विरुद्ध नहीं हो सकता। दुर्बलता और निराशाकी भावनासे प्रयुक्त पैसिव रेजिस्टेन्स नैतिक दुर्बलताको बढ़ाता है, दूसरी ओर सत्याग्रह सदा आंतरिक शक्ति पर जोर देता है और वास्तवमें उसका विकास करता है। पैसिव रेज़िस्टेन्सकी अपेक्षा सत्याग्रह अन्याय और अत्याचारका अधिक प्रभावशाली और निश्चित विरोध है। लेकिन पैसिव रेज़िस्टेन्स (निष्क्रिय प्रतिरोध) वास्तवमें निष्क्रिय नहीं होता, क्योंकि प्रतिरोध सदा सक्रिय होता है।[2]

सारे संसारमें और प्रत्येक कालमे अहिंसा ही घरेलू झगड़ोंको निपटानेकी पद्धति रही है। गांधीजीने घरेलू जीवनके इस नियमका प्रयोग सामूहिक जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें किया है। अपने अनुसन्धानों द्वारा उन्होंने सत्या-ग्रहको 'युद्धका नैतिक समतुल्य' और सामूहिक झगड़ोंको निपटानेकी पद्धति बना दिया है।

---

१. ह०, २५–६–'३८, पृ० १६४, महादेवभाई देसाईका नोट।

२. आत्मकथा, भाग–४, अ० २६; यं० इं०, भाग–१, पृ० २२२; स्पीचेज, पृ० ५०१; दक्षिण अफ्रीका, अ० ११; ह०, १४–५–'३८, पृ० १११; ह०, २५–६–'३८, पृ० १६४।

व्यक्तिगत जीवन और सत्याग्रह

लेकिन आत्मशक्ति होनेके कारण सत्याग्रह "मार्ग, सत्य और जीवन" है। झगड़ोंको निपटानेके अतिरिक्त सत्याग्रहका उपयोग जीवनके अन्य कार्योंमें भी हो सकता है। अहिंसाका प्रयोग दैनिक जीवनमें माता-पिता, बच्चों, मित्रों, अपराधियों और मानवेतर सृष्टिके प्रति भी हो सकता है। गांधीजी कहते हैं, "वह (अहिंसा) ऐसी शक्ति है, जिसका उपयोग व्यक्तियों और समुदायों दोनोंके द्वारा हो सकता है। उसका उपयोग राजनैतिक मामलोंमें उसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार घरेलू मामलोंमें। उसका सार्वभौम उपयोग उसके स्थायी और अजेय होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण है।"[१] "मेरे लिए सत्याग्रहका नियम, प्रेमका नियम, एक शाश्वत सिद्धान्त है। मैं उन सबके साथ, जो शुभ हैं, सहयोग करता हूं। मेरी इच्छा उस सबके साथ असहयोग करनेकी है, जो अशुभ है, चाहे उसका सम्बन्ध मेरी स्त्रीके साथ हो, मेरे पुत्रके साथ हो या मेरे अपने साथ हो।"[२]

वे इससे भी आगे जाते हैं और कहते हैं कि यदि हम संगठित अहिंसाको सामुदायिक झगड़ोंमें वास्तवमें कारगर बनाना चाहते हैं, तो हमें अहिंसाका व्यवहार अपने दैनिक जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें करना होगा।[३] यदि हमारी अहिंसा सच्ची है, तो उसे हमारे साधारण जीवनका अंग होना चाहिए; उसे हमारे विचार, शब्द और कार्यमें प्रकट होना चाहिए और हमारे सम्पूर्ण व्यवहारको प्रभावित करना चाहिए।[४] इस प्रकार उन्होंने सन् १९३५ में लिखा, "अहिंसाको जीवन-सिद्धान्त बननेके लिए सर्व-व्यापक होना चाहिए। मैं अपने एक कार्यमें अहिंसक और दूसरेमें हिंसक नहीं हो सकता।"[५] उन्हें लगता है कि संभव है राजनीतिमें अहिंसा आवश्यकताके कारण स्वीकृत सद्गुण और कायरताका आवरण हो। सरकारके प्रति तो जनताको मजबूरन् अहिंसाका सहारा लेना पड़ता है। इसीलिए जब अहिंसाका प्रयोग केवल सरकारके साथ नहीं, बल्कि जीवनके दूसरे क्षेत्रोंमें भी किया जाय—घरेलू और सामाजिक सम्बन्धोंमें भी, जहां हमें हिंसा और अहिंसामें चुनाव करनेकी बराबर सुविधा है—तभी यह कहा जा सकता है कि अहिंसा केवल कामचलाऊ नीति नहीं है।[६] यही कारण है कि गांधीजीके अनुसार दानशीलताकी तरह

१. यं० इं०, भाग–३, पृ० ४४४।
२. यं० इं०, भाग–२, पृ० १०५४।
३. ह०, २९–६–'४०, पृ० १८१।
४. ह०, २१–७–'४०, पृ० २१०।
५. ह०, १२–१०–'३५, पृ० २७६।
६. ह०, १९–११–'३८, पृ० ३३६–३७।

अहिंसाका प्रारम्भ घरसे होना चाहिए। वे कहते हैं, "अहिंसाकी वर्णमाला उत्तम ढंगसे घरेलू पाठशालामें सीखी जा सकती है और मैं अनुभवसे कह सकता हूं कि यदि हम वहां सफलता प्राप्त कर लें, तो सब जगह हमारी सफलता निश्चित है। अहिंसक मनुष्यके लिए सारा संसार कुटुम्ब है।"[१] गांधीजीका मत है कि सार्वजनिक सत्याग्रह व्यक्तिगत या घरेलू सत्याग्रहका प्रसार या विस्तृत रूप है। और सार्वजनिक सत्याग्रहको उसी प्रकारके घरेलू मामलेकी कल्पना करके परखना चाहिए।[२]

जब तक अहिंसाको व्यक्तियोंके हृदयमें स्थान देनेका प्रयास न हो, तब तक उसे सामुदायिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंमें प्रतिष्ठित करनेका प्रयास व्यर्थ है। सत्याग्रहीके व्यक्तिगत जीवनकी हिंसा अपूर्ण अनुशासनका लक्षण है। उस हिंसासे ज्ञात होता है कि सत्याग्रही सत्याग्रहके मूलभूत सिद्धान्त — सबके साथ आध्यात्मिक आत्मीयताकी उपेक्षा करता है। वह इस बातका निश्चित चिह्न है कि सत्याग्रही नैतिक विकास और आत्म-नियंत्रणके उस स्तर तक नहीं पहुंचा है, जहां हिंसा असह्य हो जाती है। मानव-जीवन अविभाज्य समग्रता है, इसलिए सत्याग्रहीके व्यक्तिगत जीवनकी हिंसा सत्याग्रही समुदायके सदस्यकी हैसियतसे किये गये उसके व्यवहारमें अवश्य प्रदर्शित होगी।

यदि कोई व्यक्ति अहिंसाको केवल सार्वजनिक क्षेत्रमें स्वीकार करता है, तो इसका अर्थ है कि उसकी अहिंसा दुर्बलकी अहिंसा है, वह अहिंसाको केवल कामचलाऊ नीतिकी तरह स्वीकार करता है और इस नीतिको वह भारी कठिनाइयों या बड़े प्रलोभनोंके कारण बदल सकता है। यह असमंजसकी मनोवृत्ति है और व्यक्तिके अच्छा सिपाही बननेमें बाधक होती है; क्योंकि सिपाही, अहिंसाका सिपाही भी, अजेय शक्तिसे तभी लड़ता है, जब उसने दूसरे विकल्प पूरी तरह छोड़ दिये हों। इसलिए गांधीजीकी राय यह है कि "जब तक अहिंसा मानी जाय तब तक उसे सर्व-प्रथम स्थान देना चाहिए। तभी वह अजेय हो सकती है। नहीं तो वह केवल दिखावा और शक्तिहीन वस्तु होगी।"[३]

गांधीजीके अनुसार यदि अहिंसा, सच्ची व्यापक अहिंसासे भिन्न, कामचलाऊ शस्त्रकी भांति स्वीकार की जाय, तो उससे भारत जैसे पराधीन देशको राजनैतिक स्वतन्त्रता मिल सकती है। लेकिन राजनैतिक स्वतन्त्रता जनतंत्रवादका बाह्य आकार या गांधीजीके शब्दोंमें 'यांत्रिक जनतंत्र' या 'पार्लमेंटरी स्वराज्य' होगी, न कि अहिंसात्मक स्वराज्य या सिद्धान्तकी तरह स्वीकृत जनतंत्रवाद।

---

१. ह०, २७–७–'४०, पृ० २१४।
२. यं० इं०, भाग–२, पृ० ८२१।
३. ह०, २४–६–'३९, पृ० १७४।

क्योंकि जब अहिंसा कामचलाऊ नीतिकी भांति स्वीकार की जाती है, तो उसका अर्थ होता है "जहां तक लाभदायक हो वहां तक अहिंसा और जब आवश्यक हो तो हिंसा।" हिंसाका अर्थ है मनुष्योंको साधनमात्र समझकर उनका प्रयोग। इस प्रकार दुर्बलकी अहिंसा अर्थात् कामचलाऊ नीतिकी भांति ग्रहण की हुई अहिंसा जनतंत्रवादके मूलभूत सिद्धान्तका निषेध है। यह सिद्धान्त है — मनुष्योंमें छोटे-से-छोटेका असीम नैतिक मूल्य है। दूसरी ओर, वीर मनुष्यकी अहिंसा सब मनुष्योंकी समतामें विश्वास करती है। वह दूसरोंके अधिकारोंमें हस्तक्षेप नहीं करती और उनको उन्नतिका पूरा अवसर देती है। अधकचरी अहिंसा द्वारा प्राप्त स्वराज्यके बाद शक्तिप्राप्तिके लिए सामान्य रूपसे प्रचलित आंतरिक छीना-झपटी अनिवार्य है। इस प्रकारके स्वराज्यसे शक्ति और स्वतन्त्रता दुर्बलों और निर्धनोंके हाथमें नहीं आएगी और यह स्वराज्य सच्चा जनतंत्र न होगा। इसलिए गांधीजीका मत है कि दुर्बलकी अहिंसा हमें सच्ची स्वतंत्रताके ध्येय तक कभी न पहुंचा सकेगी और "यदि उसका बहुत दिनों तक व्यवहार हुआ तो वह हमें स्व-शासनके अयोग्य भी बना सकती है।"[१]

यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि लगभग २० वर्ष पहले तक गांधीजी इस बात पर जोर नहीं देते थे कि सत्याग्रही अहिंसाको सिद्धान्तकी तरह माने। शायद अपने आदर्शकी सिद्धिके लिए वे दूसरोंके सहयोगका यह मूल्य चुका रहे थे। उन्हें आशा थी कि व्यावहारिक नीतिकी तरह अहिंसाका अभ्यास धीरे-धीरे लोगोंको उसे सिद्धान्तकी भांति स्वीकार करनेके लिए तैयार करेगा। लेकिन यह साधनोंकी शुद्धताके साथ समझौता था। उन्हें अनुभवसे ज्ञात हुआ कि यह उनकी भूल थी और तब सत्याग्रहीसे उनकी मांग हो गई अहिंसाके सिद्धान्त पर दृढ़ और अटल श्रद्धा।

ऐतिहासिक दृष्टिसे भी व्यक्तिगत जीवनमें अहिंसाका उपयोग उसका सामूहिक पद्धतिके रूपमें विकास होनेके बहुत पहले प्रारम्भ हुआ था। गांधीजी भी राजनैतिक क्षेत्रमें अहिंसाके संगठित उपयोगके पहले अपने व्यक्तिगत जीवनकी विभिन्न परिस्थितियोंमें उसके उपयोगका व्यापक अनुभव प्राप्त कर चुके थे। बचपनमें ही सत्य और अहिंसाके पाठ उनके मन पर अंकित हो गये थे और वे इन नियमोंके अनुसार अपने जीवनको गढ़ने लगे थे। वह वातावरण, जिसमें उनका पालन-पोषण हुआ था, अहिंसाकी वैष्णव और जैन परम्परासे ओतप्रोत था। उनकी सन्ततुल्य मां व्रतों और उपवासोंके अनुशासनपूर्ण जीवनका आदर्श थीं और उनके असाधारण रूपसे वीर सत्यनिष्ठ पिताने अहिंसक प्रतिरोधका जीवित दृष्टान्त उनके

---

१. ह०, १३–७–'४०, पृ० १९७।

सामने रखा था।[१] श्रीमती कस्तूरबा भी गांधीजीके इस विकासमें उनके प्रति अहिंसक प्रतिरोधका व्यवहार करके सहायक हुई थीं। गांधीजी उनकी प्रशंसा इन शब्दोंमें करते हैं, "मैंने अहिंसाका पाठ अपनी स्त्रीसे तब पढ़ा, जब मैंने उसे अपनी इच्छानुसार मोड़नेका प्रयत्न किया। एक ओर मेरी इच्छाशक्तिके प्रति उसके दृढ़ प्रतिरोधने और दूसरी ओर उसके द्वारा मेरी मूर्खतासे होनेवाले कष्टकी मूक स्वीकृतिने अन्तमें मुझे लज्जित कर दिया और मेरे इस मूर्खतापूर्ण विचारको दूर कर दिया कि मेरा जन्म उसके ऊपर शासन करनेको हुआ था; और अन्तमें वह मेरी अहिंसाकी शिक्षिका बन गई। मैंने जो कुछ दक्षिण अफ्रीकामें किया वह सत्याग्रहके उस नियमका प्रसार था, जिसका उसने व्यक्तिगत रीतिसे अनिच्छापूर्वक व्यवहार किया था।"[२]

गांधीजीका सम्पूर्ण जीवन ऐसे प्रयोगोंसे भरा है, जिनसे प्रकट होता है कि किस प्रकार सत्य और अहिंसासे मनुष्य जीवनकी जटिल समस्याओंको हल कर सकता है। सत्य और प्रेम तथा शान्त, मौन कष्ट-सहन द्वारा और जब-जब आवश्यकता हुई तब निडरतासे हिंसाके मुखमें जाकर उन्होंने बहुतसे प्रतिपक्षियोंका हृदय-परिवर्तन किया और उनकी उच्च भावनाओंके विकासमें वे सहायक हुए। जब कभी वे अपनी कोई भूल जान पाते थे, तब तुरन्त उसे स्पष्ट रूपसे स्वीकार कर लेते थे और उसका उचित संशोधन करते थे। उनकी आत्मकथा और दूसरे लेख ऐसे सृजनात्मक अनुभवोंसे ओतप्रोत हैं, जिन्होंने उनके चरित्रको गढ़ा और उनके तत्त्व-दर्शनको प्रभावित किया। यदि गांधीजीने अपने व्यक्तिगत जीवनमें बाल्यकालसे ही प्रेमके नियमकी प्रक्रियाका दीर्घकालीन अनुभव प्राप्त न किया होता, तो वे सत्याग्रहका शक्तिशाली अस्त्रके रूपमें विकास करके उसे विशाल जन-समुदायों द्वारा प्रयोग किये जाने योग्य नहीं बना पाते।

सत्याग्रह और व्यक्तिगत झगड़े

अहिंसाको जीवन-नियमके रूपमें स्वीकार करनेका अर्थ है कि व्यक्तिको दूसरोंके सम्बन्धमें, विशेष रूपसे जब वह बुराई और अन्यायका प्रतिरोध करता है, अहिंसक होना चाहिए। सत्याग्रहीकी अहिंसाकी परख संघर्षकी उत्तेजना और व्यग्रतामें होती है। दूसरोंके अन्यायका विरोध करनेसे पहले

---

१. आत्मकथा, भाग–१, अ० १।

२. राधाकृष्णन्के 'महात्मा गांधी' में ह्वायलैंड द्वारा उद्धरित। श्रीमती कस्तूरबाके एक प्रतिरोधके दृष्टान्तके लिए देखिये आत्मकथा, भाग–४, अ० १०।

उसे अपने जीवनमें अन्याय दूर करनेका भरसक प्रयत्न करना चाहिए। अपने दोषोंकी आन्तरिक खोजमें ही अहिंसाका प्रारम्भ और अन्त है।[१] बाह्य परिस्थितिमें सुधार सत्याग्रहीकी आंतरिक दशा सुधरनेके बाद ही हो सकता है। यदि दूसरोंके अन्यायके विरुद्ध सत्याग्रहका सफल उपयोग करना है, तो उससे पहले उसका उपयोग अपनी भूलों और कमजोरियोंके विरुद्ध करना होगा। इसका अर्थ है अहिंसक मूल्योंका बुद्धिमत्तापूर्ण अभ्यास। यह आत्मानुशासन, जिसमें भावनाओं और विचारोंके नियन्त्रणका समावेश होता है, सत्याग्रहीमें अजेय आंतरिक शक्ति या आत्मशक्ति विकसित करता है।

गांधीजी पूर्ण आत्मानुशासन या निरपेक्ष अहिंसाकी व्यवस्था नहीं करते। वह इस संसारमें असम्भव है। वे पूर्णता पर नहीं, पूर्णताकी ओर अग्रसर होनेके प्रयत्न पर जोर देते हैं। उनका विश्वास निरन्तर प्रयत्नशीलतामें है। सत्याग्रहीको अपने सामने वीरोंकी अहिंसाका आदर्श रखना चाहिए। उसे सदा इस विषयमें जागरूक रहना चाहिए कि उसकी अहिंसा बिगड़ कर कायरता न बन जाय। कायरतासे बचकर उसे यथाशक्ति आदर्श तक पहुंचनेका प्रयत्न करना चाहिए।

मानव-समाजमें सदा महत्त्वपूर्ण मतभेद रहेंगे और कभी-कभी ये मतभेद झगड़ोंको जन्म देंगे। जहां तक झगड़ोंके निपटारे और अन्यायके प्रतिरोधके अहिंसक मार्गका सम्बन्ध है, प्रायः सत्याग्रहीके सामने कठिन समस्याएं आती हैं, जो सत्याग्रहीके पथको कठिन बना देती हैं। सत्याग्रहीको धैर्यवान और साहसी होना चाहिए और संकटोंका सामना करनेको तैयार रहना चाहिए तथा उसमें अनुसन्धान-वृत्ति, उपक्रम और साधनोंके सदुपयोगकी क्षमता होनी चाहिए। यह जाननेके लिए कि किसी परिस्थिति-विशेषमें वह किस प्रकार व्यवहार करे, उसे अपनी विवेक-बुद्धि पर निर्भर रहना होगा। लेकिन इस अध्यायमें व्यक्तिगत झगड़ोंमें अहिंसक प्रतिरोध-सम्बन्धी कुछ सामान्य प्रश्नों पर गांधीजीके विचारोंका संक्षिप्त वर्णन अनुपयुक्त न होगा। सामुदायिक और व्यक्तिगत सम्बन्धोंके अहिंसक प्रतिरोधकी सीमारेखा स्पष्ट रूपसे नहीं खींची जा सकती। व्यक्तिगत प्रतिरोधके सिद्धान्त सामूहिक प्रतिरोधमें भी लागू होते हैं। इन सिद्धान्तोंके अतिरिक्त, सामूहिक प्रतिरोधमें पर्याप्त संगठन और अनुशासन पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देनेकी आवश्यकता है। व्यक्ति अहिंसक प्रतिरोधका उपयोग व्यक्तियों या समुदायके विरुद्ध कर सकता है। लेकिन सामान्य रूपसे जब किसी व्यक्ति द्वारा सत्याग्रहका उपयोग किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर किसी प्रभावशाली समुदायके विरुद्ध किया जाता है, तो यह सत्याग्रह सामूहिक प्रतिरोधमें परिणत हो जाता है।

---

१. ह०, २०-४-'४०, पृ० ९८।

अवसर

सत्याग्रही आवश्यक रूपसे शान्तिप्रिय होता है। वह बैठा-बैठा झगड़े नहीं मोल लेता। गांधीजीके शब्दोंमें, "सत्याग्रहकी यही खूबी है। वह खुद हमारे पास चला आता है। उसे हमें खोजने नहीं जाना पड़ता। यह गुण उसके सिद्धान्तमें ही समाया हुआ है। जिसमें कोई बात छिपाई नहीं जाती, किसी तरहकी चालाकी नहीं रहती और जिसमें असत्यकी तो गुंजाइश ही नहीं होती, ऐसा धर्मयुद्ध अनायास ही आता है और धर्मनिष्ठ मनुष्य उसके स्वागतके लिए हमेशा तैयार रहता है। पहलेसे जिसकी रचना करनी पड़े वह धर्मयुद्ध नहीं है।"[१] सत्याग्रही समाज-सेवा द्वारा आत्मानुभूतिमें प्रयत्नशील रहता है। जब उसके मार्गमें रुकावट पड़ती है, उसकी संवेदनशील विवेक-बुद्धिको कोई बात अन्यायपूर्ण जंचती है और उसे आंतरिक प्रेरणा होती है, तब वह सत्याग्रहका उपयोग उस बाधाको हटानेके लिए करता है। सत्याग्रहका उपयोग केवल समाजके हितके लिए हो सकता है; व्यक्तिगत लाभके लिए कभी नहीं हो सकता।[२] जो मनुष्य व्यक्तिगत हानि-लाभकी भावनासे ऊपर नहीं उठ सकता, वह सत्याग्रही होनेके अयोग्य है; क्योंकि सत्याग्रहीको सदा सत्य और न्यायकी रक्षाके लिए अपना सर्वस्व बलिदान करनेको तैयार रहना पड़ता है। किन्तु आत्म-सम्मानकी रक्षा अहिंसक प्रतिरोधका उचित कारण है, क्योंकि आत्म-सम्मानकी उपेक्षा समाजकी असंतोपजनक नैतिक अवस्थाकी सूचक है। प्रकट है कि सत्याग्रहसे अनैतिक कार्यों और अन्यायपूर्ण लाभकी रक्षा नहीं की जा सकती।[३] इस प्रकार एक पूंजीपति अहिंसा द्वारा अपनी पूंजीकी रक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि पूंजीके संचयमें सदैव हिंसा निहित है।[४]

सामाजिक हितके प्रश्नोंमें भी सत्याग्रही अहिंसक प्रतिरोध करनेका निर्णय स्वयं अपनी मर्यादा और अन्यायके प्रकार तथा गंभीरताको ध्यानमें रखकर करता है। जैसा कि गांधीजीके जीवनसे ज्ञात होता है, कुछ अवसरों पर सत्याग्रही अपेक्षाकृत बड़ी लड़ाइयोंके लिए अपनी शक्तिकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे छोटे अन्यायकी उपेक्षा कर देता है।[५]

---

१. दक्षिण अफ्रीकाका सत्याग्रह (पूर्वार्द्ध), पृ० १३।
२. यं० इं०, भाग–२, पृ० ११८३।
३. ह०, ५–९–'३६, पृ० २३६।
४. ह०, १६–२–'४७, पृ० २५।
५. आत्मकथा, पृ० १६४।

उद्देश्य

व्यक्तिगत और सामुदायिक सत्याग्रहका उद्देश्य न तो अन्यायीको दवाना, हराना, दंड देना या उसकी इच्छाशक्तिको तोड़ना है और न उसको हानि पहुंचाना या परेशान करना है, यद्यपि वास्तवमें सत्याग्रहीके प्रतिरोध और कष्ट-सहनसे अन्यायीको परेशानी हो सकती है। सत्याग्रही अपने विरोधीसे मानवताके नाते प्रेम करता है और उसके उच्चतम अंशको प्रभावित करके उसकी न्याय-भावनाको जाग्रत करना चाहता है, अर्थात् उसका हृदय-परिवर्तन करना चाहता है। हृदय-परिवर्तनका अर्थ है कि प्रतिपक्षी अपनी भूलको जान लेता है, उसके लिए पश्चात्ताप करता है और झगड़ेका शान्तिमय निपटारा हो जाता है। जैसा गांधीजीने एक वार मिस अगाथा हैरिसनसे कहा था, "अहिंसक पद्धतिका सार ही यह है कि वह विरोधका अन्त करनेका प्रयत्न करती है, विरोधियोंका नहीं।"[1] अहिंसक युद्धका अन्त सदा समझौता होता है, न कि एक पक्षका दूसरे पक्ष पर आधिपत्य या प्रतिपक्षीके सम्मान पर प्रहार। इस प्रकार सत्याग्रही एक पक्षकी विजयके लिए नहीं, परन्तु दोनों पक्षोंकी विजयके लिए लड़ता है। वह अन्यायीकी भी मांगके न्यायपूर्ण भागकी उपेक्षा नहीं करना चाहता। उसका उद्देश्य होता है दोनों पक्षोंके मतके न्यायपूर्ण अंशोंका समन्वय।

सत्याग्रहका ध्येय उसकी पद्धतिका निर्देश करता है। निषेधात्मक रूपसे सत्याग्रहीको सव प्रकारकी हिंसासे अलग रहना चाहिए। हिंसा विरोधीके विनाशका या कम-से-कम उसको चोट पहुंचानेका प्रयत्न करती है, और यह उसको सुधारनेका या उसके हृदय-परिवर्तनका मार्ग नहीं है। सत्याग्रहीको चाहिए कि इस वातका प्रयत्न करे कि वह जान-बूझकर अपने विचार, शब्द या कार्यसे विरोधीको हानि न पहुंचाये। इस प्रकार उसको अपने हृदयमें क्रोध, घृणा, दुर्भावना, संदेह, प्रतिहिंसा या ऐसी ही दूसरी विभाजक भावनाओंको स्थान नहीं देना चाहिए। जहां तक भाषणका सम्बन्ध है, उसको सब प्रकारकी गाली-गलौज तथा सम्मान पर प्रहार करनेवाली गर्वयुक्त या अनावश्यक रूपसे चोट पहुंचानेवाली भाषासे वचना चाहिए। अपने कार्योंमें उसको पाशविक शक्तिका प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करना अन्यायीके साथ सहयोग करना और उसको सहायता देना है। सव प्रकारकी उत्तेजनाके होते हुए भी उसे असहिष्णुता और प्रतिहिंसासे वचना चाहिए और प्रतिपक्षीको डराना नहीं चाहिए। यदि सत्याग्रही पर आक्रमण हो तो उसे मुकदमा नहीं चलाना चाहिए, न उसे वाहरवालोंको अपनी सहायताके लिए बुलाना चाहिए; क्योंकि इन दोनों वातोंका अर्थ है शरीर-शक्तिका सहारा लेना।

1. ह०, २९-४-'३९, पृ० १०१।

विधायक रूपसे "सत्याग्रही सदा अशुभको शुभसे, क्रोधको प्रेमसे, असत्यको सत्यसे और हिंसाको अहिंसासे जीतनेका प्रयत्न करेगा।"[1] सत्याग्रहीको आत्मशक्तिकी कार्य-पद्धतिका और प्रतिपक्षीके साथ अपनी आध्यात्मिक एकताका बोध होता है, इसलिए वह विरोधीके साथ अपने कुटुम्बके सदस्यकी भांति व्यवहार करता है। उसे चाहिए कि वह विरोधीको भूलसे बचानेके लिए उस घरेलू रीतिका उपयोग करे, जो मतभेदको कमसे कम करके और जिन बातों पर दोनों पक्ष सहमत हैं उन पर जोर देकर झगड़ेको निपटाना आसान कर देती है। गांधीजी कहते हैं, मैं "अन्यायीके प्रति, जो मेरा शत्रु है, उन्हीं नियमोंका प्रयोग करूंगा, जिनका मैं अपने अन्याय करनेवाले पिता या पुत्रके प्रति करता।"[2]

गांधीजी घरेलू पद्धतिका वर्णन इस प्रकार करते हैं, "घरेलू झगड़ों और मतभेदोंका निपटारा प्रेमके नियमके अनुसार होता है। जिस सदस्यको आघात पहुंचता है उसे दूसरोंके लिए इतना आदर होता है कि वह जिन लोगोंके साथ उसका मतभेद है उनसे बिना नाराज हुए या बदला लिये अपने सिद्धान्तोंके लिए कष्ट सह लेता है; और क्योंकि क्रोधका दमन और कष्ट-सहन कठिन प्रक्रियाएं हैं, इसलिए वह तुच्छ बातोंको बढ़ाकर सिद्धान्तोंमें परिणत नहीं कर देता, बल्कि सभी अनावश्यक बातोंमें इच्छापूर्वक अन्य कुटुम्बियोंसे सहमत हो जाता है और इस प्रकार, दूसरोंकी शांति भंग किये बिना, अपने-आप अधिकतम शान्तिलाभका उपाय करता है। इस प्रकार उसका कार्य, चाहे वह विरोध करे या कुटुम्बियोंकी बात मान ले, सदा कुटुम्बकी भलाईकी वृद्धिके लिए होता है।"[3]

प्रतिपक्षीके साथ अपने कुटुम्बके सदस्यकी भांति व्यवहार करनेकी रीति है उसके प्रयोजनकी ईमानदारीमें उसी प्रकार विश्वास करना, जिस प्रकार सत्याग्रही अपनी ईमानदारीमें विश्वास करता है।[4] "यदि आप अपने विरोधीका हृदय-परिवर्तन करना चाहते हैं, तो आप उसके शुभतर और उदात्ततर पक्ष पर और उससे सम्बद्ध बातों पर जोर देते रहिये। उसकी त्रुटियां सामने न रखिये।"[5] सन् १९४० में उन्होंने कांग्रेसजनोंको यह सलाह दी कि वे सरकारके अनुचित कार्योंके प्रदर्शनमें अपना ध्यान केन्द्रित न करें, "क्योंकि हमें शासकोंका हृदय-परिवर्तन करना है और उन्हें मित्र बनाना है। वास्तवमें,

१. यं० इं०, ८-८-'२९।
२. स्पीचेज़, पृ० २८४।
३. स्पीचेज, पृ० ५०२।
४. यं० इं०, भाग-२, पृ० १३१९।
५. मीरा : ग्लीनिंग्ज़, पृ० १७।

स्वभावसे कोई भी मानव दुष्ट नहीं होता। और यदि दूसरे लोग दुष्ट हैं, तो क्या हम उनसे कम दुष्ट हैं? सत्याग्रहमें यही मनोवृत्ति अन्तर्निहित है।"[१] "यदि वह प्रतिपक्षीको नहीं भी जानता या उसे अविश्वसनीय भी समझने लगा है, तो भी उसे प्रतिपक्षीका दृढ़तासे विश्वास करना चाहिये।"[२] "यदि विरोधी उसे वीस वार भी धोखा देता है, तो भी सत्याग्रही इक्कीसवें वार उसका विश्वास करनेको तैयार रहता है; क्योंकि मनुष्य-स्वभावमें दृढ़ श्रद्धा उसके सिद्धान्तका सार है।"[३]

समझौता

व्यक्तिगत झगड़ोंको निपटानेकी सत्याग्रही पद्धतिमें घरेलू झगड़ोंके सादृश्यसे जो वातें सम्मिलित हैं, वे हैं समझाना-बुझाना और विवेचन, झगड़ेका किसी ऐसे मनुष्य द्वारा निपटारा जिसके निर्णयमें दोनों पक्षोंको विश्वास है, असहयोग, यदि सत्याग्रहीको आज्ञा देनेकी सत्ता अन्यायीको प्राप्त है तो उसकी आज्ञाकी सविनय अवज्ञा, प्रतिरोधके परिणामस्वरूप कष्ट-सहन, उपवास आदि। अहिंसक प्रतिरोध आदिसे अन्त तक शुद्ध रहना चाहिए और सत्याग्रहीको सत्य और अहिंसा पर दृढ़ रहना चाहिए।

सत्याग्रहीको अन्यायीमें भी पाई जानेवाली उत्कृष्टताकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। विपक्षीके प्रति पूर्ण न्याय करनेके लिए यह आवश्यक है कि सत्याग्रही अपनी बुद्धिको निष्पक्ष रखे, विपक्षीके दृष्टिगोणको समझे और यदि आवश्यक हो तो अपने निर्णयमें संशोधन करे।[४] सत्याग्रहीको सदा मत-परिवर्तनके लिए तैयार रहना चाहिए और जब कभी अपनी भूल मालूम हो तब हर तरहकी जोखिम उठाकर भी उस भूलको स्वीकार करना चाहिए और उसके लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।[५] "सत्याग्रहीके रूपमें मुझे सदा इस बातकी इजाजत देनी चाहिए कि मेरे मामलेका किसी भी समय परीक्षण और पुनर्निरीक्षण हो और यदि मेरी किसी भूलका पता चले तो मुझे उसकी क्षतिपूर्ति करनी चाहिए।" सत्याग्रहीकी शक्ति विपक्षी पर उसकी नैतिक उत्कृष्टतामें है। असत्यका आग्रह करनेका अर्थ है प्रतिष्ठाकी झूठी भावनाकी रक्षामें वास्तविक शक्तिको खो देना। गांधीजी लिखते हैं,

---

१. ह०, ३०–३–'४०, पृ० ७१।

२. ह०, ३–६–'३९, पृ० १५०।

३. साउथ अफ्रीका, पृ० २४६।

४. यं० इं०, भाग–२, पृ० २२७ और १३२०; यं० इं०, भाग–३, पृ० ३८७।

५. आत्मकथा, भाग–४, पृ० ३९४।

"भूलकी स्वीकृति उस झाड़ूकी भांति है, जो धूलको झाड़ देती है और धरातलको पहलेसे अधिक साफ कर देती है। मनुष्य नीतिपथसे आग्रहपूर्वक भटक कर अपने उद्दिष्ट स्थान पर कभी नहीं पहुंचा है।"[१]

विपक्षीकी भूलका कारण उसका अज्ञान या स्वार्थपरता और दुर्भावना होती है—यद्यपि स्वार्थपरता और दुर्भावनाका भी कारण अन्तमें अज्ञान होता है। इसलिए अहिंसक प्रतिरोधमें—प्रतिरोध चाहे व्यक्तिगत हो, चाहे सामूहिक—सत्याग्रहीका पहला चरण होता है समझाना-बुझाना, समझौतेकी बात करना और विवेचन करना। यदि आवश्यक हो तो वह इसके लिए तैयार हो जाता है कि कोई मध्यस्थ झगड़ेका निर्णय कर दे। वह उग्र साधनोंका प्रयोग एकदम नहीं करता, तभी करता है जब नरम साधनोंसे काम नहीं चलता।

हो सकता है कि विपक्षी समझौतेकी बातचीतके लिए तैयार न हो, इसलिए सत्याग्रहीका बातचीत द्वारा झगड़ा निपटानेका प्रयत्न असफल हो। लेकिन असफलता सत्याग्रहीकी भूलके कारण नहीं होनी चाहिए।[२] "यद्यपि सत्याग्रही सदा युद्धके लिए तैयार रहता है, पर उसको शान्तिके लिए भी उतना ही उत्सुक होना चाहिए। उसे शान्तिके किसी भी सम्मानपूर्ण अवसरका स्वागत करना चाहिए।"[३] समझौतेके प्रारम्भिक प्रयत्नोंके असफल हो जाने पर भी सत्याग्रही सदा संघर्षकी प्रत्येक अवस्थामें शान्तिमय निपटारेके प्रत्येक अवसरका उपयोग करनेके लिए तैयार रहता है। यदि आवश्यक हो तो वह समझौतेके लिए विपक्षीका दरवाजा खटखटाता है, क्योंकि वह प्रतिष्ठाकी झूठी भावनासे मुक्त होता है। एक बार दक्षिण अफ्रीकाके अहिंसक संघर्षमें, जब समझौतेकी जरा भी आशा न रही थी, गांधीजीने अपनी ओरसे स्मट्स साहबसे भेंट की। बातचीतके फलस्वरूप स्मट्स साहब नरम पड़ गये और समझौतेके लिए गांधीजीका अन्तिम प्रयत्न सफल हो गया। सन् १९३९ में त्रावणकोरमें वैधानिक सुधारोंके लिए किये गये सत्याग्रहके समय गांधीजीने सत्याग्रहियोंको इस बातकी सलाह दी कि यदि दोनों पक्ष एक-दूसरेके बारेमें बातचीत और आलोचना करते रहेंगे तो मतभेद बढ़ता रहेगा। इसके स्थान पर सत्याग्रहियोंको अधिकारियोंके साथ प्रत्यक्ष समझौतेकी बातचीत करनी चाहिए। उन्होंने लिखा, "सत्याग्रहीके लिए ऐसा तर्क करना उचित नहीं कि समझौतेका प्रस्ताव दोनों ओरसे होना चाहिए। यह तर्क अधिकारियोंमें सत्याग्रहकी भावनाका अस्तित्व स्वीकार करके चलता है, जब कि सत्याग्रह

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० ९९६।

२. ह०, २४–६–'३९, पृ० १६९–७० और १७२।

३. यं० इं०, १९–३–'१९, पृ० ४०।

उन्हींके साथ किया जाता है जो सत्याग्रही होनेका कोई दावा नहीं करते। इसलिए सत्याग्रहीका प्रथम और अन्तिम कार्य है सदा सम्मानपूर्ण समझौतेके अवसर खोजना।"[१] लेकिन यद्यपि सत्याग्रही समझौतेके लिए उत्सुक रहता है और "अनावश्यक वातोंमें स्वेच्छासे दवनेको तैयार रहता है,"[२] फिर भी वह उन मूलभूत नैतिक सिद्धान्तों पर कभी नहीं झुकता, जिनके कारण संघर्ष हुआ है। गांधीजीने एक वार कहा था, "मेरे समझौते देशको या (राष्ट्रीय) हितको हानि पहुंचाकर कभी न होंगे।"[३] "मूलभूत वातोंमें समझौता (विरोधीके प्रति) समर्पण है। इसलिए समझौता तभी हो सकता है, जब दोनों पक्ष मूलभूत वातोंके वारेमें एकमत हों।"[४]

हमारे देशके कुछ आलोचक गांधीजीसे इस प्रश्न पर सहमत नहीं हैं। उनकी राय है कि समझौतेकी मानसिकता सत्याग्रही सिपाहियोंका जोश ठंडा और शक्ति कम कर देती है। मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे लड़ाईका एक उचित अवसर होता है, जो समझौतेकी वातचीतमें हाथसे जाता रहता है और जव अन्तमें लड़ाई प्रारम्भ होती है तो अनुकूल वातावरण नहीं रहता।

लेकिन गांधीजीके अनुसार समझौतेके लिए उत्सुकता सत्याग्रहका आवश्यक अंग है। सत्याग्रहीको विपक्षीके साथ अपने आध्यात्मिक सम्वन्धकी चेतना रहती है, वह वास्तवमें विपक्षीका मानवके नाते सम्मान करता है और उसका उद्देश्य होता है शान्ति। समझौता-प्रियता और समझौतेके लिए प्रयत्न करना सत्याग्रहीके इस ऊंचे आध्यात्मिक उद्देश्यको प्रकट करते हैं। इससे प्रकट होता है कि सत्याग्रह आवश्यक रूपसे प्रतिरक्षाका युद्ध है, जिसके लिए सत्याग्रहीको मजबूरन तैयार होना पड़ता है, क्योंकि उसके लिए आत्म-सम्मानका कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इससे सत्याग्रहीको जनमतकी सहानुभूति और सहायता भी मिल जाती है।

संघर्पकी किसी-न-किसी अवस्थामें, कम-से-कम उसके अन्तमें, दोनों पक्षोंमें वातचीत और समझौता तो होगा ही। प्रारम्भमें ही समझौतेके प्रयत्नसे सम्भवत: दोनों पक्ष संघर्पके कष्ट-सहनसे वच जायं। इसके अतिरिक्त सत्याग्रहीका सत्यप्रेम भी उसे समझौता-प्रिय वनाता है। वह जानता है कि मनुष्य सत्यको सदा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणोंसे और आंशिक रूपमें ही देख पाते हैं। गांधीजीने एक वार लुई फिशरसे कहा था, "मैं आवश्यक रूपसे समझौता

---

१. ह०, १०–६–'३९, पृ० १५३।

२. यं० इं०, भाग–३, पृ० १०५८।

३. ह०, ३०–३–'४०, पृ० ७०।

४. ह०, ३०–३–'४०, पृ० ७२।

करनेवाला मनुष्य हूं, क्योंकि मुझे कभी इस बातका विश्वास नहीं रहता कि मैं सही हूं।"[1] इसीलिए उनका कहना है कि "अनावश्यक बातोंमें पूरी तरह दब जाना, आवश्यक बातोंकी प्राण देकर भी रक्षा करनेकी आंतरिक शक्ति प्राप्त करनेकी पूर्व शर्त है।"[2] इस प्रकार समझौतेकी बात-चीत करनेसे इनकार कर देना या संघर्ष प्रारम्भ करनेमें उतावलापन करना सत्याग्रहीके लिए बहुत अनुचित है।

सामूहिक सत्याग्रहमें समझौतेकी उत्सुकतासे सत्याग्रही सिपाहियोंका अनुशासन ढीला न होना चाहिए, क्योंकि सत्याग्रही नेता और उसके सह-कारी अनुगामियोंके निकट सम्पर्कमें रहते हैं और उन्हें यह समझाते रहते हैं कि अहिंसक युद्धनीतिमें समझौतेके प्रयत्नकी और समझाने-बुझानेकी क्या महत्ता है। हिंसात्मक क्रान्तिकी सफलताके लिए यह आवश्यक है कि जनताकी विभाजक प्रवृत्तियां और भावनाएं पूरी तरह उत्तेजित कर दी जायं, जिसमें क्रान्तिकी आग भड़क उठे और इसलिए समझौतेकी बातचीत इस प्रकारके आन्दोलनके लिए विघ्नकारी है। लेकिन सत्याग्रह विधायक एकी-करणकी भावनाओंको, विपक्षीके प्रति प्रेम, अप्रतिकार और सेवाके लिए कष्ट-सहनकी उत्सुकताको जाग्रत करता है। यदि समझौतेका प्रयत्न सत्याग्रही स्वयंसेवकोंका अनुशासन ढीला कर दे, तो यह इस बातका निश्चित चिह्न है कि न तो वे सत्याग्रहके आदर्शको अपना पाये हैं और न उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रमका ठीक अभ्यास किया है। यदि विपक्षी धोखेबाज है और समझौ-तेकी बातचीतका उपयोग अपनी शक्तिको दृढ़ करनेके लिए करता है, तो सत्याग्रहीके लिए चिन्ताकी कोई बात नहीं। सच्ची शक्ति नैतिक उत्कृष्टता है; और यदि सत्याग्रही शिविरमें सब कुछ ठीक है, तो विपक्षीकी तैयारियोंका कोई महत्त्व नहीं।[3]

इसके अतिरिक्त यह सदैव माना जाता है कि समझौतेकी बातचीतके असफल होनेकी अवस्थामें सत्याग्रही युद्ध प्रारम्भ करनेके लिए सदा प्रस्तुत रहता है। उसे पहलेसे तैयारी करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। युद्धको स्थगित करना अथवा चालू रखना उसके लिए एक ही बात है। वह एक ही उद्देश्यके लिए युद्ध करता है या उसको स्थगित करता है।[4]

विपक्षी और जनमत दोनोंके सम्बन्धमें समझाना-बुझाना और विवेचन करना आवश्यक है। इसलिए सत्याग्रही विपक्षीके साथ समझौतेके निरन्तर

१. लुई फिशर: ए वीक विद गांधी, पृ० १०२।
२. ह०, १०–११–'४०, पृ० ३३३।
३. ह०, १७–२–'४०, पृ० २।
४. यं० इं०, १६–४–'३१, पृ० ७७।

प्रयासके अतिरिक्त जनमतको भी शिक्षित करेगा और उन सबके सामने वह
शान्तिपूर्वक अपना मामला रखेगा, जो उसकी बात सुनना चाहते हैं।[१]
इस प्रकार अहिंसक प्रतिरोधका सहारा लेनेके पूर्व वह सम्मानपूर्ण समझौतेके
अन्य सब शान्तिपूर्ण उपायोंका उपयोग कर लेगा।

कष्ट-सहनका महत्त्व

यदि बुद्धिको प्रभावित करनेका सत्याग्रहीका प्रयत्न अन्यायीकी
अज्ञानता या स्वार्थपरताके कारण असफल हो जाय, तो सत्याग्रहीके लिए
एकमात्र विकल्प है विरोधीके हृदयको प्रभावित करना। यह काम सत्याग्रही
स्वेच्छासे स्वीकार किये गये कष्ट-सहन द्वारा करता है।

गांधीजी कष्ट-सहनको बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे सत्याग्रहको
"कष्ट-सहनका नियम" और "सत्यके लिए तपस्या" कहते हैं। वे लिखते
हैं, "मुझे इस विश्वाससे कोई नहीं डिगा सकता कि यदि उद्देश्य शुद्ध हो तो
कष्ट-सहनसे उसकी जितनी उन्नति होती है उतनी और किसी (साधन) से
कभी नहीं हुई है।"[२] "उन्नतिका माप कष्ट-सहन करनेवालेके कष्ट-सहनके
परिमाणसे होता है। जितना शुद्ध उसका कष्ट-सहन होता है, उतनी ही
अधिक उसकी उन्नति होती है।"[३] "किसी भी देशने कभी भी कष्ट-सहनकी
अग्निमें शुद्ध हुए बिना उन्नति नहीं की है। मां कष्ट-सहन करती है,
जिससे उसका बच्चा जीवित रहे। गेहूंके पैदा होनेकी शर्त यह है कि उसका
बीज नष्ट हो जाय। मृत्युमें से ही जीवनका उद्गम होता है।"[४] शुद्धताका
अर्थ है अनुशासन; और गांधीजी कहते हैं कि बिना अनुशासनके केवल
कष्ट-सहन निष्फल होगा। सत्याग्रहीने पर्याप्त अनुशासन सिद्ध कर लिया
है, इसका चिह्न यह है कि कष्ट-सहन आनन्दप्रद हो जाय और सत्याग्रहीको
"हिंसाके मुखमें सरके बल घुसनेमें" सुखका अनुभव होने लगे।

सत्याग्रहमें होनेवाले कष्ट-सहनकी कोई सीमा नहीं है। सत्याग्रहीको
गम्भीरतम उत्तेजनाके होते हुए भी अपनी प्रवृत्तियों और भावनाओं पर
नियन्त्रण रखना चाहिए और प्रसन्नतासे सब प्रकारकी हानियों और असुविधा-
ओंको — आक्रमण, मारपीट, बहिष्कार, सम्पत्तिकी हानि और मृत्युको भी —
सहन करना चाहिए। आत्म-सम्मानके सिवा उसे सब-कुछ जोखिममें डालनेको

---

१. यं० इं०, भाग–३, पृ० ४१३।
२. यं० इं०, भाग–२, पृ० ८३८।
३. यं० इं०, भाग–१, पृ० ८३१।
४. यं० इं०, भाग–१, पृ० २३०।

तैयार रहना चाहिए।[1] और उसे चाहिए कि वह विरोधीको कष्ट-सहन द्वारा तब तक प्रभावित करता रहे जब तक कि सहानुभूतिके उमड़ पड़नेसे विरोधीका हृदय-परिवर्तन न हो जाय।

जहां तक महत्त्वपूर्ण मामलोंमें विरोधीके हृदय-परिवर्तनका सम्बन्ध है, कोई और साधन कष्ट-सहनसे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं। तर्क और समझाने-बुझानेकी अपेक्षा कष्ट-सहन कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है। गांधीजीके शब्दोंमें, "यदि आप चाहते हैं कि वास्तविक महत्त्वकी कोई बात हो जाय, तो आपको केवल बुद्धिको ही सन्तुष्ट नहीं करना चाहिए, आपको हृदयको भी प्रभावित करना चाहिए। तर्क बुद्धिको अधिक प्रभावित करता है; लेकिन कष्ट-सहन हृदय तक पहुंचकर मनुष्यके आंतरिक विवेकको जगा देता है।"[2] "मेरा अनुभव है कि जहां पक्षपात दीर्घकालीन होते हैं, वहां केवल बुद्धिको प्रभावित करना पर्याप्त नहीं होता। बुद्धिको कष्ट-सहनसे बल देना पड़ता है और कष्ट-सहन आंतरिक विवेक-चक्षुको खोल देता है।"[3]

कष्ट-सहनकी प्रभाव-प्रक्रिया

लेकिन कष्ट-सहनसे अन्यायीका नैतिक सुधार कैसे होता है? किस प्रकार कष्ट-सहनसे अन्यायीका हृदय-परिवर्तन होता है और उसका आन्तरिक विवेक जाग उठता है?

अपने लेखोंमे बिखरे हुए कुछ वाक्योंमें गांधीजीने व्यक्तिगत और सामूहिक सत्याग्रहकी प्रभाव-प्रक्रियाका वर्णन किया है और बतलाया है कि किस प्रकार कष्ट-सहनसे विरोधीका हृदय-परिवर्तन होता है।

जब सत्याग्रही अहिंसाका व्यवहार करता है और अपनी इच्छासे कष्ट सहता है, तब उसका प्रेम शक्तिशाली बनता है और आध्यात्मिक एकताके सिद्धान्तके कारण वह समग्र वातावरण और अपने आसपासके लोगोंको, विरोधीको भी, प्रभावित करता है और ऊंचे उठा देता है। गांधीजीके शब्दोंमें, "जितना अधिक आप उसका (अहिंसाका) अपनेमें विकास करते हैं, उतनी ही वह संक्रामक हो जाती है, यहां तक कि वह आपके पास-पड़ोसको अभिभूत कर लेती है और धीरे-धीरे संसार पर अपना अधिकार कर सकती है।"[4] "जितनी अधिक हमारी शुद्धता होगी उतनी अधिक हमारी शक्ति होगी और

---

१. ह०, ५–९–'३६, पृ० २३६।
२. यं० इं०, ५–११–'३१।
३. यं० इं०, भाग–२, पृ० १३२०।
४. ह०, २८–१–'३९, पृ० ४४३।

उतनी ही तेजीसे हमारी विजय होगी।"[1] सन् १९३३ में उन्होंने लिखा था, "सच्चा उपवास मौन, अदृश्य शक्ति उत्पन्न करता है और यदि उसमें आवश्यक बल और शुद्धता है, तो वह सम्पूर्ण मानवतामें व्याप्त हो जाती है।"[2] कुछ वर्ष हुए गांधीजीने दिल्लीके एक पत्रकारको — जिसने आधुनिक भौतिकवादी संसारमें अहिंसाकी कार्य-क्षमताके बारेमें संदेह प्रकट किया था — एक पत्रमें लिखा था, "क्या आप यह अनुभव नहीं करते कि जब अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो जाती है, तब भौतिकवाद पिछड़ जाता है, प्रभाव-मार्ग बदल जाते हैं और अहिंसक युद्धमें प्रयत्न, सम्पत्ति या नैतिक शक्तिका अपव्यय नहीं होता?"[3]

इस प्रकार कष्ट-सहन करनेवाले सत्याग्रहीकी शुद्धता विपक्षीकी आत्माको भी स्वच्छ और शक्तिशाली बना देती है। इसी प्रकार उसकी प्रेमकी शक्ति भी जनमतको प्रभावित करती है और उसकी सहानुभूति तथा सहायता प्राप्त करती है।

गांधीजीने मनोविज्ञानकी भाषामें भी अहिंसाकी प्रभाव-प्रक्रियाका वर्णन किया है। "बलवान शरीरवाले प्रायः धृष्टतासे दृढ़ शरीर-शक्तिका प्रयोग करते हैं। लेकिन इस दृढ़ शक्तिका सम्पर्क जब अपने समान शक्तिसे नहीं, बल्कि नितांत विरोधी शक्तिसे होता है, तो उसे ऐसा कुछ नहीं मिलता जिसके विरुद्ध वह (शरीर-शक्ति) काम कर सके। स्थूल शरीर दूसरे स्थूल शरीरके विरुद्ध ही काम कर सकता है। आप हवामें किले नहीं बना सकते।"[4] "अन्यायी विरोधके अभावमें अन्याय करते-करते थक जाता है। जब अन्यायसे पीड़ित व्यक्ति विरोध ही नहीं करता, तो (अन्यायीका) सब आनन्द जाता रहता है।"[5] "मैं अत्याचारीकी तलवारकी धार पूरी तरह गुट्ठल कर देना चाहता हूं — उसके विरुद्ध ज्यादा तेज धारवाले हथियारका प्रयोग करके नहीं, बल्कि उसकी इस आशा पर पानी फेर कर कि मैं शारीरिक प्रतिकार करूंगा। उसके स्थानमें मैं आत्मशक्ति द्वारा प्रतिकार करूंगा, जिससे वह पार न पा सकेगा। पहले तो वह चौंधिया जायगा और अन्तमें उसे उस प्रतिकारका लोहा मानना पड़ेगा। लेकिन इससे उसके सम्मान पर प्रहार न होगा, बल्कि उसका उत्थान होगा।"[6] सन् १९२४ में उन्होंने लिखा था, "यह मेरा अनवरत

---

१. स्पीचेज़, पृ० ६३९।

२. मीरा : ग्लीनिंग्स, पृ० ९४।

३. हिन्दुस्तान टाइम्स, २४–१–'४१ में प्रकाशित इस पत्रका उद्धरण।

४. स्पीचेज़, पृ० ७११।

५. स्पीचेज़, पृ० ६३९।

६. यं० इं०, भाग–२, पृ० ८६४। जब दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रह-संग्रामका अन्त होनेवाला था, तब जनरल स्मट्सके एक सेक्रेटरीने गांधीजीसे

अनुभव रहा है कि अच्छाईका अच्छा और बुराईका बुरा नतीजा होता है और इसीलिए यदि बुराईको वैसा ही उत्तर नहीं मिलता, तो वह अपना काम करना बन्द कर देती है और पोषणके अभावमें नष्ट हो जाती है। बुराई केवल बुराई पर ही जीवित रह सकती है। यह नियम वैज्ञानिक निश्चिततासे कार्य करता है।"[1]

गांधीजी अहिंसाकी कार्य-क्षमताका एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारण बताते हैं। अहिंसाका प्रभाव विरोधी पर उसके अनजानमें होता है और अनजानका प्रभाव उस प्रभावसे कहीं अधिक होता है जिसके बारेमें विरोधी सचेत होता है। "हिंसामें कुछ भी अदृश्य नहीं। दूसरी तरफ अहिंसा तीन-चौथाई अदृश्य है और इसलिए उसका प्रभाव उसकी अदृश्यताके विपरीत अनुपातमें होता है। जब अहिंसा सक्रिय हो जाती है तब वह असाधारण गतिसे चलती है और चमत्कार बन जाती है।"[2] इस तरह विरोधीके मन पर पहले अनजानमें प्रभाव पड़ता है और फिर सचेतन अवस्थामें। दूसरे प्रकारके प्रभावका अर्थ है हृदय-परिवर्तन।

गांधीजी अहिंसाकी मूक, सूक्ष्म, अदृश्य प्रभाव-प्रक्रियाकी होमियोपैथिक इलाजसे तुलना करते हैं। "असहयोग एलोपैथिक इलाज नहीं है। वह होमियोपैथिक इलाज है। रोगीको दवाकी बूंदोंका स्वाद भी नहीं मिलता। उसे कभी-कभी विश्वास भी नहीं होता। किन्तु यदि होमियोपैथिक डॉक्टरों पर विश्वास किया जाय, तो होमियोपैथीकी स्वादरहित बूंदें या छोटी गोलियां एलोपैथीकी ओस-औंस खुराकोंकी या गला पकड़नेवाली गोलियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली होती हैं। मैं पाठकोंको विश्वास दिलाता हूं कि शुद्धकारी अहिंसाका प्रभाव होमियोपैथिक दवाके प्रभावसे अधिक निश्चित होता है।"[3]

इसके अतिरिक्त, अहिंसा सब प्रकारके अन्याय और शोषणकी अचूक दवा है, क्योंकि अन्यायी और शोषितका सहयोग अन्यायकी पूर्वमान्यता है। जब सत्याग्रही सहयोगसे हाथ खींच लेता है, तो अन्यायी विफल और शक्तिहीन हो

कहा था, "मै प्रायः चाहता हूं कि आप अंग्रेज हड़तालियोंकी तरह हिंसाका प्रयोग करें और तब हम आपको फौरन सीधा कर दें। लेकिन आप तो अपने दुश्मनको भी नहीं सताना चाहते। आप केवल कष्ट-सहन द्वारा जीतना चाहते हैं और सज्जनता तथा शूरताकी स्वयं-निर्धारित मर्यादाका भी उल्लंघन नहीं करते। और आपकी यही बात हमको नितांत असहाय बना देती है।" — साउथ अफ्रीका, पृ० ४९२।

१. यं० इं०, १५–५–'२४, पृ० १६१।

२. ह०, २०–३–'३७, पृ० ४१-४२।

३. यं० इं०, भाग–१, पृ० ९८८।

जाता है। कष्ट-सहन इस बातका प्रमाण है कि अहिंसावादी मनुष्य अन्यायीके साथ सहयोग न करेगा। अत्याचारी शासक और सत्याग्रही शासितोंके संबंधका हवाला देते हुए सन् १९१७ में गांधीजीने कहा था, "वे (शासक) जानते हैं कि सत्याग्रहीके विरुद्ध वे सफलतासे शक्तिका प्रयोग कर नहीं सकते। बिना उसकी सहमतिके वे (शासक) उससे अपने संकल्पके अनुसार कार्य नहीं करवा सकते।"[1]

संक्षेपमें, सत्याग्रहीकी अहिंसासे हिंसावादी विरोधी अव्यवस्थित हो जाता है और उसका नैतिक संतुलन डिग जाता है। परन्तु सत्याग्रही शांत रहता है, विक्षुब्ध नहीं होता और न बदला लेनेका प्रयत्न करता है। यह बात, परि-पोषणके अभावके कारण, विपक्षीकी हिंसावृत्तिको थका देती है।[2] सत्याग्रहीका गतिशील प्रेम और उसकी सद्भावना, विरोधीके नैतिक कल्याणमें उसकी रुचि, विरोधीकी उच्चतम भावनाओंको जानने और उनको प्रभावित करनेका प्रयत्न -- यह सब अन्यायीकी हिंसावृत्तिको दुर्बल कर देते हैं। धीरे धीरे विरोधी हिंसा करते-करते थक जाता है और लज्जित हो जाता है, उसकी उदार भावनाएं जाग उठती हैं और उसे पश्चात्ताप होने लगता है। सत्याग्रही तो न्यायपूर्ण समझौतेके लिए सदा तैयार ही रहता है, इसलिए झगड़ेका निपटारा आसानीसे हो जाता है। यदि अन्यायी उपचारसे परे है, तो वह स्वयं अपना नाश कर बैठता है; क्योंकि उसको शीघ्र मालूम हो जाता है कि वह अकेला रह गया है।

लेकिन यद्यपि कष्ट-सहन सत्याग्रहका आवश्यक अंग है,[3] सत्याग्रहीको नाटकीय और प्रदर्शनशील होनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिए। ऐसा करना सत्याग्रहके वास्तविक तथ्यको न समझनेका और नम्रताके अभावका द्योतक है। गांधीजीका विश्वास है कि शीघ्र सफल होनेकी कुंजी सत्य और अहिंसाके मौन, अप्रदर्शनशील कार्यमें -- न कि दिखावटी तमाशेमें -- प्रकट होनेवाली नम्रता है।[4]

---

१. स्पीचेज़, पृ० ३९३।

२. यं० इं०, भाग-१, पृ० ९०९।

३. "हमें सदैव अनावश्यक कष्ट-सहनके अवसरोंको बचानेका प्रयत्न करना चाहिए, फिर भी हमें उनके लिए सदा तैयार रहना चाहिए। किसी न किसी प्रकारसे जो लोग सही रास्ते पर चलेंगे, वे कष्ट-सहनसे बचनेका प्रयत्न करते हुए भी उससे बच नहीं सकते। यह (कष्ट-सहन) देशभक्त, सुधारक और उससे भी अधिक सत्याग्रहीका विशेषाधिकार है।" यं० इं०, १९-३-'३१, पृ० ४१।

४. यं० इं०, ८-८-'२९; यं० इं०, भाग-१, पृ० २७८।

कभी-कभी यह मान लिया जाता है कि सत्याग्रही अत्याचारीको इस प्रकार मजबूर करता है कि उसका व्यवहार पाशविकताकी पराकाष्ठा तक पहुंच जाय और वह सत्याग्रहीको चोट पहुंचाये।[१] लेकिन गांधीजीके अनुसार कष्ट-सहन विरोधीके हृदय-परिवर्तनका एक साधनमात्र है और विरोधीकी पाशविक वृत्तिको उभाड़नेसे हृदय-परिवर्तन अधिक कठिन हो जायगा। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक एकताके सिद्धान्तके कारण विरोधीकी पाशविकता सत्याग्रहीको भी पतनकी ओर ले जायगी। वास्तवमें गांधीजी वार वार इस वात पर जोर देते हैं कि सत्याग्रहीका ध्येय है विरोधीको पाशविक होनेसे रोकना और विरोधीको दण्ड देनेके लिए विवश न करना। "सत्याग्रहका रहस्य अन्यायीको अन्याय करनेका प्रलोभन न देनेमें है।"[२] सत्याग्रही कष्ट-सहनका, मृत्युका भी, स्वागत करता है, लेकिन कष्ट-सहनकी खोजमें नहीं निकलता; उद्देश्य-सिद्धिके प्रयत्नमें जो कष्ट-सहन अपने-आप आ पड़ता है उसे वह सहर्ष स्वीकार करता है, लेकिन उसका साध्य सेवा और प्रेम है, कष्ट-सहन और मृत्यु नहीं। "हम सवमें एक शहीदकी मौत मरनेके लिए पर्याप्त वीरता होनी चाहिए, लेकिन शहीद वननेकी आसक्ति नहीं होनी चाहिए।"[३] सन् १९२४ में गांधीजीने सिक्ख सत्याग्रहियों द्वारा गिरफ्तारियोंमें रुकावटें डालनेको वातको — जिसके कारण अधिकारी उन पर गोली चलाते थे — अनुचित ठहराया था।[४]

वे स्पष्ट शब्दोंमें चेतावनी देते हैं कि सत्याग्रहीको जान-बूझकर विरोधीको उत्तेजित न करना चाहिए,[५] वल्कि विरोधीके सव उत्तेजक और अत्याचारपूर्ण कार्योंका सामना — कायरताके आरोपका जोखिम उठाकर भी — आदर्श आत्म-नियन्त्रणसे करना चाहिए।[६] उनका यह भी मत है कि आध्यात्मिक प्रयोग होनेके कारण सत्याग्रह कभी वदलेकी भावनाको उत्तेजना न देगा। सत्याग्रह मनुष्यके उत्कृष्ट अंशको जाग्रत करेगा, अपकृष्ट अंशको नहीं। लेकिन प्रकट है कि उत्कृष्ट अंशसे गांधीजीका अर्थ

---

१. उदाहरणके लिए, एस०; श्रीधरानीका मत उनकी 'वार विदाउट वॉयोलेन्स' (पृ० २६५) में देखिये।

२. नेशन्स वॉइस, पृ० १४८-४९; मीरा: ग्लीनिंग्स, पृ० १६; कन्वर्सेशन्स, पृ० ४३; ह०, १५-४-'३९, पृ० ८७।

३. यं० इं०, भाग-३, पृ० २०।

४. यं० इं०, भाग-२, पृ० ८३८।

५. ह०, २-३-'४०, पृ० २२।

६. ह०, २७-३-'३९, पृ० १४३-४४।

विरोधीके खुशमिजाज रहनेसे नहीं है। वास्तवमें अन्यायीके उत्कृष्ट अंशको जाग्रत करनेमें संभवतः उसको रुष्ट करना पड़े।

असहयोग

सत्याग्रहकी एक महत्त्वपूर्ण शाखा और कष्ट-सहनका एक प्रकार अहिंसात्मक असहयोग है। वह "विषादपूर्ण प्रेमकी अभिव्यक्ति है।"[१] असहयोग सदा विरोधीके हिंसा छोड़ देनेके बाद उसके साथ सहयोग करनेके उद्देश्यसे किया जाता है। गांधीजीने एक बार मिस अगाथा हैरिसनसे कहा था, "यद्यपि असहयोग अहिंसाके शस्त्रागारमें प्रमुख शस्त्र है, फिर भी यह न भूलना चाहिए कि वह सत्य और न्यायके अनुसार विरोधीके सहयोगकी प्राप्तिका साधन है।"[२] सन् १९२५ में उन्होंने लिखा था, "मेरे असहयोगके पीछे बुरे-से-बुरे विरोधीके साथ भी अल्पतम बहाने पर सहयोग करनेकी प्रबलतम इच्छा है। मुझ सरीखे अपूर्ण मनुष्यकी दृष्टिमें, जिसे सदा ही ईश्वरके अनुग्रहकी आवश्यकता है, कोई भी आदमी सुधारसे परे नहीं है।"[३]

असहयोगकी अन्तर्निहित धारणा यह है कि अन्यायी तभी सफल हो सकता है जब वह अपने शोषण-कार्यमें, यदि आवश्यकता हो तो बलपूर्वक, शोषितका सहयोग प्राप्त करे। और सत्याग्रहीका कर्तव्य है कि शोषकके प्रतिरोधसे प्राप्त कष्ट-सहनको स्वीकार करे और उसके संकल्पके प्रति आत्म-समर्पण न करे। यदि शोषित निष्क्रिय मौन सम्मति द्वारा अन्यायके प्रति सहिष्णुता दिखाता रहता है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे अन्याय अथवा अन्यायीसे प्राप्त लाभको स्वीकार करता है, तो शोषित भी अत्याचारीका सहकारी है।

असहयोग हिंसात्मक भी हो सकता है। लेकिन हिंसात्मक असहयोग बुराईको केवल बढ़ाता है। अशुभका परिपोषण हिंसासे ही हो सकता है, इसलिए यह आवश्यक है कि असहयोग अहिंसात्मक हो। असहयोगमें विरोधीकी आज्ञाकी सविनय अवज्ञा भी सम्मिलित है। लेकिन सविनय अवज्ञा सत्याग्रहके सामूहिक रूपका महत्त्वपूर्ण भाग है और इसलिए हम उसका वर्णन अगले अध्यायमें करेंगे।

असहयोग दैनिक जीवनकी समस्याओंके लिए उपयुक्त सार्वभौम उपाय है। उसका प्रयोग घनिष्ठ सम्बन्धियोंके विरुद्ध भी हो सकता है। गांधीजी लिखते हैं, "यदि मेरा पुत्र लज्जाजनक जीवन व्यतीत करे, तो मैं उसका

---

१. ह०, १७-५-'३९, पृ० १४४।

२. ह०, २९-४-'३९, पृ० १०१।

३. यं० इं०, भाग-२, पृ० ५१७।

भरण-पोषण जारी रख कर ऐसा करनेमें उसकी सहायता नहीं कर सकता। इसके विपरीत, उसके प्रति मेरा प्रेम इसे आवश्यक बना देता है कि मैं उसकी सब प्रकारकी सहायतासे हाथ खींच लूं, चाहे इससे उसकी मृत्यु ही क्यों न हो जाय। और उस प्रेमके कारण मेरा यह कर्तव्य है कि जब वह पश्चात्ताप करे तब मैं उसका स्वागत करूं और उसको आश्रय दूं।"[1]

इसी प्रकार "यदि पिता अन्याय करे, तो उसके बच्चोंका यह कर्तव्य है कि पिताका घर छोड़ दें। यदि स्कूलका प्रधानाध्यापक संस्थाको अनैतिक आधार पर चलाता है, तो विद्यार्थियोंको स्कूल छोड़ देना चाहिए। यदि किसी निगमका सभापति भ्रष्ट है, तो उसके सदस्योंको उस (निगम) को छोड़कर भ्रष्टतासे हाथ खींच लेना चाहिए; इसी प्रकार यदि सरकार घोर अन्याय करती है, तो शासितोंको पूर्ण या आंशिक रूपसे असहयोग करना चाहिए, जिससे शासककी अन्यायसे रक्षा हो जाय। मेरे द्वारा कल्पित उदाहरणोंमें से प्रत्येकमें कष्ट-सहनका एक अंश है, चाहे वह मानसिक हो या शारीरिक। इस कष्ट-सहनके विना स्वतन्त्रता प्राप्त करना सम्भव नहीं है।"[2]

जब अन्यायी सत्याग्रहीके सहयोगके विना भी काम चला सकता है, तो सत्याग्रहका उद्देश्य आत्मशुद्धि है। जब एक मित्र दूसरे मित्रको और नौकर मालिकको छोड़ देता है, तो वे इसी नम्र प्रकारके असहयोगका व्यवहार करते हैं। दूसरी ओर यदि अन्यायीका सत्याग्रहीके सहयोगके विना काम नहीं चल सकता, तो असहयोग उग्र प्रकारका होता है। उसका दृष्टांत है पिता द्वारा आश्रित पुत्रका त्याग। उग्र प्रकारके असहयोगसे प्रतिपक्षीको असुविधा और कभी-कभी तो हानि भी होती है। लेकिन विरोधीका हृदय-परिवर्तन असहयोगीका उद्देश्य और प्रेम उसका अस्त्र होना चाहिए। उग्र प्रकारके असहयोगका प्रयोग गंभीर मामलोंमें ही करना चाहिए। विरोधीकी असुविधासे सत्याग्रहीको दुःख होना चाहिए और असहयोगके परिणामस्वरूप सत्याग्रहीको किसी प्रकारका कष्ट सहना चाहिए।[3] यदि कष्टका भार विपक्षी पर हो, न कि सत्याग्रही पर, तो यह असहयोगके हिंसात्मक होनेका लक्षण है। सत्याग्रही सत्यकी साधना स्वयं कष्ट उठाकर करता है, दूसरोंको कष्ट देकर नहीं।

असहयोग करनेके समय भी सत्याग्रहीको चाहिए कि वह प्रतिपक्षीको यह महसूस करा दे कि सत्याग्रही उसका मित्र है। जहां तक सम्भव हो

---

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० २४७।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० २३३-३४।

३. यं० इं०, भाग–१, पृ० २३४, ३००।

सत्याग्रहीको मानवोचित सेवा द्वारा प्रतिपक्षीके हृदयको प्रभावित करनेका प्रयत्न करना चाहिए।[१]

उपवास

सत्याग्रहके शस्त्रागारका अन्तिम, सर्वश्रेष्ठ शक्तिवाला अस्त्र उपवास है। गांधीजी उसे आग्नेय अस्त्र कहते हैं,[२] और उनका दावा है कि उन्होंने उपवासको विज्ञानका रूप दिया है।[३] असहयोगमें सत्याग्रही विरोधीकी ओरसे आया हुआ कष्ट सहता है। उपवास सत्याग्रही द्वारा स्वयं-निर्धारित कष्ट-सहन है। उपवासमें अहिंसावादी स्वयं अपने शरीरकी आहुति देता है। लेकिन असहयोगके विपरीत इस आध्यात्मिक साधनका प्रयोग-क्षेत्र बहुत मर्यादित है और इसके सदुपयोग और दुरुपयोग — सत्याग्रही उपवास और दुराग्रही भूख-हड़ताल — के बीचका अन्तर बड़ा सूक्ष्म और साधारण रीतिसे अस्पष्ट होता है और असहयोगकी अपेक्षा बहुत अधिक कठिनतासे जाना जा सकता है।

यह सूक्ष्मता और अस्पष्टता इतनी अधिक है और इसके उपयोगके लिए सत्याग्रहीमें इतनी उच्च नैतिक संवेदनशीलताकी आवश्यकता है कि सत्याग्रहके प्रवर्तक गांधीजीसे भी इस अस्त्रके प्रयोगमें भूल हुई थी। उनका राजकोटका उपवास न्यायसंगत था, किन्तु बादमें उन्होंने महसूस किया कि उपवास करनेके साथ-साथ उनको ब्रिटिश सरकारसे हस्तक्षेप करनेकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिए थी। पुराने घरेलू सम्बन्धके कारण वे राजकोटके उस समयके शासकको पुत्रके समान मानते थे। गांधीजीके उपवासका कारण यह था कि शासकने सत्याग्रहियोंको शासनमें सुधार करनेका जो वचन दिया था उसका पालन न किया था। उनका मत था कि उपवासके साथ ब्रिटिश सरकारसे हस्तक्षेपकी प्रार्थनाने उपवासको दोषपूर्ण बना दिया। बादमें गांधीजीने इस हस्तक्षेपसे प्राप्त लाभको त्याग दिया।[४]

उपवासका प्रयोग, जैसा कि अध्याय ६ में बताया जा चुका है, तपस्या या आत्माभिव्यक्तिके लिए शुद्धकारी अनुशासनके रूपमें, अर्थात् शरीर पर आत्माकी प्रभुत्व-प्राप्तिके लिए हो सकता है। इस प्रकारके उपवासका सम्बन्ध अपनी भूलों और त्रुटियोंसे होता है और वह अनुशासन और आत्म-विकासका

१. ह०, १२–११–'३८, पृ० ३२७।

२. ह०, १३–१०–'४०, पृ० ३३२।

३. गांधीजीका २१–९–'३२ का वक्तव्य।

४. यह कहना कि गांधीजीने यह उपवास राजकोट-निवासियोंको राजनैतिक अधिकार प्राप्त करानेके लिए किया था भूल है। यदि राजकोटके ठाकुर वचनका पालन करते, तो राजनैतिक अधिकार अवश्य मिल गये होते। किन्तु नैतिक दृष्टिकोणसे दोनों उद्देश्योंमें बहुत अन्तर है।

है।[1] उपवासके लिए शारीरिक क्षमताका कोई महत्त्व नहीं, लेकिन सत्याग्रहीमें आध्यात्मिक योग्यता और स्पष्ट अन्तर्दृष्टि आवश्यक है। ईश्वरमें जीवित श्रद्धा भी अनिवार्य है। सत्याग्रही उपवासमें श्रद्धाकी कमी, क्रोध, अधैर्य और स्वार्थपरताके लिए कोई स्थान नहीं।[2] ये दोष उपवासको हिंसक बना देते हैं। "... सत्य और अहिंसाके अतिरिक्त सत्याग्रहीको यह विश्वास होना चाहिए कि ईश्वर उसको आवश्यक शक्ति देगा और यदि उपवासमें अल्पतम अशुद्धता भी है, तो फौरन उपवास तोड़नेमें उसे संकोच न होगा। असीम धैर्य, दृढ़ निश्चय, ध्येयकी एकाग्रता और पूर्ण शान्ति आवश्यक रूपसे होनी ही चाहिए; लेकिन क्योंकि इन सब गुणोंको एकदम विकसित कर लेना किसी व्यक्तिके लिए असम्भव है, इसलिए जो अहिंसाके नियमोंका पालन नहीं करता रहा है, उसे सत्याग्रही उपवास नहीं करना चाहिए।"[3] गांधीजीके अनुसार जो सत्याग्रही उपवास करना चाहते हैं, उन्हें आध्यात्मिक शुद्धताके लिए किये गये उपवासोंका कुछ व्यक्तिगत अनुभव निश्चित रूपसे होना चाहिए।

प्रकट है कि यद्यपि उपवासका वैयक्तिक और सामूहिक सत्याग्रहमें महत्त्वपूर्ण स्थान है, फिर भी जनसमूह उसका उचित और प्रभावोत्पादक रीतिसे उपयोग नहीं कर सकता। चुने हुए सुयोग्य व्यक्ति ही सत्याग्रही उपवास कर सकते हैं।

यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति या समुदायकी भूलने, जिसके सुधारके लिए उपवास किया जा रहा है, सत्याग्रहीको घोर कष्ट पहुंचाया हो, उसके अंतरतमको हिला दिया हो और सत्याग्रहीको उपवासकी आंतरिक प्रेरणा हुई हो — उसने अन्तरात्माकी स्पष्ट पुकार सुनी हो। उपवास प्रतिपक्षीके विरुद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह विरोधीके प्रति एक प्रकारकी हिंसा होगी। सत्याग्रही विरोधीकी आज्ञाकी सविनय अवज्ञा करके उसको दण्ड देनेका निमंत्रण देता है। लेकिन जब विरोधी उसको दण्ड देनेसे इनकार कर दे, तो सत्याग्रहीके

---

१. आत्मकथा, भाग–४, अ० ३६; यं० इं०, भाग–२, पृ० ११८३; ह०, १८–३–'३९, पृ० ५६।

२. किसी मनुष्यसे रुपया ऐंठनेके लिए या ऋण वसूल करनेके लिए किये गये उपवास स्वार्थयुक्त प्रयोजनके खातिर अनुचित दबाव डालनेके लिए की गई भूख-हड़तालके दृष्टांत हैं। उपवासके इस दुरुपयोगका दृढ़ प्रतिरोध करना सबका कर्तव्य है, क्योंकि यदि भय दिखाकर रुपया वसूल करनेके लिए किये गये उपवासोंको प्रोत्साहन मिले, तो सामाजिक जीवन विशृंखल हो जायगा। देखिये ह०, ९–९–'३३ और यं० इं०, भाग–२, पृ० ११८३।

३. ह०, १३–१०–'४०, पृ० ३२२।

शक्तिशाली साधन होता है। इसका एक उदाहरण है चौरीचौरा-काण्डके बाद फरवरी १९२२ में गांधीजी द्वारा आत्मशुद्धिके लिए प्रार्थनाके रूपमें किया गया पांच दिनका उपवास, जिससे वे "नैतिक वातावरणके अल्पतम परिवर्तनको अंकित करनेमें सक्षम, अधिक उपयुक्त उपकरण बन सकें।" एक दूसरा उदाहरण है मई १९३३ का इक्कीस दिनका शुद्धिकारी उपवास, जिसको गांधीजी एक प्रकारकी हृदयकी प्रार्थना कहते हैं और जो उनको तथा उनके सहयोगियोंको हरिजनोंके सम्बन्धमें अधिक जागरूक रखनेके लिए किया गया था।[1]

उपवास अन्यायके प्रतिरोध और अन्यायीके हृदय-परिवर्तनका साधन भी है। इस प्रकारका उपवास गांधीजीकी भाषामें "शुद्ध और प्रेममय हृदयकी प्रार्थनाकी उच्चतम अभिव्यक्ति है।" वह अन्यायीके श्रेष्ठतम अंशको जागृत करनेके लिए उसके हृदयको प्रभावित करनेका प्रयास है। गांधीजी जैसे व्यक्तिका उपवास जनमतको सदा बहुत प्रभावित करता है। गांधीजीके अनुसार जनसमूहोंको प्रभावित करनेवाली पद्धतिके रूपमें उसकी सक्षमताका कारण यह है कि जनसमूहकी बुद्धि भाषणों और लेखों द्वारा नहीं वरन् ऐसे साधनोंसे प्रभावित होती है, जिन्हें वे भलीभांति समझते हों—अर्थात् कष्ट-सहनके द्वारा, और इसकी "सर्वश्रेष्ठ और अधिकतम ग्राह्य पद्धति है उपवास।" सन् १९३४ में उन्होंने कहा था कि "यहां और दक्षिण अफ्रीकामें मेरा बार बारका यह अनुभव रहा है कि जब इसका भलीभांति प्रयोग किया गया, तब यह अधिकतम अचूक उपचार सिद्ध हुआ है। . . . जिस एकमात्र भाषाको वे (जनसमूह) समझते हैं, वह है हृदयकी भाषा; और उपवास, जब वह नितान्त निःस्वार्थ होता है, हृदयकी भाषा है।"[2]

परन्तु इस सत्याग्रही अस्त्रके प्रयोगके लिए गंभीरताकी आवश्यकता है। उसका प्रयोग विशेष अवसरों पर उपवास-कलामें दक्ष व्यक्तियों द्वारा या किसी उपवास-विशेषज्ञकी देखरेखमें ही हो सकता है।[3] यदि पहलेकी तैयारी और पर्याप्त विचारके बिना उपवास किया जाय, तो वह सत्याग्रही उपवास नहीं, बल्कि दुराग्रही भूख-हड़ताल है।

अवसर और योग्यता

गांधीजीने इस बातका विवेचन किया है कि इस सत्याग्रही साधनके उचित प्रयोगके लिए किस प्रकारके अवसर और योग्यताकी आवश्यकता

१. बापूज़ लेटर्स टु मीरा, पृ० २६०।
२. कन्वर्सेशन्स, पृ० १२७।
३. ह०, ११–३–'३९, पृ० ४६; ७–७–'४२, पृ० २४८।

है।[1] उपवासके लिए शारीरिक क्षमताका कोई महत्त्व नहीं, लेकिन सत्याग्रहीमें आध्यात्मिक योग्यता और स्पष्ट अन्तर्दृष्टि आवश्यक है। ईश्वरमें जीवित श्रद्धा भी अनिवार्य है। सत्याग्रही उपवासमें श्रद्धाकी कमी, क्रोध, अधैर्य और स्वार्थपरताके लिए कोई स्थान नहीं।[2] ये दोष उपवासको हिंसक बना देते हैं। "...सत्य और अहिंसाके अतिरिक्त सत्याग्रहीको यह विश्वास होना चाहिए कि ईश्वर उसको आवश्यक शक्ति देगा और यदि उपवासमें अल्पतम अशुद्धता भी है, तो फौरन उपवास तोड़नेमें उसे संकोच न होगा। असीम धैर्य, दृढ़ निश्चय, ध्येयकी एकाग्रता और पूर्ण शान्ति आवश्यक रूपसे होनी ही चाहिए; लेकिन क्योंकि इन सब गुणोंको एकदम विकसित कर लेना किसी व्यक्तिके लिए असम्भव है, इसलिए जो अहिंसाके नियमोंका पालन नहीं करता रहा है, उसे सत्याग्रही उपवास नहीं करना चाहिए।"[3] गांधीजीके अनुसार जो सत्याग्रही उपवास करना चाहते हैं, उन्हें आध्यात्मिक शुद्धताके लिए किये गये उपवासोंका कुछ व्यक्तिगत अनुभव निश्चित रूपसे होना चाहिए।

प्रकट है कि यद्यपि उपवासका वैयक्तिक और सामूहिक सत्याग्रहमें महत्त्वपूर्ण स्थान है, फिर भी जनसमूह उसका उचित और प्रभावोत्पादक रीतिसे उपयोग नहीं कर सकता। चुने हुए सुयोग्य व्यक्ति ही सत्याग्रही उपवास कर सकते हैं।

यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति या समुदायकी भूलने, जिसके सुधारके लिए उपवास किया जा रहा है, सत्याग्रहीको घोर कष्ट पहुंचाया हो, उसके अंतरतमको हिला दिया हो और सत्याग्रहीको उपवासकी आंतरिक प्रेरणा हुई हो — उसने अन्तरात्माकी स्पष्ट पुकार सुनी हो। उपवास प्रतिपक्षीके विरुद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह विरोधीके प्रति एक प्रकारकी हिंसा होगी। सत्याग्रही विरोधीकी आज्ञाकी सविनय अवज्ञा करके उसको दण्ड देनेका निमंत्रण देता है। लेकिन जब विरोधी उसको दण्ड देनेसे इनकार कर दे, तो सत्याग्रहीके

---

१. आत्मकथा, भाग–४, अ० ३६; यं० इं०, भाग–२, पृ० ११८३; ह०, १८–३–'३९, पृ० ५६।

२. किसी मनुष्यसे रुपया ऐंठनेके लिए या ऋण वसूल करनेके लिए किये गये उपवास स्वार्थयुक्त प्रयोजनके खातिर अनुचित दबाव डालनेके लिए की गई भूख-हड़तालके दृष्टांत हैं। उपवासके इस दुरुपयोगका दृढ़ प्रतिरोध करना सबका कर्तव्य है, क्योंकि यदि भय दिखाकर रुपया वसूल करनेके लिए किये गये उपवासोंको प्रोत्साहन मिले, तो सामाजिक जीवन विशृंखल हो जायगा। देखिये ह०, ९–९–'३३ और यं० इं०, भाग–२, पृ० ११८३।

३. ह०, १३–१०–'४०, पृ० ३२२।

लिए यह अनुचित है कि वह अपने आपको दण्ड दे।[1] उपवासका प्रयोग केवल अपने निकटतम और प्रियतम व्यक्तियोंके विरुद्ध उनकी भलाईके लिए ही हो सकता है।[2] सत्याग्रहीको अन्तिम आश्रयके रूपमें केवल तभी उपवास करना चाहिये जब अन्याय-निवारणके सभी अन्य मार्ग ढूंढ़े जा चुके हों और व्यर्थ सिद्ध हो चुके हों।[3]

जिससे सत्याग्रहीको प्रेम हो और जिसके सुधारके लिए सत्याग्रही उपवास करता है, वह व्यक्ति भी हो सकता है और समुदाय भी। गांधीजीका राजकोटका उपवास वहांके शासकसे उसके वचन-भंगका पश्चात्ताप करानेके लिए था। नवम्बर १९२१ में बम्बईमें उनका पांच दिनका उपवास वहांके निवासियोंके विरुद्ध था और उनसे उस दंगेको बन्द करनेकी चेतावनी और अपील थी, जो प्रिंस ऑफ वेल्सके बम्बई आगमनके अवसर पर हो गया था। सन् १९३२ के गांधीजीके सुविख्यात ऐतिहासिक उपवासका उद्देश्य था "हिन्दू जनताकी अन्तरात्माको उचित धार्मिक कार्यकी ओर प्रेरित करना" और अस्पृश्य जातियोंको पृथक् चुनाव-क्षेत्र देकर सवर्ण हिन्दुओंसे अलग करनेके सरकारी प्रयत्नका विरोध अपने जीवनको संकटमें डालकर करना।[4] कलकत्तेका उपवास (सितम्बर १९४७) हिन्दुओं और मुसलमानोंसे साम्प्रदायिक हिंसा बन्द करने और शान्तिसे रहनेकी अपील था। उसका उद्देश्य था "समाजके उत्तम, शान्तिप्रिय और बुद्धिमान तत्त्वोंको क्रियाशील बनाना, मानसिक जड़तासे उनकी रक्षा करना और अच्छाईकी भावनाको क्रियाशील बनाना।" उनका अन्तिम दिल्लीका उपवास (जनवरी १९४८) भारतके मुसलमान अल्पसंख्यकोंकी रक्षा और साम्प्रदायिक सद्भावना स्थापित करनेके लिए था। उन्होंने कहा था, "मेरा उपवास किसी एक ही दल, समुदाय या व्यक्तिके विरुद्ध नहीं है और तब भी इससे कोई बाहर नहीं है। वह सबकी अन्तरात्माके प्रति है, दूसरे अधिराज्य (पाकिस्तान) के बहुसंख्यक सम्प्रदायके प्रति भी है।" इसको उन्होंने अपना महानतम उपवास बताया और कहा कि "यह तभी और इसी शर्त पर समाप्त होगा जब मुझे संतोष हो जाय कि सब सम्प्रदायोंमें

---

१. तेन्दुलकर आदि : गांधीजी — हिज लाइफ एंड वर्क, पृ० ३६८-६९।

२. साधारण सत्याग्रही स्वयंसेवकका अपने गांववालों या पड़ोसियोंको इसलिए विवश करनेके खातिर उपवास करना कि वे उसका मत मानकर सरकारसे असहयोग करें, उपवासके स्पष्ट दुरुपयोगका उदाहरण है। यं० इं०, भाग-१, पृ० ९४१; यं० इं०, भाग-२, पृ० ११८३।

३. ह०, २१-४-'४६, पृ० ९३।

४. गांधीजीका २१-९-'३२ का वक्तव्य।

विना किसी वाहरी दवावके और कर्तव्यकी जागरूक भावनासे हार्दिक एकता पुनः स्थापित हो गयी है।"[१]

विपक्षीके विरुद्ध उपवास

यद्यपि गांधीजीका मत है कि विपक्षीके विरुद्ध उपवास नहीं करना चाहिए, लेकिन इस साधारण नियमके अपवाद भी हो सकते हैं। उन्होंने स्वयं कम-से-कम तीन वार ब्रिटिश सरकारके विरुद्ध उपवास किये और इनके अतिरिक्त एक वार उन्होंने सरकारको आमरण उपवासकी चेतावनी भी दी थी। २ दिसम्बर, १९३२ को जव वे यरवडा जेलमें कैदी थे, उन्होंने श्री अप्पा साहव पटवर्धन द्वारा जेलमें मेहतरके कामकी मांग पूरी करानेके लिए किये गये उपवासके समर्थनमें सहानुभूति-प्रदर्शनके लिए उपवास किया था। श्री पटवर्धनकी प्रार्थना, जिसे पहले जेल-अधिकारियोंने अस्वीकार कर दिया था, गांधीजीके उपवास प्रारम्भ करनेके दो दिन वाद स्वीकृत हो गई। १५ अगस्त, १९३३ को गांधीजीने फिर सरकारके विरुद्ध उपवास प्रारंभ किया। वे सविनय अवज्ञाके परिणामस्वरूप कैदी थे और उनकी मांग यह थी कि उनको जेलके अन्दरसे ही अस्पृश्यता-निवारण सम्वन्धी आन्दोलनके पथ-प्रदर्शनकी सुविधा मिले, जिसको उन्होंने सितम्वर १९३२ के उपवासके वाद अपना एकमात्र कार्य वना लिया था। उपवासके एक सप्ताह तक चलनेके वाद सरकारने उनको विना किसी शर्तके जेलसे मुक्त कर दिया।

सन् १९३२ में उन्होंने भारत-सचिवको चेतावनी दी थी कि सरकारकी आतंकवादी नीति औचित्यकी सीमाको लांघ चुकी है और वह सरकारी अफसरोंको पाशविकता और पतनकी ओर ले जा रही है। यह भयावह स्थिति गांधीजीकी आत्माको आंदोलित कर रही थी और आंतरिक प्रेरणा होने पर उनके आमरण उपवास करके अपनी आहुति दे देनेकी सम्भावना थी।[२] इस चेतावनीके वाद शीघ्र ही गांधीजी अस्पृश्यता-निवारण आन्दोलनमें लग गये और आमरण उपवासका यह संकट जैसे-तैसे टल गया।

सन् १९४३ में पूनामें आगाखां महलमें किया हुआ २१ दिनका "यथा-क्षमता उपवास" ब्रिटिश सरकारकी मनोवृत्तिके विरुद्ध गांधीजीके "शरीरकी आहुति" थी और उस न्यायके लिए, जिसे वे सरकारसे पानेमें असफल रहे थे, "उच्चतम न्यायालयसे पुनर्विचारकी प्रार्थना" थी। सरकारने कांग्रेसको,

---

१. ह०, १४-९-'४७, पृ० ३२४; १८-१-'४८, पृ० ५१४; वापूज लेटर्स टु मीरा, पृ० ३८५।

२. 'हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस' में उद्धृत गांधीजीका ता० ११-३-'३२ का पत्र, पृ० ९०८-१२।

विशेषकर गांधीजीको, अगस्त १९४२ के हिंसात्मक क्रान्तिकारी आन्दोलनके लिए उत्तरदायी ठहराया था। दूसरी ओर गांधीजीके अनुसार इन घटनाओंका सारा दोष सरकारका था, जिसकी आतंकवादी दमनकारी नीतिने जनताको पागल-सा बना दिया था। उपवासके पहलेके पत्र-व्यवहारमें गांधीजीने कई बार वाइसरॉयसे प्रार्थना की कि यदि उनकी भूल प्रमाणित कर दी जाय, तो वे उसको मान लेंगे और पर्याप्त प्रायश्चित्त करेंगे। लेकिन सरकारने इस आरोपको न्यायालयके सामने प्रमाणित करनेकी कोई व्यवस्था न की। दूसरी ओर वाइसरॉयने तो गांधीजी पर यह आरोप भी लगाया कि वे कायरताके कारण उपवासके द्वारा उत्तरदायित्वसे बचनेका सुगम मार्ग खोज रहे हैं। इस अप्रामाणिक आरोपसे उत्पन्न विवशताकी भावनाको देशकी राजनैतिक और आर्थिक स्थितिने, विशेषकर देश-व्यापक अकालने, और भी तीव्र कर दिया। गांधीजीके अनुसार ऐसे वेदनापूर्ण अवसरोंके लिए सत्याग्रहके नियमके अनुसार "उपवास द्वारा शरीरके बलिदानकी" व्यवस्था है।[1]

इन दृष्टांतोंसे प्रकट है कि सम्भवतः कुछ अवसरों पर शक्तिशाली विरोधीका अन्याय सत्याग्रहीके जीवन और स्वतन्त्रताको इतना संकुचित कर दे कि उसकी व्यथित आत्मा प्रतिरोधके इस अन्तिम साधनके लिए पुकार उठे।

अपमानजनक या अमानुषिक व्यवहारके विरोधमें सत्याग्रही कैदियोंका उपवास करना गांधीजी उचित मानते हैं। ऐसे आपत्तिजनक व्यवहारके कुछ उदाहरण है—कैदियोंका खाना उनकी ओर फेंक देना, उनको गाली देना, उनकी धार्मिक स्वतन्त्रताका अपहरण इत्यादि। कैदसे मुक्त होनेके लिए इसका उपयोग अनुचित है।[2]

उपवासकी आलोचना

उपवासकी पद्धतिकी कड़ी आलोचना की गई है। मार्च १९३९ में जॉर्ज अरुण्डेलने कहा था कि उपवास आतंकवाद है, जिसके विरुद्ध विरोधीके लिए आत्म-समर्पण करने या सत्याग्रहीकी आत्महत्या देखनेके अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं। इस प्रकार उपवास विरोधीके विरुद्ध उसकी मानवता, वीरता और दयाकी भावनाओंका दुरुपयोग है।[3]

---

१. गांधीजीज़ कॉरेस्पोंडेन्स विद दि गवर्नमेंट, पृ० ४०।

२. साउथ अफ्रीका, पृ० ३४५-४६; जे० एच० होम्स : महात्मा गांधी, पृ० २०९-१०, २१५।

३. गांधीजीके साथ जॉर्ज अरुण्डेलका पत्र-व्यवहार, मार्च १९३९ में इण्डियन प्रेसमें प्रकाशित; गांधीजीज कॉरेस्पोंडेन्स विद दि गवर्नमेंट, पृ० ७३।

यरवडा-उपवासके अवसर पर कविवर टैगोरने उसे "ईश्वरको उसकी व्यवस्थाके विरोधमें शरीर-पीड़नकी चुनौती बताया था।" उनके अनुसार उसका उपयोग जीवनकी महान देनको और अन्तिम क्षण तक पूर्णताके आदर्श पर अटल रहनेके अवसरको त्याग देना है। और यही प्रार्थनाका, आदर्श मानवताके अस्तित्वका औचित्य है।[1] कुछ आलोचकोंने राजकोटके उपवासके समय कहा था कि जनतन्त्रका निर्माण उपवासकी पद्धतिसे नहीं हो सकता, क्योंकि उसका प्रयोग जनसमूहों द्वारा नहीं हो सकता।[2] हो सकता है कि सत्याग्रही उपवासकी आवश्यकताके बारेमें भूल कर दे और अकस्मात् सत्य और प्रेमकी साधनाकी अपनी शक्तिका अंत कर बैठे। यह भी खतरा है कि कुछ मनुष्य अपने विरोधियोंको धमकाने और बल-प्रयोगके साधनके रूपमें उपवासका दुरुपयोग करें।

उपवासके कारण अक्सर ठीक सोच-विचार करना बड़ा कठिन हो जाता है। विरोधीके लिए यह स्वाभाविक है कि वह सत्याग्रहीकी मृत्युसे होनेवाली अपनी बदनामीके डरसे या उसके कष्टोंको देखनेसे उमड़ी हुई सहानुभूतिके दबावसे सत्याग्रहीकी ऐसी मांग भी स्वीकार कर ले, जो उसको उचित नहीं जंचती। यह खतरा विशेष रूपसे तब अधिक होता है जब उपवास करनेवाला सत्याग्रही गांधीजी सरीखा कोई महान व्यक्ति हो। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि उपवासके परिणाम-स्वरूप हृदय-परिवर्तन हो ही जाय। उपवासका एक परिणाम यह भी हो सकता है कि विरोधी पर अनुचित दबाव पड़े। लेकिन यह खतरा तो केवल उपवासमें नहीं, कष्ट-सहनके प्रत्येक तरीकेमें है। कष्ट-सहनके दृश्यसे दर्शक पर सहानुभूतिकी प्रतिक्रिया होती है और कम-से-कम उस समय झगड़ेके मूलभूत प्रश्नको निष्पक्ष रूपसे समझना कठिन हो जाता है। लेकिन यदि समझाने-बुझाने और अन्य नम्र उपायोंसे काम न चले, तो कष्ट सहकर विरोधीका हृदय-परिवर्तन करनेका प्रयत्न करना उसको कष्ट देकर दबा देनेसे कहीं ज्यादा अच्छा है। इसके अतिरिक्त समय बीतने पर प्रश्न स्पष्ट हो जाता है और सत्यकी जीत होती है। जैसा कि गांधीजीने १९४३ में सर रेजिनाल्ड मैक्सवेलको लिखे एक पत्रमें कहा था, "गुप्त या प्रगट रूपसे विरोधीकी जान लेना या उसको उत्कृष्ट भावनाओंका श्रेय देना और उनको उपवास तथा उसीके समान अन्य उपायोंके द्वारा जाग्रत करना — इनमें से कौन अधिक अच्छा है?" पुनः "उपवास अथवा आत्म-बलिदानके अन्य किसी उपाय द्वारा स्वयं अपने जीवनसे खिलवाड़ करना अथवा विरोधी और उसके आश्रितोंके विनाशके प्रयासमें लगकर (उनके)

---

१. ह०, १–७–'३३ में छपे गांधीजीको लिखे उनके पत्र।

२. ह०, १५–४–'३९, पृ० ८८।

विशेषकर गांधीजीको, अगस्त १९४२ के हिंसात्मक क्रान्तिकारी आन्दोलनके लिए उत्तरदायी ठहराया था। दूसरी ओर गांधीजीके अनुसार इन घटनाओंका सारा दोष सरकारका था, जिसकी आतंकवादी दमनकारी नीतिने जनताको पागल-सा बना दिया था। उपवासके पहलेके पत्र-व्यवहारमें गांधीजीने कई बार वाइसरॉयसे प्रार्थना की कि यदि उनकी भूल प्रमाणित कर दी जाय, तो वे उसको मान लेंगे और पर्याप्त प्रायश्चित्त करेंगे। लेकिन सरकारने इस आरोपको न्यायालयके सामने प्रमाणित करनेकी कोई व्यवस्था न की। दूसरी ओर वाइसरॉयने तो गांधीजी पर यह आरोप भी लगाया कि वे कायरताके कारण उपवासके द्वारा उत्तरदायित्वसे बचनेका सुगम मार्ग खोज रहे हैं। इस अप्रामाणिक आरोपसे उत्पन्न विवशताकी भावनाको देशकी राजनैतिक और आर्थिक स्थितिने, विशेषकर देश-व्यापक अकालने, और भी तीव्र कर दिया। गांधीजीके अनुसार ऐसे वेदनापूर्ण अवसरोंके लिए सत्याग्रहके नियमके अनुसार "उपवास द्वारा शरीरके बलिदानकी" व्यवस्था है।[1]

इन दृष्टांतोंसे प्रकट है कि सम्भवतः कुछ अवसरों पर शक्तिशाली विरोधीका अन्याय सत्याग्रहीके जीवन और स्वतन्त्रताको इतना संकुचित कर दे कि उसकी व्यथित आत्मा प्रतिरोधके इस अन्तिम साधनके लिए पुकार उठे।

अपमानजनक या अमानुषिक व्यवहारके विरोधमें सत्याग्रही कैदियोंका उपवास करना गांधीजी उचित मानते हैं। ऐसे आपत्तिजनक व्यवहारके कुछ उदाहरण हैं—कैदियोंका खाना उनकी ओर फेंक देना, उनको गाली देना, उनकी धार्मिक स्वतन्त्रताका अपहरण इत्यादि। कैदसे मुक्त होनेके लिए इसका उपयोग अनुचित है।[2]

उपवासकी आलोचना

उपवासकी पद्धतिकी कड़ी आलोचना की गई है। मार्च १९३९में जॉर्ज अरुण्डेलने कहा था कि उपवास आतंकवाद है, जिसके विरुद्ध विरोधीके लिए आत्म-समर्पण करने या सत्याग्रहीकी आत्महत्या देखनेके अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं। इस प्रकार [illegible] विरुद्ध उसकी मानवता, वीरता और दयाकी भावन[illegible]

यरवडा-उपवासके अवसर पर कविवर टैगोरने उसे "ईश्वरको उसकी व्यवस्थाके विरोधमें शरीर-पीड़नकी चुनौती बताया था।" उनके अनुसार उसका उपयोग जीवनकी महान देनको और अन्तिम क्षण तक पूर्णताके आदर्श पर अटल रहनेके अवसरको त्याग देना है। और यही प्रार्थनाका, आदर्श मानवताके अस्तित्वका औचित्य है।[1] कुछ आलोचकोंने राजकोटके उपवासके समय कहा था कि जनतन्त्रका निर्माण उपवासकी पद्धतिसे नहीं हो सकता, क्योंकि उसका प्रयोग जनसमूहों द्वारा नहीं हो सकता।[2] हो सकता है कि सत्याग्रही उपवासकी आवश्यकताके बारेमें भूल कर दे और अकस्मात् सत्य और प्रेमकी साधनाकी अपनी शक्तिका अंत कर बैठे। यह भी खतरा है कि कुछ मनुष्य अपने विरोधियोंको धमकाने और बल-प्रयोगके साधनके रूपमें उपवासका दुरुपयोग करें।

उपवासके कारण अक्सर ठीक सोच-विचार करना बड़ा कठिन हो जाता है। विरोधीके लिए यह स्वाभाविक है कि वह सत्याग्रहीकी मृत्युसे होनेवाली अपनी बदनामीके डरसे या उसके कष्टोंको देखनेसे उमड़ी हुई सहानुभूतिके दबावसे सत्याग्रहीकी ऐसी मांग भी स्वीकार कर ले, जो उसको उचित नहीं जंचती। यह खतरा विशेष रूपसे तब अधिक होता है जब उपवास करनेवाला सत्याग्रही गांधीजी सरीखा कोई महान व्यक्ति हो। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि उपवासके परिणाम-स्वरूप हृदय-परिवर्तन हो ही जाय। उपवासका एक परिणाम यह भी हो सकता है कि विरोधी पर अनुचित दबाव पड़े। लेकिन यह खतरा तो केवल उपवासमें नहीं, कष्ट-सहनके प्रत्येक तरीकेमें है। कष्ट-सहनके दृश्यसे दर्शक पर सहानुभूतिकी प्रतिक्रिया होती है और कम-से-कम उस समय झगड़ेके मूलभूत प्रश्नको निष्पक्ष रूपसे समझना कठिन हो जाता है। लेकिन यदि समझाने-बुझाने और अन्य नम्र उपायोंसे काम न चले, तो कष्ट सहकर विरोधीका हृदय-परिवर्तन करनेका प्रयत्न करना उसको कष्ट देकर दबा देनेसे कहीं ज्यादा अच्छा है। इसके अतिरिक्त समय बीतने पर प्रश्न स्पष्ट हो जाता है और सत्यकी जीत होती है। जैसा कि गांधीजीने १९४३ में सर रेजिनाल्ड मैक्सवेलको लिखे एक पत्रमें कहा था, "गुप्त या प्रगट रूपसे विरोधीकी जान लेना या उसको उत्कृष्ट भावनाओंका श्रेय देना और उनको उपवास तथा उसीके समान अन्य उपायोंके द्वारा जाग्रत करना — इनमें से कौन अधिक अच्छा है?" पुनः "उपवास अथवा आत्म-बलिदानके अन्य किसी उपाय द्वारा स्वयं अपने जीवनसे खिलवाड़ करना अथवा विरोधी और उसके आश्रितोंके विनाशके प्रयासमें लगकर (उनके)

---

१. ह०, १–७–'३३ में छपे गांधीजीको लिखे उनके पत्र।

२. ह०, १५–४–'३९, पृ० ८८।

विशेषकर गांधीजीको, अगस्त १९४२ के हिंसात्मक क्रान्तिकारी आन्दोलनके लिए उत्तरदायी ठहराया था। दूसरी ओर गांधीजीके अनुसार इन घटनाओंका सारा दोष सरकारका था, जिसकी आतंकवादी दमनकारी नीतिने जनताको पागल-सा बना दिया था। उपवासके पहलेके पत्र-व्यवहारमें गांधीजीने कई बार वाइसरॉयसे प्रार्थना की कि यदि उनकी भूल प्रमाणित कर दी जाय, तो वे उसको मान लेंगे और पर्याप्त प्रायश्चित्त करेंगे। लेकिन सरकारने इस आरोपको न्यायालयके सामने प्रमाणित करनेकी कोई व्यवस्था न की। दूसरी ओर वाइसरॉयने तो गांधीजी पर यह आरोप भी लगाया कि वे कायरताके कारण उपवासके द्वारा उत्तरदायित्वसे बचनेका सुगम मार्ग खोज रहे हैं। इस अप्रामाणिक आरोपसे उत्पन्न विवशताकी भावनाको देशकी राजनैतिक और आर्थिक स्थितिने, विशेषकर देश-व्यापक अकालने, और भी तीव्र कर दिया। गांधीजीके अनुसार ऐसे वेदनापूर्ण अवसरोंके लिए सत्याग्रहके नियमके अनुसार "उपवास द्वारा शरीरके बलिदानकी" व्यवस्था है।[1]

इन दृष्टांतोंसे प्रकट है कि सम्भवतः कुछ अवसरों पर शक्तिशाली विरोधीका अन्याय सत्याग्रहीके जीवन और स्वतन्त्रताको इतना संकुचित कर दे कि उसकी व्यथित आत्मा प्रतिरोधके इस अन्तिम साधनके लिए पुकार उठे।

अपमानजनक या अमानुषिक व्यवहारके विरोधमें सत्याग्रही कैदियोंका उपवास करना गांधीजी उचित मानते हैं। ऐसे आपत्तिजनक व्यवहारके कुछ उदाहरण हैं—कैदियोंका खाना उनकी ओर फेंक देना, उनको गाली देना, उनकी धार्मिक स्वतन्त्रताका अपहरण इत्यादि। कैदसे मुक्त होनेके लिए इसका उपयोग अनुचित है।[2]

उपवासकी आलोचना

उपवासकी पद्धतिकी कड़ी आलोचना की गई है। मार्च १९३९ में जॉर्ज अरुण्डेलने कहा था कि उपवास आतंकवाद है, जिसके विरुद्ध विरोधीके लिए आत्म-समर्पण करने या सत्याग्रहीकी आत्महत्या देखनेके अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं। इस प्रकार उपवास विरोधीके विरुद्ध उसकी मानवता, वीरता और दयाकी भावनाओंका दुरुपयोग है।[3]

---

१. गांधीजीज़ कॉरेस्पोंडेन्स विद दि गवर्नमेंट, पृ० ४०।

२. साउथ अफ्रीका, पृ० ३४५-४६; जे० एच० होम्स: महात्मा गांधी, पृ० २०९-१०, २१५।

३. गांधीजीके साथ जॉर्ज अरुण्डेलका पत्र-व्यवहार, मार्च १९३९ में इण्डियन प्रेसमें प्रकाशित; गांधीजीज़ कॉरेस्पोंडेन्स विद दि गवर्नमेंट, पृ० ७३।

यरवडा-उपवासके अवसर पर कविवर टैगोरने उसे "ईश्वरको उसकी व्यवस्थाके विरोधमें शरीर-पीड़नकी चुनौती बताया था।" उनके अनुसार उसका उपयोग जीवनकी महान देनको और अन्तिम क्षण तक पूर्णताके आदर्श पर अटल रहनेके अवसरको त्याग देना है। और यही प्रार्थनाका, आदर्श मानवताके अस्तित्वका औचित्य है।[1] कुछ आलोचकोंने राजकोटके उपवासके समय कहा था कि जनतन्त्रका निर्माण उपवासकी पद्धतिसे नहीं हो सकता, क्योंकि उसका प्रयोग जनसमूहों द्वारा नहीं हो सकता।[2] हो सकता है कि सत्याग्रही उपवासकी आवश्यकताके बारेमें भूल कर दे और अकस्मात् सत्य और प्रेमकी साधनाकी अपनी शक्तिका अंत कर बैठे। यह भी खतरा है कि कुछ मनुष्य अपने विरोधियोंको धमकाने और बल-प्रयोगके साधनके रूपमें उपवासका दुरुपयोग करें।

उपवासके कारण अक्सर ठीक सोच-विचार करना बड़ा कठिन हो जाता है। विरोधीके लिए यह स्वाभाविक है कि वह सत्याग्रहीकी मृत्युसे होनेवाली अपनी बदनामीके डरसे या उसके कष्टोंको देखनेसे उमड़ी हुई सहानुभूतिके दबावसे सत्याग्रहीकी ऐसी मांग भी स्वीकार कर ले, जो उसको उचित नहीं जंचती। यह खतरा विशेष रूपसे तब अधिक होता है जब उपवास करनेवाला सत्याग्रही गांधीजी सरीखा कोई महान व्यक्ति हो। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि उपवासके परिणाम-स्वरूप हृदय-परिवर्तन हो ही जाय। उपवासका एक परिणाम यह भी हो सकता है कि विरोधी पर अनुचित दबाव पड़े। लेकिन यह खतरा तो केवल उपवासमें नहीं, कष्ट-सहनके प्रत्येक तरीकेमें है। कष्ट-सहनके दृश्यसे दर्शक पर सहानुभूतिकी प्रतिक्रिया होती है और कम-से-कम उस समय झगड़ेके मूलभूत प्रश्नको निष्पक्ष रूपसे समझना कठिन हो जाता है। लेकिन यदि समझाने-बुझाने और अन्य नम्र उपायोंसे काम न चले, तो कष्ट सहकर विरोधीका हृदय-परिवर्तन करनेका प्रयत्न करना उसको कष्ट देकर दबा देनेसे कहीं ज्यादा अच्छा है। इसके अतिरिक्त समय बीतने पर प्रश्न स्पष्ट हो जाता है और सत्यकी जीत होती है। जैसा कि गांधीजीने १९४३ में सर रेजिनाल्ड मैक्सवेलको लिखे एक पत्रमें कहा था, "गुप्त या प्रगट रूपसे विरोधीकी जान लेना या उसको उत्कृष्ट भावनाओंका श्रेय देना और उनको उपवास तथा उसीके समान अन्य उपायोंके द्वारा जाग्रत करना — इनमें से कौन अधिक अच्छा है?" पुनः "उपवास अथवा आत्म-बलिदानके अन्य किसी उपाय द्वारा स्वयं अपने जीवनसे खिलवाड़ करना अथवा विरोधी और उसके आश्रितोंके विनाशके प्रयासमें लगकर (उनके)

---

१. ह०, १–७–'३३ में छपे गांधीजीको लिखे उनके पत्र।
२. ह०, १५–४–'३९, पृ० ८८।

जीवनके साथ खिलवाड़ करना — इनमें से कौन अधिक अच्छा है?"[१] उनके अनुसार जनतन्त्रका विकास हिंसक उपद्रवोंसे रुकता है। अहिंसक प्रतिरोधकी पद्धति होनेके कारण उपवास मनुष्योंकी असीम नैतिक मूल्यकी मान्यता पर आधारित है। इस रूपमें वह हिंसाको घटा देती है और जनतन्त्रके विकासमें सहायक होती है।[२]

गांधीजी सत्याग्रही उपवासके इन खतरोंसे पूरी तरह सचेत थे।[३] यही कारण है कि वे इस बात पर बहुत जोर देते थे कि उसका प्रयोग असाधारण अवसरों पर ही विवश होकर बहुत सतर्कतासे केवल उन्हींको, या उनकी ही देखरेखमें, करना चाहिये, जो सत्याग्रह-विज्ञानमें पारंगत हैं।

प्रयोगमें खतरे अवश्य हैं, पर सैद्धान्तिक दृष्टिसे उपवासके साधनमें कोई खोट नहीं। जीवन आत्मानुभूतिका साधन है और जब असह्य नैतिक स्थितिसे छुटकारा पानेका दूसरा कोई उपाय नहीं हो, तो यह उचित ही है कि सत्याग्रही अपने जीवनकी आहुति देकर शुद्धताकी ऐसी अग्नि प्रज्वलित कर दे कि विरोधीका पत्थर-सा हृदय भी पिघल उठे। इस कारण उपवास अतीत कालसे ही हृदय-परिवर्तनका कारगर साधन रहा है और सदा रहेगा। अहिंसाकी अन्तिम शक्ति उसी प्रकार आत्म-बलिदान है जिस प्रकार हिंसाकी शक्ति विपक्षीका विनाश है। गांधीजीका निष्कर्ष है कि "आमरण उपवास सत्याग्रहके कार्यक्रमका अविभाज्य अंग है।"[४]

---

१. गांधीजीज़ कॉरेस्पोंडेन्स विद दि गवर्नमेंट, पृ० ७४।

२. ह०, १५-४-'३९, पृ० ८८।

३. गांधीजी सत्याग्रही उपवास और आत्महत्यामें भेद करते हैं। जीवन-संकल्प स्वाभाविक है और जीवन सप्रयोजन है। आत्महत्या उस प्रयोजनके विरुद्ध है और इसलिए अनुचित है। लेकिन यदि किसी असाध्य रोगसे कष्ट पानेवाला रोगी यह महसूस करे कि वह दूसरोंके लिए सेवा-क्षमतासे रहित भारस्वरूप हो गया है और उसका जीवन उसके तीमारदारोंके लिए भी उसी तरह यन्त्रणा बन गया है जैसे कि उसके लिए, तो उसे जीवनका अन्त कर लेना ठीक है; लेकिन संघर्षसे थक कर या तीव्र शारीरिक पीड़ाके कारण इस चरम साधनका उपयोग करना अनुचित है। इसी प्रकार इसका तब तक कोई औचित्य नहीं जब तक कि मनुष्य अपने विचारों, सम्मति आदिके द्वारा सेवा करनेमें सक्षम है। भूखे रहकर आत्महत्या करना किसी अन्य प्रकारकी अपेक्षा अच्छा है, क्योंकि इससे व्यक्तिकी दृढ़ताकी परख होती है और इसमें अपना निर्णय परिवर्तित करनेका अवसर रहता है। ह०, १०-६'-४०, पृ० १४६।

४. गांधीजी — हिज़ लाइफ एंड वर्क, ऊपर उद्धृत, पृ० ३७०।

सत्याग्रह और बाह्य सहायता

आंतरिक शक्ति या आत्मशक्ति सत्याग्रहीका मुख्य अवलम्ब है, इसलिए उसे वाह्य सहायताके सहारे नहीं रहना चाहिये। " . . . जब उसे बाहरी आश्रय मिल जाता है और वह उसे स्वीकार कर लेता है, तब तो वह अपना अधिकांश आंतरिक बल भी खो बैठता है। सत्याग्रहीको इस प्रकारके प्रलोभनसे हमेशा बचते रहना चाहिये।"[1] इस तर्कका समर्थन गांधीजी घरेलू झगड़ोंका हवाला देकर करते हैं। यदि सत्याग्रही अपने कुटुम्बसे अस्पृश्यताको दूर करना चाहता है, तो निस्सन्देह वह मित्रोंको कष्ट सहनेके लिए नहीं बुलायेगा, बल्कि अपने पिताके दिये हुए दण्डको सहेगा और उसके हृदय-परिवर्तनके लिए प्रेम और कष्ट-सहनके नियमका सहारा लेगा। सत्याग्रही कुटुम्बके मित्रोंको पिताको समझाने-बुझानेके लिए बुला सकता है। लेकिन वह कष्ट-सहनके अपने कर्तव्य और विशेषाधिकारमें किसीको भाग न लेने देगा।[2] गांधीजी सत्याग्रही द्वारा विपक्षीके विरुद्ध मुकदमा चलाने या पुलिसकी सहायता लेनेके विरुद्ध हैं, क्योंकि ये वाह्य सहायताके प्रकार हैं और हृदय-परिवर्तनके नहीं परन्तु बल-प्रयोगके साधन हैं।

सफलताकी कसौटी

गांधीजीके अनुसार सत्याग्रहीकी अहिंसाकी कसौटी उसका परिणाम है। यदि विरोधीके हृदय पर प्रभाव पड़े और वह सुधर जाये, तो सत्याग्रहीकी अहिंसा शुद्ध है और कष्ट-सहन पर्याप्त है। "मैं इसे स्वयंसिद्ध सत्य मानता हूं कि सच्ची अहिंसा विरोधीको प्रभावित करनेमें कभी असफल नहीं होती। यदि वह (असफल) होती है तो उस परिमाणमें वह अपूर्ण है।"[3] "विचार और भाषणमें अहिंसाके साथ अहिंसक कार्यकी विरोधी परन्तु स्थायी हिंसक प्रतिक्रिया कभी नहीं होनी चाहिए।"[4] विरोधीको महसूस होना चाहिए कि प्रतिरोधका उद्देश्य उसको हानि पहुंचाना नहीं है और उसका रुख नर्म हो जाना चाहिये। "अहिंसाको हमारे प्रति विरोधीके रुखको कठोर नहीं, बल्कि नर्म बना देना चाहिये, उसे विरोधीको पिघला देना चाहिये।"[5] . . . सन् १९३८ में उन्होंने लिखा था, "यह अहिंसाकी अचूक परीक्षा है कि अहिंसक

---

१. दक्षिण अफ्रीका, पृ० २८९।

२. यं० इं०, भाग–२, पृ० ८२१-२२।

३. ह०, ६–५–'३९, पृ० ११२।

४. ह०, २४–६–'३९, पृ० १७२।

५. ह० २४–६–'३९, पृ० १७२।

संघर्षमें कोई भी कटुता शेप नहीं रह जाती और अन्तमें शत्रु मित्रोंमें परिवर्तित हो जाते हैं।"[1] पुनः "वास्तविक सत्याग्रहको, वह आदर या सम्मान प्राप्त करनेमें असफल हो जाय तब भी, विपक्षीमें घृणा कभी नहीं उकसानी चाहिये।"[2]

सत्याग्रह और अपराध

जीवनके नियमके रूपमें सत्याग्रहका अर्थ यह है कि हमारी अहिंसाकी पहुंच अपराधी तक भी हो। समाजमें हिंसासे सबसे अधिक कष्ट अपराधियोंको ही सहना पड़ता है। वास्तवमें अधिकारोंकी रक्षाके लिए अपराधियोंको दंड देनेकी आवश्यकताके कारण बल-प्रयोग राज्यकी आवश्यक विशेषता समझी जाती है। कहा जाता है कि भले आदमियोंके झगड़ोंमें अहिंसासे काम चल सकता है। लेकिन अपराधियोंके विरुद्ध अहिंसा बेकार है। यह विचार-धारा गांधीजीको स्वीकार नहीं है। उनका विश्वास है कि "आपकी अहिंसाकी परीक्षा तभी होती है, जब आपको प्रतिरोधका सामना करना पड़ता है; उदाहरणके लिए, जब चोर या हत्यारा आपके सामने आता है। . . . भले आदमियोंके साथ रहनेमें आपका व्यवहार अहिंसक नहीं कहा जा सकता।"[3]

गांधीजीके अनुसार "अपराधी शब्दको कोशसे निकाल देना चाहिये। नहीं तो हम सब गुप्त रूपसे अपराधी हैं।"[4] अपराधियोंमें अन्तर केवल एक अंशका है। "वह धनवान और रुपयेवाला मनुष्य, जिसने शोपण अथवा इसी प्रकारके अन्य सन्दिग्ध साधनों द्वारा धन बटोरा है, उस चोरसे कम डाकेजनीका अपराधी नहीं है, जिसने जेब काटी है अथवा घरमें घुसकर चोरी की है। धनवान सम्मानके आवरणके पीछे शरण लेता है और कानूनी दण्डसे अपनेको बचा लेता है। वास्तवमें अपनी वैध आवश्यकताओंसे परे अधिक धनका सब प्रकारका संचय चोरी है।"[5]

गांधीजी कहते हैं कि "सब प्रकारके अपराध एक रोग हैं और उनके साथ वैसा ही वर्ताव होना चाहिए।"[6] यह रोग "वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाका परिणाम है।"[7] प्रतिकूल परिस्थितियोंके लिए समाज उत्तरदायी है।

---

१. ह०, १२-११-'३८, पृ० ३२७।
२. ह०, ६-५-'३९, पृ० ११३।
३. ह०, १३-५-'३९, पृ० १२१।
४. बापूज लेटर्स टु मीरा, पृ० २१८।
५. ह०, ११-८-'४६, पृ० २५५।
६. ह०, २७-४-'४०, पृ० १०१।
७. ह०, ५-५-'४६, पृ० १२४।

आधुनिक समाजके अपकृष्टतम रोग हैं शक्ति-प्रियता और धन-प्रियता; और दोनोंके मूलमें अज्ञान है। इनके कारण सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन दूषित हो गया है और वह जनसाधारणकी उपेक्षा करके थोड़ेसे मनुष्योंको सुविधा देता है।

दण्ड-विधानके कारण इस रोगकी भीषणता और भी बढ़ गई है। वास्तविक व्यवहारमें सरकार अब भी दण्डके मामलेमें प्रतिहिंसा और निषेध या निवारणके सिद्धान्तोंमें विश्वास करती है। इनमें प्रायः कैदीके सुधारका उद्देश्य भी जोड़ दिया जाता है। लेकिन सुधार प्रतिहिंसा और निषेधसे मेल नहीं खाता और इन तीनों अनमेल उद्देश्योंको साथ रखकर चलनेका परिणाम होता है उन लोगोंकी बड़ी संख्या, जो बार-बार अपराध करते हैं और जेल जाते हैं। इसके अतिरिक्त अपराधोंकी समस्याके संतोषजनक निपटारेके लिए सम्पूर्ण आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्थाका पुनर्निर्माण आवश्यक है।

गांधीजी समाजमें ऐसी व्यापक क्रान्तिके पक्षमें थे, जिससे हिंसा और शोषण अल्पतम परिमाणमें रह जायं और राज्य तथा समाजकी अहिंसक पुनर्रचना हो। यह सामाजिक पुनर्निर्माण अपराधोंके रोगका सच्चा उपचार होगा और अपराधोंकी संख्या बहुत घट जायगी।

अहिंसा पर आधारित उनके आदर्श राज्य-रहित जनतन्त्रमें कोई अपराध नहीं होगा। परन्तु यह आदर्श समग्रतामें उपलब्ध नहीं हो सकता। प्रमुख रूपमें अहिंसक राज्यमें "अपराध तो होंगे, परन्तु अपराधी नहीं होंगे।"[1] निस्सन्देह अपराध न्यूनतम हो जायंगे, किन्तु उनका अन्त नहीं होगा। उनकी धारणाके अहिंसक राज्यमें पुलिस भी होगी और जेलें भी होंगी। लेकिन उस राज्यकी पुलिस और जेलें आजसे बहुत भिन्न होंगी और अपराधीके अपराधके रोगका इलाज अहिंसक रीतिसे होगा।[2]

लेकिन राज्य और समाजकी अहिंसक पुनर्रचनामें पहला कदम व्यक्तिका होगा। जब तक साधारण मनुष्य अहिंसाको सिद्धान्तकी तरह नहीं मान लेता, तब तक अहिंसक राज्यका विकास नहीं हो सकता। सिद्धान्तकी तरह अहिंसाको स्वीकार करनेवाले सत्याग्रहीको अपराधीके साथ साधारण विपक्षीका-सा बर्ताव करना चाहिए।

किन्तु अहिंसक मार्गमें अपराधके प्रति निष्क्रिय कायरतापूर्ण मौनके लिए कोई स्थान नहीं, क्योंकि मौन सम्मति द्वारा मनुष्य अपराधमें सहायक होता है। इसी प्रकार अहिंसा प्रतिकार अथवा पुलिसकी सहायताके विरुद्ध है। "आप उसके (अपराधीके) हृदयको स्पर्श नहीं कर सकते और न उसका विश्वास

१. ह०, ५-५-'४६, पृ० १२४
२. विस्तृत विवेचनके लिए देखिये अध्याय ११।

प्राप्त कर सकते हैं, यदि साथ ही आप पुलिसके पास जानेको और उसके विरुद्ध सूचना देनेको तैयार हैं। यह घोर विश्वासघात होगा। सुधारक-पुलिसको सूचना देनेवाला नहीं वन सकता।"[1]

अधिकतर गम्भीर अपराध या तो स्त्रियों पर आक्रमणके रूपमें होते हैं या सम्पत्तिके संवंधमें। जहां तक सम्पत्तिका संवंध है, सत्याग्रही अपरिग्रह और शरीर-श्रमके आदर्शोंसे प्रेरणा लेता है और उसकी सम्पत्ति यथासम्भव कम होनी चाहिए। किसी भी दशामें उसके पास उससे अधिक सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए, जितनी उसके नैतिक, मानसिक और शारीरिक कल्याणके लिए आवश्यक है।

घोर निर्धनताके वीच सम्पत्तिवान होना अन्यायपूर्ण है और अहिंसा स्वाभाविक रीतिसे "अन्यायसे अर्जित लाभकी रक्षामें निस्सहाय है।"[2] यदि सत्याग्रही किसी सम्पत्तिको अपनी समझता है, तो वह उसको तभी तक रख सकता है जव तक संसार उसको आज्ञा देता है।[3] उसे संपत्तिकी रक्षाके हिंसात्मक उपायोंसे वचना चाहिए, वाहरी सहायता न लेना चाहिए, चोरों-लुटेरोंके प्रति सहिष्णु होना चाहिए, उनके साथ भूल करनेवाले सगे भाइयोंकी तरह वर्ताव करना चाहिए और अहिंसाका वुद्धिमानीसे प्रयोग करना चाहिए।[4] उदाहरणके लिए, सत्याग्रही खिड़की-दरवाजे खुले छोड़ सकता है और अपना सामान इस तरह रख सकता है कि चोर उस तक आसानीसे पहुंच सके। यदि अवसर हो तो चोरको समझाया-वुझाया जा सकता है। यह असाधारण दयालुता साधारण चोरके दिमागमें हलचल मचा देगी। सत्याग्रहीके प्रेमके कारण चोरके मनमें सहानुभूति उमड़ेगी और वह अपनेको सुधारेगा। चोरों और डाकुओंके खतरेका सामना करनेके लिए सत्याग्रही उनकी जातिके लोगोंसे मिलेगा, उनसे मित्रताका नाता जोड़ेगा।[5]

---

१. ह०, ११–८–'४६, पृ० २५५।

२. ह०, ५–९–'३६, पृ० २३६।

३. ह०, १८–८–'४०, पृ० २५४।

४. यं० इं०, भाग–२, पृ० ८६७-६८; आत्म-शुद्धि, पृ० ६-७; हिन्द स्वराज्य, पृ० १३२-३५; ह०, १३–७–'४०, पृ० १९४; ह०, ११–८–'४६, पृ० २५५।

५. ह०, २१–७–'४०, पृ० २१५। मेरी वारने सावरमती आश्रमके पड़ोसमें रहनेवाली एक ऐसी अपराधी जातिका उल्लेख किया है, जो चोरियां करती थी और जिसका आश्रमवासियोंके सहायता-कार्यसे सुधार हो गया था। वार, पृ० ३८।

उन्हें किसी ऐसे धंधे या उद्यमकी शिक्षा देगा, जिसके द्वारा वे ईमानदारीसे जीविका कमा सकें।[1]

यदि कोई मनुष्य सत्याग्रहीसे ऐसी संपत्ति छीननेका प्रयत्न करेगा, जिसका वह ट्रस्टी या संरक्षक है, तो उसके कष्ट-सहनका स्वरूप दूसरा होगा। संपत्तिकी हानि सहनेके स्थानमें वह सम्पत्ति और उसके वलपूर्वक छीननेवालेके वीच खड़ा हो जायगा और यदि आवश्यकता होगी तो संपत्तिकी रक्षामें मरनेके लिए भी तैयार हो जायगा, लेकिन हिंसाका उपयोग न करेगा।

अविभाजित भारतमें उत्तर-पश्चिमकी सीमाके उस पार रहनेवाली जातियोंके भी संवंधमें — जो सीमाप्रान्तके निवासियोंको लूटते थे और पकड़ कर ले जाते थे — गांधीजीका मत था कि नागरिक आत्मरक्षाकी अहिंसात्मक कला सीखें। अहिंसक आत्मरक्षाकी कलामें इन जातियोंका विश्वास करने, उनके साथ मित्रताका नाता जोड़ने और उनको स्वाभाविक शत्रु न मान लेने, उनकी सेवा करने और उनको प्रेम और सहानुभूतिसे समझाने-बुझानेका समावेश होता है। गांधीजीका मत था कि सीमाप्रान्तके निवासियोंको इन जातियोंको घरेलू धंधे सिखाकर उनकी निर्धनता हटाने और इस प्रकार उनके लूट-मारका प्रमुख हेतु दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए।[2]

सत्याग्रह और स्त्रियों पर आक्रमण

यदि किसी स्त्रीके सम्मान पर आक्रमण होनेका खतरा हो, तो उसका व्यवहार किस प्रकारका हो? और उस सत्याग्रहीका, जिसके सामने इस प्रकारका आक्रमण हो, क्या कर्तव्य होगा? ये सवाल अक्सर गांधीजीसे पूछे जाते थे। उनके अनुसार पुरुषों और स्त्रियोंकी स्थिति समताकी है। उनके कर्तव्य भिन्न अवश्य हैं, पर दोनों एक-दूसरेके पूरक हैं। उनका विश्वास था कि स्त्रियोंमें पुरुषोंकी अपेक्षा सत्याग्रहके अभ्यासकी अधिक क्षमता है, क्योंकि माताएं होनेके कारण उनमें अपेक्षाकृत ठीक प्रकारका अधिक साहस और आत्म-वलिदानकी अधिक सुदृढ़ प्रवृत्ति है। वास्तवमें हिंसा उनके स्वभावके विरुद्ध है। यदि अहिंसा हमारे जीवनका नियम है, तो भविष्य स्त्रियोंके साथ है। दूसरी ओर यदि स्त्रियां पुरुषोंका अनुकरण करें और घर छोड़कर उसकी रक्षाके लिए वन्दूक संभालें, तो वह "वर्वरताकी ओर प्रत्यागमन है और अन्तका आरम्भ है।"

---

१. ह०, ११–८–'४६, पृ० २५५।

२. ह०, २२–१०–'३८, पृ० ३०४; २९–१०–'३८, पृ० ३१०; ५–११–'३८, पृ० ३१४; २८–१–'३९, पृ० ४४८; १३–७–'४०, पृ० २०८; यं० इं०, भाग–१, पृ० ७१९-२३।

लेकिन सत्याग्रहका मार्ग केवल उन स्त्रियोंके लिए है, जो आवश्यक आत्म-संयम प्राप्त करें और जिनके जीवनमें सादगी और स्वाभाविकता हो। अहिंसक होनेके लिए स्त्रीको दूसरोंका ध्यान आकृष्ट करनेके उद्देश्यसे भड़कीले कपड़े पहिनने और अपनेको क्रीम-पाउडरसे रंगकर वास्तविकतासे कहीं अधिक असाधारण रूपसे सुन्दर दिखाई पड़नेके आधुनिक पागलपनसे बचना होगा।[1] अनेक पुरुषोंको आकृष्ट करनेका प्रयास करनेवाली इस प्रकारकी आधुनिक स्त्री अहिंसाका विकास नहीं कर सकती। अहिंसक होनेके लिए उसे यह भुला देना चाहिए कि वह मनुष्यकी वासना-पूर्तिका साधन है और उसे अपना प्रेम समस्त मानवता तक विस्तृत कर देना चाहिए।

यदि इस प्रकार कोई स्त्री अपने चिन्तन और जीवनका उपरोक्त रीतिसे निर्माण कर ले, तो उसे ज्ञात होगा कि शुद्धता सर्वोत्कृष्ट शक्ति है। गांधीजीका विश्वास है कि "तेजपूर्ण शुद्धताके सामने उस समय नितांत गुंडा भी सीधा हो जाता है।"[2] उनका यह भी मत है कि "किसी स्त्रीको उसकी इच्छाके विरुद्ध असम्मानित करना शारीरिक असंभावना है। यह अत्याचार तभी होता है जब वह भयसे अभिभूत हो जाती है और अपनी नैतिक शक्तिको नहीं पहचानती।"[3] उसकी शुद्धता उसे अपनी शक्तिके प्रति सचेत रखती है। यदि अकस्मात् वह खतरेमें पड़े तो उसे आत्म-बलिदान द्वारा भी आक्रमणकारीकी कामलिप्साका प्रतिरोध करना चाहिए। यदि उसका मुंह बन्द कर दिया जाय या वह बांध दी जाय, तो भी उसका दृढ़ संकल्प उसको जान दे देनेकी शक्ति देगा।[4] इसी प्रकार संकटमें पड़ी हुई स्त्रीके सत्याग्रही संबंधी या मित्रको स्त्री और आक्रमणकारीके बीच खड़े हो जाना चाहिए और तब या तो उसे आक्रमणकारीको समझाना-बुझाना चाहिए कि वह अपना दुष्प्रयोजन छोड़ दे या मौतका सामना करना चाहिए। एक बार गांधीजीसे पूछा गया कि यदि आक्रमणकारी रक्षकको मारनेके स्थानमें बांध दे और उसका मुंह बलपूर्वक बंद कर दे और रक्षकको आक्रमणका मौन साक्षी होना पड़े, तो उसे क्या करना चाहिए? उन्होंने उत्तर दिया, ". . . मैं या तो बंधनोंको तोड़ दूंगा या उस प्रयत्नमें जान दे दूंगा। किसी भी दशामें मैं विवश साक्षी नहीं बनूंगा। जब वह उत्कट भावना होती है तो ईश्वर आपकी सहायता

---

१. ह०, ३१-१२-'३८, पृ० ४९९।

२. यं० इं०, भाग-२, पृ० ८६२।

३. ह०, १-९-'४०, पृ० २६६।

४. ह०, ३१-१२-'३८, पृ० ४०८-०९; यं० इं०, भाग-२, पृ० ८६१-६२।

करता है और आपको किसी-न-किसी तरह ऐसे कार्यके जीवित साक्षी होनेकी यन्त्रणासे बचा लेता है।"

यदि किसी स्त्री पर आक्रमणकारियोंका एक दल भी आक्रमण करे, दलके कुछ लोग स्त्रीको उठा ले जानेके प्रयत्नमें हों और कुछ उसके भाई या संबंधीको पृथक् रखें और पीटें, तो अहिंसक बचाव उसी प्रकार होगा। अहिंसक आत्मरक्षाका सार है सम्मान और वीरतापूर्वक प्राण दे देनेके लिए तैयार रहना। गांधीजीका मत है कि संकटमें पड़ी अहिंसक स्त्रीको बिना अपने भाई या बहनकी सहायताकी अपेक्षा या प्रतीक्षा किये अहिंसक रीतिसे अपनी रक्षा करनी चाहिए और मृत्युका सामना करना चाहिए। गांधीजीकी जीवन-योजनामें आत्म-समर्पणके लिए कोई स्थान नहीं। किसी स्त्री द्वारा आक्रमणकारीको आत्म-समर्पण करनेकी अपेक्षा गांधीजी आत्म-हत्याको ठीक समझते हैं। लेकिन उनका यह विश्वास है कि जब कोई स्त्री आत्महत्याके लिए भी तैयार हो जायगी, तो उसमें मानसिक प्रतिरोधके लिए आवश्यक इतना साहस और इतनी आंतरिक शुद्धता होगी कि आक्रमणकारी अभिभूत हो जायगा। यदि विकल्प आत्महत्या और आक्र-मणकारीकी हत्यामें हो, तो सत्याग्रही स्त्रीको गांधीजीके अनुसार आत्म-हत्याका ही मार्ग चुनना चाहिए।[१]

आत्मशक्ति द्वारा रक्षाका यह मार्ग सशस्त्र प्रतिरोधकी अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है। संभवतः यह मार्ग आक्रमणकारीकी दुर्वासनाको दूर कर देगा और उसकी आत्माको जाग्रत करेगा। वह दूसरोंके हृदयमें भी वीरतासे प्रतिरोध करनेकी दृढ़ता उत्पन्न करेगा। इसके अतिरिक्त, अहिंसक रक्षामें रक्षककी मृत्युसे स्त्रीकी स्थिति और भी बुरी न होगी, जैसी कि सशस्त्र प्रतिरोधमें हारसे हो जायगी। सशस्त्र प्रतिरोधमें हार या मृत्यु हिंसाके क्रोधको शांत करनेके स्थानमें उसका प्रतिहिंसा द्वारा पोषण करती है। यदि स्त्री और उसके रक्षककी अहिंसक प्रतिरोधके प्रयासमें मृत्यु भी हो जाय तो वह गौरवपूर्ण होगी, क्योंकि वह कर्तव्य-पालनके फलस्वरूप होगी।[२]

लेकिन अपराधीके साथ अहिंसापूर्ण व्यवहार तभी संभव है जब सत्या-ग्रहीको यह दृढ़ विश्वास हो कि अपराधी और सत्याग्रहीमें आध्यात्मिक एकता है और अज्ञानी अपराधीकी जान लेनेकी अपेक्षा सत्याग्रही उसके हाथों मरना अधिक अच्छा समझे।[३]

---

१. ह०, १५–९–'३६, पृ० ३१२; ५–१०–'४७, पृ० ३५४; ९–२–'४७ पृ० ९।

२. स्पीचेज, पृ० ३८५, ८३८-३९; ह०, १९–११–'३८, पृ० ३४४; १–९–'४०, पृ० २६६।

३. ह०, २९–६–'४०, पृ० १८४।

लेकिन सत्याग्रहका मार्ग केवल उन स्त्रियोंके लिए है, जो आवश्यक आत्म-संयम प्राप्त करें और जिनके जीवनमें सादगी और स्वाभाविकता हो। अहिंसक होनेके लिए स्त्रीको दूसरोंका ध्यान आकृष्ट करनेके उद्देश्यसे भड़कीले कपड़े पहिनने और अपनेको क्रीम-पाउडरसे रंगकर वास्तविकतासे कहीं अधिक असाधारण रूपसे सुन्दर दिखाई पड़नेके आधुनिक पागलपनसे वचना होगा।[१] अनेक पुरुषोंको आकृष्ट करनेका प्रयास करनेवाली इस प्रकारकी आधुनिक स्त्री अहिंसाका विकास नहीं कर सकती। अहिंसक होनेके लिए उसे यह भुला देना चाहिए कि वह मनुष्यकी वासना-पूर्तिका साधन है और उसे अपना प्रेम समस्त मानवता तक विस्तृत कर देना चाहिए।

यदि इस प्रकार कोई स्त्री अपने चिन्तन और जीवनका उपरोक्त रीतिसे निर्माण कर ले, तो उसे ज्ञात होगा कि शुद्धता सर्वोत्कृष्ट शक्ति है। गांधीजीका विश्वास है कि "तेजपूर्ण शुद्धताके सामने उस समय नितांत गुंडा भी सीधा हो जाता है।"[२] उनका यह भी मत है कि "किसी स्त्रीको उसकी इच्छाके विरुद्ध असम्मानित करना शारीरिक असंभावना है। यह अत्याचार तभी होता है जब वह भयसे अभिभूत हो जाती है और अपनी नैतिक शक्तिको नहीं पहचानती।"[३] उसकी शुद्धता उसे अपनी शक्तिके प्रति सचेत रखती है। यदि अकस्मात् वह खतरेमें पड़े तो उसे आत्म-वलिदान द्वारा भी आक्रमणकारीकी कामलिप्साका प्रतिरोध करना चाहिए। यदि उसका मुंह वन्द कर दिया जाय या वह वांध दी जाय, तो भी उसका दृढ़ संकल्प उसको जान दे देनेकी शक्ति देगा।[४] इसी प्रकार संकटमें पड़ी हुई स्त्रीके सत्याग्रही संवंधी या मित्रको स्त्री और आक्रमणकारीके वीच खड़े हो जाना चाहिए और तव या तो उसे आक्रमणकारीको समझाना-वुझाना चाहिए कि वह अपना दुष्प्रयोजन छोड़ दे या मौतका सामना करना चाहिए। एक वार गांधीजीसे पूछा गया कि यदि आक्रमणकारी रक्षकको मारनेके स्थानमें वांध दे और उसका मुंह वलपूर्वक वंद कर दे और रक्षकको आक्रमणका मौन साक्षी होना पड़े, तो उसे क्या करना चाहिए? उन्होंने उत्तर दिया, "... मैं या तो वंधनोंको तोड़ दूंगा या उस प्रयत्नमें जान दे दूंगा। किसी भी दशामें मैं विवश साक्षी नहीं वनूंगा। जव वह उत्कट भावना होती है तो ईश्वर आपकी सहायता

१. ह०, ३१–१२–'३८, पृ० ४९९।
२. यं० इं०, भाग–२, पृ० ८६२।
३. ह०, १–९–'४०, पृ० २६६।
४. ह०, ३१–१२–'३८, पृ० ४०८-०९; यं० इं०, भाग–२, पृ० ८६१-६२।

तरह स्वीकार किया है, आत्म-सम्मान, जीवन और सम्पत्ति पर आक्रमण होनेके खतरेमें क्या मनोवृत्ति होनी चाहिए?

सन् १९२२ में गांधीजीको सत्याग्रही द्वारा आत्मरक्षाके लिए हिंसाका प्रयोग अनुचित न लगता था।[1] वे इस बात पर जोर नहीं देते थे कि सत्याग्रहीको चोर-डाकुओं या भारत पर आक्रमण करनेवाले राष्ट्रोंके प्रति हिंसा न करनी चाहिए।[2] गया कांग्रेसने कांग्रेसी सत्याग्रहियोंको आत्मरक्षामें बल-प्रयोगकी आज्ञा देनेका एक प्रस्ताव भी स्वीकार किया था। लेकिन अपने जीवनके लगभग पिछले १५ वर्षोंमें गांधीजी "दुर्बलकी अहिंसा" के विरुद्ध हो गये थे। लेकिन जिन लोगोंने अहिंसात्मक आत्मरक्षाके उच्च मार्गको न अपनाया हो, उनको गांधीजी आत्मरक्षामें बल-प्रयोगकी अर्थात् लज्जाजनक रीतिसे खतरेसे भागनेकी अपेक्षा मरने-मारनेकी राय देते थे। तीसरे अध्यायमें हम बता चुके हैं कि क्यों गांधीजी कायरताकी अपेक्षा हिंसाको श्रेयस्कर समझते थे। बहुतसे अवसरों पर उन्होंने व्यक्तियों और समुदायोंको यही राय दी थी कि यदि उनमें अहिंसक बचाव — अर्थात् आत्म-बलिदानकी — क्षमता नहीं है और उनको ऐसे विरोधियोंका सामना करना है जो उनके जीवन, सम्पत्ति और आत्म-सम्मानके विनाश पर तुले हुए हैं, तो उन्हें अन्यायीके सामने घुटने टेकनेकी अपेक्षा शरीर-शक्तिका प्रयोग करना चाहिए और यदि आवश्यक हो तो अन्यायीको मार भी देना चाहिए। पुलिसके अत्याचार और साम्प्रदायिक झगड़ोंके अवसरों पर गांधीजी सामान्य रूपसे लोगोंको यही राय देते थे। उन्होंने बेतिया (१९२०) और चम्पारन (१९२१) के ग्राम-निवासियोंको और आन्ध्र (१९३५) और सिंध (१९४०) के हिंदुओंको यही राय दी थी कि वे घबड़ा न जायं और आवश्यकता हो तो आत्मरक्षाके लिए शरीर-शक्तिका प्रयोग करें। अपने जीवनके अन्तिम दो वर्षोंकी साम्प्रदायिक हिंसाके सम्बन्धमें भी गांधीजीका यही मत था। वास्तवमें वे इसे जनतन्त्रके विकासकी आवश्यक शर्त मानते थे कि प्रत्येक नागरिक आत्मरक्षाकी कला जाने।[3] क्योंकि यदि नागरिक आत्म-सम्मानकी रक्षाके लिए अपना जीवन संकटमें नहीं डाल सकते, तो वे जनतन्त्रकी आन्तरिक और बाह्य खतरोंसे रक्षा करनेके लिए संकटमें पड़नेको और भी कम तैयार होंगे।

गांधीजीका यह भी विश्वास था कि यदि अपेक्षाकृत बहुत अधिक शक्तिशाली विरोधीका बिना पहलेसे सोचे-विचारे हिंसात्मक विरोध यह अच्छी तरह जानते हुए किया जाय कि इस विरोधका परिणाम निश्चित मृत्यु है,

---

१. यं० इं०, भाग-२, पृ० १०७५; स्पीचेज, पृ० ७१९।
२. यं० इं०, भाग-२, पृ० ३१।
३. ह०, १०-२-'४०, पृ० ४४६।

एक नीग्रोके इस प्रश्नके उत्तरमें कि यदि किसीके भाईको विना अदालती कार्रवाईके लोगों द्वारा कठोर दण्ड दिया जाय तो उसका क्या कर्तव्य है, गांधीजीने निम्नलिखित उत्तर दिया था :

" ...मैं उनका बुरा न चाहूंगा।... हो सकता है कि साधारण रीतिसे मैं अपनी जीविकाके लिए कठोर दण्ड देनेवाले समाज पर आश्रित रहूं। मैं उनके साथ सहयोग करनेसे इनकार कर दूंगा, उनके पाससे आये हुए खानेको छूनेसे भी इनकार कर दूंगा और मैं अपने उन नीग्रो भाइयोंके साथ भी सहयोग करनेसे इनकार कर दूंगा, जो इस अन्यायको सह लेते हैं। मेरा अर्थ इसी आत्म-बलिदानसे है। हां, यंत्रवत् भूखों मरनेसे कुछ न होगा। जब प्रतिक्षण जीवनका ह्रास होता जाय तब भी मनुष्यकी श्रद्धा अटल बनी रहनी चाहिए।"[१]

यह अनावश्यक है कि काल्पनिक दृष्टान्त दिये जायं और यह बताया जाय कि उस परिस्थिति-विशेषमें अहिंसावादीका क्या कर्तव्य है, या गांधीजी और दूसरे सत्याग्रहियोंके जीवनकी वास्तविक घटनाओंका उल्लेख किया जाय। अहिंसा प्रेमका अर्थात् स्वेच्छासे स्वीकार किये गये उत्कृष्ट कष्ट-सहन और बलिदानका नियम है। यदि मनुष्य सच्चा अहिंसावादी है, तो उसके लिए यह जानना कठिन न होगा कि वह परिस्थिति-विशेषमें किस प्रकार व्यवहार करे। गांधीजी कहते हैं, "मैं जानता हूं कि यदि हमारे अन्दर वास्तविक अहिंसा है, तो कठिन परिस्थितिमें बचावका अहिंसात्मक मार्ग बिना प्रयासके हमें मालूम हो जायगा।"[२] वास्तविक अहिंसाके विकासका लक्षण यह है कि अन्यायीके प्रति अहिंसावादीके हृदयमें प्रेम और सहानुभूति उमड़ पड़े। "जब वह (प्रेमकी) भावना होती है, तो वह किसी कार्यमें प्रकट होती है। वह (कार्य) एक संकेत या दृष्टि या मौन भी हो सकता है। लेकिन वह (कार्य) जैसा भी हो, अन्यायीके हृदयको वह द्रवित कर देगा और उसके अन्यायको रोकेगा।"[३]

आत्मरक्षा

लेकिन केवल इच्छा करनेसे रातभरमें मनुष्य अहिंसावादी नहीं हो जाता। उच्चतम प्रकारकी अहिंसाके लिए दीर्घकालीन विचारपूर्ण शिक्षण आवश्यक है। बिना मारे मरनेके साहसके विकासके पहले मनुष्य क्या करे? ऐसे मनुष्योंकी, जिन्होंने अहिंसाको राजनैतिक क्षेत्रमें काम बनानेवाली नीतिकी

---

१. ह०, १९-३-'३६, पृ० ३९।
२. ह०, १७-२-'४०, पृ० ८।
३. ह०, ९-३-'४०, पृ० ३१।

तरह स्वीकार किया है, आत्म-सम्मान, जीवन और सम्पत्ति पर आक्रमण होनेके खतरेमें क्या मनोवृत्ति होनी चाहिए?

सन् १९२२ में गांधीजीको सत्याग्रही द्वारा आत्मरक्षाके लिए हिंसाका प्रयोग अनुचित न लगता था।[1] वे इस बात पर जोर नहीं देते थे कि सत्याग्रहीको चोर-डाकुओं या भारत पर आक्रमण करनेवाले राष्ट्रोंके प्रति हिंसा न करनी चाहिए।[2] गया कांग्रेसने कांग्रेसी सत्याग्रहियोंको आत्मरक्षामें बल-प्रयोगकी आज्ञा देनेका एक प्रस्ताव भी स्वीकार किया था। लेकिन अपने जीवनके लगभग पिछले १५ वर्षोंमें गांधीजी "दुर्बलकी अहिंसा" के विरुद्ध हो गये थे। लेकिन जिन लोगोंने अहिंसात्मक आत्मरक्षाके उच्च मार्गको न अपनाया हो, उनको गांधीजी आत्मरक्षामें बल-प्रयोगकी अर्थात् लज्जाजनक रीतिसे खतरेसे भागनेकी अपेक्षा मरने-मारनेकी राय देते थे। तीसरे अध्यायमें हम बता चुके हैं कि क्यों गांधीजी कायरताकी अपेक्षा हिंसाको श्रेयस्कर समझते थे। बहुतसे अवसरों पर उन्होंने व्यक्तियों और समुदायोंको यही राय दी थी कि यदि उनमें अहिंसक बचाव — अर्थात् आत्म-बलिदानकी — क्षमता नहीं है और उनको ऐसे विरोधियोंका सामना करना है जो उनके जीवन, सम्पत्ति और आत्म-सम्मानके विनाश पर तुले हुए हैं, तो उन्हें अन्यायीके सामने घुटने टेकनेकी अपेक्षा शरीर-शक्तिका प्रयोग करना चाहिए और यदि आवश्यक हो तो अन्यायीको मार भी देना चाहिए। पुलिसके अत्याचार और साम्प्रदायिक झगड़ोंके अवसरों पर गांधीजी सामान्य रूपसे लोगोंको यही राय देते थे। उन्होंने बेतिया (१९२०) और चम्पारन (१९२१) के ग्राम-निवासियोंको और आन्ध्र (१९३५) और सिंध (१९४०) के हिंदुओंको यही राय दी थी कि वे घबड़ा न जायं और आवश्यकता हो तो आत्मरक्षाके लिए शरीर-शक्तिका प्रयोग करें। अपने जीवनके अन्तिम दो वर्षोंकी साम्प्रदायिक हिंसाके सम्बन्धमें भी गांधीजीका यही मत था। वास्तवमें वे इसे जनतन्त्रके विकासकी आवश्यक शर्त मानते थे कि प्रत्येक नागरिक आत्मरक्षाकी कला जाने।[3] क्योंकि यदि नागरिक आत्म-सम्मानकी रक्षाके लिए अपना जीवन संकटमें नहीं डाल सकते, तो वे जनतन्त्रकी आन्तरिक और बाह्य खतरोंसे रक्षा करनेके लिए संकटमें पड़नेको और भी कम तैयार होंगे।

गांधीजीका यह भी विश्वास था कि यदि अपेक्षाकृत बहुत अधिक शक्तिशाली विरोधीका बिना पहलेसे सोचे-विचारे हिंसात्मक विरोध यह अच्छी तरह जानते हुए किया जाय कि इस विरोधका परिणाम निश्चित मृत्यु है,

---

१. यं० इं०, भाग-२, पृ० १०७५; स्पीचेज, पृ० ७१९।

२. यं० इं०, भाग-२, पृ० ३१।

३. ह०, १०-२-'४०, पृ० ४४६।

तो यह विरोध भी लगभग अहिंसा ही है।[1] उदाहरणके लिए, यदि शस्त्रोंसे सुसज्जित डाकुओंके झुण्डसे कोई मनुष्य अकेला तलवारसे लड़ता है, या कोई स्त्री अपनी लाजकी रक्षामें नाखूनों और दांतोंका प्रयोग करती है, तो यह व्यवहार लगभग अहिंसक ही होगा।[2]

लेकिन यदि पुलिसकी सहायता मिल सकती हो, तो हिंसात्मक आत्म-रक्षाका कोई अवसर न होना चाहिए।[3] इसके अतिरिक्त जब शरीर-शक्तिका प्रयोग किया जाय, तो वह उस अवसरकी आवश्यकतासे अधिक नहीं होनी चाहिये। आत्मरक्षा कभी भी कायरतापूर्ण, भद्दी और गुप्त नहीं होनी चाहिये। "अधिक शक्तिका प्रयोग सदा कायरता और पागलपनका चिह्न होता है। वीर मनुष्य चोरको मार नहीं देता, बल्कि पकड़ लेता है और पुलिसके हवाले कर देता है। उससे अधिक वीर मनुष्य उसे बाहर निकाल देने भरकी पर्याप्त शक्तिका प्रयोग करता है और उसके बारेमें फिर कुछ नहीं सोचता।" वास्तवमें श्रेष्ठतम वीर वह है, जो अपराधीके साथ अहिंसक व्यवहार कर सकता है।

दुरुपयोगकी संभावना

सत्याग्रहीकी अपूर्णता और कमजोरीके कारण इस अध्यायमें वर्णित पद्धतियोंमें खतरा और अनिश्चितता है। इस तरह व्यक्तिगत सत्याग्रह दो प्रकारसे दुराग्रह बन सकता है। हो सकता है कि कष्ट-सहन प्रारम्भ ही से हिंसक हो। वह नाटकीय प्रभाव अथवा अन्य किसी अनुचित उद्देश्यके लिए हो सकता है। इस दशामें सत्यसे ही मिलनेवाली नैतिक शक्तिका प्रतिरोधीमें अभाव होगा और संभवतः उसका कष्ट-सहन बहुत समय तक न चल सकेगा। दूसरी संभावना यह है कि विरोधीका हृदय-परिवर्तन तो न हो, लेकिन वह अपनी बुद्धि और विश्वासके विपरीत कष्ट-सहन करनेवालेकी बात इसलिए मान जाय कि वह विरोधी जनमतका सामना नहीं कर सकता या कष्ट-सहन नहीं देख सकता; और यह खतरा उतना ही अधिक होगा जितना सत्याग्रही विरोधीको प्रिय होगा। असहयोगका हवाला देते हुए गांधीजी लिखते हैं, "उसका दुरुपयोग घरेलू सम्बन्धोंमें अधिकतम होता है; क्योंकि जिनके विरुद्ध उसका उपयोग किया जाता है, उनमें इसके दुरुपयोगका प्रतिरोध करनेकी पर्याप्त शक्ति नहीं होती। वह दुरुपयुक्त प्रेमका दृष्टान्त हो जाता है। और इसके (दुरुपयुक्त प्रेमके) सबसे बड़े शिकार होते हैं अत्यधिक प्रेम करनेवाले माता-पिता और

---

१. ह०, ८-९-'४०, पृ० २७४।
२. ह०, २५-८-'४०, पृ० २६१।
३. ह०, २०-७-'३५, पृ० १८१।

पत्नियां। जब वे जान जायेंगे कि प्रेमकी यह मांग नहीं है कि किसी प्रकारके अनुचित दबावके सामने झुका जाय, तो वे बुद्धिमान बन जायंगे। इसके विपरीत वास्तविक प्रेम उस (अनुचित दबाव) का प्रतिरोध करेगा।"[१] तीसरी संभावना यह है कि सत्याग्रही कष्ट-सहनसे थक जाय। लेकिन इसका अर्थ है अनुशासनकी कमी।

लेकिन दुरुपयोग तो प्रत्येक मानवीय उपायका हो सकता है। जीवन-नियमके रूपमें सत्याग्रहका मूल्यांकन उसके वास्तविक परिणामसे होना चाहिए। यह याद रखना चाहिए कि व्यक्तिगत जीवनसे हिंसाको दूर करनेका प्रयत्न वास्तविक जनतन्त्र और विश्वशांतिकी स्थापना तथा बड़े पैमाने पर अहिंसक प्रतिरोधके प्रयोगकी आवश्यक शर्त है। इसके अतिरिक्त अहिंसासे मनुष्यको चरित्र और बल मिलता है। वह आत्म-नियन्त्रण या व्यक्तिगत स्वराज्यकी प्राप्तिके लिए अनमोल अनुशासन है। गांधीजी लिखते हैं, "पूर्ण सत्याग्रहीको यदि पूर्ण नहीं तो लगभग पूर्ण मनुष्य बनना है। इस दृष्टिसे सत्याग्रह सर्वोत्कृष्ट और सार्वभौम शिक्षा है। . . . जितनी अधिक हममें सत्याग्रहकी भावना होगी, उतने अधिक अच्छे मनुष्य हम बन जायंगे। . . . वह ऐसी शक्ति है जो सार्वभौम बन जाने पर सामाजिक आदर्शोंमें क्रान्ति उत्पन्न कर देगी।"[२]

हिंसक और अहिंसक प्रतिरोध

हिंसाका परिणाम सदा प्रतिहिंसा होता है और उसके द्वारा झगड़ोंका स्थायी निपटारा नहीं हो सकता। पराजित असन्तुष्ट रहता है और प्रतिकारका अवसर देखता रहता है। इस प्रकार हिंसा उनसे भी निकृष्ट बुराइयां पैदा करती है, जिनको दूर करनेका वह प्रयत्न करती है। वह मनुष्यकी अपकृष्ट पाशविक प्रवृत्तियोंको जाग्रत करती है और उसका परिणाम होता है एक अन्यायके बाद दूसरा अन्याय। अहिंसा इन पृथक्कारी प्रवृत्तियोंका सृजनात्मक दिशामें नव-संचालन करती है। वह संघर्षको विनाशक शारीरिक संघर्षसे उठाकर विधायक नैतिक स्तर पर पहुंचाती है। कष्ट-सहन करनेवाला प्रेम शारीरिक शक्तिको पंगु बना देता है, विरोधी पक्षोंमें मेल स्थापित करता है और झगड़ेका इस प्रकार निपटारा कर देता है कि दोनोंके आत्म-सम्मानकी रक्षा हो जाती है और उनको संतोष हो जाता है। गांधीजीके शब्दोंमें, "सत्याग्रह ऐसी तलवार है जिसके सब ओर धार है। उसे जैसे चाहो काममें लाया जा सकता है। उसे काममें लानेवाला और जिसके विरुद्ध वह काममें लाई जाती है, दोनों

१. ह०, १८–५–'४०, पृ० १३३।

२. यं० इं०, भाग–३, पृ० ४४५।

सुखी होते हैं।"[१] लड़ाई-झगड़ेमें कोई भी पक्ष उसका प्रयोग कर सकता है और जिस पक्षमें अधिक सत्य और न्याय होगा उसीकी जीत होगी। इस प्रकार सत्याग्रहमें उसके दुरुपयोगको रोकनेका स्वचालित अंकुश भी रहता है। यदि दो सत्याग्रहियोंमें किसी आवश्यक प्रश्न पर मतभेद हो तो क्या होगा? संभवतः मतभेद बातचीत और समझाने-बुझानेसे दूर हो जायगा और कष्ट-सहनकी नौबत न आयेगी। हर हालतमें अन्तमें जीत सत्यकी होगी।

इस प्रकार हिंसाका विनाशक मार्ग सत्याग्रहका स्थान नहीं ले सकता। सत्याग्रह धीमी गतिसे काम करता है, लेकिन वह झगड़ेका निपटारा कर देता है और न्यायकी जीत होती है, जब कि हिंसा झगड़ोंको जीवित रखती है, और अकसर उसके प्रयोगके परिणामस्वरूप अन्यायकी प्रतिष्ठा होती है।

व्यावहारिकताका प्रश्न

सिद्धान्तकी दृष्टिसे अहिंसा मानवीय मामलोंमें अधिकतम न्यायपूर्ण और शक्तिशाली शस्त्र है। किन्तु वास्तविक व्यवहारमें अहिंसा इतने आदर्शवाद और उच्च नैतिकताकी अपेक्षा करती है कि उससे संसारका सामान्य कार्य नहीं चल सकता। अहिंसाके लिए जितनी आत्म-संयमकी कठोरता, उद्देश्यकी शुद्धता, कष्ट-सहनकी क्षमता और नैतिक विकासकी उच्चताकी आवश्यकता है, वह अभी तक तो अधिकतम मनुष्योंकी पहुंचके बाहरकी बात है।[२] भारत तथा विदेशोंके बहुतसे लोगोंका यही मत है।

गांधीजीका मत था कि "अहिंसाके शस्त्रके उपयोगके लिए संतों, ऋषियों और देवतुल्य मनुष्योंकी आवश्यकता नहीं है; साधारण मनुष्योंने उसका सफलतासे उपयोग किया है और कर सकते हैं।"[३] निस्सन्देह अहिंसाके ठीक उपयोगके लिए नैतिक अनुशासन अनिवार्य है, लेकिन जैसा अध्याय ५ में बताया जा चुका है, यह अनुशासन व्यवहार्य है। इसके अतिरिक्त यदि एक बार यह मान लिया जाय कि अहिंसा वांछनीय है, तो मनुष्य-स्वभावकी अपूर्णताके कारण अहिंसाको अव्यावहारिक प्रमाणित करनेका प्रयत्न व्यर्थ है। मनोविज्ञान-शास्त्री और समाज-शास्त्री यह मानते हैं कि मनुष्य-स्वभावमें परिवर्तन, सुधार और विकासकी असीम क्षमता है। क्रान्तियां इसी क्षमताका एक प्रमाण हैं। संशयवादियों और आलोचकोंको यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि गुलामी, बालहत्या, मनुष्योंका बलिदान आदि बहुतसी बुराइयां, जिनके बारेमें किसी समय यह विचार किया जाता था कि वे मनुष्य-स्वभावकी

---

१. हिन्द स्वराज्य, पृ० १५३।

२. सी० एम० केस : नॉन-वायोलेन्ट कोअर्शन, पृ० ४०६-०७।

३. ह०, १३-७-'४०, पृ० १९८।

अपूर्णताके कारण हटाई नहीं जा सकतीं, आज दूर हो चुकी हैं। यदि फासिस्ट देशोंमें जनताको सफलतापूर्वक यह शिक्षा दी जा सकती है कि वह युद्धको श्रेयस्कर माने, तो निस्सन्देह शान्तिप्रिय राष्ट्र उतने ही या उससे अधिक प्रयत्नसे जनताको शान्तिके मार्ग पर चलनेकी शिक्षा दे सकते हैं।[1]

शायद मनुष्योंको यह विश्वास दिलानेमें कि अहिंसा व्यवहार्य है और उनको अपना दृष्टिकोण बदलनेके लिए तैयार करनेमें बहुत समय लग जायगा। लेकिन समयका प्रश्न गौण है। महत्त्वपूर्ण बात है, दृढ़ विश्वास और सही दिशामें सच्चा प्रयत्न। यदि थोड़े भी मनुष्य अहिंसाके सिद्धान्तोंके अनुसार रहने लगें, तो अहिंसाका मार्ग जनतामें फैल जायगा। निस्संदेह प्रत्येक संभव साधनकी खोज और उसका उपयोग करना चाहिए। सम्पूर्ण समाजकी अहिंसक पुनर्रचनाका भी प्रयत्न होना चाहिए। गांधीजी मानते हैं कि उपयुक्त पद्धतिसे बच्चोंको शिक्षित करना प्रौढ़ोंको परिवर्तित करनेकी अपेक्षा कहीं सुगम है। संसारमें शांतिकी स्थापनाके लिए और युद्धके निराकरणके लिए हमें बच्चोंसे प्रारंभ करना होगा। गांधीजी इस बात पर बहुत जोर देते हैं कि बच्चोंको पुस्तक-शिक्षाके पहले सत्याग्रहका प्रारम्भिक प्रशिक्षण मिलना चाहिए।[2] उनका विश्वास है कि पुस्तक-शिक्षा प्राप्त करनेके पहले ही बच्चेको यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि आत्मा क्या है, सत्य क्या है और प्रेम क्या है और किस तरह जीवन-संघर्षमें बच्चा घृणाको प्रेमसे, असत्यको सत्यसे और हिंसाको स्वयं कष्ट सहकर आसानीसे जीत सकता

---

१. डॉ० कार्ल मैनहाइमका मत है कि "युद्धप्रिय मनोवृत्तिका जान-बूझ कर निर्माण करनेमें सामाजिक संगठनको उतनी ही शक्ति व्यय करनी पड़ती है, जितनी कि शान्तिपूर्ण मनोवृत्तिके निर्माणमें।" देखिये, 'मैन एंड सोसाइटी'में 'पॉसिबिलिटीज़ इन ह्यूमन नेचर' शीर्षक अध्याय।

जी० एम० स्ट्रेटन इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि अहिंसा और सहयोग दोनों समान रूपसे स्वाभाविक हैं; लेकिन मनुष्य-स्वभाव उन विशिष्ट कार्योंको निर्धारित नहीं करता, जिनमें दोनों प्रकारकी प्रवृत्तियां कार्यान्वित होती हैं; परिवर्तनीय हिंसक कार्य और सहयोगशील कार्य सामाजिक आवश्यकताओं और प्रयोजनोंके अनुरूप होते हैं; और सामाजिक जीवनके लिए यह आवश्यक है कि सहयोगको सुदृढ़ और व्यापक बनाया जाय और सहयोगमें रुकावट डालनेवाली हिंसाको सहयोगका विनाश करने और उसमें विघ्न डालनेसे रोका जाय। देखिये 'वॉयोलेंस बिटवीन दि नेशन्स एंड इन दि नेशन' शीर्षक लेख, साइकोलॉजिकल रिव्यू, १९४४, ५१; पृ० ८५-१०१ और १४७-६१।

२. सी० एफ० एन्ड्रूज: महात्मा गांधीज़ आइडियाज़, पृ० २००।

है।[1] बुनियादी शिक्षाकी योजना द्वारा गांधीजीने शिक्षा-पद्धतिमें क्रान्तिकारी परिवर्तन करने और शिक्षा-पद्धतिको अहिंसा पर आधारित करनेका प्रयत्न किया है।

यद्यपि गांधीजी अपने उद्देश्यकी प्राप्तिमें सामाजिक दृष्टिकोणकी उपेक्षा नहीं करते, लेकिन उनकी समझमें उस दिशामें पहला और सबसे अधिक आवश्यक चरण है अहिंसामें विश्वास करनेवाले मनुष्योंका नितांत अहिंसापूर्ण जीवन, फिर ऐसे मनुष्योंकी संख्या चाहे जितनी ही कम क्यों न हो। सन् १९३६ में डॉ० थर्मनके इस प्रश्नके उत्तरमें कि व्यक्तियोंको और समुदायोंको अहिंसाके मार्गकी शिक्षा किस प्रकार दी जाय, गांधीजीने उत्तर दिया था, "इसके अतिरिक्त कि आप इस सिद्धान्तके अनुसार अपने जीवनको बनायें और वह जीवन अहिंसाका जीता-जागता आदर्श बन जाय, और कोई (अहिंसाकी शिक्षाका) राजमार्ग नहीं है। वास्तवमें अपने जीवनमें अहिंसाके प्रकाशनकी पूर्वमान्यता है गम्भीर अध्ययन, सुदृढ़ अध्यवसाय और सब प्रकारकी अशुद्धतासे पूरी तरह मुक्ति।"[2]

निस्सन्देह सिद्धान्तकी दृष्टिसे गांधीजी निरपेक्षवादी हैं। उनका ध्येय है पूर्ण, निरपेक्ष अहिंसा। उनकी अहिंसा मनुष्य तक ही सीमित नहीं है, बल्कि छोटे-से-छोटे जीव तक पहुंचती है। उनका विश्वास है कि आदर्शवादी दृष्टि-कोणसे जीवनकी प्रत्येक समस्याका समाधान अहिंसक रीतिसे हो सकता है। "एक पूर्ण रूपसे अहिंसात्मक मनुष्य स्वभावसे ही हिंसाका प्रयोग नहीं कर सकता या हिंसा उसके लिए व्यर्थ है। उसकी अहिंसा सभी परिस्थितियोंमें यथेष्ट है।"[3] वास्तविक जीवनमें गांधीजी मनुष्यकी दुर्बलताओंका ध्यान रखते हैं और उसके लिए बहुत छूट देते हैं। वे यह मानते हैं कि कुछ परिस्थितियोंमें हिंसा अनिवार्य है। टॉल्स्टॉय, क्वेकर्स और कुछ शान्तिवादी ईसाई सम्प्रदायोंके विपरीत वे सत्याग्रहीको कुछ परिस्थितियोंमें जान ले लेनेकी भी आज्ञा देते हैं। उनका विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्तिको स्वयं अपने लिए यह निश्चय करना चाहिए कि वह किस सीमा तक अहिंसाके सिद्धान्तके अनुसार व्यवहार करेगा। वे गुलामी और कायरताकी अपेक्षा हिंसाको अधिक श्रेयस्कर मानते हैं और लोगोंको खतरोंमें कायरता और डरसे भाग जानेकी अपेक्षा वीरतासे लड़नेकी राय देते हैं। इस प्रकार सिद्धान्तमे निरपेक्षवादी होते हुए भी, गांधीजी व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक एकताके लिए अनिवार्य न्यूनतम बल-प्रयोगकी व्यवस्था करते हैं।

---

१. यं० इं०, भाग—३, पृ० ४४५-४६।

२. ह०, १४—३—'३६, पृ० ३९।

३. ह०, ९—३—'४०, पृ० ३१।

८

सामूहिक सत्याग्रह – १

नेता, संगठन और प्रचार

गांधीजीने एक बार कहा था, "अहिंसा (केवल) व्यक्तिगत गुण नहीं है; वह व्यक्ति और समाज दोनोंके लिए आध्यात्मिक और राजनैतिक व्यवहार-मार्ग है।"[१] दो व्यक्तियोंके झगड़ोंकी तरह सामूहिक झगड़ोंके कारण हैं, मनुष्यकी अपूर्णता और मनुष्य-ज्ञात सत्यका आपेक्षिक रूप। व्यक्तिगत जीवनसे भी अधिक सामूहिक सम्बन्धोंमें झगड़े और हिंसा इतने बढ़ गये हैं कि सभ्य जीवनका अस्तित्व आज संकटमें पड़ गया है। सामूहिक जीवनके शोषण और आक्रमणोंका सृजनात्मक, विधायक रीतिसे सामना करनेकी अहिंसक पद्धति संसारको गांधीजीकी बहुत बड़ी देन है।

सामूहिक सत्याग्रहका महत्त्व

सामूहिक प्रतिरोधके रूपमें सत्याग्रहके संबंधमें नेतृत्व, संगठन, अनुशासन, प्रशिक्षण और प्रतिरोध-पद्धतिके जटिल प्रश्न उठते हैं। सत्याग्रह आवश्यक रूपसे संख्या और परिमाणकी नहीं, नैतिक शुद्धताकी बात है; और यदि थोड़ेसे पूर्ण सत्याग्रही मिल सकते, यदि एक भी मिल सकता, तो सामूहिक सम्बन्धोंमें सत्याग्रही प्रतिरोध बहुत आसान होता। गांधीजीने बार-बार दोहराया है कि अन्यायके विरुद्ध न्यायकी जीतके लिए एक पूर्ण सत्याग्रही भी पर्याप्त है। वह "अन्यायी साम्राज्यकी समग्र शक्तिकी अवज्ञा कर सकता है और उस साम्राज्यके विनाश या सुधारकी नींव डाल सकता है।"[२] "पूर्ण अहिंसाको . . . संगठित शक्तिकी आवश्यकता नहीं है। अहिंसासे ओतप्रोत मनुष्य या स्त्रीको केवल किसी बातकी इच्छा करनी होती है और वह बात हो जाती है।"[३] "इंडियन ओपीनियन' के लिए लिखे हुए प्रथम लेखमें गांधीजीने कहा था कि "यदि दक्षिण अफ्रीकामें एक भी सच्चा आदमी है, तो वह सबको आच्छादित कर लेगा। वह समग्र संगठनका भीतरसे निर्माण कर लेगा।"[४] गांधीजीका यह विश्वास आत्माकी असीम शक्ति-सम्बन्धी उनके मतका निष्कर्ष है। लेकिन

---

१. ह०, २९–९–'४०, पृ० २९९।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० २६२।

३. ह०, १८–८–'४०, पृ० २५३।

४. ह०, १९–५–'४६, पृ० १३४।

पूर्णता, विचार और संकल्प पर पूर्ण नियंत्रण, मनुष्यके लिए संभव नहीं। यदि यह पूर्ण आत्म-संयम संभव होता तो भी इसकी अधिकतम उपयोगिता यह होती कि उसके द्वारा जनताको सत्याग्रहकी शिक्षा दी जा सकती;[1] क्योंकि "जनतंत्रके इस युगमें यह आवश्यक है कि वांछित परिणाम जनताके सामूहिक प्रयासके द्वारा उपलब्ध हो। निस्संदेह किसी उत्कृष्ट शक्तिवाले व्यक्तिके प्रयत्न द्वारा उद्देश्यकी सिद्धि अच्छी बात होगी, लेकिन इससे समाजमें उसकी सामूहिक शक्तिकी चेतना नहीं आ सकती।"[2] इसके अतिरिक्त "जिस कामको लाखों लोग एकसाथ मिलकर कर सकते हैं, उसमें एक अनुपम शक्ति आ जाती है।"[3] किंतु वास्तविक परिस्थितिमें पूर्ण सत्याग्रही अप्राप्य है। इसलिए जन-आन्दोलन आवश्यक हैं और सामूहिक अहिंसक पद्धतिके प्रयोगके लिए जनताको अव्यवसाय और धैर्यके साथ संगठित करनेकी और उसमें अनुशासनको विकसित करनेकी आवश्यकता है।

नेता

नेता सामूहिक सत्याग्रहका प्राण है। बड़े आन्दोलनोंके लिए महान नेताओंकी इस मनोवैज्ञानिक कारणसे आवश्यकता है कि अधिकतम मनुष्य सिद्धान्तोंकी अपेक्षा व्यक्तियोंकी दृष्टिसे अधिक सरलतासे सोच सकते हैं। वे केवल सिद्धान्तोंसे इतने प्रभावित नहीं होते जितने उन व्यक्तियोंसे, जिनका जीवन उन सिद्धान्तों पर आधारित है। उनको उसी प्रकार व्यक्तिगत नेताओंकी आवश्यकता होती है, जिस प्रकार व्यक्ति-स्वरूप ईश्वरकी।[4] दूसरे महान आन्दोलनोंकी अपेक्षा सत्याग्रहमें व्यक्तिगत नेता और भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि सत्य और अहिंसाके जीवित दृष्टांत-रूप नेताके गत्यात्मक व्यक्तित्वके प्रभावसे ही साधारण मनुष्य सामूहिक सत्याग्रहके प्रयोगके लिए आवश्यक नैतिकताके उच्च स्तर तक पहुंच सकते हैं।

सत्याग्रही नेता सत्य और अहिंसाके आदर्शोंको अपने जीवनमें पूरी तरह उतारनेका भरसक प्रयत्न करता है। सच्चाई और व्यापक प्रेम, संस्कृति और सम्मानपूर्ण व्यवहारके कारण उसे अनुगामियोंका श्रद्धायुक्त प्रेम और निस्संकोच आज्ञाकारिता प्राप्त होती है। प्रतिपक्षी भी उससे प्रेम करने लगता है और उसका विरोध दुर्बल हो जाता है। उसका इन्द्रिय-निग्रह उसको उच्च

१. सर्वोदय, अप्रैल १९४०, पृ० ४२६।

२. ह०, ८-९-'४०, पृ० २७७।

३. ह०, ७-४-'४६, पृ० ७२।

४. जी० डी० एच० कोल और मार्गरेट कोल: ए गाइड टु मॉडर्न पॉलिटिक्स, पृ० ३४८-४९।

कोटिकी सृजनात्मक शक्ति देता है। उससे उसके शब्दमें शक्ति आती है और उसके नियंत्रित विचारोंमें स्वयं (विना किसी वाह्य साधनकी सहायताके) कार्य करनेकी क्षमता उत्पन्न होती है।[1] अपरिग्रहके अभ्याससे उत्पन्न उसकी निःस्वार्थता उसको अवसरवादितासे वचाती है और उसके कारण सत्याग्रही नेता छोटे-से-छोटे अनुगामीके साथ एकताका अनुभव करता है। उसके पैर दृढ़तासे देशकी परम्परा पर टिके होते हैं। वह स्वदेशीकी भावनासे ओतप्रोत होता है और अपने देशवासियोंकी संस्कृति और परम्पराके सर्वोत्कृष्ट अंशोंका प्रतिनिधि होता है। ईश्वरमें अटल श्रद्धाके कारण और जीवनके आधारभूत सिद्धान्तोंके गंभीर ज्ञानके कारण वह सफल युद्धकलाविद् और अनोखा सेनापति होता है।

नेता जनताको विधायक और प्रतिरोधात्मक, दोनों प्रकारके सत्याग्रहके प्रयोगके लिए तैयार करता है। उसकी सफलताकी अचूक परख यह है कि उसके अनुगामी असीम धैर्य और अध्यवसाय चाहनेवाले रचनात्मक कार्यक्रममें भी उतनी ही रुचि लें जितनी कि अहिंसक प्रतिरोधमें और एक प्रकारके सत्याग्रहसे हटकर दूसरेका प्रयोग सरलतासे और प्रभावशाली रीतिसे कर सकें। सत्याग्रही नेताकी सबसे वड़ी सफलता यह है कि उसके कुछ अनुगामी अहिंसाके प्रयोगमें उससे भी आगे वढ़ जायं।[2]

आश्रम

गांधीजी जैसे महापुरुषोंका नेतृत्व उनकी आध्यात्मिक और नैतिक उच्चतासे स्थापित हो जाता है। लेकिन उपनेताओं, सहायकों और कार्यकर्ताओंके प्रशिक्षणके लिए भारतवर्षकी प्राचीन संस्था — आश्रम — सर्वश्रेष्ठ साधन है।

आश्रमके वातावरणमें शिक्षक और शिक्षार्थीके दीर्घकालीन सम्पर्कसे आश्रमवासियोंके हृदय पर अहिंसाके आदर्शकी अमिट छाप पड़ती है। आश्रमके जीवनमें नेता और उसके शिष्य अहिंसक व्रतोंका अभ्यास करते हैं। नेताका जीवन और संस्थाके प्रतिदिनके प्रश्नोंको निपटानेकी उसकी पद्धति सत्याग्रहका एक ऐसा मूर्त सजीव पाठ है, जिसका स्थान पुस्तकें या भाषण नहीं ले सकते। इस प्रकार आश्रम अहिंसक आन्दोलनके और नयी समाज-व्यवस्थाके केन्द्र वन जाते हैं। उनसे अहिंसाका सन्देश जनता तक पहुंचता है। आश्रम अहिंसाके नये प्रयोगोंकी जानकारीके लिए अनुसन्धान-

---

१. ह०, २३–७–'३८, पृ० १९२।

२. ह०, २१–७–'४०, पृ० २१०।

संस्थाओंका कार्य करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर सत्यके आग्रहमें मृत्युका सामना करनेकी शिक्षा देते हैं।

सत्याग्रहके जन्मके वादसे ही आश्रम गांधीजीका निवास-स्थान थे। आश्रमोंके शान्त, प्राकृतिक वातावरणसे उन्हें प्रेरणा मिलती थी और आश्रमोंमें रहकर ही वे सावना करते थे।[1] आश्रमसे गांधीजीका आशय सामूहिक धार्मिक जीवनसे है। इस अर्थमें आश्रम गांधीजीके स्वभावका एक अंश था। जवसे उन्होंने अपना अलग घर वसाया, तभीसे उनका घर आश्रम-जैसा ही था; क्योंकि उनके कुटुम्बका उद्देश्य धर्म था न कि वासनापूर्ति और उसमें उनके कुटुम्बियोंके अतिरिक्त कोई-न-कोई मित्र भी होता था। इन मित्रोंका कुटुम्बके साथ धार्मिक संबंध होता था।[2] एक वार उन्होंने कहा था, "मैं जिस संस्थाको भी छू लेता हूं, अन्तमें उसे आश्रममें परिवर्तित कर देता हूं। ऐसा लगता है कि मैं और कुछ जानता ही नहीं।"[3] गांधीजीके आश्रमोंके अतिरिक्त भारतवर्षके विभिन्न भागोंमें अन्य वहुतसे सत्याग्रह आश्रमोंकी भी स्थापना हुई। इनमें से अधिकतरका संचालन गांधीजीके शिष्यों और सहयोगियोंके हाथमें है और उनका संगठन सावरमती आश्रमके आधार पर किया गया है, जिसे गांधीजीने सन् १९३३ में तोड़ दिया था।

अहिंसक संगठन: कांग्रेस और जनतंत्र

अहिंसक जन-आन्दोलनके लिए नेता, उपनेताओं और सहयोगियोंके अतिरिक्त स्थायी संगठनकी भी आवश्यकता होती है। गांधीजीने इंडियन नेशनल कांग्रेसको सत्याग्रहकी आवश्यकताके अनुसार सुधारनेका प्रयत्न किया था। लेकिन कांग्रेसको वे पूरी तरह अपने आदर्शों और इच्छाके अनुकूल नहीं वना पाये थे। हम यहां संक्षेपमें इस वातके अध्ययनका प्रयत्न करेंगे कि कहां तक कांग्रेस उनके जीवन-कालमें उनकी धारणाके अहिंसक संगठनके आदर्श तक पहुंचनेमें असफल रही।

भारतीय राजनीतिमें गांधीजीके आनेसे पहले कांग्रेस उच्च मध्यम वर्गके नेताओंका संगठन थी और उसका जनतासे शायद ही कोई सम्पर्क था। उसका अधिवेशन वर्षभरमें एक वार किसी वड़े नगरमें होता था और उसकी राजनीति प्रार्थना और विरोधके प्रस्तावों और शिष्ट-मण्डलों तक ही सीमित

---

१. 'इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया' (३१ मार्च, १९४०)में महादेव देसाईका 'हाउ डज़ मि० गांधी लिव' शीर्षक लेख।

२. गांधीजी: सत्याग्रह आश्रमका इतिहास, पृ० १।

३. ह०, १-९-'४६, पृ० २९०-९१।

थी। इस प्रकार कांग्रेस मुख्यत: एक विचार करनेवाली संस्था थी और उसका संबंध कार्यकी अपेक्षा मत-निर्माणसे कहीं अधिक था। गांधीजीने कांग्रेसको क्रांतिकारी जन-संगठनमें परिवर्तित कर दिया।

गांधीजीके नेतृत्वमें कांग्रेसका उद्देश्य यह हो गया कि वह जनताके साथ एकात्म्य स्थापित करे, उसे शिक्षा दे, उसमें अनुशासनका विकास करे और स्वतन्त्रताके लिए अहिंसक रीतिसे लड़े। गांधीजीके अनुसार अहिंसक संस्थाके साधन सत्यपूर्ण और अहिंसक होने चाहिए। लेकिन उनके लगातार जोर देने पर भी कांग्रेस 'अहिंसक' के स्थानमें 'शांतिपूर्ण' तथा 'सत्यपूर्ण' के स्थानमें 'उचित' विशेषणों पर अटल रही। गांधीजीके लिए अहिंसा जीवन-सिद्धान्त था, न कि केवल काम वनानेकी नीति। सन् १९१९ में उनकी सलाहसे कांग्रेसने अहिंसाको केवल काम वनानेकी नीतिके रूपमें ही अर्थात् केवल स्वराज्य-प्राप्तिके लिए और देशके विभिन्न सामाजिक और धार्मिक समुदायोंके आपसी सम्वन्धके नियमनके लिए स्वीकार किया। गांधीजीको आशा थी कि अधिकांश जनता अहिंसाकी कार्य-पद्धतिको देखकर उसे सिद्धान्तकी तरह स्वीकार कर लेगी।[1] लेकिन यद्यपि उन्होंने जनताको काम बनानेवाली नीतिके रूपमें अहिंसाकी शिक्षा दी, परन्तु उन्होंने इस वात पर भी जोर दिया कि अहिंसाको काम वनानेवाली नीतिके रूपमें माननेका भी यह अर्थ है कि हम राजनैतिक क्षेत्रमें ईमानदारीसे विचार, शब्द और कार्यमें अहिंसक रहें। "अहिंसाके काम वनानेवाली नीति होनेका अर्थ यह है कि यदि वह असफल या प्रभावहीन सिद्ध हो, तो उचित सूचना देकर हम उसे छोड़ सकते हैं। लेकिन सीधी-सादी नैतिकताकी मांग है कि जव तक किसी नीति-विशेषके अनुसार चला जाय, तव तक उसका अनुसरण सच्चे हृदयसे होना चाहिए।"[2] उन्होंने कहा, "यह आवश्यक नहीं कि हमारी अहिंसा वलवानोंकी हो, लेकिन सच्चे मनुष्योंकी (अहिंसा) तो उसे होना ही चाहिए।"[3]

सन् १९३३ में गांधीजीको विश्वास हो गया कि यदि अहिंसाको कार्यक्षम वनाना है, तो उसे अधकचरी काम चलानेकी नीतिकी तरह नहीं, वल्कि व्यापक सिद्धान्तकी तरह स्वीकार करना चाहिए। लेकिन गांधीजीकी कसौटीसे कांग्रेस वहुत पीछे थी। पिछले युद्धके कारण सन् १९४० में गांधीजीका कांग्रेससे यह मतभेद तीव्र हो गया। दिल्ली और पूनाके प्रस्तावोंसे (७ और २७ जुलाई, १९४०) कांग्रेसने गांधीजीको नेतृत्वके भारसे मुक्त कर दिया और दो दशाब्दियों तक स्वीकृत अहिंसाके सिद्धान्तके प्रतिकूल उसने इस शर्त

१. ह०, २३–७–'३८, पृ० १९२; २४–६–'३९, पृ० १७५।
२. यं० इं०, भाग–१, पृ० २८२–८३।
३. यं० इं०, भाग–१, पृ० २८८।

पर इंग्लैण्डके साथ सक्रिय रूपसे युद्ध-प्रयत्नमें सहयोग करनेका वचन दिया कि इंग्लैण्ड भारतकी स्वाधीनताको मान ले। लेकिन कांग्रेसका यह प्रस्ताव इंग्लैण्डने अस्वीकार कर दिया। इसलिए बम्बईके प्रस्तावसे (१६ सितम्बर, १९४०) कांग्रेसने फिर गांधीजीके नेतृत्वको स्वीकार किया और अहिंसक नीति तथा व्यवहारको केवल स्वराज्य-प्राप्तिके संघर्षमें ही नहीं, बल्कि यथासंभव स्वतन्त्र भारतवर्षमें प्रयोगके लिए अपनानेकी और निःशस्त्रीकरणमें संसारका पथ-प्रदर्शन करनेकी प्रतिज्ञा की।[१] इस प्रस्तावसे भी अहिंसा कांग्रेसकी काम चलानेकी नीति ही बनी रही, यद्यपि अब कांग्रेस पहलेकी स्थितिसे आगे बढ़ी और उसने पहलेकी अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थमें अहिंसाको स्वीकार किया। गांधीजीका विश्वास था कि जब तक कांग्रेस अहिंसाको अपनाये रहेगी, वह अजेय रहेगी और कोई भी शक्ति उसको दबा न सकेगी।[२] स्वाधीन भारतमें कांग्रेस एक राजनैतिक दलके रूपमें कार्य करती है और उसके हाथमें देशके शासनकी बागडोर है। लगभग तीन दशाब्दियों तक दुर्बल अहिंसाका व्यवहार करनेके कारण वह भारतके साम्प्रदायिक दंगोंका और काश्मीर पर पाकिस्तानके आक्रमणका अहिंसक रीतिसे सामना न कर सकी।[३]

बहुमत और अल्पमत

कांग्रेसमें गांधीजी राजनैतिक समुदायोंके अस्तित्वका और सन्तुलित आलोचनाका स्वागत करते थे और ऐसी आलोचनाको सार्वजनिक जीवनके लिए बहुत स्वास्थ्यप्रद मानते थे।[४] उनका मत था कि कांग्रेसके अन्तर्गत विभिन्न समुदायोंको सत्य और अहिंसामें सामान्य आस्थाके सूत्रसे बंधे होना चाहिए। उनमें दूर न हो सकनेवाला पारस्परिक विरोध न होना चाहिए, उनका मतभेद ध्येय और साधनोंके सम्बन्धमें नहीं, बल्कि किसी विशेष अवसर पर प्रयुक्त साधनकी विस्तारकी बातोंके बारेमें होना चाहिए।

अहिंसक संस्थामें निर्णय बहुमतके जनतन्त्रवादी मार्गसे होना चाहिए। लेकिन गांधीजी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर और अल्पमत पर संख्याबल द्वारा दबाव

---

१. ऑल इंडिया कांग्रेस कमेटीका १६–९–१९४० का प्रस्ताव। ह०, २२–९–'४०, पृ० २९६; गांधीजी द्वारा 'कांग्रेस रिस्पॉन्सिबिलिटी फॉर दि डिस्टर्बेन्सेज' का जवाब, १५–७–'४३।

२. ह०, १३–११–'३७, पृ० ३३।

३. सन् १९४७ में गांधीजीने अपने एक लेखमें लिखा था, "यह कोई छिपी बात नहीं है कि शासन-सत्ता स्वीकार करनेके बाद कांग्रेसने स्वेच्छासे अहिंसाको त्याग दिया है।" ह०, २–११–'४७, पृ० ३८९।

४. ह०, १३–११–'३७, पृ० ३३।

डालनेके विरोधी थे। अहिंसाकी मांग है कि अल्पमतके साथ उदारताका व्यवहार किया जाय। अहिंसामें बहुमतके अत्याचारके लिए स्थान नहीं है। कांग्रेसके सम्बन्धमें गांधीजी लिखते हैं, "मेरा सदा यह मत रहा है कि जब कोई गण्यमान्य अल्पमत किसी व्यवहार-नियमके प्रति आपत्ति करता है, तो बहुमतका अल्पमतके सामने दब जाना सम्मानपूर्ण बात है। जब संख्याजन्य शक्ति अल्पमतकी दृढ़तासे ग्रहण की हुई रायकी नितान्त उपेक्षा करती है, तो उसमें हिंसाकी विशेषता होती है। बहुमतका नियम तभी पूरी तरह ठीक है जब भिन्न मतवाले अपने मतभेदका कठोरतासे अनुरोध न करें और जब उनमें बहुमतकी रायको उदारतापूर्वक मान लेनेकी भावना हो।"[१] लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि अल्पमतको बहुमतकी प्रगति और कार्यमें अड़चन डालनेका दैवी अधिकार है। "जहां कोई सिद्धान्तकी बात नहीं है और किसी कार्यक्रमको चलाना है, वहां अल्पमतको बहुमतकी बात माननी होगी।"[२]

इस प्रकार साधारण रीतिसे नीतिका निर्धारण बहुमत द्वारा होना चाहिए। लेकिन यदि किसी सिद्धान्त-सम्बन्धी बातका निर्णय करना हो, तो अल्पमतके मतभेदका पूरी तरह खयाल रखना चाहिए।"[३]

अहिंसक संस्थाके अल्पमत समुदायको संस्थाके साथ पूरी तरह सहयोग करना चाहिए और स्वेच्छासे उसकी बात माननी चाहिए। लेकिन यदि अल्पमत समुदायको संस्थाके मूलभूत सिद्धान्तोंमें विश्वास नहीं है, तो उसको संस्थासे हट जाना चाहिए और सेवा तथा बलिदानसे संस्थाके सदस्योंके मत-परिवर्तनका प्रयत्न करना चाहिए। संस्थासे हट जाने पर भी अल्पमतको यथासम्भव बहुमतके साथ सहयोग करते रहना चाहिए। संस्थाके अन्दर रहकर विरोध और अड़ंगा डालनेकी नीति सत्याग्रहकी भावनाके विरुद्ध है। गांधीजीने सन् १९२२ में लिखा था, "यदि हम जनतन्त्रकी सच्ची भावनाका विकास करने जा रहे हैं, तो यह हम रुकावट डाल कर नहीं, बल्कि अलग रहकर कर सकेंगे।" केवल अड़ंगा-नीति निषेधात्मक है और विनाशक है और उसका उद्देश्य है दूसरोंको परेशान करके और चालबाजीसे शक्ति पर अधिकार कर लेना; जब कि अहिंसा रचनात्मक और विधायक है और उसका उद्देश्य है सेवा द्वारा हृदय-परिवर्तन।

चुनाव या वोट देनेके अवसर पर संस्थाके विभिन्न समुदाय मतदाताओंको प्रभावित करनेके सब प्रमाणित साधनोंका प्रयोग कर सकते

---

१. यं० इं०, भाग–३, पृ० २१२।

२. ह०, ११–८–'४०, पृ० २४४।

३. यं० इं०, भाग–१, पृ० १०१७।

हैं। लेकिन अनुचित दवाव न डालना चाहिए और उनकी नीतिसे पृथक् विरोधी समुदायोंकी आलोचना न होनी चाहिए।[१] सन् १९२४ में, जव कांग्रेसमें स्वराज्य-पार्टीके सदस्यों और अपरिवर्तनवादियोंमें संघर्ष था, गांधीजीने अपरिवर्तनवादियोंको सलाह दी थी कि वे दलवन्दीकी मनोवृत्तिको न अपनायें। उन्होंने कहा था, "जहां कहीं अपरिवर्तनवादी विना कटुतापूर्ण संघर्षके वहुमत नहीं पा सकते, वहां उन्हें खुशीसे और स्वेच्छासे भद्रतापूर्वक स्वराज्य-पार्टीके सदस्योंसे दव जाना चाहिए। यदि उनको शक्ति या पद मिलता है तो वह सेवाके द्वारा मिलना चाहिए, न कि वोटोंका चतुरतापूर्वक प्रवन्ध करनेसे। वोट तो हैं ही, लेकिन वे विना मांगे मिलने चाहिए।"[२] सन् १९३९ में उन्होंने कहा था, "अहिंसा शक्ति पर वलपूर्वक अधिकार नहीं करती। वह शक्तिको खोजती भी नहीं, शक्ति उसको प्राप्त हो जाती है।"[३] इस प्रकार गांधीजीके अनुसार अहिंसक संस्थामें शक्तिलिप्साकी राजनीतिका और संस्थाके संगठनको हथियाने तथा *उस पर अपना अधिकार रखनेके लिए पैंतरेवाजीका स्थान नहीं है।*

इस वातमें भी कांग्रेस प्रायः गांधीजीके आदर्शसे पिछड़ी हुई रही। सन् १९३७ के वाद कांग्रेसकी एकरूपता और सुदृढ़ता पर ऐसे समुदायोंके पैदा हो जानेसे हानिकर प्रभाव पड़ा है, जिनको कांग्रेसके सिद्धान्तों और रचनात्मक कार्यक्रममें विश्वास नहीं था। इस मतभेदके होते हुए भी ये समुदाय इसलिए कांग्रेसके अन्दर थे कि वहां रहनेसे वे जनताको अधिक प्रभावित कर सकते थे। ये समुदाय कभी-कभी अड़ंगा-नीतिको अपनाते थे और गांधीजीने एक वार यह मत प्रकट किया था कि यदि ये समुदाय समझाने-वुझानेसे न मानें, तो वहुमतके लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग यह है कि वह कांग्रेसके संगठनको इन समुदायोंके हाथमें छोड़ दे और विना कांग्रेसके नामका प्रयोग किये कांग्रेसके कार्यक्रमको चलावे।[४]

कांग्रेस सदस्यताके वारेमें भी गांधीजीके सिद्धान्तोंके अनुसार न चल सकी, क्योंकि उसका दृष्टिकोण गुणात्मक नहीं परन्तु परिमाणात्मक था और इसलिए उसने संख्यावृद्धिको अधिक महत्त्व दिया। गांधीजीका यह विश्वास था कि कांग्रेसकी आंतरिक भ्रष्टता सत्याग्रहकी असफलताका एक महत्त्वपूर्ण कारण थी। सन् १९२२ में उन्होंने लिखा था, "आंतरिक भ्रष्टताका दृढ़ और कठोर विरोध सरकारके विरुद्ध पर्याप्त प्रतिरोध

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० ८८५।
२. यं० इं०, भाग–२, पृ० ८८५।
३. मीरा : ग्लीनिंग्ज़, पृ० १५।
४. ह०, १५–१०–(३८, पृ० २८७।

है।"[1] सन् १९४०–४१ के युद्ध-विरोधी सत्याग्रहके तीन वर्ष पहलेसे गांधीजी अपने बहुतसे लेखों और भाषणोंमें कांग्रेसकी भ्रष्टता पर जोर देते रहे थे। जब कांग्रेसने प्रान्तोंमें शासन-भार स्वीकार किया, तो उसकी सदस्यतासे सम्बद्ध खतरे दूर हो गये। इसलिए कांग्रेसके नये प्रभाव और शक्तिका दुरुपयोग करनेके लिए बहुतसे अवांछनीय व्यक्ति कांग्रेसमें आ गये। निर्वाचित पदोंके लिए भद्दी छीनाझपटी शुरू हो गई। सदस्यताके रजिस्टरोंमें झूठे नाम दर्ज किये गये और कमेटियोंके चुनावोंमें हिंसाका भी प्रयोग हुआ। व्यवस्थापक सभाओंके उत्तेजनापूर्ण कार्यके सामने विधायक कार्यक्रमकी उपेक्षा की गई और अनुशासन ढीला पड़ गया। इसलिए कांग्रेसको अनुशासनहीनता और भ्रष्टताके विरुद्ध सख्त कार्रवाई करनी पड़ी। युद्धके प्रारम्भके बाद कांग्रेस शासनके कार्यसे अलग हो गई और सन् १९४० में युद्ध-विरोधी सत्याग्रह शुरू हुआ। इन दोनों घटनाओंसे कांग्रेसमें बहुत शुद्धता आ गई। अवसरवादी कांग्रेसको छोड़ कर सरकारके साथ जा मिले और १९४२ में अगस्त-आन्दोलनके पहले कांग्रेस एक बार फिर सुदृढ़ संस्था बन गई तथा १९४२ के घातक सरकारी हमलेके अभूतपूर्व अत्याचारको सह सकी। सन् १९४६ से कांग्रेसमें व्यापक भ्रष्टता और अनुशासनहीनताके दोष फिर बढ़ गये हैं।

कांग्रेस और सत्तावाद

भारतके स्वतंत्र होनेके पूर्व कांग्रेसका कार्य दो प्रकारका था। उसका कुछ कार्य तो शांतिपूर्ण था और इसका सम्बन्ध कांग्रेसके आंतरिक विकास और प्रशासनसे था। इस कार्यके सम्बन्धमें कांग्रेस उतनी ही जनतन्त्रवादी थी जितनी संसारकी अन्य कोई संस्था। लेकिन पिछली तीन दशाब्दियोंसे कांग्रेस शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्यवादके विरुद्ध जीवन-मरणके संघर्षमें लगी थी। इस प्रकार कांग्रेस एक लड़नेवाली संस्था, एक अहिंसक सेना भी थी। युद्ध, अहिंसक युद्ध भी, जनतन्त्रको बहुत दुर्बल बना देता है। क्योंकि युद्ध-कालमें नेतृत्व और अनुशासनकी एकता तथा शीघ्रतापूर्वक कार्य करनेकी आवश्यकताओंके कारण समझाने-बुझाने और वोट द्वारा निर्णय करनेकी साधारण जनतन्त्रवादी प्रक्रियाओंमें बहुत परिवर्तन करने पड़ते हैं।

पिछली तीन दशाब्दियोंमें जब सविनय अवज्ञा स्थगित रहती थी तब भी कांग्रेसका अहिंसक सेनाके रूपमें कार्य चालू रहता था। क्योंकि सविनय अवज्ञाके स्थगित रहनेका अर्थ यह नहीं था कि युद्धका अन्त हो गया। लड़नेवाली संस्थाके रूपमें कांग्रेसको नियंत्रणका केन्द्रीकरण करना पड़ता था

---

[1] यं० इं०, भाग–१, पृ० २६४।

और उसको प्रत्येक विभाग और प्रत्येक सदस्यका, वह चाहे जितना उच्च पदस्थ क्यों न हो, पथ-प्रदर्शन करना पड़ता था और कांग्रेस उनसे पूरी आज्ञाकारिताकी आशा रखती थी।[१] गांधीजीके शब्दोंमें "केन्द्रीय सत्ताको पूरी शक्ति प्राप्त है, जिससे वह अपनी अधीनतामें कार्य करनेवाली भिन्न-भिन्न इकाइयोंका अनुशासन निर्धारित कर सके और उनको अनुशासन माननेपर वाध्य कर सके।"[२]

सविनय अवज्ञाके समय गांधीजीके अनुसार, कांग्रेसके संकल्पकी अभिव्यक्ति उसके सेनापति द्वारा होती थी — वह सेनापति चाहे जो हो। "प्रत्येक इकाईको इच्छापूर्वक विचार, शब्द और कार्यमें उसकी आज्ञाका पालन करना पड़ता है। हां, विचारमें भी, क्योंकि युद्ध अहिंसक है।"[३]

जब कभी कांग्रेसने सरकारके विरुद्ध युद्धकी घोषणा की, उसने गांधीजीको डिक्टेटरकी पूरी सत्ता दी। सन् १९३० में गांधीजीने इस वातका एक महत्त्वपूर्ण कारण बताया कि क्यों अहिंसक प्रतिरोधका नियन्त्रण कांग्रेसके समान जनतन्त्रवादी संस्थाके हाथमें नहीं होना चाहिए। कांग्रेसमें भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियोंके मनुष्य हैं। कुछ अहिंसाको सिद्धान्तके रूपमें मानते हैं और दूसरोंके लिए अहिंसा राजनीतिमें काम चलानेकी नीति है। "इसलिए हो सकता है कि उन लोगोंकी अहिंसाकी प्रवृत्ति, जिनके लिए अहिंसा काम-चलाऊ नीति है, हिंसाके प्रलोभनमें उनका साथ न दे। लेकिन उनकी प्रवृत्ति, जो अहिंसाके अतिरिक्त किसी दूसरे साधनका प्रयोग नहीं करेंगे, सदा उनका साथ देगी, यदि वास्तवमें उनके भीतर अहिंसा है। इसीलिए कांग्रेसके नियन्त्रणसे (सत्याग्रही नेताके) स्वतन्त्र रहनेकी आवश्यकता है।"[४]

लेकिन सत्याग्रही नेता नामका ही डिक्टेटर (अधिनायक) होता था। डिक्टेटरके रूपमें उसकी सत्ता केवल सविनय अवज्ञाके समयके लिए होती थी। उसकी सत्ताकी उत्पत्ति जनतन्त्रवादी थी, क्योंकि कांग्रेस उसको स्वेच्छासे स्वीकार करती थी। इसके अतिरिक्त, सत्याग्रही अनुगामियोंकी आज्ञाकारिता नितान्त ऐच्छिक थी और वे जब चाहते तब नेताकी आज्ञा माननेसे इनकार कर सकते थे। फिर, जब सविनय अवज्ञाका आन्दोलन जोर पकड़ता था तब बड़े बड़े नेता जेल भेज दिये जाते थे और कांग्रेस अवैध घोषित हो जाती थी। कांग्रेस कमेटियोंका कार्य बन्द हो जाता था और वे अपने अधिकार स्थानीय डिक्टेटरोंको सौंप देती थीं। तब आंदोलन

---

१. ह०, ६-८-'३८, पृ० २०९।
२. ह०, १८-११-'३९, पृ० ३४४।
३. ह०, १८-११-'३९, पृ० ३४४।
४. यं० इं०, २-२-'३०।

विकेन्द्रित और स्व-संचालित हो जाता था। वास्तवमें गांधीजी यह चाहते थे कि नेतृत्व इतनी पूरी तरह विकेन्द्रित हो जाय कि प्रत्येक सत्याग्रही स्वयं अपना नेता भी हो और अनुगामी भी हो।[1] किसी भी क्रान्तिकारी आंदोलनमें इससे अधिक जनतन्त्रवादी व्यवस्था शायद ही संभव हो। इस प्रकार कांग्रेसमें प्रभावोत्पादक नेतृत्व, सत्ताके केन्द्रीकरण, युद्ध-क्षमता और जनतंत्रका संयोग था।

यह भ्रम हो सकता है कि सत्याग्रही डिक्टेटर फासिस्ट डिक्टेटर जैसा था। लेकिन वस्तुतः दोनोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। फासिज्म हिंसा पर आश्रित है। दूसरी ओर कांग्रेस अहिंसक संस्था थी। उसके दवाव डालनेके साधन नैतिक थे और वह वल-प्रयोग द्वारा किसीको अपनी वात मानने पर वाध्य नहीं करती थी। इस प्रकार संसारकी एकमात्र महत्त्वपूर्ण अहिंसक संस्थाके रूपमें कांग्रेस फासिज्मका प्रतिवाद है। कांग्रेसमें छोटे-से-छोटा अल्प-मत भी वहुमतके अन्यायका अहिंसक प्रतिरोध कर सकता था और इस प्रकार अपने अधिकारोंकी रक्षा कर सकता था।

गांधीजीका कांग्रेससे अनेक वार अलग होना इस वातका प्रमाण है कि कांग्रेस नेताकी अन्धभक्तिके फासिस्ट सिद्धान्तको नहीं मानती थी। जुलाई १९४० में तो कांग्रेसने ही गांधीजीको नतृत्वसे अलग कर दिया था। कांग्रेस पर गांधीजीका प्रभाव केवल नैतिक था और वह अक्सर वढ़ाकर वतलाया जाता था। गांधीजी लिखते हैं, "मेरा मत वहीं तक चलता है जहां तक मैं दूसरोंमें विश्वास उत्पन्न कर सकता हूं। मैं यह भेद प्रकट कर दूं कि अक्सर मेरे मतका सदस्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।"[2]

कांग्रेस फासिस्ट थी, इस भ्रमका एक कारण यह भी है कि वह सदस्योंको अनुशासनमें रखनेका प्रयत्न करती थी। हम ऊपर वतला आये हैं कि सन् १९३७ के वाद अनुशासनहीनता और भ्रष्टताको दूर करनेके लिए नियमोंका उल्लंघन करनेवाले सदस्योंके विरुद्ध कांग्रेसको अनुशासनकी कार्रवाई क्यों करनी पड़ी। सामान्य सिद्धान्तों और कार्य-पद्धतिके प्रति न्यूनतम निष्ठा स्वेच्छा पर आधारित समुदायोंके अस्तित्वकी पूर्व-मान्यता है।

यद्यपि कांग्रेसके सदस्य भारतवर्षकी जनसंख्याका एक अंश मात्र थे, फिर भी कांग्रेस सेवाके अधिकारसे सम्पूर्ण राष्ट्रके प्रतिनिधित्वका दावा करती थी। देशके स्वतंत्र होनेके पहले कांग्रेसने इस वातका भी प्रयत्न किया था कि उसमें जनमतके सभी महत्त्वपूर्ण अंशोंका समावेश हो। लेकिन इसका कारण यह

---

१. हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० ६५७।

२. ह०, १२–८–'३९, पृ० २३३।

था कि कांग्रेस भारतीय राष्ट्रीयताके साम्राज्यवाद-विरोधी प्रतिरोधका प्रतीक, एक प्रकारका राष्ट्रीय मोर्चा थी। गांधीजीने एक बार कहा था, "जब कोई देश विदेशियोंके हाथमें से शक्ति छीननेके संघर्पमें लगा हो, तब (प्रमुख राजनैतिक दलमें अन्य दलोंके) सम्मिलित होनेकी क्रिया स्वाभाविक है; उसमें पृथक्, प्रतिद्वन्द्वी राजनैतिक संगठनोंकी गुंजाइश नहीं रहती। देशकी सम्पूर्ण शक्तिका प्रयोग तीसरे वलपूर्वक अधिकार करनेवाले दलको वाहर निकालनेके लिए होना चाहिए।"[1]

कांग्रेसमें दोष थे और कमियां थीं। लेकिन गांधीजीके अनुसार "वह चाहे जितनी अपूर्ण क्यों न हो, उसमें श्रद्धाकी चाहे जितनी कमी क्यों न हो, लेकिन शांतिपूर्ण साधनोंमें दृढ़तापूर्वक विश्वास करनेवाली वह एकमात्र संस्था थी।"[2] किसी दूसरी संस्थाने अहिंसक प्रतिरोधका प्रयोग इतने वड़े पैमाने पर नहीं किया था। और न कहीं अन्यत्र अधिनायकवाद स्वभाव, उत्पत्ति और कार्य-पद्धतिमें इतना जनतंत्रवादी था।

गांधीजीने कांग्रेसकी पुनर्रचना इस उद्देश्यसे करनेकी कोशिश की थी कि वह जनतन्त्रवादी क्रांतिकारी संस्था वन जाय और भारतवर्पके ७ लाख गांव उसकी सेवा और प्रभावके क्षेत्रमें आ जायं। उनका विश्वास था कि सच्चे जनतन्त्रवादकी ओर कांग्रेसने लगातार उन्नति की है।

जनतंत्रकी अपनी धारणामें गांधीजी इस वातको महत्त्व नहीं देते थे कि जनताके प्रतिनिधियोंकी संख्या वहुत वड़ी हो — इतनी वड़ी कि आसानीसे संभल न सके और उसके कारण भ्रष्टता और पाखंड वढ़े। जैसा कि उन्होंने सन् १९३४ में कहा था, "वास्तविक जनतन्त्रका इस वातसे विरोध नहीं कि थोड़ेसे व्यक्ति उन लोगोंकी — *जिनके प्रतिनिधि होनेका वे दावा करते हैं* — भावना, आशा और आकांक्षाओंका प्रतिनिधित्व करें।"[3] गांधीजी द्वारा प्रयुक्त "प्रतिनिधि होनेका दावा करते हैं" शव्दोंको जनतन्त्रवादी आदर्शके विरुद्ध समझना भूल होगी। अहिंसक संस्थामें, जो ऐच्छिक आज्ञाकारिता और नैतिक साधनों पर आश्रित हो, "प्रतिनिधि होनेका दावा" करनेका अर्थ जनताकी सेवा करने और उसके लिए कष्ट सहनेके अतिरिक्त कुछ नहीं है। यदि वात गांधीजी पर ही छोड़ दी जाती, तो वे कांग्रेसकी सदस्य-संख्याको यथासंभव वहुत ही कम कर देते। "वह थोड़ेसे चुने हुए सेवकोंकी संस्था होगी, जो राष्ट्रके चाहने पर हटाये जा सकेंगे, परन्तु जिन्हें राष्ट्रके समक्ष रखे

---

१. ह०, ३१-१२-'३८, पृ० ४१०।

२. गांधीजीका २१-४-'४१ का वक्तव्य।

३. गांधीजीका १७-९-'३४ का वक्तव्य।

जानेवाले अपने कार्यक्रम पर अमल करनेके लिए देशके लाखों-करोड़ों लोगोंका ऐच्छिक सहयोग प्राप्त होगा।"[१]

सन् १९२० में गांधीजीने कांग्रेसका नया संविधान वनाया था। सन् १९३४ में उन्होंने कांग्रेसके विधानमें कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनोंकी सिफारिश की। इनमें से अनेक परिवर्तन १९३४ में वम्वईके अधिवेशनमें कांग्रेसने स्वीकार कर लिये। सन् १९३४ के संविधानमें समय-समय पर, विशेष रूपसे १९३९ में, संशोधन हुए थे। सन् १९४८ तक इसी संशोधित संविधान द्वारा कांग्रेसका संगठन निर्धारित होता था।

इस संशोधित संविधानके अनुसार इंडियन नेशनल कांग्रेसमें निम्नलिखितका समावेश था:

(१) चार आना वार्षिक चंदा देनेवाले कांग्रेस कमेटियोंके प्राथमिक सदस्य।

(२) ग्राम, मोहल्ला, शहर, थाना, मंडल, तहसील और जिला कमेटियां।

(३) प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी।

(४) कांग्रेसका वार्षिक अधिवेशन जिसमें सभापति और उस वर्षके प्रतिनिधि सम्मिलित थे।

(५) अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी।

(६) कार्य-समिति (वर्किंग कमेटी)।

प्रतिनिधियोंका चुनाव प्राथमिक सदस्यों द्वारा होता था। प्रत्येक जिलेको प्रति १ लाख जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि चुननेका अधिकार होता था; शर्त यह थी कि प्रत्येक चुने जानेवाले प्रतिनिधिके लिए वर्ष भरमें वनाये गये ५०० प्राथमिक सदस्योंसे कम न हों।

प्रान्तके प्रतिनिधियोंसे प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी वनती थी। प्रान्तके प्रतिनिधि अपने आठवें भागको अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीकी सदस्यताके लिए चुनते थे। सभापतिका चुनाव एक वर्षके लिए होता था और केवल प्रतिनिधियोंको ही इस चुनावमें वोट देनेका अधिकार होता था। कार्य-समितिमें सभापति तथा चौदह सदस्य होते थे और इन सदस्योंको सभापति अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीके सदस्योंमें से नियुक्त करता था। कार्य-समिति कांग्रेसकी कार्यकारिणी सत्ता थी, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीके प्रति उत्तरदायी थी और उसकी निर्धारित नीतिको कार्यान्वित करती थी।

---

१. ह०, १२-८-'३९, पृ० २३२।

देशके स्वतंत्र होनेके पहले ही गांधीजीका ध्यान कांग्रेसके दोषोंकी ओर आकृष्ट हुआ था और अपनी मृत्युके पूर्व उन्होंने कांग्रेसके सुधारके बारेमें सुझाव दिये थे, जिससे कांग्रेस भद्दे शक्ति-संघर्षसे बच सके और देशमें आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्वतंत्रताकी स्थापना कर सके। गांधीजीके ये सुझाव हमें उनके तीन लेखोंमें मिलते हैं। ये लेख हैं — उनका हिन्दीमें लिखा एक ज्ञापन (मेमोरैण्डम) — जिसको उन्होंने कांग्रेसकी विधान-समितिको जनवरी १९४६ में दिया था[१] — उनका 'कांग्रेसकी स्थिति'[२] शीर्षक लेख और कांग्रेसके विधानका वह प्रारूप[३], जिसको उन्होंने २९ जनवरी, १९४८ को लिखा था और जो उनकी अन्तिम वसीयतके नामसे प्रसिद्ध है। अंतिम लेखको हमने इस अध्यायके प्रथम परिशिष्टके रूपमें दिया है।

गांधीजीका मत था कि प्रचार और व्यवस्थापन-कार्यके साधनके रूपमें कांग्रेसकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। उसे अपने वर्तमान संगठनको विघटित करके लोक-सेवक-संघके रूपमें विकसित हो जाना चाहिए। संघको राष्ट्रके उन सेवकोंका समुदाय होना चाहिए, जो आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्वतन्त्रताकी उपलब्धिके उद्देश्यसे अधिकतर गांवोंमें रचनात्मक कार्य-क्रममें लगे हुए हों। ये लोक-सेवक शक्ति-संघर्षसे अलग रहेंगे और राष्ट्रके मतदाताओंको अपनी नैतिकता और सेवासे प्रभावित करेंगे। लोक-सेवक-संघका संगठन जनतन्त्रवादी सिद्धान्तोंके अनुसार होगा। रचनात्मक कार्यमें लगे हुए पांच वयस्क व्यक्तियोंकी एक इकाई बनेगी। ऐसी दो निकटवर्ती पंचायतें एक नेता चुनेंगी। ऐसे पचास प्रथम श्रेणीके नेता द्वितीय श्रेणीका एक नेता चुनेंगे और इस प्रकार संगठन समस्त देशमें फैल जायगा। द्वितीय श्रेणीके नेता व्यक्तिगत रूपसे अपने स्थानमें और सम्मिलित रूपमें सम्पूर्ण देशमें कार्य-संचालन करेंगे। आवश्यकता होने पर द्वितीय श्रेणीके नेता अपनेमें से एकको प्रमुख नेता चुनेंगे, जो सम्पूर्ण संघका संचालन और नेतृत्व करेगा। संघ रचनात्मक कार्य करनेवाली अन्य स्वतन्त्र संस्थाओंको मान्यता देगा।

गांधीजीके देहावसानके बाद उनके इन सुझावोंको कांग्रेसके नेताओंकी स्वीकृति न मिल सकी। सन् १९४८ में कांग्रेसने एक नए संविधानको स्वीकार किया, जिसमें तबसे अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन हो चुके हैं। वर्तमान संविधानके अनुसार, "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसका उद्देश्य भारतवासियोंकी भलाई और उन्नति करना तथा भारतमें शांतिमय एवं वैध उपायोंसे ऐसे सम्मिलित

१. ज्ञापनके अंग्रेजी अनुवादके लिए देखिये एन० बी० राजकुमार: डेवलपमेन्ट ऑफ दि कांग्रेस कांस्टिटचूशन, परिशिष्ट २।

२. ह०, १–२–'४८, पृ० ४।

३. ह०, १५–२–'४८, पृ० ३२।

सहकारी स्वराज्यकी स्थापना करना है, जिसका आधार सबके लिए समान अवसर और समान राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकार हो और जिसका लक्ष्य विश्वशांति और विश्वबंधुत्वकी स्थापना करना हो।" कार्य-समितिमें अव वीस सदस्य होते हैं। नये संविधानके अनुसार कांग्रेसकी सदस्यता दो प्रकारकी है—(१) पहलेकी भांति प्रारम्भिक सदस्य; और (२) कर्मठ सदस्य। कर्मठ सदस्य वह है जो कुछ अधिक चन्दा देता है और अपने समयका एक भाग व्यक्तिगत लाभसे अलग रहकर नियमित रूपसे किसी प्रकारकी सार्वजनिक सेवामें लगाता है। कर्मठ सदस्योंको ही कांग्रेसके महत्त्वपूर्ण पदोंके लिए चुनावमें खड़े होनेका अधिकार है। कांग्रेसके सदस्य किसी ऐसे राजनैतिक या साम्प्रदायिक दलके सदस्य नहीं हो सकते, जिसकी अलग सदस्यता, संविधान या कार्यक्रम हो। कांग्रेस कमेटियोंकी अवधि दो वर्षकी है।

गांधीजीके जीवन-कालमें कांग्रेसका कुछ रचनात्मक संस्थाओंसे निकटका सम्बन्ध था। गांधी-सेवा-संघ नौ सत्याग्रही विशेषज्ञोंकी अनुसन्धान-संस्था थी। ये विशेषज्ञ जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अहिंसाके प्रयोगके बारेमें खोज करते थे। विशेष रूपसे वे विधायक कार्यके वारेमें और उस कार्यकी व्यक्ति और समाज पर होनेवाली प्रतिक्रियाके वारेमें अध्ययन और अनुसन्धान करते थे।[1] संघ कांग्रेससे स्वतंत्र था और गांधीजीकी देखरेखमें कार्य करता था। विधायक कार्यक्रमके विशेषज्ञोंकी स्वतंत्र संस्थाएं भी हैं। विधायक कार्यक्रम-सम्बन्धी प्रमुख संस्थाएं हैं अखिल भारत चरखा-संघ, अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ, हरिजन-सेवक-संघ, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ और गोसेवा-संघ। सन् १९४५ में गांधीजीके तत्त्व-दर्शन पर आधारित विधायक कार्यक्रम-सम्बन्धी इन पांच संस्थाओंके पांच प्रतिनिधियोंकी एक सम्मिलित समिति बनी थी, जिसका नाम बादमें बदल कर समग्र-रचना समिति रखा गया था। यह सलाह देनेवाली समिति और पांचों विधायक कार्यक्रम-सम्बन्धी संस्थाएं गांधीजीकी देखरेखमें कार्य करती थीं। समग्र-रचना समितिका प्रमुख कर्तव्य था ग्राम्य जीवनकी उन्नतिके उद्देश्यसे विधायक कार्यक्रमका पथ-प्रदर्शन, उसमें सामंजस्य-स्थापन और यह देखना कि इन संघोंके कारवारमें सत्य और अहिंसाका पालन होता है या नहीं।[2] किन्तु समग्र-रचना समिति सन्तोष-जनक रीतिसे काम न कर सकी।

मार्च १९४८ में ग्यारह रचनात्मक संस्थाओंके प्रतिनिधियोंने एकमें मिलकर 'अखिल भारत सर्व सेवा संघ' नामक संस्था बनानेका निश्चय

१. ह०, २–३–'४०, पृ० २४।

२. खादी जगत, वर्ष ४, अंक ६, पृ० १५।

किया।[1] संघ उनके कार्योंका पथ-प्रदर्शन और समन्वय करनेके लिए था। बादमें भूमिदान आन्दोलनके प्रभावसे प्रमुख रचनात्मक संस्थाओंका, जिनका प्रधान कार्यालय वर्धामें था, संघमें विलयन हो गया और वे उसके विभागोंके रूपमें कार्य करने लगीं। मार्च १९४८में रचनात्मक कार्यकर्ताओंकी एक कान्फ्रेन्स भी सेवाग्राममें की गयी। इसने सर्वोदय समाजकी स्थापना की। इस समाजका उद्देश्य है: "सत्य और अहिंसा पर आधारित एक ऐसा समाज बनानेकी कोशिश करना, जिसमें जात-पांत न हो, जिसमें किसीको शोषण करनेका मौका न मिले और जिसमें समूह और व्यक्ति, दोनोंको अपना विकास करनेका पूरा अवसर मिले।" संस्थाओंमें संगठन बहुत अल्प मात्रामें है। इनकी एकताका बन्धन है गांधीजीकी शिक्षाओंमें सदस्योंकी समान श्रद्धा। कोई भी व्यक्ति, जिसको गांधीजीके सिद्धान्तोंमें श्रद्धा है और जो किसी भी प्रकारके रचनात्मक कार्यमें लगा हुआ है, समाजका सदस्य हो सकता है। उसका अधिवेशन वर्षमें एक बार होता है, जिसमें सदस्य विचार-परिवर्तन कर सकें और एक-दूसरेके अनुभवोंसे लाभ उठा सकें।

स्वयंसेवक

गांधीजीके समयमें कांग्रेसके स्वयंसेवकोंका संगठन कौमी सेवादल था। समय-समय पर स्वयंसेवकोंके सम्मेलन और प्रशिक्षण-शिविर होते थे। उनकी अपनी अलग ड्रिल, वर्दी और राष्ट्रीय गान थे। गांधीजीने सदा इस बात पर जोर दिया कि स्वयंसेवकोंको सतर्कतासे भर्ती करना चाहिए। सच्चरित्र व्यक्तियोंके अतिरिक्त दूसरोंको अलग रखनेके उद्देश्यसे स्वयंसेवकोंको एक प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे और अहिंसक अनुशासन स्वीकार करना पड़ता था।

गांधीजीकी राय थी कि अपना सब समय राष्ट्रीय सेवामें लगानेवाले निर्धन स्वयंसेवकोंको अपने भरण-पोषण मात्रके लिए न्यूनतम वेतन स्वीकार करना चाहिए।[2] सन् १९३५-३६ में ग्रामकार्य करनेवाले स्वयंसेवकोंको उन्होंने यह सलाह दी थी कि वे अपनी न्यूनतम आवश्यकताओंके लिए उस गांव पर आश्रित रहें जिसकी वे सेवा करते हैं। साथ-ही-साथ

---

१. ये संस्थाएं हैं—अखिल भारत चरखा-संघ; अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ; हरिजन-सेवक-संघ; हिन्दुस्तानी तालीमी संघ; गोसेवा-संघ; हिन्दुस्तानी प्रचार सभा; कस्तूरबा गांधी मेमोरियल ट्रस्ट; नवजीवन ट्रस्ट; हिन्दुस्तानी मजदूर-संघ; नेचर क्योर ट्रस्ट और वेस्टर्न इण्डिया आदिवासी वर्कर्स फेडरेशन।

उनका यह भी मत था कि शरीर-श्रमके आदर्शके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको अपनी आवश्यकताओंके लिए स्वयं कमा लेना चाहिए और अपना बचा हुआ समय राष्ट्रीय सेवामें लगाना चाहिए।[1] ग्रामसेवा करनेवालेका जिस गांवकी वह सेवा करता है उस पर आश्रित होना इस बातका चिह्न है कि गांव उसकी सेवा स्वीकार करता है, उस व्यक्तिमें विश्वास करता है और उसकी उचित आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए तैयार है। सन् १९४५ में गांधीजीकी स्वीकृतिसे अखिल भारत चरखा-संघने यह तय किया था कि आजकलकी महंगाईको दृष्टिमें रखते हुए समग्र ग्रामसेवामें लगे हुए कार्यकर्ताको उसके परिवारकी सदस्य-संख्याके अनुसार १०० रुपये मासिक तक मिलना चाहिए। यह मासिक सहायता बीस प्रतिशतके हिसाबसे प्रतिवर्ष कम होती जायगी। ५ वर्षके अन्तमें कार्यकर्ता स्वावलम्बी हो जायगा और अपने भरण-पोषणके लिए गांवकी सहायता पर, स्वयं अपने शरीर-श्रम पर और उस क्षेत्रमें अपने द्वारा चलाये हुए ग्रामोद्योगोंकी साधारण बचत पर आश्रित रहेगा।

स्वयंसेवकोंका कर्तव्य था जनताको सत्याग्रहकी शिक्षा देना। अहिंसक प्रतिरोधके समय वे सत्याग्रही सेनाके अग्रभागका काम करते थे, नये रंग-रूटोंमें सत्याग्रहकी भावना विकसित करते थे और उनको अनुशासन सिखाते थे। शान्तिके समय उनसे यह आशा की जाती थी कि वे रचनात्मक कार्य द्वारा जनताकी सेवा करेंगे। आवश्यकता पड़ने पर वे सभाओं, जुलूसों और हड़तालोंका प्रबन्ध करते थे।[2]

ग्रामसेवकोंकी हैसियतसे उनका कर्तव्य था खादीको सार्वभौम बनाना और घरेलू धन्धोंके आधार पर गांवोंका पुनर्निर्माण करना। गांधीजी एक आदर्श सत्याग्रही ग्राम-कार्यकर्ताका वर्णन इन शब्दोंमें करते हैं, "सेवाके नातेसे वह गांवके निर्धन-से-निर्धन मनुष्यसे सम्बद्ध होगा। वह अपनेको भंगी, परिचारक, झगड़ोंका फैसला करनेवाला पंच और गांवके लड़कोंका शिक्षक बना देगा। उसका घर कताईको केन्द्रमें रखकर चलनेवाले लाभ-दायक कार्योंमें व्यस्त रहेगा।"[3]

सन् १९३८ से गांधीजीने इस बात पर जोर दिया कि सांप्रदायिक झगड़ोंके निर्णयके लिए गांवोंमें और शहरोंमें शान्तिदलोंके संगठनके लिए स्वयंसेवक भर्ती किये जायं। प्रत्येक दल या दलका प्रत्येक भाग अपना

---

१. ह०, १–६–'३५, पृ० १२२ और १२५; १२–११–'३५, पृ० ३०२ और २९–२–'३६, पृ० १८।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० ११४५–४६।

३. ह०, ४–८–'४०, पृ० २३५।

अध्यक्ष चुन ले। इन स्वयंसेवकोंके लिए यह आवश्यक था कि वे अहिंसाको सिद्धान्तकी तरह मानें, उनका ईश्वरमें दृढ़ विश्वास हो और उनमें संसारके प्रमुख धर्मोंकी ओर समताका भाव हो। ये स्वयंसेवक स्थानीय होने चाहिए, उनको एक-दूसरेसे अच्छी तरह परिचित होना चाहिए और उनको अपने स्थानके लोगोंके साथ व्यक्तिगत विधायक सेवाके द्वारा सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। उन्हें किसी विशेष प्रकारके वस्त्र पहनना चाहिए, जिनमें वे सुगमतासे पहिचाने जा सकें। उनके पास किसी प्रकारके हथियार नहीं होना चाहिए। गांधीजीका विचार था कि ये स्वयंसेवक पुलिस और फौजका स्थान ले लें और सांप्रदायिक दंगोंको अहिंसक पद्धतिसे शांत करें।[1]

उनका कहना था कि शान्तिसेनाका कार्यक्रम "हिन्दू-मुस्लिम दंगों और इसी तरहके दूसरे झगड़ोंके रोकनेमें मृत्युके स्वागतका कार्यक्रम है। वह हिंसाको रोकनेके लिए मरनेका कार्यक्रम है।"[2] गांधीजीके सुझावके अनुसार सन् १९३८ मे देशके कुछ भागोंमें शांतिसेनाके संगठनका प्रयत्न हुआ था।

अहिंसक सेनाका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग थे खुदाई खिदमतगार या सुर्खपोश। इस आन्दोलनकी नींव डालनेवाले खान अब्दुलगफ्फारखां हैं। खां साहब अहिंसाको व्यापक अर्थमें मानते हैं। पहले अहिंसक आंदोलनके समय जब गांधीजीने देशको रॉलट बिलका निषेध करनेकी सलाह दी थी, खां साहबने कांग्रेसके बाहर इस आन्दोलनका संगठन किया था। धीरे-धीरे यह आन्दोलन कांग्रेसके समीप आता गया और देशके बंटवारेके पहले कई वर्षों तक वह कांग्रेसका अंग रहा।

सुर्खपोशोंकी संख्या सन् १९३८ में एक लाखसे अधिक थी। वे अवैतनिक स्वयंसेवक थे और अपनी वर्दीका प्रबन्ध स्वयं करते थे। उनको अर्ध-फौजी कवायदकी शिक्षा मिलती थी और उनका अनुशासन हिन्दुस्तानके अन्य प्रांतोंके स्वयंसेवकोंकी अपेक्षा अधिक अच्छा था। सन् १९३०-३३ के आन्दोलनमें सरकारी दमन भारतके किसी भी भागमें इतना कठोर और अत्याचारपूर्ण नहीं था जितना कि सीमाप्रांतमें और न किसी दूसरे प्रांतके सत्याग्रहियोंने इतनी वीरता और अहिंसाके साथ उसका सामना किया था जैसा कि सुर्खपोशोंने।

गांधीजी सुर्खपोश आन्दोलनको बहुत महत्त्व देते थे। उनकी संख्या और सफलताके अतिरिक्त यह आन्दोलन बहुत-कुछ वीरोंकी अहिंसाका प्रयोग था।[3] सीमाप्रान्तके निवासी संसारके अधिकतम युद्धप्रिय मनुष्योंमें से

---

१. ह०, १८-६-'३८, पृ० १५२।
२. ह०, २१-१०-'३९, पृ० ३१०।
३. ह०, २८-८-'४०, पृ० २२४।

है। हिंसा और वदला उनके जीवनका अभिन्न अंग है।[1] वदला लेना पठानोंकी प्रतिष्ठा-नियमावलीका आवश्यक भाग है। कहा जाता है कि प्रत्येक पठान अपने द्वारा की हुई हत्याओंकी गिनती रखता है और अपने शत्रुओंको याद रखता है। यदि हिंसाप्रिय पठान भी वीरोंकी अहिंसाको सफलतापूर्वक अपना सकते हैं, तो यह इसका अकाटच प्रमाण है कि सभी लोग अहिंसाका विकास कर सकते हैं, उनकी सांस्कृतिक परम्परा चाहे जैसी रही हो।

सन् १९३८ तक सुर्खपोश गांधीजीके आदर्शसे पीछे थे। उनकी अहिंसा राजनैतिक क्षेत्र तक मर्यादित थी। लेकिन गांधीजी आशापूर्ण थे कि अपने महान नेताके पथ-प्रदर्शनमें सुर्खपोश वास्तविक वीरोंकी अहिंसाका विकास कर सकेंगे। सन् १९३८ में उन्होंने खां साहवके सहयोगसे आन्दोलनके नव-निर्माणकी योजना वनाई थी। विशेष रूपसे उन्होंने इस वात पर जोर दिया था कि वास्तविक अहिंसाके विकासके लिए यह आवश्यक है कि सुर्खपोश रचनात्मक कार्यक्रमको अपनायें।

कुछ वर्ष पहले खान अब्दुलगफ्फार खांकी राय थी कि अहिंसाने सुर्खपोशोंके साहसको वढ़ा दिया था और उनके झगड़ोंको कम कर दिया था। वादमें खान अब्दुलगफ्फार खांने खुदाई खिदमतगारोंको रचनात्मक कार्यक्रमकी शिक्षा देनेके लिए सरदर्यावमें एक केन्द्र स्थापित किया था। वे भारतके विभाजनके विरुद्ध थे। विभाजनके वाद उन्होंने खुदाई खिदमतगार आन्दोलनको पाकिस्तानके अन्य प्रान्तोंमें भी फैलानेका और उसको सन् १९४८ में स्थापित पाकिस्तान पीपुल्स पार्टीका स्वयंसेवक-दल वनानेका निश्चय किया था। किन्तु उनको और उनके साथियोंको वर्षो जेलमें रहना पड़ा और खुदाई खिदमतगारों पर कठोर दमन हुआ।[2]

अनुशासन

गांधीजीने सत्याग्रही स्वयंसेवकोंके अनुशासनके प्रश्न पर वहुत विचार किया था। उनका विश्वास था कि अहिंसक प्रतिरोधकी सफलता पर्याप्त अनुशासन पर निर्भर है।

अनुशासनका उद्देश्य है सत्याग्रहीकी आत्मशक्ति या नैतिक शक्तिका विकास, जिससे सत्याग्रही सवके साथ अपनी आध्यात्मिक और नैतिक एकताका

---

१. ह०, २१–७–'४०, पृ० २१३।

२. हरिजन, अक्तूवर-नवम्वर, १९३८ में 'इन दि फ्रन्टियर प्राविंस' शीर्षक लेख देखिये।

अनुभव मूर्त रूपमें कर सके।[१] सत्याग्रहीको प्रतिकारके लिए भी दूसरोंकी जान न लेनी चाहिए और उसमें विना प्रतिकारके मृत्युका सामना करनेका साहस होना चाहिए।[२] इसके लिए सेवा, वलिदान और त्यागकी भावना विकसित होना आवश्यक है। सत्याग्रहियोंमें अनुशासनको दृढ़ करनेका सर्वश्रेष्ठ साधन है संगठित रचनात्मक कार्यक्रम।

सन् १९२१ में गांधीजीने एक प्रतिज्ञापत्र तैयार किया था। उसमें सत्याग्रही स्वयंसेवकके लिए आवश्यक अनुशासनका समावेश था। सन् १९३० में उन्होंने अनुशासनको निश्चित रूप देनेके लिए १९ नियम वनाये थे। इस अध्यायके परिशिष्ट – २में यह प्रतिज्ञापत्र और नियम दिये गये हैं। सन् १९३९ में गांधीजीन सत्याग्रहीकी योग्यताका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया था:[३]

१. उसको ईश्वरमें जीवित श्रद्धा होनी चाहिए।

२. उसका सत्य और अहिंसामें सिद्धांतकी भांति विश्वास होना चाहिए और इसलिए मनुष्य-स्वभावकी उस अन्तर्निहित अच्छाईमें श्रद्धा होनी चाहिए, जिसको वह कष्ट-सहन द्वारा अभिव्यक्त अपने सत्य और प्रेमसे जागृत करना चाहता है।

३. उसका जीवन शुद्ध होना चाहिए और उसे अपने उद्देश्यके लिए अपने जीवन और सम्पत्तिके वलिदानके लिए तैयार रहना चाहिए।[४]

---

१. अहिंसाके आदर्शमें जीव-जन्तुओंके साथ मनुष्यके संवंधका भी समावेश होता है; लेकिन गांधीजीके निर्देशके अनुसार कांग्रेसके समान राजनैतिक संस्थामें अहिसा मनुष्यों तक ही सीमित थी। अहिंसामें जीव-जन्तुओंके साथ मनुष्यके संवंधको सम्मिलित करनेसे ऐसी संस्थाकी सदस्यतासे लाखों मनुष्योंको अलग रखना पड़ता और यह वात समाजमें पाशविक शक्तिके स्थानमें प्रेमके नियमको स्थापित करनेके प्रयत्नमें विघ्न डालती। ह०, १५–९–'४०, पृ० २८५।

२. ह०, ८–९–'४६, पृ० २९६।

३. ह०, २५–३–'३९, पृ० ६४।

४. संपत्तिसे वंचित होनेके लिए तैयार रहनेके संवंधमें गांधीजीकी मनोवृत्ति अपरिग्रहके आदर्श पर आधारित है। कहा जाता है कि सन् १९२० में गांधीजीको इसमें आपत्ति नहीं थी कि सत्याग्रही सरकार द्वारा जव्त किये जाने या वेचे जानेसे अपनी संपत्तिको वचानेके लिए उसे हस्तांतरित कर दे। उन्होंने इसको प्रोत्साहन नहीं दिया, लेकिन कष्ट-सहनकी मर्यादा-निर्धारणका कार्य सत्याग्रहियों पर छोड़ दिया। सन् १९३७–३८ में उन्होंने कांग्रेस सरकारों द्वारा सत्याग्रहियोंकी ऐसी जमीनोंकी वापसीको उचित वतलाया, जिनको पिछली सरकारने अपनी दमन-नीतिके अनुसार, वदलेकी भावनासे,

४. उसे स्वभावसे खादी पहननेवाला और कातनेवाला होना चाहिए।

५. उसे शराब और दूसरे नशोंके उपयोगसे मुक्त होना चाहिए।

६. उसे समय-समय पर निर्धारित अनुशासनके सब नियमोंका हृदयसे पालन करना चाहिए।

७. उसे जेलके नियमोंका पालन करना चाहिए, जब तक ये नियम विशेष रूपसे उसके आत्म-सम्मान पर प्रहार करनेके लिए न बनाये गये हों।

अनुशासनकी पर्याप्तताका चिह्न यह है कि स्वयंसेवकोंमें अहिंसाकी भावनाका विकास हो और उसका प्रभाव स्वयंसेवकोंके सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति पर पड़े। अधिकतम उत्तेजनाके होते हुए भी सत्याग्रहीका संयम दृढ़ रहे और वह अपने स्थानके हिंसक व्यक्तियोंको नियन्त्रणमें रख सके।[1] उन्हें विधायक कार्यक्रममें पूरे ध्यानके साथ लगना चाहिए। गांधीजी इस बातकी आशा नहीं करते थे कि साधारण सत्याग्रहीको सत्याग्रह-विज्ञानकी पूरी जानकारी हो जाय और उसका सम्पूर्ण आचरण अहिंसाके सिद्धान्तोंके अनुसार हो। उनके अनुसार "पूर्ण अहिंसक व्यक्तियोंकी फौज कभी न बन पायगी। वह उन व्यक्तियोंकी बनेगी, जो ईमानदारीसे अहिंसाके अनुसार चलनेका प्रयत्न करेंगे।"[2] न गांधीजी इस बातकी ही आशा करते थे कि साधारण सत्याग्रहियोंमें सेनापतिकी तरह साधन-शीलता हो। यह पर्याप्त होगा कि वे सच्चे हृदयसे सेनापतिकी आज्ञाका पालन करें।[3] लेकिन उनमें बिना नेताओंकी देखरेखके कार्य करनेकी क्षमताका विकास होना चाहिए, क्योंकि नेताओंको तो सरकार किसी भी समय गिरफ्तार करके हटा सकती है। इसीलिए गांधीजीके अनुसार सत्याग्रहमें प्रत्येक सत्याग्रही सिपाहीको जरा देरमें स्वयं अपना नेता और सेनापति बनना पड़ता है।[4]

यह आवश्यक नहीं है कि सत्याग्रही सिपाहीको पश्चिमी ढंगकी शिक्षा मिली हो। यह शिक्षा बहुत लाभप्रद नहीं होती, क्योंकि वह आधिभौतिक

अनुचित मालूम होनेवाले कम दामोंमें बेच दिया था। लेकिन गांधीजी इस बातके विरुद्ध थे कि जब सरकार सत्याग्रहियोंके हाथमें आ जाय तो अपनी हानिके लिए हरजाना मांग कर, उन पदों पर पुनर्नियुक्तिका प्रयत्न करके जिनसे वे हटा दिये गये थे और यह दावा करके कि सरकारी नौकरियोंमें उनको वरीयता मिले, वे अपने पुराने बलिदानोंका दाम उगाहनेका प्रयत्न करें। – हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० २७४; ह०, ३–१२–'३८, पृ० ३६४।

१. ह०, २४–६–'३९, पृ० १७५।

२. ह०, २१–७–'४०, पृ० २१४।

३. ह०, २५–८–'४०, पृ० २६२।

४. ह०, २८–७–'४०, पृ० २२७।

मूल्यों पर जोर देती है, जिसके फलस्वरूप व्यक्तिके लिए आसक्ति-त्याग कठिन हो जाता है।[1]

प्रचार

नेता, उसके सहयोगी और अहिंसक संस्था जनतामें सत्याग्रहके आदर्शके प्रचारका प्रयत्न करते हैं।

प्रचार करनेका अर्थ है किसी विश्वास या चलनका प्रसार करना या उसको फैलाना। पश्चिममें प्रचारके समानार्थक 'प्रोपेगैंडा' शब्दका अर्थ होता है किसी सिद्धान्त या चलनकी उन्नतिके लिए सुव्यवस्थित योजना या संगठित आन्दोलन।[2] आधुनिक राज्यमें प्रचार वह साधन है, जिसका प्रयोग कोई समुदाय जनमतको इस उद्देश्यसे अपने नियंत्रणमें रखनेके लिए करता है कि वह राज्यशक्तिको प्राप्त कर ले, उसको अपने हाथमें सुरक्षित रख सके और उसका उपयोग कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय युद्धोंमें और राजनैतिक संघर्षोंमें प्रचारका उपयोग अपने पक्षके अनुशासन और आत्म-विश्वासको दृढ़ करने और प्रतिपक्षीके अनुशासन और आत्म-विश्वासको हानि पहुंचानेके लिए होता है। पश्चिममें प्रचारके रूप और विषयका निर्धारण नीतिविहीन उपयोगितावादी और अवसरवादी दृष्टिकोणसे होता है। वहांके राजनीतिज्ञ और युद्धवादी उन सभी नैतिक या अनैतिक साधनोंके प्रयोगके पक्षपाती हैं, जिनसे उद्देश्य सिद्ध हो, अपने पक्षकी शक्ति बढ़े और विरोधीको हानि पहुंचे।

पश्चिमका आधुनिक प्रचारक मनोविज्ञानका विशेषज्ञ, कुशल प्रतीक-निर्माता, प्रभावोत्पादक शब्द-रचनामें सिद्धहस्त और जनप्रिय होता है और

---

१. यही एक महत्त्वपूर्ण कारण है कि क्यों गांधीजी आधुनिक नगर-निवासीकी अपेक्षा सीधेसादे सामान्य मनुष्यको वरीयता देते थे। जब वे गोलमेज सम्मेलनके लिए इंग्लैण्ड गये थे, तब उन्हें यह सुझाव दिया गया था कि 'ईस्ट एन्ड' के दीन निवासियों पर अपना समस्त ध्यान देनेकी अपेक्षा उन्हें बुद्धिवादियों और शासक वर्गकी भी सहानुभूति प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु उन्होंने इस सुझावको स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि यदि वे मजदूरोंको प्रभावित कर सकें, तो वह प्रभाव उच्च वर्गके मनुष्यों तक पहुंचेगा।

२. ई० एच० हैन्डर्सनके अनुसार प्रोपेगैंडा वह प्रक्रिया है जिसमें समझाने-बुझानेकी रीतियों द्वारा इस बातका जान-बूझकर प्रयत्न किया जाता है कि जिनमें प्रचार होता है वे स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने-विचारनेके पहले ही प्रचारककी इच्छानुसार व्यवहार करें। देखिये 'जर्नल ऑफ सोशल साइकॉलॉजी', १९४३, १८, पृ० ७१–८७।

चतुरतापूर्ण सुझावों द्वारा जनसाधारणको धोखेमें डालकर उनकी भावनाओंको उत्तेजित करता है और इच्छानुसार उनसे व्यवहार करवाता है। आधुनिक प्रचारमें सभी प्रकारके साधनोंका प्रयोग होता है। शिक्षा और पत्र-पत्रिकाएं, जुलूस और प्रदर्शन, धोखेबाजी और बल-प्रयोग, धन और नौकरियोंका लालच, नारों और भाषण-कला, जादू, चित्रकला, संगीत और नाट्यकला — इन सबका प्रचार-कलामें महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तवमें आजकल प्रोपेगैंडा या प्रचार पक्षपात-रहित वैज्ञानिक व्याख्यासे और सुतथ्यतापूर्ण समाचारसे सर्वथा पृथक् समझा जाता है।

प्रचारके मामलेमें गांधीजीमें और पश्चिमकी मनोवृत्तिमें बहुत अन्तर है। वे इस बातके विरुद्ध थे कि जनमतका शोषण हो और उस पर राजनैतिक दल या नेताका अनुचित नियन्त्रण रहे। लेकिन वे सत्यके प्रसार और जनमतको अहिंसाकी शिक्षा देनेके अर्थमें प्रचारमें विश्वास करते थे। सत्याग्रहीके लिए इतना पर्याप्त नहीं कि वह स्वयं सत्य और अहिंसाके आदर्शों पर चले; उसे दूसरोंकी भी सहायता करनी चाहिए, जिससे वे इन आदर्शोंको समझ सकें और उनके अनुसार जीवन बिता सकें।

आदर्शवादी दृष्टिकोणसे सत्याग्रह या आत्मशक्ति भौतिक साधनोंसे परे है और स्वयं-प्रचारित है। जीवन ही आत्माकी भाषा, सत्य और अहिंसाकी अभिव्यक्ति है, न कि केवल कहे या लिखे हुए शब्द। जैसा कि गांधीजीने एक बार कुछ ईसाई पादरियोंसे कहा था, "जैसे ही जीवनमें आध्यात्मिक अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही वातावरण उससे प्रभावित होता है। जब मनुष्य सत्यके अनुसार रहता है, तब उसकी बोलनेकी इच्छा नहीं होती। सत्यमें शब्दोंकी अधिकतम मितव्ययता होती है। इस प्रकार जीवनकी अपेक्षा अधिक सच्चा या उसके अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म-प्रचार नहीं है।"[१] "यह मेरा पक्का विश्वास है कि सत्य स्वयं अपना कार्य करता है। . . . यदि हमारे भीतर सत्य है तो वह उस (जनता) तक बिना प्रयत्नके पहुंच जायेगा।"[२]

इसलिए सत्याग्रहका वास्तविक प्रचार है अहिंसक मूल्योंके अनुसार रहना। गांधीजीने अपने एक भाषणमें कहा था, "जो मेरे बताये सरल सत्योंमें विश्वास करते हैं, वे उनका प्रचार केवल उनके अनुसार जीकर ही कर सकते हैं।"[३] अहिंसाके सिद्धान्तोंके अनुकूल जीवन जनताकी प्रत्यक्ष, व्यक्तिगत सेवाका जीवन है; सेवामें कष्ट-सहन अनिवार्य है और सेवा तथा कष्ट-सहनका अधिकतम प्रभाव तब पड़ता है जब सत्याग्रही उनके बारेमें

१. ह०, १२–१२–'३६, पृ० ३५३।

२. मीरा : ग्लीनिंग्ज़, पृ० २०।

३. ह०, २८–३–'३६, पृ० ४९।

मौन रहता है और उनका विज्ञापन नहीं करता। गांधीजीके शब्दोंमें, "... भाषणों और दूसरे दिखावटी कार्योंकी अपेक्षा सत्य और प्रेमके मौन कार्यका — जिसका प्रदर्शन नहीं किया जाता — परिणाम कहीं अधिक स्थायी होता है।"[1]

अहिंसक मूल्योंके अनुकूल जीवन जीनेका अर्थ है विचार पर नियंत्रण; और पूरी तरह नियंत्रित विचार अधिकतम शक्तिशाली होता है और कभी व्यर्थ नहीं जाता। "विचार-नियंत्रणका अर्थ है अल्पतम शक्तिसे अधिकतम कार्य। यदि हममें यह नियंत्रण होता, तो हमें उतना घोर प्रयत्न न करना पड़ता जितना हम करते हैं। अहिंसक कार्यका अर्थ है अधिक मात्रामें मौन कार्य और बहुत ही कम लिखना या बोलना।"[2]

निस्संदेह सत्याग्रहका जितना प्रचार कष्ट-सहन और सेवामें प्रकट होने-वाले प्रेमसे होता है उतना और किसी साधनसे नहीं हो सकता। लेकिन मानवीय अपूर्णताके कारण सत्याग्रहीका अपने विचार पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं होता। इसलिए वह समाचार-पत्र, भाषण, जुलूस, गायन तथा अन्य ऐसे प्रतीकोंका उपयोग करता है, जिनसे जन-साधारणमें सत्याग्रहके प्रचारमें सहायता मिले। वास्तवमें इन साधनोंके प्रयोगमें कुछ भी स्वभावतः अनैतिक या अनुचित नहीं है।

यद्यपि प्रचारके ये साधारण साधन निर्दोष हैं, फिर भी उनका स्थान सेवाके सहायकके रूपमें है। वे सेवाका स्थान नहीं ले सकते। सन् १९३६ में गांधी-सेवा-संघके सदस्योंने गांधीजीकी शिक्षाओंको जनतामें फैलानेके लिए संग-ठित प्रचारकी आवश्यकता पर जोर दिया। गांधीजीकी राय थी कि सत्याग्रहका प्रदर्शन केवल सत्याग्रहीके जीवनसे ही हो सकता है, लेकिन दूसरे साधनोंका भी उपयोग हो सकता है। उन्होंने कहा, "आप कह सकते हैं कि कार्यकर्ताओंकी सहायताके लिए और आलोचकोंको उत्तर देनेके लिए किताबों और समाचार-पत्रोंकी आवश्यकता है। ठीक है, जिन सिद्धांतोंमें मुझे विश्वास है उनको समझानेके लिए जहां तक आवश्यक है मैं लिखता हूं। आप लिखिये अगर आप यह महसूस करते हैं कि बिना लिखे आपका काम नहीं चल सकता। लेकिन किताबें न प्रकाशित कर सकनेके कारण न तो आपके काममें विघ्न पड़ना चाहिए, न जनताका उत्साह घटना चाहिए।"[3]

समाचार-पत्र और प्रचारके दूसरे इसी प्रकारके साधन सत्य और अहिंसाके विरुद्ध कभी नहीं होने चाहिए और जोर उनकी गति और

---

१. यं० इं०, ८–८–'२९।

२. ह०, १०–६–'३९, पृ० १६०।

३. ह०, २८–३–'३६, पृ० ४९-५०।

परिमाण पर नहीं, वल्कि उनकी शुद्धता और नैतिकता पर होना चाहिए। उदाहरणके लिए, गांधीजीका यह अनुभव था कि पैदल दौरा करना मोटर-कार और हवाई जहाजोंके द्वारा आंधीकी रफ्तारसे दौरा करनेकी अपेक्षा अधिक अच्छा प्रचार है। गांधीजीने देशमें बहुत वार प्रचारके लिए दौरे किये थे। लेकिन इनमें अधिकतम प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही थे १९३० के सामूहिक सविनय आज्ञाभंगके प्रारंभमें दांडीकी ऐतिहासिक पैदल यात्रा और सन् १९४७ में गांधीजीका नंगे, जख्मी पैरोंसे किया हुआ नोआखालीके गांवोंका पैदल दौरा।

भाषण

गांधीजी अनुचित उत्साहको अविश्वासकी दृष्टिसे देखते थे और उन प्रदर्शनों और नारोंको प्रोत्साहन नहीं देते थे, जिनमें क्रोध और असहिष्णुताकी बू आती हो।[1] सत्याग्रहियोंकी सभाओंमें वे अनुशासन, विरोधी मतके प्रति सम्मान और भाषणोंके समय श्रोताओंकी स्वीकृति या अस्वीकृतिके न प्रदर्शित करने पर जोर देते थे।[2]

सत्याग्रहीके भाषणोंमें असत्य और अतिशयोक्ति लेशमात्र भी न होनी चाहिए और वक्ताको श्रोताओंमें क्रोध या घृणाकी हिंसक भावनाएं जागृत करनेका प्रयत्न न करना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि सत्याग्रहीके भाषण प्रभावहीन होते हैं। सत्यका जादूकी तरह असर होता है। सत्यसे अधिक प्रभावशाली और कुछ भी नहीं हो सकता। गांधीजीके भाषणोंकी भाषामें रामायण, महाभारत और बाइबलकी-सी सादगी होती थी। उनमें हिटलरके भाषणोंका-सा चीखने, चिल्लाने और नाटकीय ढंगसे जनताको भुलावेमें डालनेके प्रयत्नका सर्वथा अभाव रहता था। लेकिन उनके सादे भाषणोंकी जनताके हृदय पर गहरी छाप पड़ती थी।[3]

१. जुलूसों, प्रदर्शनों आदिका प्रवन्ध सत्याग्रहियोंको किस प्रकार करना चाहिए, इसके सम्बन्धमें गांधीजीके विस्तृत निर्देशोंके लिए देखिये यं० इं०, भाग–१, पृ० ३१४-२९ और ४४२-४४।

२. स्पीचेज़, पृ० ४४४-५६ और ५४४-४५।

३. गांधीजीके एक अंग्रेजीमें दिये हुए भाषणका वर्णन करते हुए कृष्णदास लिखते हैं, "मैं नहीं जानता था कि उसको वक्तृता कहा जाय या दैवी शक्तिसे युक्त प्रेरित भाषण। प्रत्येक शब्द उनके हृदयके अंतरतमसे आता था और जादूका-सा काम करता था। इसलिए उनके शब्दोंकी ध्वनिमात्र श्रोताओंके हृदयको वेधकर उसमें प्रविष्ट हो जाती थी। जैसे-जैसे वे गंभीरतासे बोलते गये वैसे-वैसे मालूम होने लगा मानो वे श्रोताओंके ऊपर जादू डाल रहे हों

वास्तवमें गांधीजी प्रचारके साधनोंके अधिकतम लाभपूर्ण उपयोगमें सिद्ध-हस्त थे। उनकी दांडी-यात्रा और नोआखालीका दौरा, नमक बनाना, दक्षिण अफ्रीका[1] में प्रमाणपत्रोंकी और भारतवर्षमें विलायती कपड़ोंकी होली और हड़तालें[2]—इस सम्बन्धमें गांधीजीकी प्रभावोत्पादक प्रचार-कुशलताके कुछ प्रमाण हैं। अपनी आत्मकथामें वे दो भाषणोंमें भेद करते हैं, जिनमेंसे एक तो तर्कपूर्ण भाषण था और दूसरेका उद्देश्य जनताको प्रभावित करना था।[3] १९३७ में जब कांग्रेस प्रान्तोंमें शासन-भार स्वीकार करनेवाली थी, गांधीजीने यह मत प्रकट किया था कि कांग्रेसके शासनका प्रारंभ किसी ऐसी बातसे होना चाहिए, जिससे जनता बहुत प्रभावित हो।[4]

भारतीय जनता पर गांधीजीका दृढ़, दीर्घकालीन प्रभाव उनके महान प्रचारक होनेका प्रमाण है—प्रचारक पश्चिममें प्रचलित जनमतको पथभ्रष्ट करके उस पर अनैतिक अधिकार स्थापित करनेवालेके अर्थमें नहीं, बल्कि जन-हितके लिए सत्यका प्रचार करनेवालेके अर्थमें। लगभग तीन दशाब्दियों तक भारतीय राजनीतिमें उनका प्राधान्य था और वे जनताके सच्चे प्रतिनिधि थे। उन्होंने जनताके दृष्टिकोणमें क्रान्तिकारी परिवर्तन किया, अनुपयुक्त मूल्यों और रूढ़ियोंको हटा दिया, पुराने मापदण्डोंको बेकार कर दिया, नए प्रतीकोंकी रचना की और परम्परागत अहिंसक मूल्योंकी नव-प्रतिष्ठा की।

और सब हृदयोंको निर्विरोध रूपसे अपनी ओर खींच रहे हों। मैंने यह भी देखा कि जब वे बोल रहे थे तब उनकी आंखें भावनाशून्य थीं और उनके हाथ-पैर जरा भी हिलते-डुलते न थे।"—सेवन मंथ्स विद महात्मा गांधी, भाग–१, पृ० ९१।

गोलमेज-सम्मेलनके समय लन्दनमें उनकी सभाओंकी चर्चा करते हुए म्यूरिअल लेस्टरने कहा है कि "वे धीमी शान्त आवाजमें वार्ता प्रारंभ करते थे। जैसा कि सत्यके पुजारीको शोभा देता है, वे प्रत्येक कथनमें सचेत, वस्तु-मूलक और सुतथ्यतापूर्ण होते थे और भावुकता, . . . भाषण-कला, ध्वनि-परिवर्तनके प्रयोग, अंग-संचालन अथवा भंगिमाका उनकी वार्तामें सर्वथा अभाव रहता था।" बाकर: सोर्ड ऑफ गोल्ड, पृ० १२७। साथ ही देखिये, महात्मा गांधी, पृ० १४२-४३।

१. दक्षिण अफ्रीका (उत्तरार्ध), पृ० ३।

२. हंटर कमेटीके सामने गांधीजीने अपनी गवाहीमें कहा था कि हड़तालका आयोजन सरकार और जनताके मनको प्रभावित करनेके लिए था। यं० इं०, भाग–१, पृ० २३।

३. आत्मकथा, भाग–५, अ० ३६, पृ० ४१५।

४. ह०, ८–१–'३८, पृ० ४१२।

प्रचारककी हैसियतसे उनके प्रभावशाली होनेका कारण यह था कि जिस सिद्धान्तकी वे शिक्षा देते थे ठीक उसीके अनुसार आचरण करते थे। लेखों और भाषणोंमें स्पष्ट प्रकट होनेवाला उनका सत्य और अहिंसाका प्रेम; इस बातकी अपेक्षा कि यह प्रेम उन्हें किधर, कितने कष्ट-सहनकी ओर ले जायगा; उनका व्यापक आत्म-नियंत्रण; सच्चे सत्याग्रहीकी अविजित और अजेय दृढ़ताके साथ-साथ उनकी नम्रता; सेवाके उद्देश्यसे स्वीकृत उनके अपरिग्रहके अनवरत विकासका और निर्धनोंके साथ उनके तादात्म्यका प्रतीक उनका लगभग नग्न शरीर — ये सब व्यक्तिगत जीवनकी और प्रचारित सिद्धांतोंकी असाधारण एकरूपताके प्रदर्शक थे। इस प्रकार उनकी प्रभाव-शक्तिका मुख्य कारण थी उनके व्यक्तित्वकी शक्ति, उनकी आत्मशक्ति।

समाचार-पत्र

गांधीजी ऐसे समाचार-पत्रोंके विरुद्ध थे, जो व्यावसायिक उद्देश्यसे चलाये जाते हैं और जिनके ऊपर पूंजीपतियों और विज्ञापनदाताओंका नियन्त्रण होता है। ऐसे समाचार-पत्रोंको ध्यानमें रखकर ही सन् १९२५ में विद्यार्थियोंके बीच भाषण देते हुए उन्होंने समाचार-पत्रोंके नशेको 'दयनीय और भयानक' बताया था, क्योंकि "समाचार-पत्रोंमें मनुष्योचित रुचिका कुछ नहीं होता। उनमें चरित्र-निर्माणमें सहायक बननेवाली कोई बात नहीं होती।"[१]

लेकिन ठीक प्रकारसे संचालित पत्र सत्याग्रहमें प्रबल शस्त्रकी तरह काम करता है। दक्षिण अफ्रीकामें प्रकाशित अपने पत्र 'इण्डियन ओपीनियन' के बारेमें गांधीजी लिखते हैं, "यदि यह अखबार न होता तो सत्याग्रह-संग्राम न चल सकता।"[२] भारतवर्षके अहिंसक प्रतिरोधके आन्दोलनोंमें 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' तथा बादमें विभिन्न भाषाओंमें प्रकाशित 'हरिजन' का वही गौरवपूर्ण स्थान था, जो 'इण्डियन ओपीनियन' का दक्षिण अफ्रीकाके संग्रामोंमें था। ये पत्र गांधीजीके अहिंसक जीवनके निचोड़ और जनताको सत्याग्रहका आंतरिक अर्थ समझानेके माध्यम थे।[३]

यदि समाचार-पत्रोंको सामाजिक जीवनमें उचित स्थान प्राप्त करना है, तो सेवा उनका एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए। उनको निर्भयतासे जनमतको

---

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० १२०८।

इंग्लैंडके पत्रोंकी ऐसी ही आलोचनाके लिए देखिये, हिन्द स्वराज्य, पृ० ३६-३७।

२. आत्मकथा, भाग–४, अ० १३, पृ० २४७।

३. आत्मकथा, भाग–४, अ० १३ और १४; दक्षिण अफ्रीका (पूर्वार्द्ध), अ० १९।

प्रकट करना चाहिए और उसको शिक्षित करना चाहिए तथा राजनैतिक और सामाजिक कुरीतियोंकी ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहिए। लेकिन कोई भी समाचार-पत्र तब तक सेवाके आदर्श पर नही चल सकता जब तक वह विज्ञापनदाताओंके आश्रय पर अवलंबित रहता है और अपने पृष्ठोंको भद्दे विज्ञापनोंसे भ्रष्ट करता है। इसलिए समाचार-पत्रको स्वावलंबी होना चाहिए, क्योंकि यह स्पष्ट प्रमाण है कि उसकी सेवाको समाज वांछनीय समझता है और उसकी कद्र करता है और वह समाजके ऊपर भारस्वरूप नहीं है। यदि समाचार-पत्रोंको कुछ लाभ हो, तो उसका उपयोग किसी विधायक सार्वजनिक कार्यके लिए करना चाहिए। समाचार-पत्रोंको प्रत्येक शब्द सोच-विचार कर लिखना चाहिए और असत्य, अतिशयोक्ति तथा कटुतासे बचना चाहिए।'[1]

सत्याग्रहकी लड़ाईमे सरकार समाचार-पत्रोंकी स्वतन्त्रता पर कड़े प्रतिबंध लगा देती है। ऐसी हालतमें गांधीजी समाचार-पत्रोंको यह राय देते है कि या तो वे प्रकाशन बन्द कर दें या सरकारको चुनौती दें और उसके परिणामको सहें। पिछले अहिंसक आन्दोलनोंमें जब सरकारने सत्याग्रही पक्षका समर्थन करनेवाले सब अंग्रेजी और भारतीय भाषाओंके समाचार-पत्रोंको दबा दिया, तो गांधीजीकी रायसे सत्याग्रहियोंने जनताके पास अपना संदेश पहुंचानेके लिए हाथके लिखे छोटे समाचार-पत्रोंका सहारा लिया। जिनको ये समाचार-पत्र मिलते थे वे नकल करके उनको दूसरोंके पास पहुंचाते थे और इस गुणन-विधिसे सत्याग्रहियोंका संदेश देशके बहुत बड़े हिस्सेमें पहुंच जाता था। एक प्रतिको बहुतसे आदमी पढ़ते थे। ये हस्त-लिखित समाचार लोगोंके हृदय पर सच्चाई, कष्ट-सहन और परिणामकी उपेक्षा करनेकी गहरी छाप डालते थे। सामान्य समाचार-पत्रोंकी अपेक्षा ये हस्त-लिखित पत्र साधारण जनमतको कहीं अधिक प्रभावित करते थे।

जब १९४०-४१ का युद्ध-विरोधी सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ तो यह डर था कि शायद सरकार कांग्रेसके सभी समाचार-पत्र बंद कर दे। गांधीजीने छपे हुए समाचार-पत्रोंके स्थानमें मौखिक रूपसे समाचारोंके व्यापक प्रसारकी राय दी। उन्होंने लिखा, "हरएक व्यक्ति अपना स्वयं चलता-फिरता अखबार बन जाय और शुभ संवादको एक व्यक्तिसे दूसरेके पास पहुंचा दे। . . . इसमे विचार यह है कि जो कुछ मैंने प्रामाणिक रूपसे सुना है, उसे मैं अपने पड़ोसीको बता दूं। इसे कोई भी सरकार दबा नहीं सकती। यह सस्ते-से-सस्ता अखबार है और सरकार चाहे जितनी चतुर क्यों न

---

१. आत्मकथा, भाग–४, अ० १३; दक्षिण अफ्रीका (पूर्वार्द्ध), अ० १९; यं० इं०, भाग–१, पृ० १०३४; यं० इं०, भाग–२, पृ० ५-६।

हो, उसकी बुद्धिकी अवज्ञा करता है। इन चलते-फिरते अखबारोंको अपने द्वारा दिये हुए समाचारोंके बारेमें निश्चित होना चाहिए।"[१]

संक्षेपमें, सत्याग्रही प्रचारकी शक्ति उसके उच्च नैतिक उद्देश्यकी सबको प्रभावित करनेकी क्षमतामें और उसकी नितान्त सत्यनिष्ठामें रहती है। इस प्रचारके प्राथमिक साधन हैं सेवा और कष्ट-सहन; और इसकी प्रभावशीलताका एक कारण यह भी है कि प्रचारके साधारण साधनों, भाषण, लेख इत्यादिकी हमारे हृदय पर वह छाप नहीं पड़ती जो उन व्यक्तियोंको देखनेसे पड़ती है, जो किसी आदर्शके अनुसार रहते हैं और उसके लिए कष्ट सहते हैं। कष्ट-सहन करनेवाला सत्याग्रही केवल बुद्धिको ही नहीं, परन्तु समग्र मनुष्यको प्रभावित करता है; आदर्शको स्पष्ट, मूर्त और जीवित बनाता है; और मनुष्यमें ऐसे स्थायी हार्दिक विश्वासको उपजाता है, जिसका प्रभाव उसके आचरण पर बौद्धिक विश्वासकी अपेक्षा कहीं अधिक पड़ता है। प्रभावके प्रश्नके अतिरिक्त प्रचारके साधारण साधन पूंजीपतियों और शोषकोंके हाथमें हैं और वर्तमान सामाजिक और आर्थिक संगठनमें क्रांतिकारी परिवर्तनके लिए प्रयत्नशील सत्याग्रही उनका पूरी तरह उपयोग नहीं कर सकते। इसके विपरीत सेवा और बलिदान सबको उपलब्ध हैं।

रचनात्मक कार्यक्रम

सत्याग्रहके लिए सर्वश्रेष्ठ प्रचार है रचनात्मक कार्यक्रम। सत्य और प्रेम जीवनदायी हैं और सत्याग्रहके विनाशक मालूम होनेवाले परन्तु वास्तवमें शुद्धकारी स्वरूप अर्थात् अहिंसक प्रतिरोधका उद्देश्य होता है पुनर्निर्माणके मार्गकी रुकावटोंको दूर करना। विधायक कार्यक्रम 'आन्तरिक विकास' के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह सत्य और अहिंसाकी मूर्त अभिव्यक्ति है।

रचना और प्रतिरोध

भारतमें अहिंसक पुनर्निर्माणकी सुविधाके लिए गांधीजीने अहिंसात्मक प्रतिरोध द्वारा राजनैतिक दासता दूर करनेका सफल प्रयत्न किया। लेकिन उनका मत था कि पुनर्निर्माणके कार्यको राजनैतिक क्रांतिकी सफलताके समय तक स्थगित नहीं कर देना चाहिए। गांधीजी अराजकतावादी थे। वे राज्यके कार्यको अल्पतम कर देना चाहते थे और स्वेच्छासे निर्माण किये हुए समुदायोंके द्वारा आंतरिक सुधारमें विश्वास करते थे। इसी कारण उनके अनुसार रचनात्मक कार्यक्रमको अहिंसक प्रतिरोधके पहले और बादमें और उसके साथ भी चलाते रहना चाहिए। सत्याग्रहीको चाहिए

---

१. ह०, १०–११–'४०, पृ० ३३४।

कि वह अन्यायपूर्ण तथा पिछड़ी हुई सामाजिक व्यवस्थाके विरुद्ध लड़नेके साथ-साथ पुनर्निर्माणका कार्य भी करता रहे।

गांधीजीका विश्वास था कि विना विधायक कार्यक्रम पर जोर दिये सत्याग्रहकी लड़ाई कई कारणोंसे असम्भव है। विरोधीसे लड़नेके लिए सत्याग्रहीको आत्मशुद्धि द्वारा आंतरिक शक्ति विकसित करनी चाहिए। जान-बूझकर सहयोगपूर्वक किया हुआ सम्मिलित प्रयत्न इस आत्मशुद्धिका साधन है। दूसरोंकी बुराइयोंके विरुद्ध लड़ना और अपनी उन्हीं बुराइयोंकी ओरसे आंख मूंद लेना न तो सत्य है और न अहिंसा। इस शुद्धताका अर्थ न तो प्रदर्शन है, न राजनैतिक आन्दोलन और न जेलयात्राकी उत्तेजना। यह आत्मशुद्धि है शान्तिमय, ठोस कार्य—जनताकी प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सेवा, उसके लिए कष्ट-सहन, उसका संगठन, उसको सत्याग्रहकी शिक्षा देना और इस प्रकार दृढ़ निश्चयका शांतिमय वातावरण उत्पन्न करना। संक्षेपमें, विधायक कार्य सेवा द्वारा सामूहिक शुद्धिका प्रयत्न है। वह "जन-प्रयास और जनशिक्षा" है।

यदि पुनर्निर्माणका कठिन, धीमा और परिश्रमपूर्ण कार्य सत्याग्रहियोंको बहुत आकर्पणहीन, नीरस और तुच्छ मालूम हो, यदि वे केवल विरोधीसे युद्ध करनेको ही उत्सुक हों, तो प्रतिरोध विनाशक और हिंसापूर्ण होगा; क्योंकि यह इस बातका स्पष्ट चिह्न है कि सत्याग्रहियोंके हृदयमें हिंसा है और उनमें सेवा तथा अहिंसाकी भावनाकी कमी है। एक बार गांधीजीने कहा था, "सेवाकी भावनाके विना जेल जाने, लाठियां खाने और मार सहनेका प्रयत्न एक प्रकारकी हिंसा है।"[१] सन् १९४१ के एक वक्तव्यमें उन्होंने लिखा था, "बिना विधायक कार्यक्रमकी सहायताके सविनय अवज्ञा अपराधयुक्त है और एक व्यर्थ प्रयत्न है।"[२] सन् १९४२ में उन्होंने लिखा था, "जिसको रचनात्मक कार्यक्रममें विश्वास नहीं है, उसको मेरी रायमें भूखी जनताके लिए सच्ची सहानुभूति नहीं है। जिसमें यह भावना नहीं है, वह अहिंसक रीतिसे युद्ध नहीं कर सकता।"[३] वास्तवमें गांधीजी राजनैतिक कार्यकी अपेक्षा रचनात्मक कार्यको बहुत अधिक महत्त्व देते थे। सन् १९३१ में उन्होंने यह लिखा था, "... मेरा समाज-सुधारका कार्य किसी प्रकार भी राजनैतिक कार्यके अधीन या उसकी अपेक्षा कम (महत्त्वका) नहीं था। बात यह है कि जब मैंने देखा कि राजनैतिक कार्यकी सहायताके बिना मेरा सामाजिक कार्य कुछ अंशमें असम्भव होगा, तब मैंने

---

१. ह०, २५–३–'३९, पृ० ६७।

२. गांधीजीका ३०–१०–'४१ का वक्तव्य।

३. ह०, १२–४–'४२, पृ० ११२।

उस (राजनैतिक कार्य) को उस हद तक अपनाया जहां तक वह सामाजिक कार्यकी सहायता करता था। इसलिए मुझे स्वीकार करना चाहिए कि . . . समाज-सुधार या आत्मशुद्धिका कार्य मुझे उस कार्यसे, जिसे केवल राजनैतिक कहा जाता है, सौ गुना अधिक प्रिय है।"[1]

रचनात्मक कार्यक्रमके प्रभावके बारेमें गांधीजीने १९२२ में लिखा था, "वह हमको शांत और निश्चल करेगा। वह हमारी संगठन-शक्तिको जाग्रत करेगा। वह हमें परिश्रमी बनायेगा। वह हमको स्वराज्यके योग्य बनायेगा। वह हमारे रक्तको ठंडा करेगा।"[2] इस प्रकार विधायक कार्यक्रम नये सत्याग्रही रंगरूटको अनुशासनपूर्ण सिपाही बना देता है। वह सत्याग्रहियोंकी सच्चाईकी अचूक परख है और अवसरवादियों तथा दुर्बलोंको अलग कर देता है।

सत्याग्रहकी लड़ाईमें सफलता तब तक असंभव है जब तक सत्याग्रहियोंको जनताका सच्चा सहयोग और उसके ऊपर ऐसा दृढ़ नियंत्रण प्राप्त न हो जाय, जिससे जनता हिंसासे अलग रहे। इस नियंत्रणको प्राप्त करनेका एक-मात्र मार्ग है जनताके हृदयको जीतना और उसके साथ जीवित सम्पर्क स्थापित करना। यह तभी सम्भव है जब कि सत्याग्रही "उनके (जन-साधारणके) लिए, उनके द्वारा और उनके बीचमें, उनके संरक्षकोंकी तरह नहीं किन्तु उनके सेवकोंकी तरह काम करें।"[3] जैसा कि गांधीजीने सन् १९३० में कहा था, विधायक कार्यक्रम "जनताको और उसके नेताओंको साथ-साथ लायेगा और जनता नेताओंमें पूरी तरह विश्वास करना सीखेगी। लगातार विधायक कार्यक्रम चलानेसे उत्पन्न विश्वास संकटके समय एक अनमोल सम्पत्ति है।"[4] रचनात्मक कार्य केवल सत्याग्रहीकी सच्चाईका प्रमाण ही नहीं है, बल्कि वह जनताको सत्याग्रहकी शोषणका अन्त करने और उसकी स्थितिको सुधारनेकी क्षमता भी दिखलाता है; और यह बात केवल भाषणों या लेखोंसे नहीं हो सकती। विधायक कार्यक्रम विरोधीको सत्याग्रहीके अहिंसक इरादेका विश्वास दिलाता है। "इसलिए रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रही सेनाके लिए वैसा ही है जैसे कवायद इत्यादि हिंसक युद्धके लिए तैयार की हुई सेनाके लिए है। यदि जनता (रचनात्मक कार्य द्वारा) तैयार न की गयी हो तो ऐसे नेताओं द्वारा व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा, जिनसे जनता परिचित नहीं है या जिनमें उसको विश्वास नहीं है, व्यर्थ है और सामूहिक सविनय

१. यं० इं०, ६–८–'३१, पृ० २०३।
२. यं० इं०, भाग–१, पृ० ४०४।
३. यं० इं०, भाग–३, पृ० ६९।
४. यं० इं०, १–९–'३०।

अवज्ञा असम्भव है।"[१] "जैसे फौजी शिक्षा सशस्त्र विद्रोहके लिए आवश्यक है वैसे ही रचनात्मक प्रयत्नकी शिक्षा सविनय प्रतिरोधके लिए आवश्यक है।"[२]

दक्षिण अफ्रीकाकी सबसे पहली सत्याग्रही लड़ाईके समय भी गांधीजीने आंतरिक सुधार-सम्बन्धी रचनात्मक कार्य पर जोर दिया था।[३] सन् १९२० में गांधीजीने कांग्रेसके द्वारा रचनात्मक कार्यक्रम भारतवर्षके सामने रखा था। उस समयसे इस कार्यक्रमकी आवश्यकता और प्रभावोत्पादकतामें उनकी श्रद्धा बढ़ती गई और इस बात पर वे अधिकाधिक जोर देने लगे कि संग्रामके पहले नैतिक शक्तिको विकसित करनेके लिए और अनुशासनको दृढ़ करनेके लिए तथा संग्रामके बाद सुसंगठित होनेके लिए और जीतके नशे या हारकी उदासीसे बचनेके लिए रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रहीके लिए आवश्यक है।

गांधीजीने सन् १९३० में लिखा था, "रचनात्मक कार्यक्रम किसी विशेष अन्याय-निवारणके लिए की गई स्थानीय सविनय अवज्ञाके लिए, जैसा कि बारडोलीका मामला था, आवश्यक नहीं है। स्थान-विशेषमें सीमित निश्चित सामान्य शिकायत (स्थानीय सविनय अवज्ञाके लिए) काफी है; लेकिन स्वराज्य जैसी अनिश्चित बातके लिए लोगोंको अखिल भारतीय हितके कार्य करनेका पहलेसे प्रशिक्षण मिलना आवश्यक है।"[४] लेकिन जैसा कि ग्रेगने लिखा है, "बारडोलीके मामलेमें भी गांधीजीने सफलताका बहुत बड़ा कारण यह बताया था कि बारडोली सत्याग्रहके छह-सात साल पहलेसे वहां सामाजिक और आर्थिक सुधारका रचनात्मक कार्यक्रम चलता रहा था।"[५]

शुद्धकारी (प्रतिरोध-सम्बन्धी) और रचनात्मक कार्य सत्याग्रहके निषेधात्मक और भावात्मक पक्ष हैं और इनमें से प्रत्येक दूसरेके लिए अनिवार्य है। प्रतिरोधके अहिंसक होनेके लिए यह आवश्यक है कि वह रचनात्मक कार्यक्रम पर आश्रित हो और उसके परिणामस्वरूप इस कार्यक्रमको प्रोत्साहन मिले। दूसरी ओर इस अपूर्ण संसारमें पुनर्रचनाके काममें कभी-कभी अड़चनें आती हैं, जिनके निवारणके लिए प्रतिरोध आवश्यक है। लेकिन प्रतिरोधकी अपेक्षा विधायक कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रतिरोधके विपरीत विधायक कार्यक्रममें अनुचित दबाव, हिंसा और पाखंडकी गुंजाइश नहीं है।[६] विधायक कार्य प्रतिरोधकी तरह विरोधीमें हिंसक भावनाओंको उत्तेजित नहीं करता।

इसके अतिरिक्त, जितना अधिक रचनात्मक अहिंसाका अभ्यास किया जायेगा उतनी ही कम सविनय अवज्ञाकी आवश्यकता पड़ेगी।[1] गांधीजी इस कार्यक्रमको निश्चित रूपसे, बुद्धिमानीसे और स्वेच्छासे अपनानेकी बातको स्वतन्त्रताके सारकी प्राप्ति कहते थे, और उनका विश्वास था कि इसके बाद राजनैतिक शक्ति जनताके हाथमें आ जायगी।[2] इसी कारण वे रचनात्मक कार्यक्रमको "अहिंसात्मक प्रयत्नका स्थायी अंश", "अहिंसाके सक्रिय सिद्धांतका मूर्त स्वरूप" और "पूर्ण स्वराज्यकी रचना" कहते थे।[3] सन् १९४२ में उन्होंने लिखा था, "यदि सत्य और अहिंसाके द्वारा हम स्वराज्य पाना चाहते हैं, तो नीचेसे ऊपरकी ओर रचनात्मक प्रयास द्वारा क्रमिक किन्तु नियमित रूपसे निर्माण ही इसका एकमात्र उपाय है।"[4]

ऊपर तीसरे अध्यायमें हम यह बता चुके हैं कि किस प्रकार गांधीजीके अनुसार वीरोंकी अहिंसा वास्तविक जनतन्त्रके लिए आवश्यक है। गांधीजीकी जनतन्त्रकी परिभाषा है, "सबके सामान्य हितकी सेवामें जनताके सब अंशोंके समग्र शारीरिक, आर्थिक और आध्यात्मिक साधनोंको कारगर बनानेकी कला और उसका विज्ञान।"[5] इस प्रकार रचनात्मक कार्यक्रम आदर्श जनतन्त्रकी कार्य-पद्धति है।

जहां तक इस कार्यक्रममें सम्मिलित कार्योंका सम्बन्ध है, गांधीजीके अनुसार रचनात्मक कार्यक्रम अहिंसक राज्यकी व्यवस्थाके विकासका ढांचा है। वह वर्तमान सामाजिक संगठनके ऐसे पुनर्निर्माणका प्रयत्न है, जिससे शोषण और अन्याय दूर हो जायं और राष्ट्रकी सृजन-शक्ति और संस्कृति सादगी और अकृत्रिमताको स्वेच्छासे अपनानेके कारण जाग्रत और परिष्कृत

---

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० ४४७; ह०, २–१–'३७, पृ० ३७६।

२. स्पीचेज़, पृ० ८४३। २७ अक्तूबर, १९४४ के एक वक्तव्यमें गांधीजी कहते हैं, "रचनात्मक कार्यक्रम पूर्ण स्वराज्यको जीतनेका अहिंसक और सत्यपूर्ण मार्ग है। इसको समग्रतामें पूरा करना पूर्ण स्वतन्त्रता है। नीचेसे राष्ट्रका निर्माण करनेके लिए समग्र रचनात्मक कार्यक्रममें लगे हुए ४० करोड़ मनुष्योंकी कल्पना कीजिये। क्या कोई इस बातको अस्वीकार कर सकता है कि उसका अर्थ होगा प्रत्येक अर्थमें सम्पूर्ण स्वतन्त्रता, जिसमें विदेशी आधिपत्यका हटाना सम्मिलित होगा?"

३. ह०, १८–५–'४०, पृ० १२९ और ३–६–'३९, पृ० १४७; कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० १।

४. ह०, १८–१–'४२, पृ० ४।

५. ह०, २७–५–'३९, पृ० १४३।

हो जायें। अहिंसक जीवनका अर्थ अनिवार्य रूपसे विकेन्द्रित घरेलू धन्धे और स्वावलम्वी स्वयं-संचालित सत्याग्रही ग्राम-समाज है।

कार्यक्रमकी पद्धति व्यक्तिवादी है। गांधीजीका विश्वास है कि समग्र देशमें क्रांतिको सफल वनानेके लिए सत्याग्रहीको चाहिए कि वह अपने प्रयत्नको किसी स्थान-विशेपमें, किसी गांव या कस्वेमें और वहां भी कुछ विशेष व्यक्तियोंमें केन्द्रित करे। *व्यष्टि या व्यक्ति* एक निश्चित, जीवित, मूर्त सत्ता है, जव कि समष्टि एक अदृश्य, अनिश्चित कल्पना है। व्यक्ति आवश्यक रूपसे आध्यात्मिक और वौद्धिक है और उसमें स्वतंत्र संकल्प है। उसके सुधारकी क्षमताकी कोई सीमा ही नहीं है। प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी कुछ विशेष समस्याएं हैं। उसका सुधार उसकी विशेष जीवन-स्थितिके सन्दर्भमें उसके निर्धारित कर्तव्य — उसके स्वधर्म-पालनके द्वारा होगा। अपने पड़ोसियोंकी प्रेमपूर्ण सेवा ही स्वधर्मका पालन है। सही मार्ग अपनानेके लिए व्यक्तिको किसी अन्यकी प्रतीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं है। व्यक्तिके लिए यह संभव है कि वह दूसरोंकी प्रतीक्षा किये विना यह (अहिंसक) मार्ग अपना ले। और यदि एक व्यक्ति किसी आचरण-नियमका पालन कर सकता है, तो इसका तात्पर्य यह है कि "व्यक्तियोंका एक समुदाय भी ऐसा कर सकता है।" व्यक्तिके सुधारके परिणामस्वरूप समुदाय भी सुधर जायगा। यदि गांवके कुछ आदमी सत्याग्रहीके दृष्टान्तसे प्रभावित हो जायं और जीवनके अहिंसक मार्गको अपना लें, तो उस स्थानका पुनर्निर्माण सुगम हो जायगा। इसी प्रकार यदि कुछ गांवोंकी समस्याएं सुलझ जाएं और उनमें सहयोगकी भावना विकसित हो जाय, तो पूरा जिला आसानीसे सुधर जायगा और इसी प्रकार यह प्रक्रिया वढ़ती चलेगी। गांधीजीने सेवाग्रामको इसी प्रकारके तर्कके कारण अपना निवास-स्थान वनाया था। उनकी राय थी कि "रचनात्मक कार्यके साथ पूरा न्याय करनेके लिए उसे उसकी उपयोगिताके अनुसार महत्त्व देना चाहिए और राजनैतिक कार्यका परिशिष्ट न वना देना चाहिये।"[१]

भारतवर्षका रचनात्मक कार्यक्रम आवश्यक रूपसे ग्रामकार्य है। गांधीजी इस कार्यक्रममें १८ वातोंको सम्मिलित करते थे। और ये ऐसी वातें हैं जो अहिंसा द्वारा राष्ट्रकी पूर्ण स्वतंत्रताके लिए अनिवार्य हैं। वे वातें निम्न लिखित हैं:

१. साम्प्रदायिक एकता;
२. अस्पृश्यता-निवारण;
३. मद्य-निषेध;
४. खादी;

---

१. चरखा-संघका नवसंस्करण, पृ० १०५।

५. दूसरे ग्रामोद्योग;
६. गांवकी सफाई;
७. नई या बुनियादी तालीम;
८. प्रौढ़-शिक्षा;
९. आदिवासियोंकी सेवा;
१०. स्त्रियोंकी उन्नति;
११. स्वास्थ्य और सफाईकी शिक्षा;
१२. राष्ट्रभाषाका प्रचार;
१३. स्वभाषा-प्रेम;
१४. आर्थिक समानताके लिए प्रयत्न;
१५–१७. किसानों, मजदूरों और विद्यार्थियोंका संगठन; और
१८. प्राकृतिक चिकित्सा।

कार्यक्रमका आर्थिक भाग

इनमें से गांधीजी आर्थिक भागको, विशेषकर खादीको अधिकतम महत्त्व देते थे। वे आर्थिक प्रश्नों पर मनुष्यकी नैतिक भलाईके दृष्टिकोणसे विचार करते थे। उनका आर्थिक दृष्टिकोण अपरिग्रह, अस्तेय, शरीर-श्रम और स्वदेशीके आदर्शोंसे निर्धारित हुआ था। आर्थिक समताका आदर्श उनको प्रिय था, क्योंकि विलासिता और भुखमरीका सह-अस्तित्व शोपण और जीवनकी निष्फलताका द्योतक है और धनी तथा निर्धन दोनोंके लिए वह आध्यात्मिक एकताकी अनुभूतिको कठिन कर देता है। गांधीजीके अनुसार आर्थिक समताके लिए कार्य करना अहिंसक स्वतंत्रताकी श्रेष्ठ कुंजी है, क्योंकि अहिंसक राज्य तब तक असम्भव है जब तक गरीबों और अमीरोंके बीचकी गहरी खाई पाट नहीं दी जाती और उनका संघर्ष समाप्त नहीं हो जाता।[१] आर्थिक समतासे गांधीजीका अर्थ पूर्ण समताकी स्थिति नहीं, बल्कि लगभग समताकी स्थिति है। "आर्थिक समताका यह अर्थ कभी नहीं समझना चाहिए कि हर व्यक्तिके पास बराबर परिमाणमें सांसारिक वस्तुएं हों; लेकिन उसका यह अर्थ है कि हरएकके पास रहनेको ठीक मकान हो, खानेको काफी संतुलित आहार हो और शरीर ढंकनेको काफी खादी हो। उसका यह भी अर्थ है कि आजकी निर्दय असमता शुद्ध अहिंसक साधनोंसे हटा दी जायगी।"[२] समाजको इस लक्ष्य तक पहुंचनेका प्रयत्न करना चाहिए कि सब प्रकारके कार्योंके लिए समान पारिश्रमिक हो। इस आदर्शकी उपलब्धिके

---

१. कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० १८।
२. ह०, १८–८–'४०, पृ० २५३।

लिए पहला चरण यह है कि सत्याग्रही स्वेच्छासे निर्धनताको अपनाये। गांधीजी कहते हैं, "मैं अहिंसा द्वारा जनताका मत अपने दृष्टिकोणके अनुरूप परिवर्तित करके आर्थिक समताकी स्थापना करूंगा। मैं अपने मतके अनुरूप सम्पूर्ण समाजको परिवर्तित कर लेनेकी प्रतीक्षा न करूंगा, वरन तुरन्त स्वयं अपनेसे ही इसका प्रारंभ कर दूंगा। उसके लिए मुझे अपनेको निर्धनोंमें अधिकतम निर्धनके स्तर तक लाना होगा।"[१]

सत्याग्रहीके व्यक्तिगत उदाहरणके अतिरिक्त गांधीजी धन-बाहुल्य और निर्धनता दोनोंको हटानेके पक्षमें थे। धन-बाहुल्यको दूर करनेके लिए वे यथासंभव कानून द्वारा सम्पत्तिको जब्त करना या स्वामित्वका अधिकार छीनना नहीं चाहते थे, क्योंकि इसके लिए हिंसा आवश्यक है। धनिकोंको आर्थिक समताका आदर्श अपनाने और सम्पत्तिके ट्रस्टी या संरक्षककी हैसियतसे निर्धनोंके लाभके लिए उसका उपयोग करनेको तैयार करनेके लिए गांधीजी समझाने-बुझाने, शिक्षा, अहिंसक असहयोग और दूसरे अहिंसक साधनोंके प्रयोगके पक्षमें थे। गांधीजीके अनुसार सम-वितरणके सिद्धांतके मूलमें आवश्यकतासे अधिक सम्पत्तिके सम्बन्धमें धनिकोंके संरक्षण (ट्रस्टीशिप) की धारणा है। संरक्षणकी पद्धतिका एकमात्र विकल्प है हिंसा द्वारा सम्पत्तिको जब्त करना। लेकिन हिंसाका सहारा लेनेसे समाज अधिक निर्धन हो जायगा; क्योंकि समाज उस मनुष्यकी—जो धन-संचय करना जानता है—क्षमताको खो देगा। अहिंसक असहयोग इस संरक्षणको लानेका अचूक साधन है, क्योंकि "धनी आदमी समाजमें निर्धनोंके सहयोगके बिना धन-संचय नहीं कर सकता। यदि इस बातका ज्ञान निर्धनों तक पहुंच जाय और उनमें फैल जाय, तो वे शक्तिवान हो जायेंगे और यह जान जायेंगे कि किस प्रकार वे अपनेको अहिंसाके द्वारा उन पीस देनेवाली असमताओंसे मुक्त कर सकते हैं, जिन्होंने उन्हें भुखमरीकी सीमा तक पहुंचा दिया है।"[२]

जनताकी भयंकर और पीसनेवाली दरिद्रता और बेकारीको दूर करनेका उनका उपाय था खादी और दूसरे ग्रामोद्योगोंका पुनरुद्धार—अन्य ग्रामोद्योग भी खादीका विस्तार हैं। खादीको गांधीजी अपने दो श्रेष्ठतम कार्योंमें से एक कार्य मानते थे। दूसरा कार्य है हरिजन-सेवा।[३] खादी हिंसापूर्ण सम्पत्ति-हरणका अधिकतम प्रभावशाली स्थानापन्न है।[४] उनके खादीप्रेमका प्रमुख कारण उनके नैतिक सिद्धान्त हैं।

---

१. ह०, ३१–३–'४६, पृ० ६४।

२. ह०, २५–८–'४०, पृ० २६०।

३. जी० डी० बिडला: बापू पृ० ११।

गांधीजीके अनुसार केन्द्रित उद्योग और अहिंसा परस्पर विरोधी हैं। बड़े पैमानेका उत्पादन प्रकृति और मनुष्यका शोषण है और यह अहिंसाका सर्वथा निषेध है। समझ-बूझकर घरेलू धन्धोंको अपनाना विश्वशान्तिकी दिशामें महत्त्वपूर्ण कदम है, क्योंकि कच्चे मालकी प्राप्ति और तैयार मालकी खपतके लिए पिछड़े देशों और बड़े बाजारों पर अधिकार करनेकी शर्त पर ही पनप सकनेवाला बड़े पैमानेका उत्पादन आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय होड़, साम्राज्यवादी शोषण और युद्धोंका प्रमुख कारण है।

राष्ट्रीय मामलोंमें केन्द्रित उत्पादन लोकतंत्रको दूषित बना देता है। क्योंकि उसका परिणाम होता है आर्थिक शक्ति और उसी परिमाणमें राजनैतिक शक्तिका केन्द्रीकरण और इस शक्तिके दुरुपयोगकी निरन्तर संभावना।

बड़े पैमानेका उत्पादन मजदूरोंकी नैतिकता और चरित्रको हानि पहुंचाता है। वह उनको गांवोंके घरेलू वातावरणकी शुद्धता और स्वाभाविकतासे हटाकर वेतनभोगी कर्मचारी बना देता है। वे अपना व्यक्ति-स्वातंत्र्य और आत्म-सम्मान खो बैठते हैं; उनकी सृजन-शक्ति, घरेलू उद्योगोंके प्रतिकूल केन्द्रित उत्पादनमें जिसकी गुंजाइश नहीं, कुंठित हो जाती है; और वे मिलोंकी बड़ी मशीनोंके पुर्जे-से बन जाते हैं।

बड़े पैमाने पर उत्पादन प्रकृति-विरोधी भी है। खनिज कोयला और तेल, जिनके द्वारा बड़े कल-कारखाने चलते हैं, मनुष्य-जातिका संरक्षित शक्ति-संचय है। इस संचयके क्रमशः ह्रास और इसके बढ़ते हुए दामोंके कारण कुछ विचारक इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि संसारकी शक्तिके आय-व्ययको संतुलित रखनेके लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन घरेलू धन्धोंके द्वारा हो। बड़ी-बड़ी मशीनोंके विपरीत घरेलू धन्धोंका आधार होता है मनुष्यका शरीर-श्रम अर्थात् वनस्पतिसे — जो पृथ्वीके तल पर शक्तिप्राप्तिका चालू स्रोत है — प्राप्त शक्ति।[1] इसके अतिरिक्त बड़े पैमानेके उत्पादनके लिए घरेलू धन्धोंकी अपेक्षा कहीं अधिक पूंजीकी आवश्यकता होती है; और बाजारोंके सीमित होनेके कारण और उत्पादन-पद्धतिमें निरन्तर सुधार होते रहनेके कारण बड़े पैमानेके उत्पादनसे बेकारी घटनेके स्थानमें बढ़ती रहती है। इन दोषोंके आधार पर गांधीजी औद्योगीकरणको मानवताके लिए अभिशाप और औद्योगिक सभ्यताको अशुभ और एक रोग बताते थे।[2] विकेंद्रित आर्थिक संगठन और घरेलू उद्योग-धंधे इन सब बातोंमें बड़ी मशीनों और केन्द्रित उत्पादनसे श्रेष्ठ हैं। घरेलू उद्योग-धन्धे धनका लगभग समान और न्यायो-

१. आर० बी० ग्रेग: इकनॉमिक्स ऑफ खद्दर, अ० १ और २; लुई मम्फोर्ड: टेकनीक्स एंड सिविलिज़ेशन, पृ० १५६-५८।

२. यं० इं०, भाग–२, पृ० ११८७; १२–११–'३१, पृ० ३१८।

चित वितरण करते हैं और वेकारी, नैतिक अवनति, पूंजीपतियों और विशेषज्ञों द्वारा होनेवाले शोषण, शहरोंकी वृद्धि और केंद्रित उत्पादनसे संबंधित दूसरे दुर्गुणोंको रोकते हैं।[1] उत्पादन और वितरणको विकेन्द्रित करनेसे आर्थिक जीवन बहुत-कुछ स्वयं-संचालित हो जाता है और धोखे-वाजी और सट्टेकी गुंजाइश बहुत कम रहती है।[2] घरेलू धंधोंका अर्थ है काम करनेवालेके निवासस्थानके स्वाभाविक वातावरणमें हितकारी कार्य और उससे सम्वन्धित अनेक शारीरिक, आर्थिक, नैतिक और अन्य लाभ। ये धन्धे घरेलू जीवनकी एकता और शुद्धता तथा काम करनेवालोंकी कला, कुशलता, सृजन-प्रतिभा और उनकी स्वतंत्रता, सम्मान और स्वामित्वकी भावनाकी रक्षा करते हैं। घरेलू धंधों पर आश्रित संस्कृतिमें सादगी और गांवोंकी महत्ता बढ़ती है। जान-बूझकर घरेलू धन्धोंको अपनानेसे गांवोंमें आर्थिक स्वावलंबन आयेगा और जनतामें सब प्रकारके अन्याय और अत्याचारका वहादुरीसे सामना करनेकी नैतिक शक्तिका विकास होगा। गांधीजीका विश्वास है कि औद्योगीकरण, चाहे उसका समाजीकरण ही क्यों न कर दिया जाय, पूंजीवादकी बुराइयोंसे मुक्त नहीं होगा। . . . "ये बुराइयां औद्योगीकरणमें निहित हैं और किसी भी परिमाणमें किया गया समाजीकरण उन्हें दूर नहीं कर सकता।"[3]

देशके स्वतन्त्र होनेसे पूर्व और राजकीय सहायताके अभावमें भी खादीका देशके आर्थिक जीवनमें महत्त्वपूर्ण स्थान था और उसे एक सफल धन्धा कहा जा सकता था।[4] निस्सन्देह खादीका दाम खरीदारको मिलके

---

१. यह हिसाव लगाया गया है कि भारतवर्षके सूती कपड़ेके कार-खानोंमें उत्पादनकी आयका केवल २२% ही मजदूरीका भाग होता है। खादीमें इस भागका तखमीना लगभग ६० प्रतिशत तक किया गया है। देखिये ऊपर उद्धृत 'गांधीजी — हिज़ लाइफ एंड वर्क', पृ० २१४।

२. ह०, २–११–'३४, पृ० ३०२।

३. ह०, २९–९–'४०, पृ० २९९।

४. सन् १९४६ में चरखा-संघकी पूंजी २५ लाख थी और पिछले २५ वर्षोंमें वह भारतके २५ हजार गांवोंके साढ़े चार लाख कत्तिनों और बुन-करोंको सात करोड़से अधिक रुपया मजदूरीके रूपमें दे चुका था। ह०, २५–८–'४६, पृ० २७७।

सन् १९४७ से राज्य खादी तथा अन्य ग्रामीण उद्योगोंके विकासमें भरसक सहायता करनेका प्रयत्न करता रहा है। इस उद्देश्यसे संघ-सरकारने सन् १९५३ में अखिल भारत खादी तथा ग्रामोद्योग बोर्डका निर्माण किया। सन् १९५३–५६ में खादी-उद्योग पर वोर्डका विकास-व्यय ११.४३ करोड़

कपड़ेसे महंगा पड़ता है; लेकिन गांधीजीके सिद्धांतोंके अनुसार चरखा-संघकी नीति यह है कि खादी पहननेवालोंको स्वावलम्वी वनाया जाय और वे अपने काते हुए सूतका ही कपड़ा वनवा कर पहनें। धैर्यके साथ वैज्ञानिक अनु-सन्धानों द्वारा खादीके औजारोंमें सुधार करनेसे खादीके उत्पादनमें वहुत अधिक उन्नति हो सकती है।

भोजनके वाद वस्त्र दूसरे नंवरकी सवसे वड़ी सार्वभौम आवश्यकता है। इसलिए गांधीजीका मत था कि खादीका देशके संगठनमें वही स्थान है, जो मानव-शरीरमें फेफड़ोंका है। खादी एक फेफड़ा है, कृषि दूसरा।[1] हमारे कृषि-प्रधान देशमें किसान कुछ दिन वेकार रहता है। इस वेकारीको दूर करनेका साधन खादी और दूसरे घरेलू धन्धे हैं। गांधीजी खादीको गांवके आर्थिक जीवनके सौर मण्डलका सूर्य वताते थे और दूसरे घरेलू धन्धोंकी ग्रहोंसे तुलना करते थे।[2] खेती सूर्य नहीं है परन्तु ग्रहोंमें से एक है, क्योंकि अपने वर्तमान रूपमें केवल खेती खादीकी भांति मानसिक विकासका साधन नहीं हो सकती।[3] खादीकी उन्नतिका अर्थ है संसारके इतिहासमें सवसे वड़े पैमाने पर स्वेच्छा पर आधारित सहयोग, चतुरतापूर्ण प्रयास और ईमानदारी। खादीके लिए खेतीकी अपेक्षा कहीं अधिक ईमानदारीके साथ प्राप्त सहयोगकी आवश्यकता है।

गांधीजीके अनुसार चरखा पूर्ण जीवनका तत्त्व-दर्शन और अहिंसाका जीवित प्रतीक भी है।[4] अहिंसाकी अभिव्यक्ति जनताकी स्वार्थरहित सेवाके कार्यों द्वारा होनी चाहिए। गांधीजी चरखेको अहिंसाकी अभिव्यक्तिका सर्वश्रेष्ठ साधन मानते थे।[5] खादी जीवनकी सरलता और इसलिए शुद्धताकी द्योतक

रुपया था। इस अवधिमें खादीके उत्पादन और विक्रीमें क्रमशः लगभग २५० प्रतिशत और ३०० प्रतिशतकी वृद्धि हुई है। सन् १९५५–५६ में खादीका उत्पादन २.४८ करोड़ वर्गगज हुआ, जिसका मूल्य ४.७८ करोड़ रुपया था। इसमें से ५०.३ लाख वर्गगज, जिसका मूल्य ५६.५ लाख रुपया था, वोर्ड द्वारा सहायता प्राप्त स्वावलम्वन-योजनाके अन्तर्गत था। इस वर्ष सरकारी विभागों द्वारा खरीदी हुई खादीका मूल्य ७४.९ लाख रुपया था।—अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग वोर्ड, वार्षिक विवरण, १९५५-५६।

१. गांधीजीका १७–९–'३४ का वक्तव्य।

२. यं० इं०, भाग–३, पृ० ८४।

३. 'न्यू होराइज़न्स इन खादी वर्क' शीर्षक प्यारेलालजीका वक्तव्य, २८–३–'४५।

४. चरखा-संघ परिपत्र–१ (५–१२–'४४), पृ० २।

५. ह०, ६–५–'३९, पृ० ११३।

है।[1] वह निर्धनोंके उत्थानके लिए धनिकोंकी उत्सुकताका प्रतीक है। चरखा और अहिंसा एक दूसरे तर्कसे भी संलग्न हैं। सन् १९२० से चरखा भारतवर्षकी स्वतन्त्रताकी अहिंसक लड़ाईसे संवद्ध रहा है और रचनात्मक कार्यक्रममें उसका गौरवपूर्ण स्थान रहा है। इस प्रकार चरखा नवीन सत्याग्रही संस्कृतिका प्रतीक वन गया है।

यह समझना भूल होगी कि गांधीजीका खादीका संदेश समस्त संसारके लिए नहीं, केवल भारतकी निर्धन जनताके लिए था। सन् १९४६ में उन्होंने लिखा था, "मुझे इस वातमें विश्वास नहीं है कि औद्योगीकरण किसी भी देशके लिए किसी भी दशामें आवश्यक है। मैं तो समझता हूं कि उसका (चरखेका) सन्देश अमेरिकाके लिए और समस्त संसारके लिए है।" उनको आशा थी कि जब पश्चिमके निवासी उसको स्वीकार करेंगे तो वे चरखेकी घरेलू धन्धोंकी आवश्यक विशेपताओंकी रक्षा करके उसको अधिक उत्तम साधन वनानेमें अपनी अतुलनीय आविष्कार-क्षमताका प्रयोग करेंगे।[2]

सत्याग्रही अनुशासनमें रचनात्मक कार्यक्रमके अन्य भागोंकी अपेक्षा खादी पर गांधीजीके अधिक जोर देनेका कारण यह है कि "इस कार्यमें लाखों व्यक्ति भाग ले सकते हैं और उन्नतिकी माप अंकोंमें हो सकती है। साम्प्रदायिकता और अस्पृश्यता-निवारणकी माप इस तरह नहीं हो सकती। यदि वे एक वार हमारे दैनिक जीवनका अंग वन जायें, तो हमें व्यक्तिगत रूपमें उनके वारेमें कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं रहती।"[3]

सन् १९४५ में गांधीजीकी प्रेरणासे चरखा-संघकी नीतिका नव-संस्कार हुआ। अगस्त १९४२ की राजनैतिक उथल-पुथलसे चरखा-संघको गहरा धक्का लगा था। सरकारने चरखा-संघ पर कठोर दमनकारी प्रहार किये थे और संघका बहुतसा काम तितर-वितर हो गया था।[4] गांधीजीकी सिफारिश पर चरखा-संघके ट्रस्टियोंने खादीकार्यको व्यापक और गहरा बनानेके लिए नई नीति अपनायी। इस नीतिका उद्देश्य इस बातका प्रदर्शन करना है कि किस प्रकार चरखा अहिंसक समाज-संगठनका आधार बनाया जा सकता है। नई नीतिके अनुसार कपड़ा वनानेके लिए और निर्धनता और वेकारी दूर करनेके लिए व्यावसायिक खादीका संघटन संघका उद्देश्य नहीं रह गया। अव संघका उद्देश्य हो गया जनतामें स्वावलम्बन और अहिंसक गुणोंका

---

१. ह०, २७-५-'३९, पृ० १३७ और २८-१-'३९, पृ० ४४९।

२. ह०, १-९-'४६, पृ० २८५; १७-११-'४६, पृ० ३०४; यं० इं०, १७-९-'२५।

३. ह०, १८-८-'४०, पृ० २५२।

४. 'संघका कार्य-विवरण', १९४२-४४, पृ० १।

विकास करना और शोषण तथा अन्यायसे मुक्त अहिंसक समाज-व्यवस्थाकी नींव डालना।[१]

अहिंसक समाजके विकासके उद्देश्यसे ग्राम-निवासियोंको प्रभावित करनेके लिए खादी-कार्यकर्ताओंको गांवोंके जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें घुसकर उनका सुधार करनेका प्रयत्न करना चाहिए। इसलिए नयी नीतिके अनुसार चरखा-संघको अब खादीका कार्य पृथक् कार्य समझकर नहीं, बल्कि ग्राम-सुधार-योजनाका अविभाज्य अंग मानकर करना चाहिए। इस प्रकार खादीका खेती, जानवरोंकी नस्ल सुधारने, अस्पृश्यता-निवारण, आर्थिक समताकी स्थापना और विशेष रूपसे व्यापक शिक्षासे निकट सम्बन्ध हो गया।[२] इस प्रकार नयी नीतिके अनुसार संघ चरखेके द्वारा समग्र ग्रामसेवामें प्रयत्नशील हो गया।

नयी नीतिकी एक अन्य विशेषता थी विकेन्द्रीकरण। अहिंसक आन्दोलनोंका अनुभव इस बातका प्रमाण है कि जितना कम विकेन्द्रित प्रतिरोधकारी या रचनात्मक अहिंसक संगठन होगा उसी अनुपातमें सरकारके लिए उसको पंगु बना देना आसान होगा। गांधीजी चाहते थे कि अहिंसक संस्थाएं सरकारकी दयाके सहारे जीवित न रहें। वे खादीका उत्पादन इतने पूर्ण रूपसे विकेन्द्रित कर देना चाहते थे कि प्रत्येक खादी पहननेवाला आवश्यक रूपसे सूत काते और खादीके उत्पादनमें लगे हुए सभी व्यक्ति खादी पहनें।

नई नीतिके अनुसार चरखा-संघकी शाखाओंका कार्य ग्रामसेवकों द्वारा होना चाहिए। उद्देश्य यह है कि अंतमें सभी लोग वस्त्र-स्वावलंबी हो जायें। कातनेवाला अपना सूत स्वयं या अड़ोस-पड़ोसके बुनकरसे बुनवा कर पहिने।[३] प्रारम्भमें बेचनेके लिए भी खादी तैयार होती रहेगी, लेकिन बिक्री-भंडारों और उत्पत्ति-केन्द्रोंकी संख्या कम कर दी जायेगी। १ जुलाई, १९४५ से शहरोंमें खादीका आंशिक मूल्य सूतमें लेना प्रारंभ हुआ था। यह निश्चित हुआ था कि सूतका अनुपात क्रमशः बढ़ता जाय और गांवोंमें खादी केवल सूतके बदलेमें मिले। गांधीजीका आदर्श था कि हर गांव केवल अपने उपयोगके लिए ही खादी बनाये।[४] जब तक प्रत्येक गांव केवल अपने उपयोगके लिए खादी नहीं तैयार करता और कुछ गांवोंके लोग बिना किसी कठिनताके आवश्यकतासे अधिक खादी बनाते हैं, तब तक वह निकटके स्थानको भेजी

---

१. ह०, १४–४–'४६, पृ० ८९।

२. चरखा-संघ परिपत्र – १, १२–१२–'४४, पृ० २।

३. न्यू होराइज़न्स इन खादी वर्क; खादी जगत, फरवरी १९४७, पृ० २।

४. न्यू होराइज़न्स इन खादी वर्क।

जा सकती है। लेकिन अधिक-से-अधिक एक जिले या प्रांत तककी सीमा होनी चाहिए।[१]

सेवाग्रामके बुनियादी स्कूलमें पहले पांच वर्षोंमें काते हुए सूतके आधार पर गांधीजीको विश्वास हो गया था कि खादीका प्रचार गांवोंमें नई तालीमके द्वारा बहुत शीघ्रतासे हो सकता है, "क्योंकि शिक्षाके समय बच्चों द्वारा बनाई हुई खादी पूरे गांवके आवश्यक कपड़ोंके लिए पर्याप्त होगी और वह सस्ते-से-सस्ता कपड़ा होगा।"[२]

चरखा-संघने नई खादी-नीतिको कार्यान्वित करनेका प्रयत्न किया, किंतु उसका प्रयास पूरी तरह सफल नहीं हुआ। गांधीजीको अपने जीवनके अंतिम महीनोंमें यह शिकायत थी कि शासन-सत्ता प्राप्त होनेके बाद कांग्रेसको अहिंसामें आस्था न रह गयी और खादीने अहिंसाके प्रतीकका स्थान खो दिया। उनके महाप्रस्थानके बाद चरखा-संघने यह नियम हटा दिया कि खादीका आंशिक मूल्य सूतके रूपमें दिया जाय।[३] यह आशंका है कि राज्यकी वृद्धिशील सहायताके प्रभावके कारण खादीके उत्पादन और विक्री पर अधिक ध्यान दिया जायगा और गांधीजीकी इच्छानुसार खादीको अहिंसक समाज-व्यवस्थाका आधार बनानेके प्रयासकी कार्यकर्ताओं द्वारा उपेक्षा होगी।[४]

गांवोंको स्वावलंबी बनानेके लिए और उनके पुनर्संगठनके लिए यह आवश्यक है कि केवल खादी ही नहीं परन्तु दूसरे लाभप्रद घरेलू धंधे भी फिरसे

---

१. ह०, २७–१०–'४६, पृ० ३७५-७६; न्यू होराइजन्स इन खादी वर्क।

२. न्यू होराइजन्स इन खादी वर्क; आर० बी० राव: दि गांधियन इन्स्टीट्यूशन्स ऑफ वर्धा, पृ० ४५-४६, ४८।

३. ह०, २–११–'४७, पृ० ३८९।

४. "ग्रामोद्योगोंके प्रगतिशील विस्तारके लिए और उनको आधुनिक रूप देनेके लिए भारत सरकारकी द्वितीय पंचवर्षीय योजनामें ग्रामीण और छोटे पैमानेके उद्योगों पर योजनाकी अवधिमें २०० करोड़ रुपया खर्च करनेकी व्यवस्था है। इसमें से ४८.४ करोड़ रुपये खादी और ग्रामोद्योगों पर खर्च होंगे। यह महत्त्वपूर्ण है कि अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग बोर्डकी १९५५–५६ की वार्षिक रिपोर्ट यह सुझाव देती है कि सरकारी खरीदको बढ़ानेके लिए यह आवश्यक है कि खादीका रंग समान स्तरका हो और इसके लिए (खादी) केन्द्रोंको आधुनिक मशीनोंका उपयोग करना होगा।" . . . खादी-केन्द्रोंके पास इन खर्चीली मशीनोंके लिए न तो वित्तीय साधन हैं और न पर्याप्त काम। "इसलिए बोर्डने सरकारसे केन्द्रोंके लिए रासायनिक रंगाईकी मशीनें लगानेके लिए अनुदान स्वीकार करनेकी प्रार्थना की है।" (रिपोर्टका १२१ वां पृष्ठ)।

सजीव किये जायं। खादी और दूसरे ग्रामोद्योग एक-दूसरे पर आश्रित हैं। बिना खादीके दूसरे धंधे नहीं पनप सकते और न दूसरे आवश्यक धंधोंके पुनरुद्धारके बिना खादी ही संतोषजनक उन्नति कर सकती है।[1] घरेलू धंधोंके पुनरुद्धारसे गांव आजकी तरह केवल कच्चे मालके उत्पादक मात्र न रह जायेंगे। वे स्वावलंबी इकाइयां हो जाएंगे, शहरोंकी बहुतसी आवश्यकताओंकी पूर्ति करेंगे और शहरों द्वारा गांवका शोषण बंद हो जायगा।[2] गांधीजी ग्रामोद्योगोंमें ऐसी साधारण मशीनों और औजारोंके उपयोगके विरुद्ध नहीं थे, जिनको गांववाले बना सकते हैं और जिनका उपयोग आर्थिक दृष्टिसे उनके लिए संभव है।[3] उन कठिन स्थितियोंमें जब कार्य इतना भारी हो कि उसे करनेके लिए मनुष्य-शक्तिका उपयोग निर्दयतापूर्ण हो और जब मशीनका प्रयोग ऐसे उचित संरक्षणोंके साथ हो सकता हो कि शोषणकी संभावना न रहे, गांधीजीको आधुनिक मशीन-शक्तिके प्रयोगमें भी आपत्ति नहीं थी।[4]

सन् १९४५ में अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघने संचालक नियुक्त करनेका निश्चय किया, जिनका कार्य था अपने अधीन क्षेत्रोंमें संघकी नीतिकी व्याख्या करना, ग्रामीण जीवनकी स्थितियोंका सर्वेक्षण करना और रचनात्मक कार्यके लिए योजनाओंकी सिफारिश करना। उनका कर्तव्य ग्रामोद्योगोंकी देखभाल और इन उद्योगोंकी विभिन्न कार्य-पद्धतियोंके विषयमें जनताको शिक्षित करना भी था। उनका कर्तव्य यह भी था कि वास्तविक कार्य करनेवालों अर्थात् एजेण्टों, सम्बद्ध संस्थाओं, मान्यता प्राप्त उत्पादन-केन्द्रों और प्रमाणित दुकानोंका वे पथ-प्रदर्शन और संचालन करें। संचालकों द्वारा होनेवाली देखभालके अतिरिक्त ये सब केन्द्रीय संगठनसे स्वतन्त्र थे।

सामाजिक पुनर्रचना

गांवोंका पुनर्संगठन गांवोंके स्वास्थ्य और सफाईकी ओर पर्याप्त ध्यान दिये बिना अधूरा रहेगा। गांधीजी देशमें राष्ट्रीय और सामाजिक सफाईकी

---

१. ह०, २६–११–'३४, पृ० ३१७; कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० ११।
२. ह०, २१–१२–'३४, पृ० ३५६।
३. ह०, २९–८–'३६, पृ० २२६।
४. ह०, १५–३–'४२ में श्री जे० सी० कुमारप्पाका 'व्हेन मशीन पॉवर' शीर्षक लेख। सन् १९४२ में गांधीजीकी अनुमतिसे ग्रामोद्योग-संघने प्रमाणित संस्थाओंको मशीन-शक्तिसे बनी लुगदीसे बनाये गये हाथ-कागजको बेचनेकी आज्ञा दी थी। अहिंसक आर्थिक संगठनमें मशीनोंके स्थानके लिए पुस्तकका अध्याय ११ देखिये।

भावना विकसित करना चाहते थे और भारतवर्षके गांवोंको, जो आज कूड़ोंके ढेरके समान हैं, सफाईके आदर्श स्थान बना देना चाहते थे।

गांधीजीके अनुसार प्राकृतिक चिकित्सा चिकित्सा-पद्धति नहीं परन्तु जीवन-मार्ग है। प्राकृतिक चिकित्साका अर्थ यह है कि पूर्ण मन शरीरके पूर्ण स्वास्थ्यके लिए उत्तरदायी है। इसके लिए ईश्वरमें बोधपूर्ण विश्वास आवश्यक है। इस जीवित श्रद्धाके अतिरिक्त अन्य कोई भी चीज प्राकृतिक चिकित्साके विरुद्ध है। "ईश्वरकी अनुभूति इसे असंभव कर देती है कि मनमें कोई भी अशुद्ध या व्यर्थका विचार आये। जहां विचारकी शुद्धता है वहां रोग असंभव है।" जीवनके इस मार्गमें यह आवश्यक है कि मनुष्य सभी ज्ञात प्राकृतिक नियमोंके अनुसार रहे। गांधीजीका मत है कि प्राकृतिक चिकित्साको पृथ्वी, आकाश, हवा, सूर्यका प्रकाश और जल—इन्हीं पांच तत्त्वोंका उपयोग चिकित्साके साधनोंकी तरह करना चाहिए।[१]

गांधीजीके मादक वस्तुओंके निषेधको इतनी महत्ता देनेका कारण यह है कि जब तक गांवों और शहरोंके मनुष्योंकी मादक वस्तुओंकी लत न छूटेगी तब तक उनमें सत्याग्रहके लिए आवश्यक नैतिक प्रयत्नकी क्षमता पैदा न होगी। वे यह महसूस करते थे कि स्त्रियों और विद्यार्थियोंको मद्य-निषेधका कार्य करनेकी विशेष सुविधा है। प्रेमपूर्ण सेवाकार्य द्वारा और निर्दोष मनबहलावके स्थान खोलकर ये नशेखोरोंको प्रभावित कर सकते हैं और उनकी बुरी लत छुड़वा सकते हैं।[२]

साम्प्रदायिक एकताका अर्थ है अटूट हार्दिक एकता, न कि कृत्रिम समझौतोंके फलस्वरूप उत्पन्न राजनैतिक एकता। धार्मिक कटुता अहिंसक वातावरणके अभावका चिह्न है। गांधीजी कांग्रेसके प्रत्येक सदस्यसे इस बातकी आशा करते थे कि वह सर्वधर्म-समभावकी मनोवृत्ति विकसित करेगा और दूसरे धर्मोंके माननेवालोंसे मित्रताका नाता जोड़ेगा।[३]

देशके विभाजनके निर्णयसे उत्पन्न साम्प्रदायिक हिंसा और विद्वेषके निराकरण और साम्प्रदायिक एकताकी स्थापनाको गांधीजीने जीवनके अंतिम १६ मासोंमें अपना प्रमुख कार्य बना लिया था। उनका विश्वास था कि साम्प्रदायिक असहिष्णुता और हिंसा जनतंत्र और स्वतन्त्रताके लिए घातक हैं। उनका मत था कि बहुमतको अल्पमतके हितोंका संरक्षण करना चाहिए, उनको पूरी धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता देनी चाहिए और इस बातका लगातार

---

१. ह०, ७-४-'४६, पृ० ६८-६९; १९-५-'४६, पृ० १४८; ९-६-'४६, पृ० १५७; १५-६-'४७, पृ० १८५।

२. कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० ७। पुस्तकका अध्याय ११ भी देखिये।

३. कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० ४।

प्रयत्न करना चाहिए कि अल्पमतके वे व्यक्ति, जो हिंसा और अत्याचारके कारण अपने निवास-स्थानसे चले गये हैं, वापस लौट आयें। अल्पमतवालोंको न तो डर कर अपना स्थान छोड़ना चाहिए और न रक्षाके लिए पुलिस और फौजका मुंह ताकना चाहिए। यदि उन पर आक्रमण हो तो उन्हें अहिंसक रीतिसे अपनी रक्षा करनी चाहिए, अर्थात् उनको आत्म-सम्मानके साथ मरनेकी कला जाननी चाहिए। यदि अहिंसाकी क्षमता न हो तो उन्हें कायरतासे भागनेके स्थान पर हिंसासे भी आत्मरक्षा करनी चाहिए। गांधीजीका मत था कि पाकिस्तानमें गैर-मुसलमानोंके सम्मान और जीवन-रक्षाका एकमात्र मार्ग है भारतमें मुसलमानोंके सम्मान और जीवनकी रक्षा करना।

सन् १९४६–४७ के जाड़ेके महीनोंमें साम्प्रदायिक हिंसाके निराकरणके लिए गांधीजीने नोआखालीमें वीरोंकी अहिंसाका प्रयोग किया। उन्होंने अपने साथियोंको विभिन्न गांवोंमें हिन्दुओं और मुसलमानोंके बीच शान्तिकी स्थापनाके लिए भेज दिया और स्वयं नंगे पैरों नोआखालीके गांवोंकी पैदल यात्रा की, यद्यपि उनके पैर जख्मी थे। वे यथासम्भव मुस्लिम घरोंमें ठहरते थे और हिन्दुओं तथा मुसलमानोंको निर्भयता और वीरोंकी अहिंसाकी शिक्षा देते थे।

गांधीजीकी नोआखाली-यात्रासे, सितम्बर १९४७ और जनवरी १९४८ के उपवासोंसे और अन्य प्रयत्नोंसे साम्प्रदायिक कटुता कम हो गयी; किन्तु साम्प्रदायिक एकताके लिए गांधीजीका कार्य देशके कुछ प्रतिगामी लोगोंको सह्य न हो सका और वह उनके बलिदानका कारण बना।

सामाजिक समताके लिए अस्पृश्यता-निवारण आवश्यक है।[1] अस्पृश्यता सब मनुष्योंकी आध्यात्मिक एकताके और वर्ण-नियमके विरुद्ध है। गांधीजीका मत था कि यदि अस्पृश्यता जीवित रही, तो हिन्दू धर्म और उसके साथ भारतका विनाश हो जायगा। अस्पृश्यता-निवारण सम्बन्धी उनके कार्यके फलस्वरूप दलित वर्गोंकी कठिनाइयोंमें कमी हुई है और उनका आत्म-विश्वास जाग्रत हुआ है। उनके विरुद्ध दीर्घकालीन पूर्वग्रह घट रहा है और राज्य तथा स्वेच्छा पर आधारित संस्थाएं इस सामाजिक बुराईके आमूल निराकरणका प्रयास कर रही हैं।

अहिंसामें स्त्रियोंको दबाकर रखनेकी भी गुंजाइश नहीं। "अहिंसा पर आधारित जीवन-योजनामें स्त्रियोंको अपने भाग्य-निर्धारणका वही अधिकार है जो पुरुषोंको है।"[2] गांधीजी चाहते थे कि स्त्रियोंकी परम्परागत और वैधानिक

---

१. देखिये अध्याय ४ में पृ० १०२–१०४।

२. कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० १४।

स्थिति इस प्रकार सुधर जाय कि वे पुरुषोंके साथ समानताके स्तर पर आ जायें और सेवाकार्यमें उनकी वास्तविक सहायक वन सकें।

सन् १९४६ में स्थापित कस्तूरवा गांधी स्मारक ट्रस्टका उद्देश्य गांवोंमें रहनेवाली स्त्रियों और वच्चोंकी सेवा, शिक्षा और उन्नति है। ट्रस्टको लगभग सवा करोड़ रुपया दानमें मिला था। उसका सेवाकार्य ग्राम-सेविकाओं द्वारा होता है। ट्रस्टकी ओरसे इन सेविकाओंको नई तालीम, ग्रामोद्योग, ग्रामसेवा, सफाई, स्वास्थ्य-सुधार आदि क्षेत्रोंमें कार्य करनेका प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रशिक्षण समाप्त होने पर ये सेविकाएं अपने जिलेके किसी भागमें ग्रामसेवा-केन्द्र स्थापित करती हैं और सेवाका कार्य करती हैं। कुछ प्रदेशोंके गांवोंमें ट्रस्टकी ओरसे वुनियादी स्कूल, दवाखाने और जच्चाखाने भी खुले हैं।

शिक्षा

यदि रचनात्मक कार्यक्रमके द्वारा जनसाधारणका मत परिवर्तन करके उनको नए अहिंसक जीवनकी ओर अग्रसर करना है और अहिंसक समाजका विकास करना है, तो वच्चों और प्रौढ़ोंको अहिंसाके सिद्धान्तोंके अनुसार शिक्षा देना आवश्यक है। वुनियादी तालीमका यही दृष्टिकोण है। उसका उद्देश्य है वच्चोंको आदर्श ग्राम-निवासी वनाना। वह शरीर और दिमाग दोनोंका विकास करती है और वच्चेको धरतीसे सम्बद्ध रखती है। गौरवपूर्ण भविष्यके निर्माणमें वच्चे अपने विद्यार्थी-जीवनके प्रारम्भसे ही हिस्सा लेने लगते हैं।[1]

प्रौढ़-शिक्षासे गांधीजीका अर्थ है ग्राम-निवासी प्रौढ़ोंकी सच्ची राजनैतिक शिक्षा। यह शिक्षा अधिकतर मौखिक शब्दों द्वारा होगी और इन प्रौढ़ोंको देशकी महानता और विस्तारका तथा स्वतन्त्रताकी रक्षा करनेकी उनकी क्षमताका भान करायेगी। इस मौखिक शिक्षाके साथ-साथ प्रौढ़ोंको साक्षर भी वनाना चाहिए।[2] साक्षरता विकासमें सहायता देती है। इसलिए पढ़ने-लिखने और अंकगणितकी शिक्षा निरक्षर मनुष्योंकी सेवाका आवश्यक अंग है, क्योंकि उससे व्यक्ति अधिकाधिक विकासकी ओर अग्रसर होता है।[3]

गांधीजीके अनुसार देशकी भाषाओंकी उपेक्षा और अंग्रेजी भाषाके प्रेमने शिक्षित वर्गोंमें और जनतामें वड़ा अन्तर उत्पन्न कर दिया है और जनताको आधुनिक विकाससे अलग रखा है। प्रान्तीय भाषाओंकी उपेक्षा अहिंसक स्वराज्यकी स्थापनामें भी वाधक हुई है। अहिंसक स्वराज्यका अर्थ है कि

१. कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० १३।

२. कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० १३-१४।

३. मीरा: ग्लीनिंग्ज़, पृ० २०-२१।

"प्रत्यक व्यक्ति स्वतन्त्रताके आन्दोलनमें प्रत्यक्ष रूपसे भाग ले। जनता यह काम तब तक पूरी तरह नहीं कर सकती जब तक वह हरएक कदमका पूरा अर्थ न समझ ले। यह तब तक असम्भव है जब तक हरएक कदमका अर्थ उसकी भाषामें उसे न समझाया जाय।"[१] प्रान्तीय भाषाएं ही जनताकी राजनैतिक शिक्षाका माध्यम हो सकती हैं। इन भाषाओंके अतिरिक्त राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानीका भी ज्ञान और प्रचार राष्ट्रीयताको सुदृढ़ बनानेके लिए आवश्यक है।

संगठन-कार्य

रचनात्मक कार्यक्रममें मजदूरों, किसानों और विद्यार्थियोंका संगठन शामिल है। जहां तक मजदूरोंका सम्बन्ध है, गांधीजी अहमदाबादके मजदूरोंके अहिंसक संगठनको पूरे देशके लिए आदर्श मानते थे।[२] मजदूरोंमें रचनात्मक कार्य करनेवालोंका प्राथमिक उद्देश्य होना चाहिए मजदूरोंका नैतिक और बौद्धिक विकास, जिससे मजदूर न केवल अपनी आर्थिक स्थिति ही सुधारनेके योग्य बन जायं, बल्कि उत्पादनके साधनोंके दास होनेके स्थान पर उनके स्वामी बन जायं। पूंजीको मजदूरोंका स्वामी नहीं, सेवक होना चाहिए। मजदूरोंको अपने कर्तव्योंकी चेतना होनी चाहिए, जिनका पालन अधिकारोंका स्रोत है। मजदूरोंके अपने अलग संघ होने चाहिए। इन संघोंको चाहिए कि मजदूरोंकी सामान्य और वैज्ञानिक शिक्षाके लिए रात्रि-पाठशालाओंका और उनके बच्चोंके लिए बुनियादी स्कूलोंका प्रबन्ध करें। मजदूर-संघ मजदूरोंको सफल अहिंसक हड़तालके संचालनकी वैज्ञानिक शिक्षा दें। उनका यह भी कर्तव्य है कि मजदूरों, शिशुओं और माताओंके चिकित्सालयका प्रबन्ध करें।[३]

भारतवर्ष जैसे मुख्य रूपसे कृषि-प्रधान देशमें जनताका अर्थ है किसान। चम्पारन, खेड़ा, बारडोली और बोरसदके अहिंसक आन्दोलन किसानोंके संगठनका ठीक मार्ग बताते हैं। गांधीजीका मत है कि किसानोंकी शिकायतोंसे असम्बद्ध राजनैतिक प्रयोजनोंसे उनकी शक्तिका उपयोग करना शोषण है और सत्याग्रही नेताओंको उससे अलग रहना चाहिए।[४] गांधीजीका मत था कि खेतोंमें काम करनेवाले मजदूरोंको जीवन-यापनके लिए अच्छी

---

१. कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० १७।

२. मजदूरोंके संगठनके संबंधमें गांधीजीके मतके लिए देखिये अध्याय १०।

३. गांधीजीका २७–१०–'४४ का वक्तव्य।

४. कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० २२; देखिये अध्याय १०।

मजदूरी मिलनी चाहिए। वे सहकारी खेती और सहकारी पशु-पालनके पक्षमें भी थे।

गांधीजीका मत है कि विद्यार्थियोंको राजनैतिक दलोंके झगड़ोंसे, हड़तालोंसे, गुप्त और अनुचित दबाव डालनेके तरीकोंसे और साम्प्रदायिकतासे अलग रहना चाहिए। उनको चाहिए कि वे सूत कातें, खादी और घरेलू धन्धोंसे बनी चीजोंका उपयोग करें, राष्ट्रभाषा सीखें और अपनी मातृभाषाका साहित्य-भंडार भरें। उन्हें साम्प्रदायिकता और अस्पृश्यतासे दूर रहना चाहिए। उन्हें अपने जीवनको जोखिममें डालकर सांप्रदायिक दंगोंको अहिंसक आचरण द्वारा दबानेके लिए तैयार रहना चाहिए।[1]

रचनात्मक कार्यक्रमकी विस्तारकी बातें देश और कालकी परिस्थितिके अनुसार बदलती रहेंगी, किन्तु उसके बुनियादी सिद्धान्त स्थानीय या तात्कालिक नहीं हैं। इस कार्यक्रमका उद्देश्य है समाजकी अहिंसक पुनर्रचना और इसके लिए विकेन्द्रित आर्थिक संगठन, सामाजिक समता और उचित प्रकारकी शिक्षा-प्रणाली आवश्यक है।

आलोचक गांधीजीके रचनात्मक कार्यक्रमको सुधारवादी और प्रतिक्रियावादी बताते हैं। उनका कहना है कि जनताकी दशाको सुधारनेका प्रयत्न करनेके कारण यह कार्यक्रम सामाजिक असंतोषको कम कर देता है। इस प्रकार मुख्य प्रश्न टल जाता है और क्रान्ति स्थगित हो जाती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि एक गुटसे दूसरे गुटके हाथमें राजनैतिक शक्तिके हिंसक परिवर्तनको ही अक्सर क्रान्तिके अर्थमें लिया जाता है। किन्तु गांधीजी क्रांति शब्दका प्रयोग आलोचकोंकी अपेक्षा अधिक गहरे अर्थमें करते थे। क्रान्तिसे गांधीजीका अर्थ यह है कि जिन मूल्यों और प्रतीकोंसे मनुष्यके व्यवहार और सामाजिक संस्थाओंका निर्धारण होता है उनमें व्यापक परिवर्तन हो जाय। रचनात्मक कार्यक्रम इसी अहिंसक क्रांतिका जीवित अंग है। इस कार्यक्रमकी कल्पना केवल तात्कालिक आवश्यकताके अनुसार नहीं हुई है, वह आनेवाले अहिंसक राज्यका आधार भी है।

असंतोषको गहरा करनेके लिए और क्रांतिको निकट लानेके लिए जनताके कष्टोंकी उपेक्षा करनेका अर्थ है स्त्रियों और पुरुषोंको साधन-मात्र समझना। इसके अतिरिक्त, चरम निर्धनता मनुष्यकी नैतिक भावनाको दुर्बल बना देती है, उसकी साधनशीलता तथा उपक्रमको निर्जीव कर देती है और क्रांतिको निकट लानेके स्थानमें सामाजिक असंतोषकी चेतनाके व्यापक बननेमें बाधक होती है।

---

१. कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० २३–२५।

रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रहका स्फूर्तिदायी संदेश ग्रामवासियों तक पहुंचाता है, उनको स्वावलंबी बनाता है और उनमें अधिकारों और कर्तव्योंकी चेतना जाग्रत करता है। यह सब केवल भाषणों और प्रदर्शनोंसे नहीं हो सकता। यह कार्यक्रम सत्याग्रही सेनाके साधारण सिपाहीको, वास्तवमें प्रत्येक व्यक्तिको, सामाजिक पुर्ननिर्माणके कार्यमें भाग लेनेका अवसर देता है। वह अहिंसक प्रतिरोधियों और अहिंसक प्रतिरोधमें विश्वास न करनेवालोंके बीच एकता स्थापनका साधन है। उसका सार्वभौम प्रभाव इस कारणसे है कि वह जीवनके प्रत्येक क्षेत्रका व्यापक पुनर्संगठन करता है। यह महत्त्वपूर्ण है कि तीव्र आलोचनाके बावजूद भी रचनात्मक कार्यक्रमका कोई व्यावहारिक विकल्प अभी तक प्रस्तुत नहीं किया गया है।

परिशिष्ट — १

गांधीजीका आखिरी वसीयतनामा

देशका बंटवारा होते हुए भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा मुहैया किये गये साधनोंके जरिये हिन्दुस्तानको आजादी मिल जानेके कारण मौजूदा स्वरूपवाली कांग्रेसका काम अब खतम हुआ — यानी प्रचारके वाहन और धारासभाकी प्रवृत्ति चलानेवाले तंत्रके नाते उसकी उपयोगिता अब समाप्त हो गई है। शहरों और कस्बोंसे भिन्न उसके सात लाख गांवोंकी दृष्टिसे हिन्दुस्तानकी सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आजादी हासिल करना अभी बाकी है। लोकशाहीके मकसदकी तरफ हिन्दुस्तानकी प्रगतिके दरमियान फौजी सत्ता पर मुल्की सत्ताको प्रधानता देनेकी लड़ाई अनिवार्य है। कांग्रेसको हमें राजनीतिक पार्टियों और साम्प्रदायिक संस्थाओंके साथकी गन्दी होड़से बचाना चाहिये। इन और ऐसे ही दूसरे कारणोंसे अखिल भारत कांग्रेस कमेटी नीचे दिये हुए नियमोंके अनुसार अपनी मौजूदा संस्थाको तोड़ने और लोक-सेवक-संघके रूपमें प्रकट होनेका निश्चय करे। जरूरतके मुताबिक इन नियमोंमें परिवर्तन करनेका इस संघको अधिकार रहेगा।

गांववाले या गांववालोंके जैसी मनोवृत्तिवाले पांच वयस्क पुरुषों या स्त्रियोंकी बनी हुई हरएक पंचायत एक इकाई बनेगी।

पास-पासकी ऐसी हर दो पंचायतोंकी, उन्हींमें से चुने हुए एक नेताके मार्गदर्शनमें, एक काम करनेवाली पार्टी बनेगी।

जब ऐसी १०० पंचायतें बन जायें तब पहले दरजेके पचास नेता अपनेमें से दूसरे दरजेका एक नेता चुनें और इस तरह पहले दरजेका नेता दूसरे दरजेके नेताके मातहत काम करे। दो सौ पंचायतोंके ऐसे जोड़ कायम करना तब तक जारी रखा जाय, जब तक कि वे पूरे हिन्दुस्तानको अपनेमें समा न लें। और बादमें कायम की गई पंचायतोंका हरएक समूह पहले दरजेके नेताकी तरह दूसरे दरजेका नेता चुनता जाय। दूसरे दरजेके नेता सारे हिन्दुस्तानके लिए सम्मिलित रीतिसे काम करें और अपने अपने प्रदेशोंमें अलग अलग काम करें। जब जरूरत महसूस हो तब दूसरे दरजेके नेता अपनेमें से एक मुखिया चुनें, और वह मुखिया चुननेवाले चाहें तब तक सब समूहोंको व्यवस्थित करके उनका मार्गदर्शन करे।

(प्रान्तों या जिलोंकी अन्तिम रचना अभी निश्चित न होनेसे सेवकोंके इस समूहको प्रान्तीय या जिला समितियोंमें बांटनेकी कोशिश नहीं की गई है। और, किसी भी समय बनाये हुए समूह या समूहोंको सारे हिन्दुस्तानमें काम करनेका अधिकार रहेगा। यह याद रखा जाय कि सेवकोंके इस समुदायको

अधिकार या सत्ता अपने उन स्वामियोंसे यानी सारे हिन्दुस्तानकी प्रजासे मिलती है, जिसकी उन्होंने अपनी इच्छासे और समझदारीसे सेवा की है।)

१. हरएक सेवक अपने हाथकते सूतकी या चरखा-संघ द्वारा प्रमाणित खादी हमेशा पहननेवाला और नशीली चीजोंसे दूर रहनेवाला होना चाहिये। अगर वह हिन्दू है तो उसे अपने भीतरसे और अपने परिवारमें से हर किस्मकी छुआछूत दूर करनी चाहिये और जातियोंके बीच एकताके, सब धर्मोंके प्रति समभावके और जाति, धर्म या स्त्री-पुरुषके भेदभावके बिना सबके लिए समान अवसर और समान दरजेके आदर्शमें विश्वास रखनेवाला होना चाहिये।

२. अपने कार्यक्षेत्रमें उसे हरएक गांववालेके व्यक्तिगत संसर्गमें रहना चाहिये।

३. गांववालोंमें से वह कार्यकर्ता चुनेगा और उन्हें तालीम देगा। इन सबका वह एक रजिस्टर रखेगा।

४. वह अपने प्रतिदिनके कामका रेकार्ड रखेगा।

५. वह गांवोंको इस तरह संगठित करेगा कि वे अपनी खेती और गृह-उद्योगों द्वारा स्वयंपूर्ण और स्वावलंबी बनें।

६. गांववालोंको वह सफाई और आरोग्यकी तालीम देगा और उनकी बीमारी व रोगोंको रोकनेके लिए सारे उपाय काममें लायेगा।

७. हिन्दुस्तानी तालीमी संघकी नीतिके अनुसार नई तालीमके आधार पर वह गांववालोंकी जन्मसे मृत्यु तककी सारी शिक्षाका प्रबंध करेगा।

८. जिनके नाम मतदाताओंकी सरकारी यादीमें न आ पाये हों, उनके नाम वह उसमें दर्ज करायेगा।

९. जिन्होंने मत देनेके अधिकारके लिए जरूरी योग्यता प्राप्त न की हो, उन्हें वह ऐसी योग्यता प्राप्त करनेके लिए प्रोत्साहन देगा।

१०. ऊपर बताये हुए और समय-समय पर बढ़ाये हुए उद्देश्योंको पूरा करनेके लिए, योग्य कर्तव्य पालन करनेकी दृष्टिसे, संघके द्वारा तैयार किये गये नियमोंके अनुसार वह स्वयं तालीम लेगा और योग्य बनेगा।

संघ नीचेकी स्वाधीन संस्थाओंको मान्यता देगा :

१. अखिल भारत चरखा-संघ

२. अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ

३. हिन्दुस्तानी तालीमी संघ

४. हरिजन-सेवक-संघ

५. गोसेवा-संघ

संघ अपना मकसद पूरा करनेके लिए गांववालोंसे और दूसरोंसे चंदा लेगा। गरीब लोगोंका पैसा इकट्ठा करने पर खास जोर दिया जायगा।

हरिजनसेवक, २२–२–'४८

स्वयंसेवककी प्रतिज्ञा

सन् १९२१ में गांधीजीने नीचे लिखा प्रतिज्ञापत्र तैयार किया था।

"ईश्वरको साक्षी रखकर मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि:

१. मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक-दलका सदस्य होना चाहता हूं।

२. जब तक मैं दलका सदस्य रहूंगा तब तक वचन और कर्ममें अहिंसक रहूंगा और इस बातका अत्यंत प्रयत्न करूंगा कि मनसे भी मैं अहिंसक रहूं, क्योंकि मेरा विश्वास है कि अहिंसासे ही भारतवर्षकी वर्तमान परिस्थितिमें खिलाफत और पंजाबको सहायता मिल सकती है और स्वराज्य स्थापित हो सकता है और भारतवर्षकी सब जातियोंमें — चाहे वे हिंदू हों, मुसलमान हों, सिख, पारसी, ईसाई या यहूदी हों — एकता स्थापित हो सकती है।

३. मुझे ऐसी एकतामें विश्वास है और मैं उसकी उन्नतिके लिए सदैव प्रयत्न करता रहूंगा।

४. मेरा विश्वास है कि भारतवर्षके आर्थिक, राजनैतिक और नैतिक उद्धारके लिए स्वदेशी आवश्यक है और मैं दूसरी तरहके सब कपड़ोंको छोड़कर केवल हाथ-कते और हाथ-बुने खद्दरका ही इस्तेमाल करूंगा।

५. हिन्दू होनेकी हैसियतसे मैं अस्पृश्यताको दूर करनेकी न्यायपरता और आवश्यकतामें विश्वास करता हूं और प्रत्येक सम्भव अवसर पर मैं दलित लोगोंके साथ व्यक्तिगत संपर्क रखूंगा और उनकी सेवा करनेका प्रयत्न करूंगा।

६. मैं अपने बड़े अफसरोंकी आज्ञाओं और स्वयंसेवक-दलकी कार्य-समिति या कांग्रेस द्वारा स्थापित दूसरी संस्थाओंके उन सब नियमोंका पालन करूंगा, जो इस प्रतिज्ञापत्रके प्रतिकूल न होंगे।

७. मैं अपने धर्म और देशके लिए बिना विरोधके जेल जाने, आघात सहने और मरने तकको तैयार हूं।

८. अगर मैं जेल जाऊं तो अपने कुटुम्बियों या आश्रितोंकी सहायताके लिए कांग्रेससे कुछ न मांगूंगा।"

सन् १९३० में गांधीजीने इस प्रतिज्ञापत्रमें दिये हुए अनुशासनको नीचेके १९ नियमोंका विस्तृत रूप दिया था:

व्यक्तिकी हैसियतसे

"१. सत्याग्रही या अहिंसक प्रतिरोध करनेवाला क्रोधको स्थान न देगा।

२. वह विरोधीके क्रोधको सहेगा।

३. ऐसा करनेमें वह विरोधीके आघातको भी सहेगा, बदला कभी न लेगा। लेकिन सजाके या ऐसे ही किसी और डरसे क्रोधपूर्वक दी हुई किसी आज्ञाका पालन न करेगा।

४. यदि कोई अधिकारी सत्याग्रहीको गिरफ्तार करनेका प्रयत्न करेगा, तो वह स्वेच्छासे गिरफ्तार हो जायगा; और यदि उसकी कोई निजी सम्पत्ति जब्त की जा रही हो, तो उसकी कुर्की या हटाये जानेका वह विरोध न करेगा।

५. यदि किसी सम्पत्ति पर सत्याग्रहीका संरक्षक या ट्रस्टीकी हैसियतसे अधिकार है, तो वह उसे समर्पण करनेसे इनकार करेगा — चाहे उसकी रक्षामें उसे अपनी जान भी दे देनी पड़े। लेकिन वह वदला कभी न लेगा।

६. वदला न लेनेमें विरोधीको न कोसने या शाप न देनेकी वात भी शामिल है।

७. इसलिए सत्याग्रही अपने विरोधीको कभी असम्मानित न करेगा; और इसीलिए वह ऐसे वहुतसे नए नारे लगानेमें — जो अहिंसाकी भावनाके प्रतिकूल हैं — भाग न लेगा।

८. सत्याग्रही यूनियन जैक (अंग्रेजी झंडे) को अभिवादन न करेगा, न वह उसको या अंग्रेजी अथवा हिन्दुस्तानी अफसरोंको असम्मानित करेगा।

९. संघर्षके बीचमें यदि कोई किसी अफसरको असम्मानित करेगा या उस पर हमला करेगा, तो सत्याग्रही अपनी जानको जोखिममें डालकर भी ऐसे अफसर या अफसरोंकी असम्मान या हमलेसे रक्षा करेगा।

कैदीकी हैसियतसे

१०. सत्याग्रही जेलखानेके अफसरोंके प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार करेगा और जेलके ऐसे सारे अनुशासनको, जो कि आत्म-सम्मानके विरुद्ध नहीं है, मानेगा। वह जेलके अनुशासनके अनुसार अफसरोंका अभिवादन करेगा, लेकिन आत्म-सम्मान पर आघात करनेवाले काम न करेगा और सरकारकी जय बोलनेसे इनकार कर देगा। वह सफाईसे बना हुआ और सफाईसे परोसा हुआ खाना — जो उसके धर्मके विरुद्ध नहीं है — खायेगा और अपमानपूर्वक परोसा हुआ या गंदे वर्तनोंमें परोसा हुआ खाना खानेसे इनकार कर देगा।

११. सत्याग्रही साधारण कैदीमें और अपनेमें कोई भेद न करेगा और अपनेको दूसरोंसे भिन्न न समझेगा; और न ऐसी सुविधाओंकी मांग करेगा, जो उसके शरीरको स्वस्थ और अच्छी दशामें रखनेके लिए आवश्यक नहीं हैं। उसको ऐसी सुविधाएं मांगनेका अधिकार है, जो उसकी शारीरिक और आध्यात्मिक भलाईके लिए आवश्यक हैं।

१२. सत्याग्रही ऐसी सुविधाओंकी कमीके कारण उपवास न करेगा, जिनसे वंचित होनेसे आत्म-सम्मानको आघात नहीं पहुंचता।

इकाईकी हैसियतसे

१३. सत्याग्रही (स्वयंसेवक) दलके नेता द्वारा दी हुई आज्ञाओंका प्रसन्नतासे पालन करेगा, चाहे वे (आज्ञाएं) उसे अच्छी लगें या न लगें।

१४. वह पहले तो सब आज्ञाओंका पालन करेगा, चाहे वे उसे अपमानजनक, द्वेषपूर्ण और मूर्खतापूर्ण ही क्यों न मालूम पड़ें, और बादमें उच्चतर अधिकारीसे अपील करेगा। दलका सदस्य बननेके पहिले उसे अपने संतोषके लिए दलकी योग्यताका निश्चय करनेकी स्वतन्त्रता है; लेकिन उसमें संमिलित होनेके बाद उसके अनुशासनको — चाहे वह कष्टकर हो या न हो — मानना उसका कर्तव्य हो जाता है। यदि सदस्यको दलकी समग्र शक्ति अनुचित या अनैतिक मालूम हो, तो उसे अधिकार है कि उससे अपना संबंध तोड़ दे, लेकिन उसके अन्दर रहकर उसके अनुशासनकी अवज्ञा करनेका उसे अधिकार नहीं है।

१५. कोई सत्याग्रही अपने आश्रितोंके भरण-पोषणकी आशा न करेगा। यदि ऐसा प्रबंध हो जाय तो यह आकस्मिक होगा। सत्याग्रही अपने आश्रितोंको ईश्वरकी रक्षाके भरोसे छोड़ता है। साधारण युद्धमें भी, जिसमें लाखों मनुष्य भाग लेते हैं, वे पहलेसे कोई प्रबंध नहीं कर पाते। तब सत्याग्रहमें यह बात अपेक्षाकृत कितनी अधिक होगी? यह सार्वभौम अनुभव है कि ऐसे समयमें शायद ही कोई भूखों मरता है।

साम्प्रदायिक झगड़ोंमें

१६. कोई सत्याग्रही जान-बूझकर साम्प्रदायिक लड़ाइयोंका कारण न बनेगा।

१७. ऐसा दंगा प्रारंभ होने पर वह किसी संप्रदायकी तरफदारी न करेगा, बल्कि उस पक्षकी सहायता करेगा जिसकी बात निश्चित रूपसे सही है। हिन्दू होनेकी हैसियतसे वह मुसलमानों और दूसरे मतवालोंके प्रति उदार रहेगा, और जो हिन्दू नहीं हैं उनको हिन्दुओंके हमलेसे बचानेके प्रयत्नमें अपनेको बलिदान कर देगा। और यदि हमला दूसरे पक्षसे हो तो वह बदला लेनेमें भाग न लेगा, बल्कि हिन्दुओंको बचानेमें अपनी जान दे देगा।

१८. वह यथाशक्ति ऐसे सब अवसरोंसे बचेगा, जो साम्प्रदायिक दंगोंका कारण हो सकते हैं।

१९. यदि सत्याग्रहियोंका जुलूस निकलता है तो वे ऐसी कोई बात न करेंगे, जिससे किसी संप्रदायकी धार्मिक भावनाको आघात पहुंचे, और वे किन्हीं दूसरे जुलूसोंमें — जिनसे ऐसी भावनाओं पर आघात पहुंचनेकी संभावना है — भाग न लेंगे।"

९

सामूहिक सत्याग्रह – २

प्रतिरोध-पद्धति

कभी-कभी सामूहिक झगड़ोंका होना अनिवार्य है। यदि अन्य शान्तिपूर्ण उपाय सफल न हों, तो इनका निपटारा सामूहिक अहिंसक प्रतिरोध द्वारा होना चाहिए। यद्यपि सत्याग्रहके प्रयोगके लिए सभी समय और सभी स्थान उपयुक्त हैं, लेकिन अहिंसक प्रतिरोधके बारेमें यह बात नहीं कही जा सकती। गांधीजीके शब्दोंमें, "सविनय अवज्ञा जीवनका नियम नहीं है; सत्याग्रह है। सत्याग्रह कभी नहीं रुकता; सविनय अवज्ञा, जब उसके लिए उपयुक्त अवसर न हो, रुक सकती है और रुक जानी चाहिए।"[१] अहिंसक प्रतिरोधको प्रारंभ करने और चालू रखनेके लिए बाह्य और आन्तरिक दशा, अर्थात् विपक्षी और सत्याग्रहीकी दशा अनुकूल होनी चाहिए।

अवसर

अहिंसक प्रतिरोध रक्तपात और विनाशकी साधारण लड़ाई नहीं है। वह नैतिक लड़ाई है, जिसमें साधारण युद्ध-प्रक्रिया परिवर्तित हो जाती है और संघर्ष ऊंचे नैतिक स्तर पर होता है। उसका उद्देश्य है विपक्षीका हृदय-परिवर्तन, न कि बल-प्रयोग; उसकी सेवा और उसका सुधार, न कि उसकी हार और उसका विनाश। इसलिए जब विपक्षी संकटमें हो, विशेष रूपसे जब संकट उसके लिए जीवन-मरणका प्रश्न हो तब अहिंसक प्रतिरोधका प्रयोग न करना चाहिए। गांधीजीके शब्दोंमें, "हमें संकटमें पड़े विपक्षीको परेशान न करना चाहिए और उसके संकटको अपना सुअवसर न बनाना चाहिए।"[१]

परेशान न करने पर बल देनेका कारण यह है कि विपक्षीके संकटसे लाभ उठानेसे उसकी सहानुभूति जाती रहती है और वह क्रुद्ध होकर बदलेकी बात सोचता है। वह ऐसा महसूस करता है कि अहिंसा उसे हानि पहुंचानेका आवरणमात्र है, और उसका हृदय-परिवर्तन कठिन हो जाता है। इसलिए विपक्षीके हृदयको प्रभावित करनेके लिए उद्देश्य यह होना चाहिए कि उसको परेशान न किया जाय। जहां उद्देश्य विपक्षीको परेशान करना होता है, वहां आन्दोलन सत्याग्रह नहीं किन्तु निष्क्रिय प्रतिरोध होता है।[२]

---

१. ह०, ६-१-'४०, पृ० ४०४।

२. चन्द्रशंकर शुक्ल: कन्वर्सेशन्स ऑफ गांधीजी, पृ० ९३।

गांधीजीका यह भी विश्वास था कि सत्याग्रहीको कोई ऐसी बात न करनी चाहिए, जिससे विपक्षीकी पाशविकता बढ़े और उसकी नैतिक भावना कुंठित हो जाये। इसका यह अर्थ नहीं कि सविनय अवज्ञाको केवल इस कारण स्थगित कर देना चाहिए कि विरोधीके अत्याचारकी तीव्रता और उसकी पाशविकता बढ़ रही है।[1] वास्तवमें यदि इस कारणसे सत्याग्रहको स्थगित करना अनिवार्य सिद्धान्त होता, तो सत्याग्रहमें बड़ी कमी होती; और इस सिद्धान्तके कारण अहिंसक प्रतिरोधको स्थगित करानेके उद्देश्यसे विपक्षीको पाशविक होनेका बड़ा प्रलोभन मिलता।

इस प्रकार सन् १९३० में जब सरकारने सत्याग्रह आंदोलनको दबानेके लिए आतंकपूर्ण अत्याचार शुरू किया, तो गांधीजीने महसूस किया कि सरकारके पाशविक दमनका सामना करनेका ठीक रास्ता सविनय अवज्ञाको और तीव्र कर देना, उसको और व्यापक बना देना और इस प्रकार सत्ताकी भयंकरताका पूरा प्रदर्शन करनेके लिए सरकारका आह्वान करना है। "क्योंकि सत्याग्रह-विज्ञानके अनुसार जितना अधिक सत्ताधारीका दमन और उसके अवैध कार्य हों, उतना ही अधिक सत्याग्रहीको कष्टोंको आमन्त्रित करना चाहिए। स्वेच्छापूर्वक सहे गये तीव्रतम कष्टका निश्चित परिणाम सफलता है।"[2]

परेशान न करनेकी उत्सुकताका दुरुपयोग करके विपक्षी सत्याग्रहीको हानि पहुंचानेका प्रयत्न कर सकता है। लेकिन सत्याग्रहीको चाहिए कि वह आत्म-नियंत्रणका अभ्यास आत्म-विनाश या घातक आत्म-दमनकी सीमा तक न करे, क्योंकि इस प्रकार सद्गुण दुर्गुण बन जाता है।[3] यदि विरोधी सत्याग्रहीके परेशान न करनेके प्रयत्नका दुरुपयोग करे, तो सत्याग्रही समुदायका यह स्पष्ट कर्तव्य है कि वह आक्रमणकारी विरोधीका अहिंसक प्रतिरोध करे और अपनी

---

१. ह०, १०–६–'३९, पृ० १५९।

२. 'हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस' में पृ० ६६५ पर उद्धृत। सन् १९३९ में निःसंदेह गांधीजीने यह सलाह दी थी कि कुछ देशी राज्योंमें, जहां सत्ताधारी पाशविक होते जा रहे थे, सत्याग्रह स्थगित कर दिया जाय। लेकिन इसका एक कारण था सत्याग्रहियोंकी अहिंसाकी अपर्याप्त शिक्षा और दूसरा कारण था गांधीजीके लिए शांत वातावरणकी आवश्यकता, जिसमें वे सोच-विचार कर सविनय अवज्ञा पद्धतिको अधिक प्रभावशाली और गत्यात्मक बनानेके लिए उसका नव-संस्कार कर सकें। यदि सत्याग्रहियोंका अनुशासन पर्याप्त होता, तो संभवतः गांधीजीने सत्याग्रह स्थगित करनेकी सलाह न दी होती। ह०, १०–६–'३९, पृ० १५९।

३. ह०, २२–९–'४०, पृ० २९०।

रक्षा करे। गांधीजी लिखते हैं, "जब विरोधी हमारा अपमान करे तो बचावके लिए सविनय अवज्ञा हमारा कर्तव्य हो जाता है। उस कर्तव्यका तो पालन करना ही होगा, चाहे विरोधी संकटमें हो या न हो।"[१]

संक्षेपमें, जब विरोधी संकटमें हो तो जो नैतिक दृष्टिसे आवश्यक है उसे करना सत्याग्रहीका कर्तव्य है, यद्यपि उसे ऐसे कार्यसे बचना चाहिए जो नैतिक दृष्टिसे अनुचित तो नहीं है, पर जिससे विरोधी परेशान हो जाय।[१]

सत्याग्रहीके लिए बाह्य स्थितिकी अपेक्षा उसकी आन्तरिक स्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण है। गांधीजीके शब्दोंमें, "बाह्य कठिनाइयोंसे डरनेकी सत्याग्रहीको आवश्यकता नहीं। इसके विपरीत, वह बाह्य कठिनाइयों पर पनपता और उनका जोरोंसे सामना करता है।"[२]

जहां तक संतोषजनक आन्तरिक स्थितिका सम्बन्ध है, सत्याग्रही समुदायका अनुशासन अच्छा होना चाहिए। पिछले अध्यायमें हम पर्याप्त अनुशासनके अर्थका अध्ययन कर चुके हैं। विशेष रूपसे सत्याग्रहियोंको रचनात्मक कार्यक्रम पूरा करनेमें सच्ची रुचि होनी चाहिए। इस रचनात्मक सेवा द्वारा उन्हें जनताके हिंसक तत्त्वों पर इस प्रकारका नियन्त्रण प्राप्त कर लेना चाहिए कि जब तक अहिंसक प्रतिरोध चलता रहे वे कम-से-कम निष्क्रिय रूपसे अहिंसक रहें। इसके अतिरिक्त, सत्याग्रहियोंको नेतामें ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए कि वे उसकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करें और उसका पालन करें। सत्याग्रही सेनाकी "तैयारी इतनी अच्छी होनी चाहिए कि लड़ाई अनावश्यक हो जाय।"[३]

पूरी तैयारीका चिह्न यह है कि सत्याग्रह-संघर्षको स्थगित कर देनेसे सत्याग्रहियोंमें निराशा और दुर्बलता न पैदा हो।[३] यदि सत्याग्रही तैयार भी हों और सेनापति भूलसे उसको स्थगित करनेकी आज्ञा दे, तब भी आन्दोलन पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़ना चाहिए; क्योंकि "यदि सविनय अवज्ञाके स्थगित करनेका परिणाम तीव्र दमनमें आये, तो वह आदर्श प्रकारका सत्याग्रह बन जायगा।"[४] दूसरी ओर यदि संघर्ष स्थगित होनेसे सत्याग्रही समुदायके स्वयंसेवकोंका अहिंसामें विश्वास न रह जाय और वे अपनी सदस्यता छोड़ दें, तो स्पष्ट है कि सदस्यता छोड़ देनेवाले अधूरे सत्याग्रही थे और उनकी अनुपस्थिति आन्दोलनके लिए लाभप्रद होगी।[५]

---

१. ह०, ६–१–'४०, पृ० ४०४।

२. ह०, ३०–३–'४०, पृ० ६९।

३. ह०, २–१२–'३९, पृ० ३६१।

४. ह०, ३–६–'३९, पृ० १४७।

५. ह०, १–४–'३९, पृ० ७२।

लेकिन यदि युद्धके स्थगित होनेसे सत्याग्रही निराशापूर्ण न हो जायं, तो यह इस बातका निश्चित चिह्न है कि उन्होंने सत्याग्रहके संदेशको समझ लिया है और अपना लिया है।[१]

इतनी सावधानीके होते हुए भी सामूहिक सत्याग्रह एक खतरनाक प्रयोग है। उसमें इस बातका सदा खतरा रहता है कि जनतामें हिंसाकी आग भभक उठे। लेकिन इसके विपरीत नेताको एक और भी बड़े खतरेको ध्यानमें रखना पड़ता है — वह है यह निश्चितता कि घोर अन्याय दूर करनेके सक्षम अहिंसक उपायके अभावमें जनताका क्रोध हिंसामें परिवर्तित हो जायगा या उसका नैतिक अवःपतन होगा।[२] दूसरा परिणाम पहलेसे भी अधिक बुरा होगा। अहिंसक प्रतिरोध इस हिंसासे बचाता है, क्योंकि उसके द्वारा जनता अपनी भावनाओंको इस प्रकार प्रकट कर सकती है कि अन्यायी अन्यायको छोड़ देने पर विवश हो जाय। इस प्रकार सत्याग्रही समुदायकी आन्तरिक कम-जोरियोंके होते हुए भी अक्सर विपक्षीके अनैतिक कार्योंका प्रतिरोध करना कर्तव्य हो जाता है। प्रतिकूल परिस्थितिमें भी इस अनिवार्य आवश्यकता पर जोर देते हुए गांधीजीने एक बार लिखा था, "यदि कांग्रेसको उसके (सविनय अवज्ञाके) लिए विवश होना पड़ा, तो सत्याग्रह-विज्ञानमें आन्तरिक कमजोरीके होते हुए भी प्रयोग-विधिका अभाव नहीं है।"[३] इसी प्रकार सन् १९३० में गांधीजीने कहा था कि हिंसापूर्ण वातावरणमें अहिंसाके लिए कोई अवकाश नहीं है, इस तर्क पर इतना अधिक जोर दिया जा सकता है कि अहिंसा नितान्त अव्यवहार्य हो जाय। यदि हिंसापूर्ण वातावरणमें भी सविनय अवज्ञाका प्रयोग करना है, "तो उसका पर्याप्त नियन्त्रणों द्वारा बचाव करना होगा। सत्याग्रहमें महत्त्व संख्याका नहीं वरन् गुणका है और यह बात उस अवस्थामें और भी अधिक लागू होती है जब हिंसा चरम सीमा पर हो।"[४]

इस बातका निर्णय सेनापति करता है कि अहिंसक प्रतिरोधके प्रारम्भके लिए अवसर अनुकूल है या नहीं। उसका निर्णय संघर्षके कारणके औचित्य पर और सत्याग्रहियोंकी तैयारी पर आधारित होता है। जब तक उसकी तैयारी अपूर्ण है तब तक न तो उसे विरोधीका दबाव, दमन तथा अत्याचार और न अनुगामियोंका शोरगुल ठीक समयसे पूर्व संघर्ष शुरू करनेके लिए विवश कर सकता है। इस प्रकार सत्याग्रही सेनापति संघर्षके कारण और समयके

१. स्पीचेज, ५०९।
२. स्पीचेज, पृ० ५०९; ह० १-७-'३९, पृ० १८२।
३. ह०, ४-८-'४०, पृ० २३४।
४. ह० २५-३-'३९, पृ० ६४।

औचित्यका निर्णय स्वयं करता है। संघर्षका उपक्रम सत्याग्रही सेनापति अपने हाथमें रखता है और उसे विपक्षीके हाथमें कभी नहीं जाने देता।[1]

स्थगित करनेका निर्णय

यदि नेतासे कोई भूल हो जाती है या अहिंसाकी ठीक भावनाका सत्याग्रहियोंमें और समाजमें अभाव होता है और अनुशासनके ढीले हो जानेकी सम्भावना होती है, तो वह पीछे हट जाता है और प्रतिरोधको स्थगित कर देता है।[2] सन् १९३८ में गांधीजीने लिखा था, "बुद्धिमान सेनापति पराजित होने तक प्रतीक्षा नहीं करता रहता; वह ठीक समय पर उस मोर्चेसे सुव्यवस्थित रीतिसे पीछे हट आता है, जिस पर वह जानता है कि अपना अधिकार वह नहीं रख सकेगा।"[3] गांधीजीके अहमदाबाद (१९१९), बारडोली (१९२१) और पटना (१९३४) के निर्णय संघर्षको स्थगित करनेके दृष्टान्त हैं।[4] पटनाके निर्णय द्वारा सविनय अवज्ञा गांधीजीके

---

१. ह०, २७–५–'३९, पृ० १४३।

२. सन् १९२२ में गांधीजीकी राय थी कि सविनय अवज्ञा केवल राजनैतिक हिंसाके कारण रोकी जा सकती है, अराजनैतिक हिंसाके कारण नहीं। लेकिन सन् १९३० में वे नरम पड़ गये और उन्होंने कहा कि इस बार सविनय अवज्ञा हिंसाके होते हुए भी चलती रहेगी। निस्सन्देह वीरकी अहिंसा अधिक-से-अधिक हिंसाको भी बेकार बना सकती है। लेकिन कांग्रेसकी अहिंसा केवल एक कामचलाऊ नीति थी। सन् १९३४ के बाद उनका मापदंड फिर ऊंचा हो गया और उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हिंसाका अभाव सविनय अवज्ञाको प्रारम्भ करने और उसको चालू रखनेकी आवश्यक शर्त है। लेकिन हिंसा ऐसी व्यक्तिगत सविनय अवज्ञाको नहीं रोक सकती, जिसका प्रारम्भ बचावके लिए हुआ हो। देखिये यं० इं०, भाग–१, पृ० २९२; यं० इं०, २३–१–'३०; हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० ६४५; ह०, २–१२–'३९, पृ० ३६१ और ३०–३–'४०, पृ० ६९।

३. ह०, २२–१०–'३८, पृ० ३०४।

४. सन् १९१९ में गांधीजीने अहिंसक प्रतिरोधको नड़ियाद और अहमदाबादकी हिंसाके कारण रोक दिया था। इसी प्रकार बारडोलीका निर्णय चौरी-चौराकी हिंसाके कारण हुआ था, जिसके पहले राजनैतिक हिंसाकी और भी घटनाएं हो चुकी थीं। इसके अतिरिक्त सन् १९२१ में हिंसा बढ़-सी रही थी और सत्याग्रहियोंका अनुशासन अपर्याप्त था। किन्तु सन् १९२५ में गांधीजीने लिखा था कि उन्होंने जब जब सविनय आज्ञाभंग स्थगित किया था तब उसका कारण केवल हिंसा नहीं थी, बल्कि ऐसी

अतिरिक्त और सबके लिए स्थगित कर दी गयी थी। याद रखना चाहिये कि सविनय अवज्ञाको स्थगित करनेसे सत्याग्रह रुक नहीं जाता। उससे केवल सत्याग्रही सेना रुकावटोंको दूर करनेके निषेधात्मक कार्यसे हटकर रचनात्मक कार्यमें लग जाती है। स्थगित कर देनेका अर्थ यह है कि नेता सत्याग्रही सेनाको, अधिक संतोषजनक तैयारीके लिए, युद्ध-योजनाके अनुसार पीछे हटा लेता है।

प्रतिरोधका कारण

अहिंसक प्रतिरोधका प्रयोग केवल लोक-कल्याणके लिए हो सकता है, अनैतिक प्रयोजनोंके लिए कभी नहीं हो सकता। उदाहरणके लिए, उसका प्रयोग किसी दूसरे देशको जीतनेके लिए या साम्राज्य स्थापित करनेके लिए नहीं हो सकता।

समाजकी कोई महत्त्वपूर्ण शिकायत ही प्रतिरोधका उचित कारण हो सकती है। यह शिकायत जहां तक सम्भव हो सीधी-सादी और सुनिश्चित होनी चाहिए, न कि जटिल और कठिनतासे समझी जा सकनेवाली। प्रतिरोधके प्रेरक हेतुको दूसरे प्रेरक हेतुओंके साथ मिलाना सत्याग्रहको हानि पहुंचाता है, इसलिए संघर्षका कारण किसी अन्य प्रयोजनकी सिद्धिका आवरणमात्र न होना चाहिए।[1] गांधीजीकी यह भी राय थी कि सत्याग्रही समुदायको ऐसी अल्पतम मांगोंके लिए लड़ना चाहिए, जिनमें और कमी नहीं की जा सकती। उनके अनुसार सत्याग्रहीके लिए यह अल्पतम ही अधिकतम है।[2] सत्याग्रहीकी मांग ऐसी होनी चाहिए, जिसे स्वीकार कर लेना विपक्षीकी शक्तिमें हो।[3]

हिंसा थी जिसे कांग्रेसके सदस्योंने प्रारंभ किया था या प्रोत्साहन दिया था। पटनाके १९३४ के निर्णयका कारण यह था कि सविनय अवज्ञाका आंदोलन, जो दुर्बलताकी अहिंसा पर आधारित था, सरकारी दमनके कारण दुर्बल हो गया था। इसलिए गांधीजीने सत्याग्रहके प्रवर्तककी हैसियतसे कांग्रेसके सदस्योंको यह सलाह दी कि सविनय अवज्ञा स्थगित कर दी जाय, स्वराज्य-प्राप्तिके उद्देश्यसे उसके प्रयोगका अधिकार केवल गांधीजीको रहे और भविष्यमें गांधीजीके जीवन-कालमें दूसरे लोग इस उद्देश्यसे उसका प्रयोग केवल उनकी आज्ञानुसार ही करें। किन्तु विशिष्ट शिकायतोंके विरुद्ध सविनय अवज्ञाका प्रयोग यथापूर्व हो सकता था। यं० इं०, २९–१०–'२५; चन्द्रशंकर शुक्ल: कन्वर्सेशन्स ऑफ गांधीजी, पृ० ४६ और ४८।

१. ह०, २७–५–'४०, पृ० १४४।

२. दक्षिण अफ्रीका (उत्तरार्ध), पृ० १९९।

३. कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० २६।

अपने सभी सविनय अवज्ञाके आन्दोलनोंमें गांधीजीने इस बातका बहुत ध्यान रखा कि लोग आन्दोलनके कारणको उससे भिन्न कोई वस्तु न समझ बैठें। दक्षिण अफ्रीकामें उन्होंने यूरोपियन हड़तालियोंके साथ, जिनकी हड़ताल अहिंसक नहीं थी, अपने आन्दोलनको मिला देनेसे इनकार कर दिया था। वास्तवमें उन्होंने अपनी सत्याग्रही हड़तालको इसलिए रोक दिया था कि कहीं भ्रमसे यह न समझ लिया जाय कि सत्याग्रहियोंमें और गोरे हड़तालियोंमें समझौता हो गया है। चम्पारनमें भी उन्होंने इस बातका ध्यान रखा कि वहांके मामलेको राजनैतिक और राष्ट्रीय रूप न दिया जाय।

गांधीजीके विभिन्न अहिंसक आंदोलन मांगको सीमित रखनेके अर्थात् मर्यादित उद्देश्यके और उसको सुनिश्चित तथा स्पष्ट रखनेके भी उदाहरण हैं। स्थानीय संघर्षोंका कारण तो सुनिश्चित और स्पष्ट होता ही है, लेकिन राष्ट्रीय अहिंसक आन्दोलनोंमें भी गांधीजीने इस सिद्धान्तको महत्त्व दिया। पहला आन्दोलन पंजाब और खिलाफतके अन्यायोंको दूर करनेके लिए था, यद्यपि सन् १९२० में श्री सी० विजयराघवाचार्य और पं० मोतीलाल नेहरूके कहनेसे मांगोंमें स्वराज्यको भी सम्मिलित कर लिया गया था।[1] इसी तरह सन् १९३०–३४ के दूसरे आन्दोलनमें भी, जिसके बारेमें गांधीजीको आशा थी कि वह पूर्ण स्वतंत्रताका अन्तिम संघर्ष होगा, उन्होंने स्वराज्यकी मांगको ११ शर्तोंका रूप दिया था। पं० मोतीलाल नेहरूने पहले तो गांधीजीकी आलोचना की कि उन्होंने राष्ट्रीय मांगको नीचा कर दिया है, लेकिन उन्होंने शीघ्र महसूस किया कि ११ शर्तोंके मान लिये जानेका अर्थ होगा स्वराज्यका सार मिल जाना। सन् १९४०–४१ का सत्याग्रह आन्दोलन गांधीजीने स्वतंत्र भाषणके अधिकारकी रक्षाके लिए चलाया था और इस अधिकारको वे स्वराज्यकी आधार-शिला, उसका बीज कहते थे।[2] इस आन्दोलनके कारणके बारेमें वे लिखते हैं, "यह अधिकार एक मूर्त विषय है, जिसकी परिभाषा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। वह स्वतन्त्रताका आधार है, विशेष रूपसे जब उस स्वतन्त्रताको अहिंसक रीतिसे जीतना है। उसको समर्पण कर देना स्वतन्त्रताको प्राप्त करनेके एकमात्र साधनको समर्पण कर देना है।" इसका अर्थ यह नहीं कि स्वराज्यकी मांग अहिंसक संघर्षका न्यायोचित विषय नहीं हो सकती, लेकिन गांधीजी यथा-संभव इस मांगको स्पष्ट सुनिश्चित शब्दोंमें रखनेके पक्षमें थे। अखिल भारत कांग्रेस कमेटीके ८ अगस्त, १९४२ के प्रस्तावने भी स्वतन्त्रताकी

---

१. आत्मकथा, भाग–५, अ० ४२।

२. ह०, २२–८–'४०, पृ० २९१।

मांगको युद्धके खतरेके स्पष्ट संदर्भमें रखा था। इस प्रस्तावकी मांग थी कि अंग्रेजी सत्ता भारतवर्षसे तात्कालिक आवश्यकताके कारण तुरन्त हट जाय, क्योंकि "उस शासनका चालू रहना भारतवर्षको नीचे गिराता है, दुर्बल बनाता है और अपनी रक्षाके लिए तथा संसारकी स्वतंत्रतामें सहायक होनेके लिए क्रमशः उसकी क्षमताको कम करता है।" प्रस्तावके अनुसार अंग्रेजी आधिपत्यका अन्त स्वतन्त्रता और जनतन्त्रकी सफलताके लिए आवश्यक था, क्योंकि केवल स्वतन्त्र भारत ही अपनी रक्षा कर सकता था और चीन तथा रूसको उनकी आवश्यकताके समय सहायता दे सकता था।[1]

देशी राज्योंमें सत्याग्रह आन्दोलनके नेताओंको भी वे इसी तरहकी राय देते थे। उदाहरणके लिए, सन् १९३९ में उन्होंने त्रावणकोर कांग्रेसके नेताको यह राय दी थी कि वे उस समय स्वराज्यकी बातको भुला दें, और राज्य-प्रबन्धकी विस्तारकी बातों पर ध्यान एकाग्र करें और जनताके प्राथमिक अधिकारोंके लिए लड़ें। गांधीजीने कहा था, "अधिकारियोंको उससे डर नहीं लगेगा और आपको उत्तरदायी शासनका सार प्राप्त हो जायगा।"[2]

कभी-कभी आलोचक गांधीजीकी इस नीतिकी आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि मूर्त, विशिष्ट अन्याय-विशेष एक गम्भीर रोगके लक्षण हैं। उन लक्षणोंको पृथक् करना और अलग अलग उनको दूर करनेका प्रयत्न करना जनहितकी उपेक्षा करना है; क्योंकि ऐसा करनेसे जनता वास्तविक उद्देश्यको भुला बैठती है।

गांधीजीके मतका उनके मूलभूत सिद्धान्तोंसे अटूट सम्बन्ध है और साथ ही साथ वह व्यावहारिक दृष्टिकोणसे भी बहुत लाभदायक है। सुनिश्चितता और स्पष्टता सत्यके साथ तो मेल खाती ही हैं, इसके अतिरिक्त भ्रमके लिए गुंजाइश नहीं रहती और बात अन्याय-पीड़ित जनताकी समझमें सुगमतासे आ जाती है और उसकी सहायता तथा सहानुभूति सत्याग्रहीको प्राप्त हो जाती है। अल्पतम मांग जनताको सत्याग्रहीकी सच्चाईका विश्वास दिलाती है। कुछ अंशमें वह विपक्षीके सन्देहको भी कम करती है। आक्रमणशीलता हिंसा है और मांगको अल्पतम रखना इस बातका लक्षण है कि सत्याग्रह आवश्यक रूपसे बचावकी लड़ाई है। इसके अतिरिक्त यदि किसी सुनिश्चित, मर्यादित विषयमें जनताको अहिंसाकी रीतिसे सफलता प्राप्त हो जाती है, तो जनताकी नैतिक शक्ति विकसित होती है और उसमें अधिक व्यापक शिकायतों और अन्यायोंको दूर करनेकी क्षमता आती है। एक बार गांधीजीने

---

१. अखिल भारत कांग्रेस कमेटीका ८ अगस्त, १९४२ का प्रस्ताव।

२. ह०, २४–६–'३९, पृ० १७५।

कहा था, "यदि मैं केवल स्वराज्यकी ही बातें करता रहता, तो मेरे किये-धरे कुछ न हो पाता। विस्तारकी बातों पर ध्यान एकाग्र करनेसे हमारी शक्तिमें वृद्धि होती रही है।"[1]

जब संघर्ष शुरू हो जाता है तो सत्याग्रही समूहको, शक्ति बढ़ जाने पर भी, बिना उचित कारणोंके अपनी मांग न बढ़ाना चाहिए। उदाहरणके लिए, यदि सत्याग्रहके आरम्भ होनेके समय कोई शिकायत मौजूद थी और मांगमें यह शामिल नहीं था कि वह दूर कर दी जाय, तो बादमें उद्देश्यको बढ़ानेके लिए उसको शामिल नहीं करना चाहिए। दूसरी ओर यदि सत्याग्रहकी लड़ाईमें विरोधी वचन-भंग करे या कोई दूसरा अन्याय करे, तो उससे सम्बद्ध नई मांगें न्यायोचित हो सकती हैं। इस दृष्टिकोणसे जैसे-जैसे प्रतिपक्षी सत्याग्रहीके लिए नई आपत्तियां उपस्थित करता है और सत्याग्रहकी लड़ाई बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे प्रतिपक्षी अपनी हानि और सत्याग्रहीका लाभ ही करता है। इस प्रकार 'वृद्धिका नियम' सत्याग्रहके युद्धमें लागू होता है और उसके परिणाममें वृद्धि होती जाती है।[2]

प्रतिरोध-पद्धतिके सम्बन्धमें सातवें अध्यायमें वर्णित व्यक्तिगत प्रतिरोधके सिद्धांत आवश्यक हेर-फेरके साथ सामूहिक प्रतिरोधमें भी लागू होते हैं। सत्याग्रही प्रतिरोधमें उन पृथक् कार्योंकी अपेक्षा, जिनमें अहिंसाकी अभिव्यक्ति होती है, अहिंसाकी भावना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण गांधीजी इस बात पर जोर देते थे कि सत्याग्रही नेताको पूरी तरहसे अहिंसावादी होना चाहिए, क्योंकि "अहिंसामें जीवित श्रद्धाके बिना किसी संकटपूर्ण स्थितिमें वह अहिंसक मार्गको न खोज सकेगा।"[3] इसी कारण गांधीजी सत्याग्रहीके अनुशासनकी पर्याप्तता पर भी जोर देते थे और कहते थे कि अहिंसक लड़ाईका प्रारम्भ ठीक तरहसे शुद्धतम मनुष्यों द्वारा होना चाहिए। गांधीजीका विश्वास था कि इन बातोंके अतिरिक्त प्रत्यक सामूहिक सत्याग्रहकी परिस्थिति अलग होती है और एक ही आन्दोलनमें भी परिस्थिति बदलती रहती है तथा अनपेक्षित रूप ग्रहण करती रहती है। इस प्रकार सत्याग्रही सेनापतिको अपनी दृष्टिकी स्वच्छता और प्रतिमानकी तीव्रता पर निर्भर रहकर परिस्थितिकी आवश्यकताके अनुसार प्रतिरोधका रूप निश्चित करना पड़ता है। जिस प्रकार साधारण फौजका सेनापति परिवर्तनशील परिस्थिति और शत्रुके युद्ध-कौशलके अनुसार अपनी योजनाओं और आज्ञाओंको बदलता रहता है, उसी प्रकार सत्याग्रही सेनापति भी करता है। बाह्य

---

१. ह०, २४–६–'३९, पृ० १७५।

२. दक्षिण अफ्रीका (उत्तरार्ध), अ० ३ और १४ तथा पृ० ३१–३४।

३. यं० इं०, २७–२–'३०।

परिस्थितिके अतिरिक्त उसको स्वयं अपनी भी छान-बीन करनी पड़ती है और अपनी आन्तरिक आवाजको ध्यानसे सुनना पड़ता है।[1] प्रत्येक दशामें लागू होनेवाली विस्तृत प्रतिरोध-योजनाको जानने और तैयार करनेका प्रयत्न जीवनकी प्रक्रियाको तर्कपूर्ण बौद्धिक योजना-मात्रका रूप देनेका प्रयत्न है और यह अनावश्यक, अव्यावहारिक और असम्भव है। इसीलिए गांधीजी प्रायः कहते थे कि उनके लिए केवल एक पग आगे देख पाना काफी था। सन् १९३९ में उन्होंने लिखा था, "मुझसे यह बतानेकी आशा न कीजिये कि यदि सविनय अवज्ञाका प्रयोग हुआ, तो मैं किस प्रकार उसका प्रारम्भ करूंगा। मेरे पास कुछ भी छिपा हुआ नहीं है और मुझे अन्तिम क्षण तक कुछ भी मालूम न होगा। मैं इसी प्रकार निर्मित हूं। मुझे नमक-यात्राके बारेमें लगभग उस क्षण तक कुछ भी मालूम नहीं था जब उसका निश्चय हुआ था। मैं यह जानता हूं कि ईश्वरने शायद ही कभी मुझसे इतिहासकी पुनरावृत्ति करवाई हो और शायद इस बार भी वह ऐसा न करे।"[2] इसलिए हम पिछले दृष्टान्तोंके आधार पर सामूहिक प्रतिरोधके केवल सामान्य सिद्धान्तोंका विवेचन करेंगे।

सातवें अध्यायमें अहिंसक प्रतिरोधका उद्देश्य, उस उद्देश्यकी कसौटी और लड़ाईके प्रारम्भके पहले समझाने-बुझानेके और समझौतेके प्रयत्नके महत्त्वका वर्णन हो चुका है। ये सब सिद्धान्त सामूहिक सत्याग्रही प्रतिरोधमें उसी प्रकार लागू होते हैं जिस प्रकार वैयक्तिक प्रतिरोधमें।

अगोपनीयता

गांधीजी सत्याग्रहमें प्रगट कार्यों पर बड़ा जोर देते थे। एक बार अमेरिकन लेखक अप्टन क्लोज़ने उनको राजनैतिक सच्चाईका संसारमें सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त और प्रगट साधनों द्वारा सिद्ध प्रगट कूटनीतिके आदर्शका एकमात्र सच्चा अनुगामी बताया था।[3] उनके लिए किसी भी मूल्य पर सत्यकी साधना एकमात्र कूटनीति थी और इसमें किसी प्रकारकी छिपी हुई बातकी गुंजाइश नहीं थी। उन्होंने सन् १९३१ में लिखा था, "जिस पद्धतिको हम अपना रहे हैं उसमें जाल, झूठ, धोखेबाजी, असत्य और हिंसाके तमाम कुरूप कुटुम्बियोंके लिए कोई स्थान नहीं। हरएक काम खुल्लमखुल्ला किया जाता है; क्योंकि सत्य गोपनीयतासे घृणा करता है। जितने अधिक आप खुले होंगे उतनी ही अधिक आपके सत्यपूर्ण होनेकी सम्भावना रहेगी।"[4]

---

१. ह०, १०-६-'३९, पृ० १५८।

२. ह०, २-१२-'३९, पृ० ३६२।

३. नटेसन : महात्मा गांधी -- दि मैन एण्ड हिज़ मिशन - ऐप्रीसियेशन्स, पृ० ३०।

४. यं० इं०, २१-१२-'३१।

गोपनीयताका अभाव साधनोंकी शुद्धताकी गारंटी है, क्योंकि अशुद्धता प्रकाशसे भागती है और छिपनेका प्रयास करती है। खुले कार्य करना सत्याग्रहको परिणामकी परवाह न करके निर्भयता और अवज्ञाकी खुली, स्वच्छ लड़ाई बना देता है। वह नैतिक उच्चताका प्रतीक है और सभीके — विरोधीके, तटस्थोंके और अपने पक्षके व्यक्तियोंके — उच्चतम अंशको प्रभावित करता है। वह सत्याग्रही अनुगामियोंके अनुशासनको दृढ़ करता है और जनता तथा विपक्षीकी दृष्टिमें उनके सम्मानको बढ़ाता है और इसलिए विपक्षीके अनुशासनको दुर्बल करता है।

खुला कार्य अच्छा प्रचार भी है। सत्याग्रहकी खबर दूर-दूर तक फैल जाती है और बादमें लगाये गये प्रतिबन्धोंको बेकार कर देती है। खुला कार्य व्यावहारिक भी है। वास्तवमें, जैसा कि गांधीजीने सन् १९४० में एक वक्तव्यमें कहा था, "कोई गुप्त आन्दोलन न तो कभी जन-आन्दोलन बन सकता है और न लाखों व्यक्तियोंको वह सामूहिक कार्यके लिए प्रेरित कर सकता है।"[1]

भारत और दक्षिण अफ्रीकाके सभी आन्दोलनोंमें गांधीजी सदा अपनी युद्ध-योजनाकी सूचना सरकारको पहलेसे ही दे देते थे। उनका विश्वास था कि अगर पर्याप्त सूचना न दी जाय, तो अहिंसक प्रतिरोध अनैतिक और दोषपूर्ण हो जायगा। सन् १९४०–४१ के व्यक्तिगत सविनय अवज्ञाके आन्दोलनमें उन्होंने इस बात पर पहलेसे अधिक जोर दिया। प्रत्येक सत्याग्रहीको कई दिन पहले अपने सविनय अवज्ञाकी विस्तृत सूचना सरकारको भेजनी पड़ती थी। कांग्रेस कमेटियोंको इस बातकी हिदायत थी कि वे गुप्त हिसाब या गुप्त धन न रखें।[2]

इसके विपरीत, गुप्ततासे मालूम होता है कि सत्याग्रही विपक्षीसे डरता है, उसके दिये हुए दण्डसे बचना चाहता है और अपने चारों ओर बचावकी दीवाल खड़ी करना चाहता है। अहिंसा इस प्रकारके बचावसे घृणा करती है और अधिकतम शक्तिशाली विपक्षीका खुलकर सामना करती है। गुप्ततासे यह भी प्रकट होता है कि सत्याग्रही संदेहपूर्ण साधनों द्वारा शीघ्र सफल होनेको उत्सुक है। इसलिए गुप्तता सत्याग्रहकी नैतिकता और प्रतिष्ठाको दूर करके उसको केवल चतुरताकी लड़ाईमें परिणत कर देती है। इस प्रकार वह सत्याग्रहके लिए घातक है। गांधीजीके शब्दोंमें, "कोई भी गुप्त संगठन, चाहे जितना बड़ा क्यों न हो, कुछ भी अच्छाई नहीं कर सकता।"[3]

---

१. गांधीजीका २१–१०–'४० का वक्तव्य।

२. ह०, १३–४–'४०, पृ० ८९।

सन् १९३०–३४ के दूसरे सत्याग्रह-आन्दोलनमें जब सरकारी दमन बहुत कठोर हो गया, तो सत्याग्रही गुप्त साधनोंका प्रयोग करने लगे। लेकिन उससे आन्दोलनमें शिथिलता और दुर्बलता आ गई। गांधीजीने जेलसे छूटने पर इस शिथिलताके लिए और जनतामें उत्साहकी कमीके लिए बहुत-कुछ गुप्तताके साधनोंको उत्तरदायी ठहराया।[1]

इसी प्रकार गांधीजीके अनुसार सरकारी सम्पत्तिका विनाश भी अहिंसक प्रतिरोधके आन्दोलनका भाग नहीं हो सकता। यह तोड़फोड़ एक प्रकारकी हिंसा है। "यदि प्रत्येक व्यक्ति पुलों, यातायातके साधनों, सड़कों आदिके विनाशके अधिकारका इसलिए दावा करे कि वह सरकारके कुछ कार्योंको ठीक नहीं समझता, तो राष्ट्रीय सरकार भी एक दिन न चल सकेगी। इसके अतिरिक्त बुराई पुलों, सड़कों इत्यादिमें — जो निर्जीव वस्तुएं हैं -- नहीं है, बल्कि मनुष्योंमें है। . . . विस्फोटक साधनों द्वारा पुलों आदिका विनाश इस बुराईको दूर नहीं करता, बल्कि उस बुराईके स्थानमें, जिसको वह दूर करना चाहता है, अधिक निकृष्ट बुराईको उकसाता है।"[2]

संख्या और धन

सत्याग्रह-आन्दोलनमें गांधीजी संख्या और धनके प्रति उदासीन थे। उन्होंने बार-बार कहा है कि सत्याग्रहकी सफलता भौतिक नहीं, किन्तु नैतिक और आध्यात्मिक साधनों पर निर्भर है।

वे जनताके सहयोगकी उपेक्षा नहीं करते थे और न उसके महत्त्वको कम आंकते थे। सन् १९१९ में हंटर-कमेटीके सामने उन्होंने कहा था कि यदि उन्हें अहिंसाके सिद्धान्तके अनुसार कार्य करनेको तैयार १० लाख मनुष्य मिल जायं, तो वे उनको सत्याग्रही-सेनामें भर्ती करनेमें आगा-पीछा न करेंगे।[3] वे यह भी मानते थे कि जन-सत्याग्रहका आन्दोलन बिना जन-साधारणकी सहायता और अनुशासनके असंभव है।[4] लेकिन यदि अनुशासन ठीक न हो तो संख्या दुर्बलताका स्रोत है। इसके अतिरिक्त सत्याग्रह जन-आन्दोलन हुए बिना भी सफल हो सकता है। और सफलता संख्याशक्ति पर नहीं, सत्याग्रहियोंकी विरोधीके प्रति दुर्भावना रखे बिना सत्यके लिए कष्ट-सहनकी क्षमता पर निर्भर है, फिर उन सत्याग्रहियोंकी संख्या चाहे जितनी कम क्यों न हो। गांधीजीके शब्दोंमें, "मैं परिमाणकी लगभग उपेक्षा करके गुण (नैतिक उत्कृष्टता) को अधिकतम महत्त्व देता हूं। . . . संख्या

---

१. गांधीजीका ५–५–'३३ का वक्तव्य।

२. ह०, १०–२–'४६, पृ० २।

३. यं० इं०, भाग–१, पृ० १७।

४. साउथ अफ्रीका, पृ० २०४।

जब ठीक अनुशासनमें रहकर एक मनुष्यकी भांति कार्य करती है, तो वह अजेय हो जाती है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने रास्ते चलता है या जब कोई व्यक्ति यह नहीं जानता कि वह किस रास्ते चले, तो वे स्वयं-विनाशक शक्ति बन जाते हैं। मुझे विश्वास है कि जब तक हम एकता, सुतथ्यता और बुद्धिपूर्ण सहकारिताका विकास नहीं करते, तब तक कम संख्यामें सुरक्षा है।"[1] फिर "सत्याग्रहमें संख्याका महत्त्व नहीं होता। सुसंगठित और अनुशासनपूर्ण मुट्ठीभर सच्चे सत्याग्रही भी जनताकी स्वार्थरहित सेवा द्वारा भारतवर्षको स्वतंत्र कर सकते हैं।"[2]

संख्याकी ओर गांधीजीकी उदासीनता आत्मशक्तिके बारेमें उनके विश्वासका निष्कर्ष है। सत्याग्रहीका अवलम्ब उसके 'संकीर्ण, सीमित, पृथक् शरीरकी शक्ति नहीं किन्तु उसकी आत्माकी शक्ति है, जो संपूर्ण संसारकी भौतिक शक्तिकी उपेक्षा कर सकती है। जब किसी व्यक्तिको ईश्वर और आत्मामें अडिग आस्था होती है, तो वह आवश्यक सहारे और सहायताके लिए स्वयं अपने पर आश्रित रहता है।

गांधीजी नैतिक उत्कृष्टता पर इसलिए जोर देते हैं कि वह संक्रामक होनेके कारण वृद्धिशील होती है और नैतिकताविहीन संख्या प्रभावहीन होती है। गांधीजी इसको सत्याग्रहमें 'वृद्धिका नियम' कहते हैं। शुद्धताके कारण ही दक्षिण अफ्रीकामें सत्याग्रहियोंकी संख्या, जो एक समय केवल १६ थी, सत्याग्रहकी लड़ाईके अंतके निकट बढ़कर ६०,००० हो गई थी।

इसके अतिरिक्त सत्याग्रहमें सफलता संख्या पर नहीं बल्कि अन्यायीके साथ सहयोग न करने पर और उसका प्रतिरोध करने पर निर्भर होती है। इसलिए "लड़नेवालेके लिए लड़ाई ही जीत है, क्योंकि उसको केवल लड़नेमें ही आनन्द आता है। उसका विश्वास है कि जीत या हार . . . स्वयं उसके ऊपर निर्भर है।"[3] फिर, "क्योंकि सत्याग्रही फौज बदलेकी भावनासे मुक्त होती है, इसलिए उसमें सिपाहियोंकी कम-से-कम संख्याकी आवश्यकता होती है।"[4]

इन्हीं विचारोंसे मिलते-जुलते गांधीजीके विचार सत्याग्रहमें धनके स्थानके बारेमें थे। उन्होंने अनेक हलचलोंके लिए करोड़ों रुपये एकत्र किये थे और धनको वे युद्धका साधन मानते थे।[5] सन् १९२१ में उन्होंने जनतासे

---

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० ५०३।
२. ह०, २५–३–'३९, पृ० ६७।
३. साउथ अफ्रीका, पृ० ३९४।
४. यं० इं०, भाग–१, पृ० ९३५।
५. स्पीचेज़, पृ० ५८४।

अपील की थी कि वह तिलक-स्वराज्य-फंडमें जितना धन दे सके दे। सन् १९२७ में उन्होंने लिखा था, "इस निधिसे महान राष्ट्रीय प्रयोजन सिद्ध हुआ है। उस शक्तिशाली संगठनका, जो एकदम खड़ा हो गया है, निर्माण इस महान राष्ट्रीय निधिके विना असंभव था....।"[१] लेकिन याद रखना चाहिये कि वास्तवमें गांधीजी धनकी ओरसे उदासीन थे। धनके प्रति उनकी प्रवृत्तिका निर्धारण अपरिग्रहके आदर्श द्वारा होता है। उनका विश्वास था कि सत्याग्रहमें धनका अल्पतम महत्त्व होता है।[२] धन स्वयं सत्याग्रह-आन्दोलनको आगे बढ़ानेमें सहायक नहीं हो सकता। दीर्घकालीन अनुभवसे उनका यह विश्वास हो गया था कि सत्याग्रहीके लिए यह आवश्यक है कि वह धन पर आश्रित रहना छोड़ ही दे, क्योंकि कोई भी आन्दोलन या कार्य, जिसका नेतृत्व अच्छे और सच्चे आदमियोंके हाथमें है, धनकी कमीसे न तो रुकता है और न ढीला पड़ता है।[३] दूसरी ओर आर्थिक निश्चितताका आवश्यक परिणाम होता है आध्यात्मिक दिवालियापन।[४]

गांधीजी उधार रुपयेसे सार्वजनिक संस्थाओंको चलानेके विरुद्ध थे। गांधीजीका यह भी मत था कि "किसी भी सार्वजनिक संस्थाको स्थायी कोष पर निर्वाह करनेका प्रयत्न न करना चाहिए; क्योंकि इसमें नैतिक पतनका बीज समाया रहता है। सार्वजनिक संस्थाका अर्थ है जनताकी अनुमति और धनसे चलनेवाली संस्था। जब जनताकी सहायता मिलना बन्द हो जाये तब उसे जीवित रहनेका अधिकार नहीं है। स्थायी संपत्ति पर चलनेवाली संस्थाएं प्रायः लोकमतकी उपेक्षा करती देखी जाती हैं और कितनी ही बार तो वे लोकमतके विपरीत भी आचरण करती हैं। वार्षिक चंदा संस्थाकी लोकप्रियता और उनके संचालकोंकी ईमानदारीकी कसौटी है और मेरा यह मत है कि प्रत्येक संस्थाको चाहिए कि वह अपनेको इस कसौटी पर कसे।"[५]

शायद यह बताना अनावश्यक है कि सत्याग्रहका आर्थिक प्रलोभन देनेसे या स्वयंसेवकोंको नौकर रखनेसे मेल नहीं खाता। इस प्रकारके स्वार्थपूर्ण उद्देश्यसे सत्याग्रहमें भाग लेनेवाले अवसरवादी व्यक्ति आन्दोलनको निर्जीव और यन्त्रवत् बना देंगे। लेकिन यदि संभव हो तो निर्धन स्वयंसेवकोंको

१. यं० इं०, भाग–३, पृ० १०२।

२. आत्मकथा, भाग–५, अ० १४।

३. साउथ अफ्रीका, पृ० २०२।

४. ह०, १०–१२–'३८, पृ० ३७१।

५. आत्मकथा, भाग–२, अ० १९। महादेव देसाई: डायरी, भाग–१, पृ० ७७।

और जब वे जेलमें हों या मार डाले गये हों तब उनके आश्रितोंको भरण-पोषण मात्रके लिए धन देनेमें कुछ भी अनुचित नहीं है।

बहुत कुछ गांधीजीके ही कारण भारतमें स्वतन्त्रताकी लड़ाईमें धनका व्यय इतना कम हुआ और कांग्रेसमें अवैतनिक स्वार्थरहित कार्यकर्ताओंकी इतनी बड़ी संख्या थी। धनके भ्रष्टकारी प्रभावसे दूषित आजके जनतन्त्रको धनकी ओर गांधीजीकी बुद्धिमत्तापूर्ण मनोवृत्तिसे बहुत कुछ सीखना होगा।

गांधीजीका मत था कि सत्याग्रही आन्दोलनमें नेताको धन और मनुष्योंके लिए यथासम्भव उसी स्थान पर निर्भर रहना चाहिए, जिसको लड़ाईके कारणसे प्रत्यक्ष रूपसे हानि पहुंचती है। उनके शब्दोंमें, "यह सत्याग्रहका सार है कि केवल उन्हींको सत्याग्रह करना चाहिए जो कष्ट उठा रहे हैं।"[१]

सत्याग्रहको स्थान-विशेषमें मर्यादित करने और बाहरी सहायताको रोकनेका कारण यह है कि "सत्याग्रहका मूलभूत विचार है अन्यायीका हृदय-परिवर्तन करना, उसमें न्याय-भावना जगाना और उसको यह दिखाना कि पीड़ितोंके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोगके बिना वह इच्छित अन्याय नहीं कर सकता। यदि लोग अपने हितोंके लिए कष्ट सहनेको तैयार नहीं हैं, तो बाहरी सहायता पर निर्भर सत्याग्रहसे सच्चा छुटकारा नहीं मिल सकता।"[२] इस प्रकार अन्यायीके हृदय-परिवर्तनका सर्वश्रेष्ठ साधन है अन्यायसे पीड़ित स्थानीय लोगोंका बलिदान। बाहरवालोंका बलिदान हृदय-परिवर्तनकी प्रक्रियामें विघ्न डालता है और कटुताको बढ़ाता है। इसके अतिरिक्त स्वावलम्बन और स्थानीय उत्तरदायित्वका सिद्धान्त मनुष्योंको अपनी लड़ाई अपने-आप लड़ने पर बाध्य करता है और उनकी प्रसुप्त शक्तियोंको विकसित करता है। लोगोंमें उनकी शक्तिकी चेतना आती है और वे इस योग्य हो जाते हैं कि अन्यायसे छुटकारा पा जायं। बाहरी सहायता — वह चाहे जिस परिमाणमें क्यों न मिले — इस आत्म-प्रयासका स्थान नहीं ले सकती।

सामूहिक अहिंसक प्रतिरोधके प्रधान अस्त्र हैं असहयोग, सविनय अवज्ञा, उपवास, हिजरत, धरना, आर्थिक बहिष्कार और सामाजिक बहिष्कार।

असहयोग

वैयक्तिक संबंधोंमें अनुपम प्रतिरोध-अस्त्र होनेके साथ-साथ असहयोग राजनैतिक प्रतिकारका श्रेष्ठ साधन भी है।

सरकारें अकसर गलतियां करती हैं, किन्तु उन्हें अन्यायपूर्ण रीतिसे शासन करनेका दैवी अधिकार नहीं है। गांधीजीका कहना था कि सरकारका

१. ह०, १०–१२–'३८, पृ० ३६९।

२. ह०, १०–१२–'३८, पृ० ३६९।

आधार उसकी शक्ति या जनताकी निष्क्रिय सम्मति नहीं बल्कि उसका सक्रिय सहयोग है। इसलिए जनताके सहयोग और सहायतासे हाथ खींच लेनेका परिणाम है राजनैतिक व्यवस्थाका पूरी तरह पंगु और शक्तिहीन हो जाना और उसका अन्त। "अधिकतम निरंकुश शासन भी जनताकी अनुमतिके विना नहीं चल सकता; और यह अनुमति प्रायः निरंकुश शासक बलपूर्वक प्राप्त करता है। जैसे ही जनता स्वेच्छाचारी सत्तासे डरना छोड़ देती है, उस सत्ताकी शक्ति जाती रहती है।"[१]

साधारण रीतिसे नागरिकका कर्तव्य है कानूनोंको मानना और सरकारका कर्तव्य है जनताकी नैतिक भावनाओं, हितों और इच्छाओंकी उपेक्षा न करना। किन्तु सरकारी आज्ञाओंका पालन विना सोचे-समझे नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह दासताका लक्षण है। यदि सरकार जनताकी भावनाओंके प्रतिकूल चलती है, यदि उसका शासन अनैतिक और अन्यायपूर्ण है, तो सरकारके साथ असहयोग करना जनताका अधिकार है और कर्तव्य भी है। गांधीजी लिखते हैं, "वुरा शासन करनेवाले शासककी सहायता करनेसे इनकार कर देना जनताका प्राचीन कालसे मान्यता-प्राप्त अधिकार है।"[२] जो बात सरकारके लिए ठीक है वही दूसरे शोषक समुदायों और संस्थाओंके लिए भी ठीक है।

सरकारके विरुद्ध प्रयुक्त होने पर "असहयोगका प्राथमिक प्रेरक हेतु है आत्मशुद्धिके लिए अनैतिक और पश्चात्ताप न करनेवाली सरकारके साथ सहयोगसे हाथ खींच लेना। दूसरा उद्देश्य है सरकारी नियन्त्रण या देखभालसे स्वतंत्र होकर असहाय होनेकी भावनासे छुटकारा पाना, अर्थात् यथासंभव सभी मामलोंमें स्वयं अपने-आप पर शासन करना; और इन दोनों उद्देश्योंको पूरा करनेमें किसी व्यक्ति या सम्पत्तिको नुकसान पहुंचाने या नुकसान पहुंचानेकी प्रेरणा देने या उनके प्रति हिंसा करनेसे वचना।"[३]

सत्याग्रहियोंकी आत्मशुद्धिका अर्थ है ऐसी महान नैतिक शक्तिका विकास, जो सरकारके घमंडको तोड़ दे और उसे न्याय करने पर विवश कर दे। यदि सरकार अनैतिक मार्गको नहीं छोड़ती और न्याय करनेसे इनकार करती है, तो असहयोग शासनकी जड़ उखाड़ देता है और सरकारको पंगु वना देता है।

जैसा कि उद्देश्यसे प्रकट है, असहयोग केवल निषेधात्मक ही नहीं है, वह जनताका सरकारके साथ सहयोग करनेसे जान-वूझ कर केवल इनकार

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० २०५।

२. स्पीचेज, पृ० २०५।

३. यं० इं०, भाग–१ पृ० ४२।

करना ही नहीं है; असहयोगका विधायक पक्ष भी है। यह विधायक पक्ष है आन्तरिक अर्थात् आपसी सहयोगका विकास। असहयोगके बाह्य निषेधात्मक पक्षकी सफलता विधायक आन्तरिक पक्षकी सफलताके अनुपातमें होती है। इसी कारण गांधीजी जनताकी राजनैतिक शिक्षा पर इतना अधिक जोर देते थे। जनताके आपसी सहयोगके बिना न तो असहयोग व्यापक ही हो सकता है और न अहिंसक ही, और दोनों ही दशाओंमें वह सफल नहीं हो सकता। इस आन्तरिक विकासके अभावमें यदि असहयोग अहिंसक और सफल भी हो, तो भी सरकारके पतनके बाद असहयोगियोंके लिए सामाजिक व्यवस्थाको सुरक्षित रखना असम्भव हो जायगा और परिणाम-स्वरूप अराजकता फैल जायगी। इसी कारण जनता द्वारा असहयोगके प्रयोगमें और सामाजिक व्यवस्थाको सुरक्षित रखनेकी उनकी क्षमतामें सामंजस्य रहना चाहिए।

गांधीजीके अनुसार असहयोगका प्रमुख प्रेरक हेतु घृणा या निराकरणशीलता नहीं, बल्कि विधायक प्रवृत्ति है। गांधीजीके शब्दोंमें, "निस्सन्देह असहयोग ऐसी शिक्षा है जो जनमतको विकसित करती है और निश्चित तथा स्पष्ट बनाती है। और जैसे ही वह (जनमत) फलप्रद कार्यके लिए संगठित हो जायगा, हमें स्वराज्य मिल जायगा।"[1]

लेकिन असहयोगके इस विधायक स्वरूप, आंतरिक सहयोगका विकास स्वेच्छासे होना चाहिये। सत्याग्रहीको दूसरोंके मत-स्वातन्त्र्य और कार्य-स्वातन्त्र्यके अधिकारका आदर करना चाहिए और उनको भ्रमपूर्ण मार्गसे बचानेके लिए केवल समझाने-बुझाने पर ही निर्भर रहना चाहिए। बलपूर्वक सहयोगको विकसित करनेका प्रयत्न हिंसा है और हिंसा केवल बुराईको जीवित रखती है और बढ़ाती है। इसके अतिरिक्त केवल स्वेच्छा पर निर्भर सहयोग ही जनताकी भावना और असन्तोषकी कसौटी हो सकता है,[2] और "जो अपनेको फैशन या जबरदस्तीके कारण असहयोगी कहते हैं, वे असहयोगी नहीं हैं।"[3] इसलिए असहयोगके अहिंसक होनेके लिए यह आवश्यक है कि असहयोगी मतभेदके प्रति सहिष्णु रहें और भिन्न मतवालोंकी स्वतन्त्रताका आदर करें।

हड़ताल

सत्याग्रही असहयोगके विकासके लिए अहिंसक साधनोंका, विशेष रूपसे हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार और धरनेका प्रयोग करते हैं।

---

१. सत्याग्रह, पृ० २४।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० १४९।

३. सत्याग्रह, पृ० २४।

हड़तालका अर्थ है विरोध-प्रदर्शनके लिए व्यवसायको कुछ कालके लिए वन्द कर देना। हड़तालका उद्देश्य है जनता और सरकारके मनको प्रभावित करना।[1] लेकिन हड़ताल वार-वार नहीं होनी चाहिए, नहीं तो वह फलप्रद नहीं होगी।[2] इसके अतिरिक्त हड़ताल नितान्त स्वेच्छा पर अवलम्बित होनी चाहिए। लोगोंसे कार्य स्थगित करानेके लिए समझाने-वुझाने और प्रचारके दूसरे अहिंसक साधनोंका ही प्रयोग करना चाहिए। नौकरोंसे— जब तक उनको रखनेवालोंकी आज्ञा न मिल जाय— काम वन्द करनेके लिए नहीं कहना चाहिए।

सामाजिक वहिष्कार

सामाजिक वहिष्कारमें हड़तालोंकी अपेक्षा कहीं अधिक दुरुपयोगकी सम्भावना है। वहिष्कार प्रयोगके अनुसार अहिंसक भी हो सकता है और हिंसक भी। गांधीजी महसूस करते थे कि सामाजिक जीवनमें कुछ अंशमें सामाजिक वहिष्कारसे वचना असम्भव है, लेकिन किसी समाजमें उन लोगोंके विरुद्ध—जो जनमतकी अवज्ञा करते हैं और असहयोगियोंका साथ नहीं देते—वहिष्कारका प्रयोग वहुत मर्यादित रूपमें ही हो सकता है।

भारतमें सामाजिक वहिष्कार भयावह और कारगर प्राचीन पद्धति है और वह जातिप्रथाका समकालीन है। उसका आधारभूत विचार यह है कि समाजके लिए यह जरूरी नहीं कि वह वहिष्कृत व्यक्तिको आतिथ्य दे। जव गांव सामंजस्यपूर्ण और स्वावलम्वी थे और व्यक्ति द्वारा समाजकी अवज्ञाके अवसर वहुत कम होते थे, उस समय सामाजिक वहिष्कार वहुत उपयोगी था। लेकिन आधुनिक जटिल परिस्थितिमें जव जनतामें किसी प्रश्नके वारेमें गहरा मतभेद हो, गांधीजीके अनुसार, अल्पमतको वहुमतकी वात माननेको विवश करनेके लिए जल्दवाजीमें इस साधनका प्रयोग अक्षम्य हिंसाका एक प्रकार है।[3]

लेकिन कुछ असाधारण परिस्थितियोंमें "जव कोई अवज्ञाकारी अल्पमत सैद्धान्तिक कारणसे नहीं किन्तु केवल अवज्ञाके कारण या उससे भी अपकृष्ट कारणसे वहुमतकी वात माननेसे इनकार कर दे,"[4] तव सामाजिक वहिष्कारका प्रयोग हो सकता है। लेकिन यह "तभी कारगर हो सकता है और उसी दशामें इसका प्रयोग करना चाहिए, जव वहिष्कृत व्यक्तिको

---

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० २३।
२. यं० इं०, भाग–१, पृ० २५८।
३. यं० इं०, भाग–१, पृ० २९९।

वह दंडकी भांति न लगे, वल्कि अनुशासन-कार्य मालूम हो।"[1] वहिष्कृत उसको अनुशासनकी तरह तभी स्वीकार करेंगे जव वह अहिंसक हो, अर्थात् जव वह सभ्योचित हो और उसमें अमानुषिकताकी गंध न आये। उसके अहिंसक होनेके लिए "यह भी आवश्यक है कि अगर उससे वहिष्कृतको असुविधा हो तो प्रयोग करनेवालोंको दुःख हो।"[1]

सामाजिक वहिष्कारका यह अर्थ न होना चाहिए कि किसी मनुष्यको आवश्यक सामाजिक सेवाओंसे वंचित किया जाय, अर्थात् उसके नौकरसे उसकी नौकरी छोड़ देनेको कहा जाय, उसको खाना या कपड़ा पानेसे रोका जाय या उसको डॉक्टर इत्यादिकी सेवाओंसे वंचित रखा जाय। ऐसा करना हिंसा और वल-प्रयोग है। इसी प्रकार यदि मनुष्य वेसन्नीसे किसी व्यक्तिके जीवनको गाली, अपमान आदिसे असह्य वना दे, तो वह हिंसक वहिष्कारका दृष्टांत होगा। दूसरी ओर यदि कोई पादरी अपने सम्मानकी अपेक्षा अन्यायी सरकारसे प्राप्त उपाधिकी अधिक कद्र करे और उसके गिरजाघरमें आनेवाले उसके नेतृत्वमें प्रार्थना करनेसे इनकार कर दें, तो वह शान्तिमय वहिष्कारका दृष्टान्त होगा। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्तिको, जो किसी महत्त्वपूर्ण मामलेमें दृढ़, स्पष्ट जनमतकी अवज्ञा करता है, सामाजिक सेवाओंसे नहीं वल्कि सामाजिक सुविधाओं और रियायतोंसे वंचित रखा जाय, तो उसमें कोई हिंसाकी वात न होगी। उदाहरणके लिए, भोजोंमें निमंत्रण या भेंट देना इत्यादि ऐसी रियायतें हैं, जिन्हें रोक देना अनुचित न होगा। इस मर्यादित रूपमें भी सामाजिक वहिष्कारका प्रयोग थोड़ेसे निश्चित अवसरों पर ही करना चाहिए और हर हालतमें वहिष्कार करनेवालोंको इस साधनका प्रयोग स्वयं अपनेको जोखिममें डालकर ही करना चाहिए।[2]

धरना

जव धरनेका प्रयोग अहिंसक प्रतिरोधके साधनके रूपमें हो तव उसको वल-प्रयोगसे वचना चाहिए और केवल समझाने-वुझाने पर निर्भर रहना चाहिए। भारतमें सन् १९२०–२२ और १९३०–३४के अहिंसक आन्दोलनोंमें गांधीजीने शराव, अफीम और विदेशी कपड़ेकी दुकानों पर धरना देनेकी राय दी थी। दूसरे आन्दोलनोंमें यह कार्य लगभग सभी स्थानोंमें केवल स्त्रियोंने ही किया था। लेकिन गांधीजी इसके विरुद्ध थे कि धरना देनेवाले किसी स्थानको इस प्रकार घेरकर एक दीवार-सी वनाकर वैठ जायं या लेट जायं कि कोई भी मनुष्य धरना देनेवालोंके शरीर

---

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० ३००।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० ३०२।

पर पैर रखे विना उस स्थानमें आ या वहांसे वाहर जा न सके। इस प्रकारके धरनेको गांधीजी हिंसक और वर्वरतापूर्ण वताते थे। वल-प्रयोगका भद्दा तरीका होनेके कारण वह वर्वरतापूर्ण है। वह हिंसासे भी बदतर है, क्योंकि "अगर हम अपने विरोधीसे लड़ते हैं तो हम उसे कम-से-कम वदलेमें चोट तो करने देते हैं। लेकिन जव हम यह जानकर उसे अपने ऊपर चलनेकी चुनौती देते हैं कि वह ऐसा नहीं करेगा, तो हम उसकी स्थितिको अधिक-से-अधिक भद्दी वना देते हैं और उसके सम्मानको ठेस पहुंचाते हैं।"[१]

शांतिमय धरनेका उद्देश्य यह नहीं है कि उन मनुष्योंका रास्ता रोका जाय, जो कोई विशेष कार्य करना चाहते हैं। उसका उद्देश्य यह है कि जन-निषेधकी शक्ति पर निर्भर रहा जाय, जनमतकी अवज्ञा करनेवालोंको चेतावनी दी जाय और उनको लज्जित किया जाय।[२] शान्तिमय धरनेमें वल-प्रयोग करने, धमकाने, अशिष्टता दिखाने, किसीका पुतला वनाकर जलाने या दफन करने और भूख-हड़ताल करने इत्यादिके लिए स्थान नहीं होना चाहिए। धरनेमें उपवासका प्रयोग तभी हो सकता है जव करार-भंग किया गया हो और जव दोनों पक्षोंमें पारस्परिक सम्मान और प्रेम हो।[३]

ऊपर लिखे साधनोंका प्रयोग सत्याग्रही असहयोगको विकसित और गतिशील वनानेके लिए करते हैं। इस असहयोगका अन्तिम रूप है सविनय अवज्ञा। गांधीजीने सन् १९३० में लिखा था, "थोड़ा सोचनेसे यह प्रकट हो जायगा कि सविनय अवज्ञा असहयोगका आवश्यक अंग है। आप सरकारकी आज्ञाका पालन करके उसकी अधिक-से-अधिक सहायता करते हैं।"[४] कुछ अच्छाइयां तो वुरे-से-वुरे राज्यमें भी होती हैं। लेकिन यदि राज्य भ्रष्टाचारी है, तो जनताको राज्यकी पूरी व्यवस्थाको ठुकरा देना चाहिए।[५]

देश और कालकी परिस्थिति-विशेषके अनुसार असहयोगकी विस्तारकी वातें वदलती रहेंगी। जो आवश्यक है वह है सरकारकी दी हुई सजाको विना हिंसा और दुर्भावनाके सहनेकी और उसके भड़काने पर भी अहिंसक वने रहनेकी असहयोगियोंकी क्षमता और जनताकी दृढ़ सहानुभूति तथा सहायता।

---

१. सत्याग्रह, पृ० ९०।

२. ह०, २७–८–'३८, पृ० २३४।

३. हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० ३६८। (शान्तिमय धरनेके वारेमें सन् १९३१ में दी हुई गांधीजीकी हिदायतें देखिये।)

४. यं० इं०, २७–३–'३०।

याद रखना चाहिए कि जनताका सामूहिक दवाव असहयोगकी सफलताकी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है।

गांधीजीके सन् १९२०–२२ के असहयोग-आन्दोलनका विस्तृत इतिहास हमारे विपयके वाहर है, लेकिन उन वातोंका संक्षिप्त विवरण, जिनको गांधीजीने असहयोगके कार्यक्रमका अंग वनाया था, यहां अनुपयुक्त न होगा — विशेष रूपसे इसलिए कि राष्ट्रीय पैमाने पर किये गये असहयोगका यह पहला दृष्टांत है।[1]

खिलाफत कमेटीके द्वारा स्वीकृत गांधीजीकी प्रारम्भिक योजनाके अनुसार यह निश्चित हुआ था कि असहयोगका प्रयोग "निर्धारित, निश्चित प्रगतिशील चार चरणोंमें" हो। ये चरण थे, उपाधियोंको और अवैतनिक पदोंको त्याग देना, लोगोंसे सरकारी नौकरी छोड़नेके लिए कहना, पुलिस और फौजको सरकारी नौकरीसे हटाना और करवन्दी।[2] वादमें पहले चरणमें कचहरियोंका वकीलों और जनता द्वारा, स्कूलों और कालिजोंका शिक्षकों और विद्यार्थियों द्वारा, व्यवस्थापिका सभाओंका उसके सदस्यों द्वारा और चुनावोंका मतदाताओं द्वारा वहिष्कार भी सम्मिलित कर दिया गया था। स्वदेशीको प्रोत्साहन, विदेशी कपड़ोंका त्याग और उनके स्थानमें एकमात्र खादीका प्रयोग; स्थानीय वोर्डोंसे नामजद सदस्योंका त्यागपत्र; सरकारी दरवारों और दूसरे सरकारी या अर्ध-सरकारी समारोहोंमें जानेसे इनकार —ये सव भी पहले चरणमें ही शामिल थे।

इनमें से हरएक निपेधात्मक वातका विधायक चरण भी था, ताकि जैसे ही सरकार पंगु हो जाय वैसे ही समानान्तर सत्याग्रही सरकार उसका स्थान ले सके और सामाजिक व्यवस्थाको अक्षुण्ण वनाये रख सके। सन् १९२० में गांधीजीने लिखा था, "जब हम फौज और पुलिसको वड़े पैमाने पर सरकारी नौकरियोंसे अलग करनेको तैयार होंगे तव हम अपनी

---

१. प्रायमिक रूपमें असहयोगका सिद्धान्त हमको गांधीजीके 'हिन्द-स्वराज्य' में मिलता है: "हमारी समझमें आपकी (अंग्रेजोंकी) खोली हुई शालाएं और अदालतें किसी कामकी नहीं। उनके वदले हमारी जो असली पाठशालाएं और अदालतें थीं, उन्हींको हम फिरसे स्थापित करना चाहते हैं।... विलायती या यूरोपका कपड़ा हमें नहीं चाहिए। हम तो इस देशमें पैदा होने और वननेवाली चीजोंसे ही अपना काम चला लेंगे।... हमारी इच्छाके विरुद्ध जो काम आप करेंगे, उसमें हम आपकी कोई मदद न करेंगे। यह हम जानते हैं कि हमारी मददके वगैर आप एक कदम भी नहीं उठा सकते।" हिन्द स्वराज्य, पृ० १९२–९४।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० १९१–९२।

रक्षा करनेके योग्य हो चुकेंगे। अगर पुलिस और फौज देशभक्तिके कारण नौकरियां छोड़ें, तो मैं निश्चय ही उनसे यह आशा करूंगा कि वे उसी कर्तव्यका राष्ट्रीय स्वयंसेवकोंकी तरह पालन करें। असहयोगका आन्दोलन स्वचालित संयोजनाका (आन्दोलन) है। अगर सरकारी स्कूल खाली हो जाते हैं, तो मैं निश्चय ही आशा करूंगा कि राष्ट्रीय स्कूल स्थापित हो जायंगे। अगर वकील सामूहिक रूपसे अपनी वकालत स्थगित कर दें, तो वे पंचायती अदालतें बनावेंगे और राष्ट्रको आपसी झगड़े तय करनेको और अन्यायीको सजा देनेकी अधिक सस्ती और शीघ्रतासे काम करनेवाली पद्धति मिल जायेगी।"[१] "इसलिए अहिंसक साधनोंसे प्राप्त स्वराज्यका अर्थ विश्रृंखलता और अराजकताका मध्यवर्ती काल कभी नहीं हो सकता। अहिंसा द्वारा प्राप्त स्वराज्य इस तरहकी प्रगतिशील शांतिपूर्ण क्रांति होगी, जिसमें एक सीमित निगमके पाससे शक्तिका जनताके प्रतिनिधियोंके हाथोंमें आना वैसा ही स्वाभाविक होगा, जैसा कि एक पूरी तरह पके हुए फलका सुपोषित वृक्षसे गिरना।"[२] सन् १९४६ में उन्होंने कहा था: "अहिंसक क्रांति शक्ति छीननेकी योजना नहीं है। वह सम्बन्धोंमें ऐसे आमूल परिवर्तनकी योजना है, जिसका अन्त शक्तिके शांतिमय हस्तांतरणमें होता है।"[३]

जहां तक स्वदेशीका सम्बन्ध है, उसका स्पष्ट अर्थ है उन विदेशी वस्तुओंका बहिष्कार, जो किसी देशमें सार्वभौम रूपसे काममें आती हैं और जिनको देशमें ही बना लेना आवश्यक है। विदेशी कपड़ा इसी प्रकारकी वस्तु है और उसका बहिष्कार अहिंसक रूपसे संयोजित अर्थ-व्यवस्थाका आवश्यक निषेधात्मक पक्ष है। सन् १९२०–२२ में गांधीजी विदेशी कपड़ेके केवल बहिष्कारके ही नहीं बल्कि विनाशके भी पक्षमें थे और जुलाई १९२१ में उन्होंने स्वयं बम्बईमें विदेशी कपड़ेकी होलीका समारम्भ किया था।[४]

---

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० ६४१–४२।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० २९३।

३. ह०, १०–२–'४६, पृ० १४।

४. देशबन्धु सी० एफ० एन्ड्रूज़ने अपने विदेशी भाइयों और बहनों द्वारा बनाये हुए कपड़ोंको जलानेकी नीतिका विरोध किया था। कपड़ोंकी होली उनको हिंसापूर्ण, अस्वाभाविक और विकृत-सी मालूम हुई। उनकी राय थी कि इसके कारण देश पिछड़ जायेगा और वह यूरोपमें चालू पुरानी स्वार्थयुक्त दोषपूर्ण प्रजातीयता-प्रधान राष्ट्रीयताको अपना लेगा। लेकिन गांधीजीको विदेशी कपड़ोंका विनाश उच्चतम नैतिक दृष्टिकोणसे ठीक जंचा। इस विनाशमें

राष्ट्रीय पैमाने पर असहयोग भारतवर्षमें एक बिलकुल नया आंदोलन था। जनतामें रचनात्मक कार्यके रूपमें उसके लिए पहलेसे काफी तैयारी नहीं हुई थी। जनताको अध्यवसायपूर्ण संगठित राजनैतिक आंदोलनका अनुभव न था। और वह अभी अहिंसाके सन्देशको अपना नहीं पाई थी। इसके अतिरिक्त प्रारंभसे ही पग-पग पर आंदोलनको हिंसाका सामना करना पड़ा। इसलिए स्वाभाविक रूपसे गांधीजी इसके लिए उत्सुक थे कि "वांछित उद्देश्यकी प्राप्तिके अनुरूप देशको कम-से-कम जोखिममें डालें और उससे कम-से-कम बलिदानकी मांग करें।"[1]

गांधीजीकी राय थी कि जनताके राजनैतिक अनुभवकी कमीके कारण आन्दोलनका प्रारम्भ सम्पन्न वर्गोंको करना चाहिए और जनताको आन्दोलनके बादके चरणोंमें हिस्सा लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त आंदोलनके प्रारंभिक चरणका अधिकतम सम्बन्ध इन वर्गोंसे ही था। बादके चरणोंके लिए उनकी आशा जनता पर आधारित थी और इन बातोंका प्रारंभ तब होनेको था जब जनताको अहिंसाकी शिक्षा मिल चुकती। लेकिन शिक्षित वर्गोंकी अहिंसा दुर्बल थी, क्योंकि उन्होंने अहिंसक पद्धतिको, हिंसाके प्रयोगकी क्षमताके अभावमें, केवल काम चलानेकी नीतिकी तरह अपनाया था। आंदोलनके लिए यह बड़ी रुकावट थी, क्योंकि उच्च वर्गोंकी दुर्बल अधकचरी अहिंसामें जनताको प्रेरणा देनेकी शक्ति न थी।

गांधीजी जिस तरह भी हो देशको हिंसासे बचानेके लिए उत्सुक थे और इसलिए असहयोगके अन्तिम भागोंके बारेमें स्वाभाविक रीतिसे बहुत सतर्क थे तथा धीमी रफ्तारसे कदम बढ़ाना चाहते थे। सरकारी नौकरियां

विनाश पर नहीं, विदेशी कपड़ोंके विनाश पर था। वास्तवमें विनाश इस बातका साधन था कि भारतकी प्रजातीय दुर्भावना विदेशियोंसे उनके बनाये हुए कपड़ोंकी ओर मुड़ जाय। विदेशी कपड़ोंका प्रेम विदेशी राज्यकी स्थापनाका और देशके आर्थिक शोषणका कारण था और इसलिए वह गुलामीका प्रतीक और लज्जाका चिह्न था। होलीका प्रेरक हेतु घृणा नहीं थी, बल्कि पिछले पापोंका पश्चात्ताप था। होली जनताके मनको जितनी प्रभावित करती थी और उसमें उत्साह भरती थी, उतना कोई और साधन नहीं कर सकता था। होलीका अर्थ था भारतवर्षके विदेशी कपड़ोंके प्रेमको जलाना और वह एक गहरी बीमारीके लिए जरूरी डॉक्टरी अस्त्रक्रिया (ऑपरेशन) की तरह था। गांधीजी इस कपड़ेको हिन्दुस्तानके निर्धनोंमें बांट देनेके विरुद्ध थे, क्योंकि इस प्रकारका कुदान निर्धनोंकी देशभक्ति, आत्म-सम्मान और प्रतिष्ठाके विरुद्ध था। यं० इं०, भाग–१, पृ० ५५३-६२।

१. स्पीचेज़, पृ० ५४२।

छोड़नेके सम्वन्धमें उन्होंने इस वात पर जोर दिया कि किसी भी सरकारी नौकर पर दवाव न डाला जाय। जब तक ये नौकर अपना और अपने आश्रितोंका भरण-पोपण करनेके योग्य न हो जायं, या जव तक कौम उनको व्यवसायका साधन न दे सके, तव तक उनसे नौकरी छोड़नेके लिए नहीं कहना चाहिए। और न सव प्रकारके नौकरोंको भी नौकरी छोड़नेके लिए एकदम कहना चाहिए। अंग्रेजोंके निजी नौकरोंकी तो नौकरी छोड़नेकी वात ही न उठानी चाहिए; क्योंकि यह आन्दोलन अंग्रेजोंके विरुद्ध न था।[१] गांधीजीके अनुसार तीसरा चरण, पुलिस और फौजकी नौकरी छोड़ना एक दूरवर्ती उद्देश्य था। इससे भी अधिक दूर गांधीजी चौथे चरणको — करवंदीको — मानते थे। करवंदीका प्रारंभ करनेकी तव तक सम्भावना नहीं थी जव तक यह निश्चय न हो जाय कि जनता हिंसक नहीं वनेगी।[२]

वादमें गांधीजी, अखिल भारत कांग्रेस कमेटी और कार्य-समितिने सरकारी नौकरोंको तथा पुलिस और फौजको भी अपनी नौकरी छोड़ देने और दूसरे धन्धोंसे, उदाहरणके लिए कताई-वुनाईसे, अपना भरण-पोपण करनेका आदेश दिया।[३] लेकिन इन दो अन्तिम चरणोंके वारेमें गांधीजीकी नीति वहुत सतर्कताकी थी। उनको हिंसाका डर था। कांग्रेस नौकरीसे अलग होनेवाले सरकारी नौकरोंको भरण-पोषणमें सहायता देनेमें अशक्त थी। इसलिए पुलिस, फौज और दूसरे सरकारी नौकरोंमें नौकरी छोड़ देनेका वहुत प्रचार न हुआ।

यद्यपि कार्यक्रमके इन दोनों भागों पर अमल न हुआ, लेकिन करवंदी — जिसको प्रारम्भमें गांधीजी नौकरियोंको छोड़नेसे भी अधिक दूरकी वात समझते थे — चालू होते-होते ही रह गई। सन् १९२१ में सरकारने आन्दोलनको दवानेके लिए घोर दमन शुरू किया। उसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि विभिन्न प्रांतोंने सविनय अवज्ञा प्रारंभ करनेकी आज्ञा मांगी। अक्तूवर १९२१ में कार्य-समितिने उन व्यक्तियोंको सविनय अवज्ञाकी आज्ञा दे दी, जिनके स्वदेशी-प्रचारके कार्यमें सरकार रुकावट डाले।[४] ५ नवम्वर, १९२१ को अखिल भारत कांग्रेस कमेटीने सविनय अवज्ञाके क्षेत्रको विस्तृत कर दिया और प्रांतीय कांग्रेस कमेटियोंको उनकी जिम्मेदारी पर व्यक्तिगत सविनय अवज्ञाके अतिरिक्त सामूहिक सविनय अवज्ञा भी प्रारंभ करनेका

---

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० १९१।

२. यं० इं, भाग–१, पृ० १९२।

३. यं० इं०, भाग–१, पृ० १०३०; हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० ३६१, ३६६।

४. हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० ३६७।

अधिकार दे दिया। सविनय अवज्ञामें करबन्दी भी शामिल थी और उसका प्रारम्भ उन चुने हुए जिलों और तहसीलोंमें होनेका था, जिन्होंने साम्प्रदायिक एकता, खादी और अस्पृश्यता आदि अहिंसासे सम्बन्ध रखनेवाली शर्तोंको पूरा कर लिया हो।[१] सविनय अवज्ञाका आंदोलन ७ फरवरी, १९२२ को बारडोलीमें शुरू होनेको था। बारडोलीके बाद मद्रास प्रान्तमें गुन्तूरके १०० गांवोंकी बारी आती और आंदोलन देशभरमें फैल गया होता।[२] वास्तवमें गांधीजीकी आज्ञा मिल जानेकी आशामें गुन्तूरमें कर नहीं दिये गये थे और जब तक कांग्रेसका प्रतिबन्ध था, सरकार पांच प्रतिशत कर भी वसूल न कर सकी थी।[३] लेकिन चौरीचौराकी हिंसाके कारण सविनय अवज्ञाका आंदोलन स्थगित कर दिया गया। चौरीचौराके हिंसाकांडके पहले बंबई, मद्रास और दूसरे स्थानोंमें भी हिंसापूर्ण घटनाएं हो चुकी थीं। सविनय अवज्ञाके एकाएक स्थगित किये जानेसे देशको बहुत निराशा हुई, सरकारके दमनकी भीषणता बढ़ गई, गांधीजी और दूसरे नेता कैद कर लिये गये और सत्याग्रह-आन्दोलन धीमा पड़ गया। नवम्बर १९२२ में सविनय अवज्ञा कमेटीकी सिफारिशके अनुसार अखिल भारत कांग्रेस कमेटीने एक प्रस्ताव पास किया कि देश अभी सविनय अवज्ञाके लिए तैयार नहीं था। उस समय तक सत्याग्रही कैदियोंकी संख्या ३०,००० तक पहुंच चुकी थी।[४]

अहिंसक प्रतिरोधका दूसरा आंदोलन (१९३०-३४) प्रमुख रूपसे सविनय अवज्ञाका आंदोलन था और वहींसे शुरू हुआ था जहां पहले आंदोलन (१९२०-२२) का अन्त हुआ था। इस आन्दोलनमें पहलेके असहयोग

---

१. हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० ३६८।

२. मालूम होता है कि गांधीजीका विचार यह था कि बारडोली और उसके पास-पड़ोसमें सफल होनेके बाद सविनय आज्ञाभंगको एक जिलेके बाद दूसरा अपनाता जाय और इस प्रकार पूरा देश स्वतन्त्र हो जाय। कृष्णदासके अनुसार गांधीजीका कहना था कि, "जब बारडोलीमें स्वराज्यका विजयी झंडा फहराने लगे, तो बारडोलीके पासके तालुकेकी जनताको बारडोलीके पदचिह्नों पर चलकर अपने यहां स्वराज्यके झंडेको गाड़नेका प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार देशभरमें व्यवस्थित क्रमसे एकके बाद दूसरे जिलेको स्वराज्यका झंडा फहराना चाहिए।" कृष्णदास: सेवन मंथ्स विद महात्मा गांधी, भाग–१, पृ० ३७४।

३. हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० ३९०-९१ और ३९८।

४. ब्रेल्सफोर्डके अनुसार यह संख्या ५०,००० थी। देखिये पोलक इत्यादि: महात्मा गांधी, पृ० १५७।

आंदोलनके कार्यक्रमकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातें शामिल कर ली गई थीं। उदाहरणके लिए, विद्यालयों, कचहरियों, विदेशी कपड़ों और शरावका बहिष्कार, सरकारी नौकरोंको नौकरी छोड़नेका और व्यवस्थापिका सभाओंके सदस्योंको इन सभाओंमें न जानेका आदेश — इन सभी बातों पर जोर दिया गया था। विलायती कपड़ेका बहिष्कार जोरोंके साथ विस्तृत और फलप्रद रूपमें किया गया था। असहयोग-पद्धतिके दृष्टिकोणसे इस आंदोलनमें एक महत्त्वपूर्ण बात हुई। ४ मई, १९३० को गांधीजीकी गिरफ्तारीके बाद कांग्रेसने विलायती चीजों और विलायती बैंकों, बीमा कम्पनियों, जहाजों और इसी तरहकी दूसरी संस्थाओंका जोरोंसे बहिष्कार शुरू किया।[१]

गांधीजीने पहले कभी इस तरहके व्यापक बहिष्कारका समर्थन नहीं किया था। जैसा हम चौथे अध्यायमें बता आये हैं, वे इस प्रकारके बहिष्कारको दंड-प्रधान और इसलिए हिंसामय समझते थे। यह परिवर्तन उनकी अनुपस्थितिमें किया गया था। लेकिन जैसा कि उनके कुछ लेखों और इंग्लैंडमें दिये गये उनके भाषणोंसे प्रकट होता है, वे इस परिवर्तनके विरुद्ध नहीं थे।[२] इसके अतिरिक्त, सन् १९३२ में ही लंदनसे उनके लौटनेके बाद कार्य-समितिने एक बार फिर बहिष्कारके इस व्यापक रूपको स्वीकार किया। सम्भवतः गांधीजीने इस परिवर्तनका विरोध न किया होगा। क्योंकि सरकारसे लड़ाई शीघ्र छिड़नेवाली थी और उस समय कार्य-समितिने सेनापतिकी इच्छाकी उपेक्षा न की होगी। कांग्रेसका बहिष्कार-सम्बन्धी प्रस्ताव यह था: "अहिंसक संग्राममें भी उत्पीड़क द्वारा तैयार किये गये मालका बहिष्कार करना सर्वथा वैध है, क्योंकि अत्याचार-पीड़ित व्यक्तियोंका यह कर्तव्य कभी नहीं है कि वे आततायीके साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ावें अथवा कायम रखें। इसलिए ब्रिटिश माल और ब्रिटिश कम्पनियोंका बहिष्कार पुनः आरंभ किया जाय और जोरोंसे चलाया जाय।"[३]

मालूम होता है कि अब गांधीजीको यह विश्वास हो गया था कि आर्थिक बहिष्कारका प्रयोग अत्याचारीके साथ असहयोगके अहिंसक साधनकी तरह हो सकता है और होना चाहिए। जब उसका प्रयोग किया जाय तो जोर बहिष्कारके नैतिक पक्ष पर रहना चाहिए।[४] लेकिन कठिनता यह है कि

---

१. हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० ६७३ और ६८३-८४।

२. दि नेशन्स वॉइस, पृ० २०७, २०८ और २११; यं० इं०, २६–३–'३१, पृ० ३७ और २–४–'३१, पृ० ५७।

३. हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० ८७०।

४. अन्तर्राष्ट्रीय अन्यायके विरुद्ध बहिष्कारके प्रयोगके सम्बन्धमें गांधीजीके मतके लिए देखिये अध्याय ११।

वहिष्कारके फलप्रद होनेके लिए अत्याचार-पीड़ितोंके एकमत होनेकी आवश्यकता पड़ती है और इसके लिए सत्याग्रहीको सामूहिक दवाव डालनेवाले संदिग्ध उपायोंको भी काममें लानेका प्रलोभन होता है। इस प्रकार दुर्भावना वढ़ती है; सत्याग्रही कष्ट सहनेके स्थानमें विरोधीको कष्ट पहुंचानेकी वात सोचने लगते हैं और सत्याग्रहकी उच्च नैतिकता लोप होने लगती है। लेकिन दूसरी ओर अन्यायीके साथ व्यापार करनेका अर्थ है उसके साथ सहयोग करना और उसकी अनैतिकतामें मदद करना। इसके अतिरिक्त दुर्भावना और हिंसा वहिष्कारका आवश्यक अंग नहीं हैं और यदि सत्याग्रहियोंका अनुशासन ठीक हो तो उनसे वचा जा सकता है।

इसी प्रकार २७ जून, १९३० के एक प्रस्तावसे कार्य-समितिने जनतासे अनुरोध किया कि "जिन सरकारी नौकरों और दूसरे लोगोंने राष्ट्रीय आंदोलनका गला घोटनेके लिए जनता पर अमानुषिक अत्याचार करनेमें सीधा भाग लिया है, उन सवका संगठित और कठोर वहिष्कार किया जाय।"[१] जव यह प्रस्ताव पास हुआ उस समय गांधीजी जेलमें थे। प्रस्ताव सामाजिक वहिष्कार-सम्वन्धी गांधीजीके विचारोंके विपरीत था, जिनका हम ऊपर इसी अध्यायमें विवेचन कर चुके हैं। उनके गोलमेज परिपद्से लौटने पर कार्य-समितिने वहिष्कार-सम्वन्धी अपने आदेशमें परिवर्तन कर दिया और जनताको याद दिलाया कि "सरकारी अधिकारियों, पुलिस अथवा राष्ट्र-विरोधियोंको हानि पहुंचानेकी दृष्टिसे किसी भी दशामें सामाजिक वहिष्कार नहीं किया जाना चाहिए। यह अहिंसा-वृत्तिके सर्वथा विरुद्ध है।"[२]

सविनय अवज्ञा

सविनय अवज्ञा असहयोगका उपसंहार, अन्तिम चरण और उग्रतम रूप है। गांधीजी उसे "सशस्त्र क्रान्तिका पूर्ण, कारगर और रक्तहीन स्थानापन्न"[३] वताते थे। असहयोगका दूसरा चरण सविनय अवज्ञाके लिए तैयार करता है। और यदि सत्याग्रही इन साधनोंका भलीभांति प्रयोग करें, तो उनको राज्यके कानूनोंको तोड़ना ही पड़ेगा।

सविनय अवज्ञा असहयोगके दूसरे साधनोंकी अपेक्षा अधिक उग्र और शीघ्रगामी है और इसलिए उसमें अधिक खतरा है और उसके प्रयोगमें अधिक सतर्कताकी आवश्यकता है। गांधीजीके अनुसार असहयोगका प्रयोग जनता और समझदार वच्चे भी कर सकते हैं। किन्तु विना सजाके डरके

---

१. कांग्रेसका इतिहास, पृ० ३२२।

२. कांग्रेसका इतिहास, पृ० ४१८

३. यं० इं०, भाग–१, पृ० ९३८।

स्वेच्छासे कानूनोंका पालन सविनय अवज्ञाकी पूर्व मान्यता है, इसलिए सविनय अवज्ञाका प्रयोग अन्तिम साधनकी तरह ही और, कम-से-कम प्रारम्भमें, चुने हुए व्यक्तियों द्वारा हो सकता है।[१] असहयोग और सविनय अवज्ञा दोनोंका ही ध्येय है अन्यायी, अनैतिक अर्थात् अजनतन्त्रवादी सरकार-को—जो जनताके उद्घोषित संकल्पकी अवज्ञा करती है—पंगु वना देना। असहयोगकी (अर्थात् सविनय अवज्ञाके अतिरिक्त असहयोगके दूसरे साधनोंकी) सफलताके लिए जनताका लगभग एकमत होना आवश्यक है; लेकिन सविनय अवज्ञाके कारगर होनेके लिए न तो इतनी व्यापकता आवश्यक है, और न इसकी आशा ही की जा सकती है।

गांधीजीके अनुसार सविनय अवज्ञाका अर्थ है "अनैतिक सरकारी कानूनोंको भंग करना। सविनय अवज्ञा इस वातकी द्योतक है कि प्रति-रोधकारी सविनय अर्थात् अहिंसक रूपसे कानूनकी अवज्ञा करता है।"[२] सविनय अवज्ञा वास्तवमें विनय और आज्ञाभंगका, अर्थात् अहिंसा और प्रतिरोधका, सामंजस्य है। मनुष्यके नैतिक विकासके लिए बुरे कानूनोंका विरोध आवश्यक है, लेकिन स्थिर सामाजिक व्यवस्थाके लिए, जिसके विना मनुष्यका जीवन और विकास सम्भव नहीं है, विनय आवश्यक है।

अवज्ञा स्वयं विनाशक है और समाज-विरोधी है। लेकिन उससे भी निकृष्ट है अनैतिक कानूनका मानना; और वह कभी कर्तव्य नहीं हो सकता। माननके योग्य वही कानून है, जो नैतिक हो और जनतंत्रवादी रीतिसे वना हो। जनतन्त्रमें भी कुछ चरम स्थितियोंमें यदि नागरिक वैधानिक साधनों द्वारा अनैतिक कानूनको रद्द नहीं करा सकता, तो उसे अपनी अन्तरात्माके प्रति निष्ठावान रहनेके लिए उस कानूनकी अवज्ञा करनी चाहिए। प्रजातन्त्रवादी राज्योंमें कानून और अन्तरात्मामें विरोध वहुत कम उठता है, लेकिन अजनतन्त्रवादी राज्योंमें और पराधीन देशोंमें सत्याग्रहीको इस स्थितिका सामना निरन्तर करना पड़ता है। राज्यके अनैतिक कानूनोंकी अवज्ञा वास्तवमें एक उच्चतर नैतिक विधान—सत्य और न्यायके विधान—के प्रति आज्ञाकारिता है। इस प्रकार सविनय अवज्ञा स्वतन्त्रता और कानूनमें सामंजस्य स्थापित करनेका प्रयत्न है।

लेकिन सविनय अवज्ञा जोखिमसे भरा अस्त्र है और उसका प्रयोग वहुत थोड़े अवसरों पर और वड़ी सतर्कतासे करना चाहिए। गांधीजीके शब्दोंमें, "उसके प्रयोगको सोची जा सकनेवाली सभी रुकावटोंके द्वारा सुरक्षित रखना चाहिए। हिंसा और सार्वजनिक अराजकताके विस्फोटके विरुद्ध प्रत्येक

---

१. यं० इं०, भाग-१, पृ० २२३।

२. यं० इं०, भाग-१, पृ० २२।

सम्भव प्रवन्ध करना चाहिए। उसके विस्तार और क्षेत्रको किसी विशेष मामलेकी कम-से-कम आवश्यकता तक सीमित रखना चाहिए।"[1]

इस साधनका प्रयोग सृजनात्मक और जीवनप्रद तभी हो सकता है जब 'अवज्ञा' की अपेक्षा उसके विशेषण 'सविनय' पर अधिक जोर दिया जाय।[2] 'सविनय' अपराधयुक्त, विनयहीन और हिंसात्मकका विपरीत अर्थ बतानेवाला है। अपराधयुक्त अवज्ञा उसी तरह उच्छृंखल, अराजक और जीवन-विनाशक है, जिस तरह सविनय अवज्ञा विकासकारी, जीवन-दायक और स्वतंत्रता-वर्द्धक है। गांधीजीका कहना है कि "अवज्ञा सविनय तभी होती है जब उसमें सच्चाई हो, वह आदरपूर्ण और नियंत्रित हो, दंभपूर्ण चुनौतीकी भावनासे मुक्त हो, किसी अच्छी तरह समझमें आनेवाले सिद्धांत पर आधारित हो और—यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शर्त है—उसके पीछे कोई दुर्भावना या घृणा न हो।"[3] सविनयका अर्थ अवसरके अनुकूल बाह्य वाणीकी नम्रता नहीं, बल्कि आंतरिक नम्रता और विरोधीके साथ भलाई करनेकी इच्छा है।[4] यदि 'अवज्ञा'का उद्देश्य हो विरोधीको परेशान करना या व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ण लाभ प्राप्त करना, न कि "अन्यायसे छुटकारा पानेके लिए कष्ट-सहन करना,"[5] तो वह अवज्ञा सविनय नहीं है। वह सविनय तभी होगी जब प्रतिरोध करनेवाले अनुशासनमें रह चुके हों और वातावरण शांत और अहिंसक हो। इसलिए यह आवश्यक है कि सविनय अवज्ञाके पहले प्रतिरोध करनेवालेको सविनय आज्ञाकी बान रही हो। जैसा कि गांधीजीने सन् १९१९ में नड़ियाद और अहमदाबादकी हिंसापूर्ण घटनाओंके बाद महसूस किया था, उन लोगोंके हाथमें सविनय अवज्ञाका साधन दे देना, जिन्हें सजाके डरके बिना कानूनको स्वेच्छासे माननेकी आदत नहीं है, हिमालयकी-सी बड़ी भूल है। सविनय अवज्ञाका अधिकार उन्हींको प्राप्त होता है, जो राज्यके उन कष्टदायक कानूनोंको भी—जो उनके धर्म और अन्तरात्माके विरुद्ध नहीं हैं—इच्छासे और जान-बूझकर मानते रहे हैं।[6] राज्यके कानूनोंको समझ-बूझकर, बिना प्रयासके माननेके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि सविनय अवज्ञाका प्रयोग करनेकी इच्छा रखनेवाले व्यक्तियों और समुदायोंने रचनात्मक

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० ९४४।
२. ह०, १–४–'३९, पृ० ७३; देखिये वार, पृ० ५६।
३. यं० इं०, भाग–१, पृ० ५७।
४. आत्मकथा, भाग–५, अ० २३।
५. यं० इं०, भाग–१, पृ० ३९।
६. यं० इं०, भाग–१, पृ० ९३२; आत्मकथा, भाग–५, अ० ३३।

कार्यक्रमके पर्याप्त व्यवहार द्वारा कठोर अनुशासन विकसित कर लिया हो और जनता पर अहिंसक नियन्त्रण प्राप्त कर लिया हो। यह भी जरूरी है कि प्रतिरोध करनेवाले तब तक सब प्रकारकी सजा और दमन शांति-पूर्वक सहनेको तैयार हों जब तक कि अन्यायी थक न जाय और सत्याग्रहीका उद्देश्य पूर्ण न हो जाय। अवज्ञाके सविनय होनेके लिए यह भी आवश्यक है कि अवज्ञा प्रकट रूपसे हो और उन लोगोंको, जो सत्याग्रहियोंको गिरफ्तार करना चाहें, विशेष रूपसे विदित कर दी जाय।[1]

इन शर्तोंमें से गांधीजी पर्याप्त अनुशासन पर बहुत जोर देते थे। उनके अनुसार प्राथमिक महत्त्व उच्च अनुशासन अर्थात् नैतिक शुद्धताका है। निस्सन्देह यह बात सविनय अवज्ञाको बहुत कठिन बना देती है। लेकिन गांधीजीके अनुसार उच्च अनुशासन पर आधारित शुद्ध सविनय अवज्ञा उस अशुद्ध, मिश्र प्रतिरोधसे, जिसे हम प्रायः धोखेसे सविनय अवज्ञा समझते हैं, अत्यन्त अधिक कारगर और शीघ्रगामी होगी। उनका यह भी मत था कि जनताको सविनय अवज्ञाकी शिक्षा देनेके लिए यह अनिवार्य रूपसे आवश्यक है कि नेताका दृष्टिकोण परिमाणात्मक नहीं किन्तु गुणात्मक हो, अर्थात् उसको चाहिए कि सत्याग्रहियोंकी संख्याकी उपेक्षा करके भी वह अनुशासनकी पर्याप्तता और नैतिक शुद्धता पर जोर दे।

यदि सामूहिक सविनय अवज्ञाका प्रारम्भ ठीकसे हो और अनुशासन संतोषजनक हो, तो सामूहिक अवज्ञा उस समय भी अहिंसक रहेगी जब सब नेता गिरफ्तार कर लिये जायंगे और आंदोलन बहुत कुछ स्वयं-संचालित हो जायगा।

सविनय अवज्ञा या तो राज्यके किसी एक अन्यायपूर्ण या अनैतिक कार्य या कानूनके विरुद्ध होती है या राज्यके ही विरुद्ध। पहली दशामें सविनय अवज्ञाका उद्देश्य है सरकारको अन्यायपूर्ण कानून या आज्ञाको हटानेके लिए विवश करना; दूसरी दशामें, इस अवज्ञाका उद्देश्य है अनैतिक सरकारको पंगु बना देना और उसके स्थान पर अहिंसक राज्य स्थापित करना। किसी अन्याय-विशेषके विरुद्ध सविनय अवज्ञाका प्रयोग, बिना उसके सम्भव परिणामका विचार किये, आत्म-बलिदानकी तरह किसी स्थान-विशेषकी चेतना या अन्तरात्माको जाग्रत करनेके लिए भी हो सकता है।[2] चम्पारनमें गांधीजीकी सविनय अवज्ञा इसी प्रकारकी थी। उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि वहांकी जनता उदासीन रहेगी। दक्षिण अफ्रीका, बारडोली और

---

१. ह०, १–४–'३९, पृ० ७२।

२. कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० २६।

खेड़ाकी सविनय अवज्ञाका उद्देश्य विशेष शिकायतोंको दूर करवाना ही था। सन् १९४०–४१ की सविनय अवज्ञा उन रुकावटोंके विरुद्ध थी, जो सरकारने भारतमें भाषण-स्वातन्त्र्य पर लगा दी थीं। कुछ देशी रियासतोंमें सविनय अवज्ञाका प्रयोग शासकोंको उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित करनेके लिए मजबूर करनेको हुआ था। सन् १९२०–२२ और १९३०–३४ के देशव्यापी सत्याग्रह आंदोलनोंका उद्देश्य था अंग्रेजी सरकारको हटाकर समानान्तर सत्याग्रही सरकारकी स्थापना करना। इसी प्रकार उस सामूहिक अहिंसक संघर्षका — जिसका ८ अगस्त, १९४२ के अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीके प्रस्तावमें उल्लेख था — उद्देश्य था इस देशसे ब्रिटिश सत्ताको तुरन्त हटाना।

उद्देश्य चाहे सीमित हो चाहे व्यापक, उन कानूनोंको, जिनकी अवज्ञा करना है, बड़ी सतर्कतासे चुनना चाहिए। सत्याग्रही उन कानूनोंकी अवज्ञा नहीं कर सकता, जो मान्य नैतिक सिद्धान्तोंकी स्थापना करते हैं। वह उन कानूनोंकी अवज्ञा कर सकता है, जो जनताके लिए हानिकर हैं। कुछ ऐसे भी कानून सरकार बनाती है, जो न तो नैतिक हैं और न अनैतिक। सरकार इन कानूनोंको अपनी सत्ताके उपयोगके लिए बनाती है और जनता उनका सुशासनके हितमें पालन करती है। इन कानूनोंकी अवज्ञासे जनताको हानि न होगी, लेकिन शासनका कार्य बहुत बढ़ जायगा। सत्याग्रहीको इन कानूनोंकी अवज्ञाका अधिकार है, क्योंकि अन्यायी सरकार जनताकी आज्ञाकारिता पानेका अधिकार खो देती है। अवज्ञाके लिए ऐसे कानूनोंको चुनना चाहिए, जिनके विषयमें अधिक-से-अधिक मनुष्य सविनय अवज्ञामें भाग ले सकें। इस प्रकार सरकारकी सत्ताको उन सभी तरीकोंसे, जिनमें हिंसा या अनैतिकता नहीं है, चुनौती देनी चाहिए।[1] सन् १९३०–३४ के सविनय अवज्ञा आन्दोलनमें गांधीजी द्वारा नमक-कानूनका चुनाव आदर्श चुनाव था। बीसों दूसरे कानूनोंकी अवज्ञा हो सकती है और इस तरह अन्यायी सरकारके अस्तित्वकी उपेक्षा और उसकी सत्ताका विरोध हो सकता है।

अहिंसापूर्ण करबन्दी सरकारको हटानेका काम सबसे अधिक शीघ्रतासे करनेवाली पद्धति है और उसके तुरन्त अपनाये जानेका प्रलोभन रहता है। लेकिन जब तक जनता अहिंसासे ओतप्रोत न हो, करबन्दीमें हिंसाका अधिक-से-अधिक खतरा है। इसलिए गांधीजी उसे सविनय अवज्ञाका अन्तिम चरण बताते थे और कहते थे कि करबन्दीका प्रयोग सविनय अवज्ञाके दूसरे साधनोंके प्रयोगके बाद होना चाहिए। अहिंसक करबन्दीका अधिकार उन्हींको है, जो नियमित रूपसे कर देते रहे हों और अहिंसक करबन्दीके

---

१. स्पीचेज, पृ० ४५८; ह०, १८–३–'३९, पृ० ५३।

कारण और अच्छाईको समझते हों, जिन्होंने आवश्यक अहिंसक अनुशासनको अपनेमें विकसित किया हो और जो अपनी सम्पत्तिकी जब्तीको शान्ति और सन्तोषके साथ सहन करनेको तैयार हों।[1]

अवज्ञाके लिए कानूनका चुनाव स्वयं प्रत्येक सत्याग्रही द्वारा नहीं बल्कि नेता द्वारा या विशेषज्ञोंकी किसी केन्द्रीय समिति द्वारा होना चाहिए। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर यह प्रतिबन्ध अनुशासनके लिए आवश्यक है और इसके अभावमें प्रत्येक सत्याग्रहीके स्वयं अपना नियम-निर्धारक बननेकी संभावना है; और उसका परिणाम होगा अराजकता या अपराधपूर्ण अवज्ञा।[2]

गांधीजी व्यक्तिगत और सामूहिक सविनय अवज्ञामें तथा आक्रमणके लिए और बचावके लिए की गई सविनय अवज्ञामें भेद करते थे। २५ फरवरी, १९२२ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीने सविनय अवज्ञाके भिन्न-भिन्न प्रकारोंकी परिभाषा निम्न शब्दोंमें की थी :

"व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा एक ही व्यक्ति द्वारा या व्यक्तियोंकी निश्चित संख्या या समुदाय द्वारा आज्ञाओं या कानूनोंकी अवज्ञा है। इसलिए वह निषिद्ध सार्वजनिक सभा, जिसमें प्रवेश टिकटों द्वारा मिलता है, व्यक्तिगत सविनय अवज्ञाका दृष्टान्त है, जब कि वह निषिद्ध सभा, जिसमें साधारण जनताका बिना किसी रुकावटके प्रवेश हो सकता हो, सामूहिक सविनय अवज्ञाका दृष्टान्त है। जब निषिद्ध सार्वजनिक सभा साधारण कार्यके लिए हो, चाहे उसका परिणाम गिरफ्तारी ही क्यों न हो, तो वह सविनय अवज्ञा बचावके लिए है। यदि वह (सभा) किसी साधारण कार्यके लिए न हो, बल्कि केवल गिरफ्तारी या कैदके आह्वानके लिए हो, तो वह अवज्ञा आक्रमणके लिए है।"[3]

गांधीजीके अनुसार, "सामूहिक सविनय प्रतिरोध और व्यक्तिगत सविनय प्रतिरोधके बीच प्रमुख अन्तर यह है कि दूसरेमें प्रत्येक (व्यक्ति) पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र इकाई है और उसके पतनका दूसरों पर प्रभाव नहीं पड़ता; सामूहिक सविनय प्रतिरोधमें एकका पतन सामान्य रीतिसे शष लोगों पर बुरा प्रभाव डालता है। फिर, सामूहिक सविनय प्रतिरोधमें नेतृत्व आवश्यक है; व्यक्तिगत सविनय प्रतिरोधमें प्रत्येक प्रतिरोध करनेवाला स्वयं अपना नेता होता है। सामूहिक सविनय प्रतिरोधमें असफलताकी संभावना है; व्यक्तिगत सविनय प्रतिरोधमें असफलता असंभव है। अन्तमें, राज्य सामूहिक सविनय प्रतिरोधका सामना कर सकता है, लेकिन

---

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० ९४७–५१।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० १८।

३. यं० इं०, भाग–१, पृ० १०१९।

किसी भी राज्यमें व्यक्तिगत सविनय प्रतिरोधका सामना करनेकी क्षमता नहीं है।"[१] गांधीजीका विश्वास था कि सविनय अवज्ञाका वास्तविक रूप व्यक्तिगत अवज्ञा ही है और जब तक एक भी सत्याग्रही प्रतिरोध करता रहता है, सविनय अवज्ञा आन्दोलन समाप्त नहीं हो सकता और अन्तमें वह अवश्य सफल होगा।[१]

गांधीजीके अनुसार "आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञा राज्यके उन कानूनोंकी इच्छापूर्वक अहिंसक अवज्ञा है, जिनका भंग करना नैतिक भ्रष्टता नहीं है और यह अवज्ञा राज्यके विरुद्ध विद्रोहके प्रतीकके रूपमें की जाती है। इस प्रकार ऐसे कानूनोंकी अवज्ञा आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञा होगी, जिनका सम्बन्ध लगानसे या राज्यकी सुविधाके लिए व्यक्तिगत व्यवहारकी व्यवस्थासे है, यद्यपि इन कानूनोंसे कोई कठिनाई नहीं होती और उनको बदलनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।"

"दूसरी ओर रक्षात्मक सविनय अवज्ञा ऐसे कानूनोंकी अनिच्छापूर्वक की जानेवाली अहिंसक अवज्ञा है, जो बुरे हैं और जिनको मानना आत्म-प्रतिष्ठा या मानवीय सम्मानके प्रतिकूल है। इस प्रकार निषेधकी आज्ञा होते हुए भी, शांतिपूर्ण आयोजनोंके लिए स्वयंसेवकोंका दल बनाना, ऐसे ही प्रयोजनोंके लिए सार्वजनिक सभाएं करना, ऐसे लेखोंको प्रकाशित करना जिनमें हिंसा करनेकी बात नहीं है या जो हिंसाके लिए उत्तेजित नहीं करते, रक्षात्मक सविनय अवज्ञा है। और ऐसा ही (रक्षात्मक) शान्तिमय धरनेका संचालन है, जिसका उद्देश्य प्रतिकूल आज्ञाके होते हुए भी उन चीजों या संस्थाओंसे लोगोंको अलग करना हो जिन पर धरना दिया जा रहा हो।"[२]

आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञाका अधिकार कठिनतम अनुशासनके बाद प्राप्त होता है। सन् १९३० में धरासणा और बडालाके सरकारी नमक-गोदामों पर मारे गये अहिंसक छापे आक्रमणात्मक सामूहिक सविनय अवज्ञाके दृष्टांत हैं। इनमें सत्याग्रहियोंकी अधिकतम संख्या १५ जून, १९३० को बडालाके सामूहिक छापेमें थी, जिसमें १५,००० सत्याग्रहियोंने भाग लिया था।[३] गांधीजी धरासणाके छापेको इस प्रकारके अहिंसक छापेका पूर्ण दृष्टान्त मानते थे।[४]

---

१. पूना स्टेटमेंट्स (महात्मा गांधी और पं० जवाहरलाल नेहरूके बीचका पत्र-व्यवहार), पृ० ११।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० ९८३।

३. महात्मा गांधी — *दि मैन एण्ड हिज़ मिशन*, पृ० १३४–३५; रॉय वॉकर: सोर्ड ऑफ गोल्ड, पृ० १११ और १३३।

४. ह०, २३–६–'४६, पृ० १८९।

गांधीजी आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञाको 'अधिकतम खतरनाक अस्त्र' कहते थे।[1] जब सत्याग्रहीको साधारण शान्तिपूर्ण कार्य करनेकी मनाही हो जाती है या जब उसका तिरस्कार और अपमान होता है, तो उसे मजबूरन् रक्षात्मक सविनय अवज्ञाका उपयोग करना पड़ता है। इसलिए रक्षात्मक सविनय अवज्ञा स्थगित नहीं की जा सकती; उसका सदा स्वागत करना पड़ता है। वास्तवमें रक्षात्मक सविनय अवज्ञा एक ऐसा कर्तव्य है, जिसका पालन उस समय भी करना पड़ता है जब विरोधी कठिनाईमें हो; क्योंकि "कठिन स्थितिमें विरोधी दूसरोंसे अन्यायपूर्ण या अपमानजनक आज्ञाओं या कानूनोंको माननेकी आशा नहीं कर सकता।"[2] आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञाका उद्देश्य चाहे जो हो, वह विरोधीको परेशान करती है और यदि विरोधी कष्टमें हो तो सत्याग्रहीको इस अवज्ञासे बचना चाहिए।

लेकिन प्रकट है कि आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञाका यह अर्थ नहीं कि बिना किसी गंभीर शिकायतके आक्रमण कर दिया जाय। आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञाका केवल यह अर्थ है कि किसी विशेष कानूनकी अवज्ञा करनेका कारण यह नहीं है कि जनता उस कानूनसे असन्तुष्ट है, बल्कि यह है कि सत्याग्रहियोंने अन्यायी सरकारके विरुद्ध विद्रोह कर दिया है। आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञाका प्रयोग किसी महत्त्वपूर्ण शिकायत या अन्यायको दूर करनेके लिए तभी होना चाहिए जब अन्य शान्तिपूर्ण उपाय निष्फल हो जायं, और जब यह असन्दिग्ध रूपसे स्पष्ट हो जाय कि अहिंसक प्रतिरोध किये सिवा कोई अन्य उपाय नहीं है।

समुदाय द्वारा प्रयुक्त व्यक्तिगत सत्याग्रह भी सामूहिक पद्धति है। दूसरी ओर सामूहिक सत्याग्रहको भी गांधीजी छोटे परिमाणमें प्रारम्भ करते थे और क्रमशः आन्दोलनको बढ़ाते जाते थे। उन्होंने कई सामूहिक सत्याग्रह आन्दोलनोंका नेतृत्व किया था, किन्तु वे जानते थे कि सामूहिक व्यवहारका नैतिक तल नीचा होता है। वे तात्कालिक सामूहिक भावनाओंको — जिनके हिंसापूर्ण सुझावोंसे प्रभावित होनेकी बहुत गुंजाइश होती है — सन्देहकी दृष्टिसे देखते थे। इसलिए वे सामूहिक सत्याग्रहके लिए आवश्यक पर्याप्त अनुशासन पर बहुत जोर देते थे। पर्याप्त अनुशासनके अभावमें इस बातका बड़ा खतरा रहता है कि सामूहिक संघर्षकी उत्तेजना प्रतिरोधकारियोंको पथभ्रष्ट कर दे और अवज्ञा हिंसात्मक हो जाय। यह खतरा इस बातसे और भी बढ़ जाता है कि व्यक्तिगत सविनय अवज्ञाके प्रतिकूल, जिसमें व्यक्ति जनताकी किसी शिकायतको दूर करनेके लिए कष्ट सहते हैं,

---

१. यं० इं०, भाग-१, पृ० ९८७।
२. ह०, ६-१-'४०, पृ० ४०४।

सामूहिक सविनय अवज्ञामें भाग लेनेवालोंको अवज्ञासे व्यक्तिगत लाभकी आशा होती है और इस प्रकार वह प्राय: स्वार्थपूर्ण होती है।[१]

सन् १९४०–४१ के युद्ध-विरोधी सत्याग्रहमें गांधीजीने व्यक्तिगत सत्याग्रहकी एक नई पद्धतिका विकास किया था। इस पद्धतिका उद्देश्य था हिंसाको कम-से-कम कर देना और शुद्धतम अहिंसाका उपयोग करना। उन्होंने नैतिक शुद्धता पर ध्यान केन्द्रित किया और सत्याग्रहियोंकी संख्या उसी सीमा तक बढ़ने दी जहां तक उसका शुद्धता पर हानिकर प्रभाव न पड़े। जिस प्रश्नको लेकर संघर्ष हुआ था वह था "चल रहे युद्धमें भाग लेनेके विरुद्ध या युद्धके विरुद्ध भाषणका अधिकार" या दूसरे शब्दोंमें "अहिंसक साधनों द्वारा अहिंसाकी शिक्षा देनेका अधिकार।"[२]

उन्होंने अक्तूबर १९४० में प्रतिनिध्यात्मक सविनय अवज्ञाके रूपमें आन्दोलन शुरू किया। प्रारम्भिक धारणाके अनुसार आन्दोलन दो या तीन व्यक्तियों तक सीमित था।[३] उसे प्रतीकात्मक बनानेका विचार था। नवम्बरके मध्यमें आन्दोलनमें वे लोग भी सम्मिलित कर दिये गये, जो कुछ निर्वाचित पदों पर नियुक्त थे, जैसे कार्य-समितिके, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीके और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान-सभाओंके सदस्य। इसके बाद जनवरी १९४१ में तीसरे चरणमें प्रान्तीय और स्थानीय कांग्रेस कमेटियोंके सदस्योंकी बारी आई। उनके बाद कांग्रेसका कोई भी सदस्य, जिसने सत्याग्रहके प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किया हो, सविनय अवज्ञामें भाग ले सकता था। लेकिन केवल अनुशासनके रूपमें किसीको भी जेल जानेको विवश न किया जाता था। यह आवश्यक था कि गांधीजी सत्याग्रहीके नामको और उसकी सविनय अवज्ञाकी पद्धतिको स्वीकृति दे दें।[४] इस प्रकार कांग्रेसके

---

१. स्पीचेज़, पृ० ६३७।

२. ह०, २०–१०–'४०, पृ० ३३०।

३. पट्टाभि सीतारमैया : गांधी एंड गांधीज़्म, भाग–१, पृ० १८६–८७; रॉय वॉकर : सोर्ड ऑफ गोल्ड, पृ० १८४–८६; राजेन्द्रप्रसाद : महात्मा गांधी एण्ड बिहार, पृ० ११२–१४।

४. गांधीजीके अनुसार सविनय अवज्ञाकी सबसे अधिक सरल और श्रेष्ठ विधि यह थी कि सत्याग्रही किसी दिशामें चले और तब तक नीचे दिया हुआ नारा रास्ता चलनेवालोंके समक्ष दोहराता जाय जब तक वह गिरफ्तार न कर लिया जाय। नारा यह था : "अंग्रेजोंके युद्ध-प्रयासको जन या धनसे सहायता करना अनुचित है। एकमात्र उचित प्रयास है सब प्रकारके युद्धका अहिंसक प्रतिरोध द्वारा विरोध करना।" नारेका उस प्रान्तकी भाषामें अनुवाद कर लिया जाता था, जिस प्रान्तमें सविनय अवज्ञा होती थी।

सभी सदस्य आन्दोलनमें भाग ले सकते थे, यद्यपि सविनय अवज्ञा सामूहिक रूपमें नहीं किन्तु विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग होती थी।

सत्याग्रहमें भाग लेनेके लिए गांधीजीने केवल ऐसे व्यक्तियोंको स्वीकृति दी, जो अहिंसाको न केवल देशकी स्वतन्त्रता प्राप्त करने और देशके अन्दर धार्मिक और सामाजिक समुदायोंके आपसी झगड़ोंको निपटानेके साधनके तौर पर स्वीकार करते थे, वल्कि यह भी मानते थे कि यथासम्भव स्वतन्त्र भारतमें भी उसका उपयोग हो और जो अहिंसाके अविभाज्य अंग रचनात्मक कार्यक्रममें लगे हों। सत्याग्रहियोंके लिए यह आवश्यक था कि वे आदतन खादी पहनते हों और नियमित रूपसे सूत कातते हों। उन्हें अपनी कताईका व्यौरा देना होता था। यह आवश्यक था कि वे अहिंसाके अविभाज्य अंगके रूपमें रचनात्मक कार्यक्रमको अपना सव समय देते हों और प्रतिदिनके कार्यका दैनिक विवरण लिखते हों। गांधीजी उम्मीदवारोंको सविनय अवज्ञाके लिए उनकी डायरी देखकर चुनते थे। सविनय अवज्ञाके कुछ दिन चलनेके बाद चुनाव अपने-आप होने लगा; जेलसे मुक्त सत्याग्रही फिरसे सविनय अवज्ञामें भाग लेते थे, लेकिन जो किसी कारणसे आन्दोलनमें भाग न ले सकते थे वे अलग हो जाते थे। सरकारको परेशान न करनेके उद्देश्यसे गांधीजीने इस आन्दोलनमें सामूहिक अवज्ञा और असहयोगके साधारण साधनोंके प्रयोगको स्थान न दिया। इस सीमित प्रतीकात्मक अवज्ञासे भी सरकारको परेशानी हुई, लेकिन गांधीजीका मत था कि इस अवसर पर सविनय अवज्ञाका अर्थ इस युद्ध या सभी युद्धोंमें भाग लेनेके विरुद्ध भाषणके अधिकार पर निश्चयके साथ वल देना है। इस

गांधीजीको यह विधि इसलिए पसन्द थी कि वह खर्चीली न थी और हानि-रहित तथा कारगर थी और युद्धके एकमात्र प्रश्न पर लोगोंका ध्यान एकाग्र करती थी। इसके अतिरिक्त इस विधिने आन्दोलनके रूपको सरलतम वनाया और उसको विगड़कर सामूहिक वन जानेसे रोका। गांधीजीकी राय थी कि प्रतिरोधकारी इस वातको अपने कार्य और भाषण द्वारा स्पष्ट कर दें कि वे न तो फासिज्मके पक्षमें हैं, न नात्सीवादके। वे या तो सव युद्धोंके विरोधी हैं या कम-से-कम ब्रिटिश साम्राज्यवादके द्वारा लड़ी जानेवाली इस लड़ाईके विरुद्ध हैं। उनको अंग्रेजोंके इस प्रयासके साथ सहानुभूति है कि वे जीवित रहें, लेकिन वे स्वयं भी एक स्वतंत्र राष्ट्रके सदस्यकी तरह रहनेके इच्छुक हैं और उनसे इस वातकी आशा करना अनुचित है कि वे अपनी आजादीकी कीमत पर अंग्रेजोंकी सहायता करें। सन् १९४०–४१ के आन्दोलनमें सविनय अवज्ञा करनेवालोंको दी हुई गांधीजीकी हिदायतोंके लिए देखिये सीतारमैया-कृत 'गांधी एंड गांधीज्म', भाग–१, पृ० १८२–८४।

अवसर पर युद्धका विरोध इस प्रकार भी न करना अहिंसाको छोड़ देनेके
समान है। इस प्रकार सविनय अवज्ञा एक ऐसे अधिकारके लिए दावा है,
जो नागरिकोंको राज्यकी ओरसे मिलना चाहिए था; लेकिन जो राज्यको
मान्य न था। यदि नागरिकके कर्तव्य-पालनसे सरकारको परेशानी भी
होती, तो उसे टाला नहीं जा सकता था।[१]

इस आन्दोलनमें गांधीजीका यह उद्देश्य नहीं था कि सरकारके युद्ध-
प्रयासमें रुकावट पड़े। भारतने स्वेच्छासे युद्धमें भाग लेनेका निश्चय नहीं
किया था। यह आन्दोलन भारतको युद्धसे अलग रखनेका नैतिक प्रयत्न था
और अहिंसक साधनों द्वारा देशको स्वतन्त्र करनेकी कांग्रेसकी इच्छाका
प्रतीक था। अवज्ञाकी इस नई पद्धतिकी विशेषता यह थी कि इसमें
साधारण जनताके भी व्यक्तिगत रूपसे भाग लेनेकी गुंजाइश थी और
हिंसाका खतरा कम-से-कम था। आन्दोलनमें २३,२२३ सत्याग्रहियोंने भाग
लिया। दिसम्बर १९४१ में सरकारने सत्याग्रहियोंको शान्ति-स्थापनाकी
इच्छाके चिह्नस्वरूप छोड़ दिया। आन्दोलन फिरसे नहीं चलाया गया,
क्योंकि जापानी भारतवर्षकी सीमा पर पहुंच गये थे और कांग्रेस देशकी
रक्षा और स्वावलम्बनके प्रश्नोंको हल करनेमें लग गई थी।

इसके अतिरिक्त सन् १९४१ के अन्तिम भागमें कांग्रेसके कुछ सदस्य
व्यक्तिगत सत्याग्रहसे असन्तुष्ट थे और ब्रिटिश सरकारके अधिक सक्रिय
विरोधके पक्षमें थे। कुछ जेलसे मुक्त हुए सत्याग्रहियोंमें फिर जेल जानेकी
इच्छा नहीं थी।

जैसा कि गांधीजीके जीवनसे ज्ञात होता है, सविनय प्रतिरोधको
अहिंसाके उच्चतम स्तर पर रखनेका उपाय यह है कि वह केवल उस
व्यक्ति तक ही सीमित रखा जाय, जिसको सत्याग्रह-विज्ञानका अधिकतम
ज्ञान हो। इसी कारण सन् १९३४ में गांधीजीने सविनय अवज्ञाको कांग्रेसके
अन्य सदस्योंके लिए स्थगित कर दिया था। उनका विचार था कि इससे
सविनय अवज्ञाके आन्दोलनमें नैतिक पतनकी सम्भावना कम-से-कम हो
जायगी, आन्दोलनको शक्ति मिलेगी और जनता तथा सरकार दोनों
सुगमतासे आन्दोलनके प्रति ठीक व्यवहार कर सकेंगे।[२] गांधीजीके जीवनके
अंतिम भागमें नोआखाली, कलकत्ता और दिल्लीमें वीरोंकी अहिंसाके उनके
प्रयोग, जो इतने सफल और कारगर सिद्ध हुए, सत्याग्रहमें अधिकतम दक्ष
एक व्यक्ति तक सीमित अहिंसक प्रतिरोधके दृष्टान्त हैं।

---

१. गांधीजीका २१-४-'४१ का वक्तव्य।

२. चन्द्रशंकर शुक्ल : कन्वर्सेशन्स ऑफ गांधीजी, पृ० ९७।

हिजरत

व्यक्तिगत और सामूहिक सत्याग्रहका एक दूसरा साधन हिजरत है। हिजरतका अर्थ है स्वेच्छासे देशत्याग। हिजरतके कुछ ऐतिहासिक दृष्टांत हैं रोमके पैट्रीशियन्ससे अधिकार प्राप्त करनेके लिए प्लेवियन्सका नगर-त्याग, इजराइल निवासियोंकी हिजरत, मोहम्मद साहवकी मक्कासे मदीनाको की गई हिजरत, इंग्लैण्डके प्योरिटन्सका और रूसके दूखोवार्सका विदेश-गमन। लेकिन ये सभी दृष्टान्त अहिंसक हिजरतके नहीं हैं। सन् १९३० में गुजरातमें वारडोली, वोरसद और जम्बूसरकी जनताने सामूहिक हिजरतकी पद्धतिका प्रयोग करवन्दीके आन्दोलनको दवानेके लिए किये गये सरकारके अमानुषिक अत्याचारके विरोधमें किया था। ये सत्याग्रही किसान वम्वई प्रान्तको छोड़कर पड़ोसके वड़ौदा राज्यमें जा वसे थे।[1]

गांधीजी हिजरतके साधनके उपयोगकी सिफारिश उन लोगोंसे करते हैं, जो यह महसूस करते हैं कि उनके ऊपर अत्याचार हो रहा है, जो किसी स्थान-विशेषमें विना आत्म-सम्मानकी हानिके नहीं रह सकते और जिनमें न तो सच्ची अहिंसाकी शक्ति है और न हिंसा द्वारा अपनी रक्षा करनेकी क्षमता है।[2]

इस प्रकार यदि सविनय अवज्ञा अत्याचारीको जनताके खूनका प्यासा वना दे और उसका आतंक तथा दमन असह्य हो जाय और इस वातकी आशंका हो कि इस परिस्थितिमें सत्याग्रही क्रोधित या कमजोर हो जायंगे, तो गांधीजीकी राय है कि सत्याग्रहियोंको घरवार और दूसरी सम्पत्तिकी परवाह न करके स्वेच्छासे अत्याचारीकी अमलदारीसे वाहर चले जाना चाहिए। लेकिन इस साधनका प्रयोग विना सोचे-विचारे नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे नहीं करना चाहिए। इसका प्रयोग तभी करना चाहिए जब अत्याचारीके अन्यायको सह लेना सत्याग्रहीकी नैतिकताकी चेतनाको इतनी चोट पहुंचाये कि वह आत्म-सम्मान खो देनेकी अपेक्षा मर जाना अधिक पसन्द करे।[3]

हिजरतके साधनके उपयोगकी सलाह गांधीजीने सन् १९२८ में वारडोलीके सत्याग्रहियोंको और सन् १९३९ में जूनागढ़, लिम्वड़ी और विट्ठलगढ़के सत्याग्रहियोंको दी थी।[4] सन् १९३५ में उन्होंने कविथाके हरिजनोंको वह

---

१. हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस, पृ० ७०१ और ७०६।

२. ह०, ३-२-'४०, पृ० ४३५।

३. ह०, २०-५-'३९, पृ० १३३-३४।

४. ह०, २०-५-'३९, पृ० १३३ और यं० इं०, भाग-३, पृ० १०३५-३६।

स्थान त्याग देनेकी राय दी थी, क्योंकि सवर्ण हिन्दू नियमित रूपसे उनको आतंकित कर रहे थे और इस कारण हरिजनोंमें चरम निराशा उत्पन्न हो गयी थी।[1]

गांधीजी १५ अगस्त, १९४७ से पहले और बादकी साम्प्रदायिक हिंसासे पीड़ित अल्पमतवालोंके देशत्यागके पक्षमें नहीं थे। इस प्रकारके देशत्यागसे साम्प्रदायिक पागलपन, दुर्भावना और हिंसाको प्रोत्साहन मिलता है और वह जनतन्त्रवादके विकासमें बाधक है, क्योंकि धार्मिक सहिष्णुता इसके लिए आवश्यक है। किन्तु साम्प्रदायिक द्वेषका श्रेष्ठतम उपाय है बहुमत द्वारा अल्पमतके जीवन और अधिकारोंकी रक्षा और अल्पमत द्वारा अत्याचारका वीरोंकी अहिंसा द्वारा प्रतिरोध। लेकिन यदि उच्चतम वीरताका अभाव हो और यदि हिजरतका विकल्प अन्यायके प्रति आत्म-समर्पण हो, तो हिजरत असह्य स्थितिसे छुटकारा पानेका अहिंसक मार्ग है और उसमें कुछ भी अनैतिक या असम्मानपूर्ण या कायरताका द्योतक नहीं है। किन्तु उचित होते हुए भी उसके उपयोगके अवसर आधुनिक राज्यमें बहुत थोड़े होते हैं। सम्भवतः राज्य सामुदायिक हिजरतकी आज्ञा न दे। इसके अतिरिक्त यह एक प्रकारका असहयोग है। असहयोगकी सफलताके लिए स्थान-विशेषके निवासियों या समुदाय-विशेषके सदस्योंका लगभग सार्वभौम समर्थन आवश्यक है और घरके प्रति मनुष्यके सहज प्रेमके कारण हिजरतमें सार्वभौम समर्थन मिलना बहुत कठिन है। किन्तु बड़े राज्योंमें किसी क्षेत्र-विशेषके प्रमुख बहुमत समुदायसे पीड़ित अल्पमत प्रदेश-त्याग द्वारा राहत पा सकता है।

१०

सामूहिक सत्याग्रह – ३

अराजनैतिक संघर्ष और आलोचना

पिछले अध्यायमें वर्णित सत्याग्रहकी सामूहिक पद्धतिका प्रयोग केवल राजनैतिक झगड़ोंमें ही नहीं बल्कि आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक अन्यायके विरुद्ध भी हो सकता है। सभी प्रकारके शोषणकी जड़ है स्वार्थपूर्ण तथा पृथक्‌ताजनक विचार और वृत्तियां; और उसका अर्थ है अन्यायी और पीड़ितके बीच सहयोग। इसलिए अन्यायका उत्तरदायित्व अन्यायी और पीड़ित दोनों पर है। अन्याय और शोपणसे छुटकारा पानेका उपाय यह है कि पीड़ित अपने इस सहयोगसे हाथ खींच ले और कष्ट-सहन द्वारा विपक्षीके मस्तिष्क और हृदयको प्रभावित करे और इस प्रकार उसे अपनी भूल जानने और उसे सुधारनेमें सहायता दे। गांधीजीको यह धारणा मान्य नहीं थी कि शोपकका सुधार नहीं हो सकता। उनके मतसे शोपक— चाहे वह पूंजीपति हो, जमींदार हो या धर्मान्ध व्यक्ति हो — मूलतः मनुष्य है; उसका केन्द्रबिन्दु आत्मा है; उसकी इस विशेषताका कभी लोप नहीं होता। इसलिए उसका हृदय-परिवर्तन सदा सम्भव है। अन्यायसे छुटकारा पानेके लिए हिंसक साधनोंके प्रयोगसे विरोध गहरा होता है, प्रतिहिंसाकी भावना दृढ़ होती है, झगड़ा बढ़ता रहता है और शोपण जारी रहता है। इसके अतिरिक्त आजके संसारमें शोपकका हिंसक साधनों पर एकाधिकार है। शोपण और अन्यायका अन्त केवल तभी हो सकता है जब झगड़ेका निपटारा नैतिकताके विधायक स्तर पर हो — ऐसे स्तर पर जहां जनमत और अन्यायी पर कष्ट-सहन और प्रेमका अचूक प्रभाव पड़ता है।

आधुनिक परिस्थितिमें शोपक आर्थिक और सामाजिक समुदायके विरुद्ध अहिंसक प्रतिरोधके फलस्वरूप सम्भवतः सत्याग्रहियोंमें और राज्यमें भी झगड़ा हो जायगा और इस प्रकार झगड़ेका स्वरूप राजनैतिक हो जायगा। व्यापक सामाजिक और आर्थिक अन्याय राज्यके अजनतंत्रवादी होनेका निश्चित चिह्न है। अजनतन्त्रवादी राजनैतिक संगठन केवल समाजमें दूसरे शोपकोंके साथ सहयोग करके ही जीवित रह सकता हैं। किसी भी बुनियादी सामाजिक या आर्थिक प्रश्न पर अजनतंत्रवादी सरकार आत्मरक्षाके उद्देश्यसे सत्याग्रहियोंको दबाये रखनेका प्रयत्न करेगी। इसलिए अहिंसक प्रतिरोधकी रूपरेखा मोटे तौरसे वही रहेगी — झगड़ेका कारण चाहे जो हो।

सामाजिक संघर्ष

गांधीजीने स्वयं आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर कई अहिंसक लड़ाइयां लड़ी थीं। दक्षिण अफ्रीकाकी उनकी सर्व-प्रथम अहिंसक लड़ाईका कारण भी आर्थिक-सामाजिक ही था। यह लड़ाई दक्षिण अफ्रीकानिवासी अल्पसंख्यक हिन्दुस्तानियोंका वहांके प्रमुख सामाजिक समुदाय यूरोपवासियोंके अत्याचारसे अपनी रक्षाका सफल प्रयत्न था। इन हिन्दुस्तानियोंमें अधिकांश मजदूर थे। इसी प्रकार त्रावणकोर राज्यके वाइकोम नामक स्थानका सत्याग्रह भी गांधीजीके पथ-प्रदर्शनमें सफलतापूर्वक चला था और उसका उद्देश्य था सवर्ण हिन्दुओंके सामाजिक अत्याचारको दूर करना और अछूतोंके नागरिकताके अधिकारोंकी रक्षा करना।

यदि समाजमें किसी समुदायके प्रति भेदभावयुक्त अन्यायपूर्ण बर्ताव हो, तो किसी-न-किसी प्रकारका अहिंसक प्रतिरोध न्याय पानेका सबसे अधिक सक्षम उपाय है। गांधीजीके जीवन-कार्य और बलिदानसे यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार साम्प्रदायिक दंगे और दूसरे ऐसे ही झगड़े अहिंसा द्वारा शांत किये जा सकते हैं। सन् १९३८ में उन्होंने इस कार्यके लिए शांतिसेना बनानेकी सिफारिश की। शान्तिसेनाके स्वयंसेवकोंको मन, वचन और कर्ममें अहिंसक रहनेकी प्रतिज्ञा करनी चाहिए। यदि दंगा समझाने-बुझानेसे शान्त न हो तो गांधीजी चाहते थे कि ये सेनाएं साम्प्रदायिकताकी अग्निमें अपनी आहुति देकर शान्ति-स्थापनाका प्रयत्न करें। उन्हें चाहिए कि क्रोधसे पागल बने हुए दंगा करनेवालोंके हिंसक आघातके सामने प्रसन्नतासे अपना सर झुका दें और इस प्रकार स्थितिको संभालनेका प्रयत्न करें। लेकिन ये सत्याग्रही सफल तभी हो सकते हैं जब वे उस स्थान-विशेषके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंकी दीर्घकालीन निःस्वार्थ रचनात्मक सेवा द्वारा और उनमें शान्ति-प्रचार द्वारा इस बलिदानके अधिकारी बन गये हों। इस सेवामें अपने और दूसरे धर्मोंके अनुयायियोंमें भेद नहीं करना चाहिए।[1]

भारतवर्षमें अपने दीर्घकालीन सार्वजनिक जीवनमें गांधीजीने साम्प्रदायिक एकताकी स्थापनाके लिए भरसक प्रयत्न किया। अनेक अवसरों पर उन्होंने साम्प्रदायिक हिंसाके निराकरणके लिए उपवास किये। नोआखालीमें इसी उद्देश्यसे उन्होंने गांव-गांव पैदल यात्रा की और जनताको सद्भावना, शांति और निर्भयताका संदेश दिया। किन्तु उनके उपवासों और अन्य कार्योंकी सफलताको उनकी नितान्त निःस्वार्थ सेवाके दीर्घकालीन जीवनके संदर्भमें ही समझा जा सकता है।

अनेक अवसरों पर उन्होंने यहूदियों और नीग्रो लोगोंको अन्याय, अत्याचार और जातीय भेदभावके विरुद्ध अहिंसक प्रतिरोधकी राय दी थी।

धार्मिक संघर्ष

गांधीजीका मत है कि सत्याग्रहके आध्यात्मिक शस्त्रके उपयोगके लिए अन्य कोई झगड़े इतने उपयुक्त नहीं जितने कि धार्मिक झगड़े हैं।

किन्तु धार्मिक उद्देश्यसे किये गये सत्याग्रहमें साधारण सत्याग्रहकी अपेक्षा अधिक अनुशासन और मुतथ्यताकी आवश्यकता है। धार्मिक सत्याग्रहका प्रयोग किसी अन्य सांसारिक या राजनैतिक उद्देश्यकी सिद्धिके लिए तो कभी करना ही नहीं चाहिए। इस सत्याग्रहका नेतृत्व किसी ऐसे मनुष्यके हाथमें होना चाहिए, जो सच्चा ईश्वर-परायण हो—यदि वह ब्रह्मचारी हो तो और भी अच्छा—और जिसके दृष्टिकोणकी व्यापकता, जीवनोद्देश्यकी नितांत निःस्वार्थता और जीवनकी शुद्धताके कारण विपक्षी भी उसका आदर और उससे प्रेम करनेको विवश हो।[1] आंदोलनमें भाग लेनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको उसी धर्मका अनुयायी होना चाहिए, जिसकी शिकायतोंको दूर करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। सत्याग्रहियोंको अहिंसा और ईश्वरमें पूर्ण विश्वास होना चाहिए और अन्य धर्मोंके अनुयायियोंके धार्मिक विश्वासों और भावनाओंके लिए समान आदर होना चाहिए। धार्मिक सत्याग्रहमें संख्या पर और बाह्य सहायता पर जोर नहीं देना चाहिए और उसे आक्रमणात्मक बननेसे तथा प्रदर्शनों और आडंबरसे बचाना चाहिए। सबसे आवश्यक बात यह है कि आंदोलन आत्मशुद्धिकी प्रक्रिया हो।

हमारे देशमें वर्तमान समयमें धार्मिक सत्याग्रहके दो दृष्टांत हैं—पंजाबमें अकाली सिखोंका सत्याग्रह (१९२१–२४) और हैदराबाद रियासतमें आर्य-सत्याग्रह (१९३९)। इनमें से किसीको भी गांधीजीके नेतृत्वका लाभ प्राप्त न था। गांधीजीने आर्य-सत्याग्रहके उद्देश्यको तो नहीं किंतु उसके साधनोंको नापसन्द किया था।[2] यह सत्याग्रह अधिकतर बाह्य सहायता पर अवलम्बित था और वास्तवमें निष्क्रिय प्रतिरोध था।

अकाली सिखोंके सत्याग्रहको गांधीजीका प्रोत्साहन प्राप्त था। आरम्भमें यह गुरुद्वारोंके—जिनके पास दानमें प्राप्त बहुत सम्पत्ति थी—सुधारका आन्दोलन था। इस सम्पत्ति पर महन्तोंका अधिकार था। सरकारने महन्तोंको सहायता दी और अकालियोंका सरकारसे संघर्ष हो गया। एक कठोर अहिंसक संघर्षके बाद सरकारको हार माननी पड़ी और सिखों द्वारा

---

१. ह०, २७–४–'३९, पृ० १४३–४४।

२. ह०, १९–८–'३९, पृ० २४१।

चुनी हुई शिरोमणि गुरुद्वारा प्रवन्धक समितिका अधिकार ऐतिहासिक गुरुद्वारों पर स्वीकार करना पड़ा।

आर्थिक संघर्ष

जहां तक आर्थिक जीवनका सम्वन्ध है, पूंजीवाद और जमींदारीकी प्रथाएं और शोपण अहिंसासे तथा उससे सम्वन्धित अपरिग्रहके सिद्धान्तसे मेल नहीं खाते। भूमि खेती करनेवालोंकी होनी चाहिए और किसी भी किसानके पास केवल उतनी ही भूमि होनी चाहिए जितनी उसके परिवारके उचित जीवन-स्तरके दृष्टिकोणसे भरण-पोषणके लिए आवश्यक है।[१]

उत्पादन घरेलू धंधों द्वारा होना चाहिए और वे धंधे वैयक्तिक सहकारी प्रयास द्वारा सभी सम्वद्ध व्यक्तियोंके समान हितके लिए चलने चाहिए।[१] अनिवार्य केन्द्रीकृत उत्पादनका राष्ट्रीयकरण होना चाहिए और उसका प्रवन्ध राज्य और मजदूरोंके प्रतिनिधियोंके संयुक्त अधिकारमें होना चाहिए। किन्तु कपड़े और खाने जैसी प्राथमिक आवश्यकताकी वस्तुओंके उत्पादनका केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए। उनके उत्पादनके साधन जन-साधारणको हवा और पानीकी तरह उपलब्ध होने चाहिए और उनके नियंत्रणमें होने चाहिए। धनिकोंको अपनी वर्तमान व्यक्तिगत आवश्यकताओंसे अधिक सम्पत्तिका उपयोग संरक्षक (ट्रस्टी) की भांति समाजके हितके लिए करना चाहिए। किंतु यह लक्ष्य एक दिनमें सिद्ध नहीं हो सकता और शोपण, पूंजीवाद और जमींदारी आधुनिक आर्थिक जीवनकी कठोर वास्तविकताएं हैं।

जमींदार और किसान

आर्थिक झगड़ोंको निपटानेका गांधीजीका मार्ग वर्ग-संघर्ष और धनिकोंका निर्धनों द्वारा विनाश नहीं किन्तु वर्ग-सहयोग है और यह सहयोग उस वर्ग-हीन जनतन्त्रकी ओर पहला चरण है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रकारका उत्पादक शरीर-श्रम करेगा और शोषकोंका लोप हो जायगा। गांधीजी पूंजीपति और जमींदारके विनाशके विरोधी थे, क्योंकि ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं जो सुधारसे परे हो और न कोई मनुष्य ऐसा पूर्ण ही है जिसको उनके विनाशका अधिकार हो, जिनको वह भ्रमसे पूरी तरह वुरा समझता है। गांधीजी इसमें विश्वास नहीं करते कि पूंजीपति और जमींदार सहज आवश्यकताके कारण शोपण करते हैं और उनके तथा जनताके हितोंमें ऐसा विरोध है जो हटाया नहीं जा सकता। भारतके वहुतसे प्रदेशोंमें जमींदारी-उन्मूलनके लिए कानून वने हैं। किन्तु गांधीजीका मत था कि यदि जमींदारोंकी मनोवृत्ति वदल जाय और यदि वे किसानोंके ट्रस्टीकी भांति रहें

और अपने तथा किसानोंके बीचकी भीषण आर्थिक विषमताको दूर कर दें, तो जमींदारी जब्त करनेकी आवश्यकता न रहेगी।[1] ट्रस्टीशिप निजी सम्पत्तिके अधिकारका निषेध है और उसकी स्थापनाके लिए गांधीजीके अनुसार किसानोंको अहिंसक प्रतिरोधकी पद्धतिका प्रयोग करना चाहिए; यह पद्धति या तो इस प्रथाका सुधार कर देगी या बिना जमींदारोंको हानि पहुंचाये इस प्रथाका अन्त कर देगी।[2] "उसको (किसानको) इस प्रकार कार्य करना चाहिए कि जमींदारके लिए उसका शोषण करना असम्भव हो जाय।"[3] जून १९४२ में गांधीजीने इस बातको मान लिया था कि जमींदारीको बिना प्रतिकर दिये जब्त कर लेना होगा, क्योंकि जमींदारोंको प्रतिकर देना आर्थिक दृष्टिकोणसे असम्भव होगा। उनकी यह भी राय थी कि स्वतन्त्र भारतमें किसान जमीन पर अधिकार कर लेंगे और इस प्रक्रियामें कुछ हिंसा भी हो सकती है।[4] इसके पहले सन् १९३४ में भी उन्होंने कहा था कि यदि अनिवार्य हुआ तो वे इस बातका समर्थन करेंगे कि राज्य कम-से-कम हिंसा द्वारा सम्पत्ति जब्त कर ले।[5] आदर्शवादी दृष्टिकोणसे अहिंसामें किसानों द्वारा बलपूर्वक जमींदारोंके बेदखल किये जानेकी गुंजाइश नहीं है।[6] किन्तु गांधीजी कोरे सिद्धान्तवादी नहीं थे और उनके लिए सबसे पहली विचारणीय बात थी मनुष्य और उसका सुख।

हमारे देशकी राजनैतिक पराधीनताके दिनोंमें किसानोंकी महत्त्वपूर्ण शिकायतोंको दूर करनेके लिए गांधीजीके मतसे अहिंसक प्रतिरोध एक अचूक साधन था। इस क्षेत्रमें अहिंसक प्रतिरोधके सफल प्रयोगके कुछ दृष्टांत हैं— चम्पारन (१९१७), खेड़ा (१९१८) और बारडोली (१९२८)। चम्पारनके सत्याग्रहका कारण था निलहे गोरोंकी अत्याचारपूर्ण वसूली और किसानोंकी असह्य कठिनाइयां। चम्पारनके सत्याग्रहको गांधीजी अहिंसाका पूर्णतम उदाहरण समझते थे। अन्तमें सरकारको किसानोंकी वे शिकायतें दूर करनी पड़ीं, जिनकी सुनवाई सौ सालसे नहीं हुई थी। खेड़ाका सत्याग्रह गांधीजीने वहां फसल खराब हो जानेके कारण उस सालके लगानको स्थगित करानेके लिए किया था। बारडोली सत्याग्रह—जो कि सघन संगठन और

१. ह०, २३–४–'३८, पृ० ८५।

२. यं० इं०, २६–११–'३१।

३. गांधीजीका २७–१०–'४४ का वक्तव्य।

४. लुई फिशर: ए वीक विद गांधी, पृ० ५४, ९०–९१।

५. एन० के० बोस: एन इन्टरव्यू विद महात्मा गांधी—मॉडर्न रिव्यू, अक्तूबर १९३५।

६. गांधीजीका २७–१०–'४४ का वक्तव्य।

परिपूर्ण नियोजनका नमूना था — ८८,००० किसानोंने सरदार वल्लभभाई पटेलके नेतृत्वमें सरकार द्वारा लगानको विना किसी कारणके अनुचित रूपसे वढ़ानेके विरोधमें किया था। शक्तिशाली साधनों और आतंकपूर्ण अत्याचारके द्वारा भी सरकार करवन्दीके आन्दोलनको न दवा सकी और उसे सत्याग्रहियोंकी लगभग सभी मांगें स्वीकार करनी पड़ीं। सरकारको सत्याग्रहियोंकी जब्त की हुई उन जमीनोंको भी वापस करना पड़ा, जो उसने बेच दी थीं और गांवोंके उन सरकारी नौकरोंको, जिन्होंने सरकारी नीतिके विरोधमें इस्तीफा दे दिया था, फिरसे उनके पदों पर नियुक्त करना पड़ा।

पूंजीपति और मजदूर

इसी प्रकार गांधीजीका विश्वास था कि यदि मजदूरोंके प्रति पूंजीपतियोंकी मनोवृत्ति माता-पिताकी-सी या भाईकी-सी हो जाय और वे उनको अपनी सम्पत्तिका साझेदार वना लें, तो मजदूर-समाजकी वे लाभपूर्ण सेवा कर सकते हैं।[1] मजदूर और पूंजीपति दोनोंको एक-दूसरेके ट्रस्टीकी तरह और उपभोक्ताओंके ट्रस्टीकी तरह कार्य करना चाहिए।[2] यदि पूंजीपति और मजदूर दोनों ट्रस्टीकी तरह कार्य करें और अपने हितको समाजके वृहत् हितके संदर्भमें देखें, तो औद्योगिक संघर्षोंकी संख्या और कटुता वहुत कम हो जायगी।

उनका मत था कि नियमतः पूंजीपतियोंकी अपेक्षा मजदूर अपने कर्तव्योंका पालन अधिक सक्षमतासे और विवेकपूर्ण रीतिसे करते हैं और उनको यह सीखना चाहिए कि वे किस प्रकार पूंजीपतियोंको अपने (मजदूरोंके) संकल्पके अनुसार व्यवहार करने और अपनी मांगोंको स्वीकार करनेके लिए विवश कर सकते हैं। मजदूरोंको उद्योगोंके नियन्त्रण और प्रशासनमें भाग लेनेका अधिकार होना चाहिए और उन्हें सम्यक् अवकाश, ठीक प्रकारके जीवन-यापनके लिए आवश्यक मजदूरी, जीवनकी स्वास्थ्यपूर्ण परिस्थिति और नागरिकताके पूर्ण अधिकार मिलने चाहिए।

उचित शिकायतोंको दूर करानेके लिए मजदूरोंको चाहिए कि वे हड़ताल द्वारा पूंजीपतियोंको इस वातके लिए विवश करें कि वे (पूंजीपति) पंचायत द्वारा झगड़ोंका निपटारा करें। लेकिन अहिंसक हड़तालका पश्चिमी ढंगकी हड़तालोंके साथ समीकरण करना भ्रम होगा। पश्चिमी ढंगकी हड़ताल ऊपरसे अहिंसक मालूम होती है; किन्तु वास्तवमें वह ऐसी नहीं होती। घृणा और विरोधीको हरानेकी इच्छा इस हड़तालको निष्क्रिय

---

१. यं० इं०, भाग–३, पृ० ७३६।

२. ह०, २५–६–'३८, पृ० १६२।

प्रतिरोधका एक प्रकार बना देती है। ये हड़ताली उपलब्ध मजदूरों पर अपने नियन्त्रणका प्रयोग पूंजीपतियोंको हार मानने पर विवश करनेके लिए करते हैं। हड़तालके कुछ पश्चिमी आलोचक, जो उसके नैतिक औचित्यको अस्वीकार करते हैं, उसको समझाने-बुझानेका और हृदय-परिवर्तनका नहीं परन्तु बल-प्रयोगका साधन मानते हैं। उदाहरणके लिए, जॉन एच० होम्सके अनुसार हड़ताल "कष्ट-सहनके शब्दोंमे नहीं किन्तु विजयके शब्दोंमे विद्रोह है", और उसका विकास "युद्धकी भावना और उसके उद्देश्यसे प्रयुक्त हिंसाके अस्त्र" के रूपमें हो रहा है।[1]

दूसरी ओर सत्याग्रही हड़तालमें इस बातका प्रयत्न किया जाता है कि उसकी आतरिक भावना और पद्धति दोनों अहिंसक रहे। वह भूल करनेवाले विरोधीके हृदय-परिवर्तनके उद्देश्यसे स्वेच्छासे स्वीकृत शुद्धकारी कष्ट-सहन है। सफल अहिंसक हड़तालकी महत्त्वपूर्ण शर्तें निम्नलिखित हैं[2]:

(१) हड़तालका कारण न्यायसंगत होना चाहिए।

(२) हड़तालियोंको कभी हिंसाका उपयोग नहीं करना चाहिए।[3]

(३) उन्हें हड़तालमें भाग न लेनेवाले मजदूरोंके साथ बल-प्रयोग कभी न करना चाहिए।

(४) हड़तालके समय उन्हे बिना मजदूर-संघके धनका उपयोग किये अपना भरण-पोषण करनेके योग्य होना चाहिए और इसलिए उन्हें कोई लाभप्रद, उत्पादक धंधा अपनाना चाहिए। उन्हें दान पर कभी निर्भर न रहना चाहिए।

(५) हड़ताल चाहे जितने समय तक चलती रहे, फिर भी उन्हें दृढ़ रहना चाहिए। मजदूर-संघके साधनों पर निर्भर रहे बिना जब तक मजदूर स्वयं अपना भरण-पोषण नहीं कर सकते, तब तक हड़ताल अनिश्चित काल तक चलाई नहीं जा सकती और ऐसी "कोई भी हड़ताल, जो अनिश्चित काल तक चलाई नहीं जा सकती, पूरी तरह सफल नहीं हो सकती।"[4]

(६) हड़तालियोंको व्यावहारिक रूपमें एकमत होना चाहिए।

(७) यदि हड़तालियोंके स्थान पर काम करनेको दूसरे मजदूर उपलब्ध हों, तो हड़ताल शिकायत दूर करनेका ठीक उपाय नहीं है। उस

---

१. सी० एम० केस: नॉन-वायोलेन्ट कोअर्शन, पृ० २९७।

२. इन शर्तोंके लिए, देखिये यं० इं०, भाग–१, पृ० ७३०-४१ और आत्मकथा, भाग–५, अ० २०।

३. गांधीजी हड़तालमें (पिछले अध्यायमें वर्णित) अहिंसक पिकेटिंग (धरने) के प्रयोगकी आज्ञा देते थे।

४. नॉनिज, पृ० १८६-८७।

हालतमें यदि मजदूरी अपर्याप्त या अनुचित हो या ऐसी ही अन्य कोई वात हो, तो उसका ठीक उपाय इस्तीफा है।

(८) अपने संघकी अनुमतिके विना मजदूरोंको किसी भी कारणसे हड़ताल नहीं करनी चाहिए।

(९) पहले मिल-मालिकोंसे कम-से-कम मांगके आधार पर, जो वदली नहीं जा सकती, निपटारेकी वातचीत किये विना हड़ताल करनेकी जोखिम नहीं उठानी चाहिए।

गांधीजी सहानुभूतिके लिए की गई हड़तालोंके विरुद्ध थे। उनका विश्वास था कि अहिंसक हड़ताल उन लोगों तक ही सीमित रहनी चाहिए, जो किसी अन्याय-विशेषसे कष्ट पा रहे हैं। यह आर्थिक झगड़ोंमें गांधीजीके वाह्य सहायता पर अनाश्रित रहनेके सिद्धान्तका प्रयोग है। यदि उद्देश्य हृदय-परिवर्तन है, न कि वल-प्रयोग या परेशान करना, तो पीड़ितका स्वयं कष्ट सहना ही फलप्रद हो सकता है। लेकिन कुछ थोड़ेसे अवसरों पर सहानुभूतिके लिए हड़ताल करना मजदूरोंका कर्तव्य भी हो सकता है। उदाहरणके लिए, यदि एक मिलके मालिक ऐसी दूसरी मिलके मालिकोंके साथ मिल जायं, जहां मजदूर न्यायोचित शिकायतके कारण हड़ताल कर रहे हैं, तो पहली मिलके मजदूरोंका कर्तव्य है कि वे हड़ताल करनेवालोंका साथ दें।[1]

गांधीजीका मत था कि जव तक मजदूर देशकी राजनैतिक स्थितिको न समझने लगें और देशहितके लिए काम करनेको तैयार न हो जायं, तव तक उनको राजनैतिक उद्देश्योंसे हड़ताल नहीं करनी चाहिए। जव तक वे स्वयं अपनी दशा सुधार न लें और अपनी न्यायोचित शिकायतोंको दूर करना न सीख जायं, तव तक उनसे राजनैतिक उद्देश्योंसे हड़ताल करनेकी आशा नहीं करनी चाहिए। जव तक मजदूरोंमें राजनैतिक अज्ञान है तव तक राजनैतिक उद्देश्यसे हड़तालें करवाना मजदूरोंका शोषण करना और सरकारको परेशान करना है और ये दोनों हिंसाके प्रकार हैं। मजदूरोंकी राजनीति उनके ही स्वतन्त्र फैसलेकी वात होनी चाहिए और उनका राजनैतिक कार्य यह होना चाहिए कि वे ऐसे उद्देश्यको आगे वढ़ानेके लिए कार्य करें, जिसे उन्होंने स्पष्ट रूपसे समझा है और जान-वूझकर अपनाया है।[2]

साधारण रीतिसे हड़ताल मजदूरोंकी स्थितिमें प्रत्यक्ष सुधारके लिए होनी चाहिए। जव मजदूर देशप्रेमकी भावनाको अपना लें, तो हड़तालें पूंजीपतियोंको अनुचित मुनाफा लेनेसे रोकनेके लिए, मूल्यके निर्धारणके लिए

---

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० ९५३।

२. अमृत वाजार पत्रिका (२४–९–'४४) में जी० एल० नन्दाका 'गांधियन वे इन दि लेवर मूवमेंट' शीर्षक लेख।

और मूल्य, मुनाफे और मजदूरीमें ठीक अनुपात रखनेके लिए भी की जा सकती हैं।[१] हड़तालें कम और कभी-कभी ही होनी चाहिए और जब मजदूरोंका संगठन अधिक दृढ़ हो जाय तब हड़तालोंका स्थान पंचायती फैसलोंको ले लेना चाहिए। अहमदाबादमें गांधीजीने यह सिद्ध कर दिया कि पंचायती फैसलोंका सिद्धान्त मजदूरों और पूंजीपतियों दोनोंके लिए हितकर है।

हड़ताल और पंचायती फैसलेकी पद्धतियोंके सफल प्रयोगके लिए ऐसे सुसंगठित मजदूर-संघ आवश्यक हैं, जिनसे मजदूरोंमें उनकी शक्तिकी चेतना आये। *लेकिन संगठन अहिंसाके सिद्धान्तोंके अनुसार होना चाहिए। इस संगठनको* मजदूरों और पूंजीपतियोंमें सहयोगकी सम्भावनाके दृढ़ विश्वास पर आधारित होना चाहिए। अहमदाबादके मजूर महाजनका संगठन अहिंसाके सिद्धान्तोंके अनुसार है। कुछ वर्ष पूर्व इस महाजनके ५०,००० सदस्य थे। वह देशका अधिकतम शक्तिशाली मजदूर-संघ था और गांधीजीके पथ-प्रदर्शनमें कार्य करता था। महाजनका एक उद्देश्य है ठीक समय पर बुनाई-सम्बन्धी केन्द्रित उद्योगोंका राष्ट्रीयकरण। यह उद्देश्य गांधीजीकी प्रेरणासे सन् १९२६ में महाजनने अपनाया था। हैरोल्ड बटलर, ब्रेल्सफोर्ड, टॉम शा, गिल्बर्ट स्लेटर आदि बहुतसे पश्चिमके विचारकोंने महाजनके देशी स्वरूपकी तथा गांधीजीके प्रभावसे विकसित पंचायती फैसले और समझौतेकी संयुक्त पद्धतिकी बहुत प्रशंसा की है।

पंचायती फैसलोंके न हो सकने पर महाजनके संविधानमें हड़तालकी गुंजाइश है। महाजनने बहुतसी हड़तालें भी करवाई हैं और इनमें से अधिकतमका परिणाम सन्तोषप्रद रहा है। गांधीजी सदा वास्तविक सामाजिक परिवर्तनमें आन्तरिक सुधारको बहुत महत्त्व देते हैं। यह महत्त्व मजदूरोंकी भलाईके लिए किये गये महाजनके व्यापक कार्यमें प्रकट होता है। मजदूरोंकी अहिंसक शक्तिको विकसित करनेके उद्देश्यसे महाजन उनके सुधारके सभी साधनोंका उपयोग करनेका प्रयत्न करता है और उनके जीवनके लगभग प्रत्येक क्षेत्रसे सम्पर्क रखता है। सन् १९३७ से महाजन मजदूरोंको मिलमें उनके प्रधान कार्यके अतिरिक्त किसी दूसरे धन्धेमें शिक्षा देता रहा है, जिसमें मिलके बन्द हो जाने, हड़ताल या बेकारीकी हालतमें वे अपना भरण-पोषण कर सकें और भूखों मरनेके संकटसे बच सकें।[२] गांधीजीका मत था कि देशके सभी मजदूर-संघोंका संचालन अहमदाबादके मजूर महाजनकी तरह होना चाहिए।[३]

---

१. यं० इं, भाग–१, पृ० ७३७-४१।

२. ह०, ३–७–'३७, पृ० १६१।

३. कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृ० २१।

अहिंसक प्रतिरोध और समाज-व्यवस्था

सामूहिक प्रतिरोध-पद्धतिके रूपमें सत्याग्रहकी कड़ी आलोचना हुई है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि वह विधान और व्यवस्थाका विनाशक है, अप्रगतिशील है और असंवैधानिक है।

यदि सत्याग्रही प्रतिरोध अपराधपूर्ण रीतिसे कानूनकी अवज्ञा होता, तो वह अवश्य सामाजिक व्यवस्थाका विनाशक और अप्रगतिशील होता। किन्तु अहिंसक प्रतिरोध और अपराधपूर्ण अवज्ञामें आकाश-पातालका अन्तर है। अपराधी या साधारण कानूनकी अवज्ञा करनेवाला मनुष्य छिपकर कानून तोड़ता है और दंडसे बचनेका प्रयत्न करता है। अहिंसक प्रतिरोधकारी कानूनको मानता है — इसलिए नहीं कि वह सजासे डरता है, बल्कि इसलिए कि वह कानूनको जन-कल्याणके लिए शुभ समझता है। किन्तु यदि कानून इतना अन्यायपूर्ण हो कि उसकी नैतिकताकी भावनाको चोट पहुंचाये और यदि कानूनमें परिवर्तन करानेका उसका प्रयत्न निष्फल हो जाय, तो वह उस कानूनकी खुले तौरसे और विनयके साथ अवज्ञा करता है और चुपचाप दण्डको स्वीकार करता है। वास्तवमें उसकी अवज्ञाका कारण होता है कानूनको माननेका उसका स्वभाव, जो उसे सर्वोच्च कानूनको पूरी तरहसे मानने पर विवश करता है। यह सर्वोच्च कानून है अन्तरात्माकी आवाज, जो अन्य सभी कानूनोंके ऊपर है।[1] निस्संदेह अपराधपूर्ण अवज्ञा अराजकता उत्पन्न करती है। लेकिन सविनय अवज्ञा न तो अराजकताको जन्म देती है और न अप्रगतिशील है, यद्यपि उसका उद्देश्य अनैतिक कानूनों और अन्यायपूर्ण व्यवस्थाका विनाश करना है।

जब सविनय अवज्ञा अशान्ति और संघर्षको उत्पन्न करनेवाले अन्याय, असत्य और शोषणके विरुद्ध युद्ध करती है, तब वह सत्य और अहिंसा पर आधारित उच्च कोटिकी न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्थाका भी विकास करती है।

इसके अतिरिक्त यदि सविनय अवज्ञा सामाजिक व्यवस्थाको थोड़ा ढीला कर दे, तो भी यह याद रखना चाहिए कि द्वन्द्व-युद्ध, अपराध, कानूनके विरुद्ध वस्तुओंका देशमें आयात, मुकदमेबाजी, कर-वंचना आदि ऐसी सामाजिक वास्तविकताएं हैं, जिनके सामने कानून बेबस है और जो विधि-शासनके अपवाद नहीं बल्कि उसके क्षेत्रमें बिखरे हुए महत्त्वपूर्ण रिक्त स्थान हैं।[2] सामाजिक एकताका थोड़ा ढीलापन उस कालकी एक आवश्यक विशेपता है,

---

१. स्पीचेज़, पृ० ४५७ और ५०४–०५।

२. कार्ल ब्रिन्कमैन: रीसेन्ट थियरीज़ ऑफ सिटिज़नशिप; सी० ई० मेरियम: पॉलिटिकल पावर, अ० ६।

जब सामाजिक जीवनको नवीन और अधिक परिपूर्ण बनानेका प्रयत्न हो रहा हो। संक्रमणकालीन समाजके इस थोड़े ढीलेपनको सामाजिक अव्यवस्था और अराजकता समझ लेना नितान्त भ्रमपूर्ण है।

अहिंसक प्रतिरोधकी वैधानिकता

अहिंसक प्रतिरोधके संवैधानिक या असंवैधानिक होनेके सम्बन्धमें यह ध्यानमें रखना चाहिए कि पश्चिमके कुछ राजनैतिक विचारकोंका मत है कि राज्यको संप्रभुता प्राप्त है। इस सत्ताके प्राप्त होनेके कारण राज्यके कानून ही, वे समाजके सामान्य हितके अनुकूल हों या प्रतिकूल, व्यक्तिके व्यवहारके औचित्यके उच्चतम निर्णायक हैं। इन विचारकोंके अनुसार नागरिकका निरपेक्ष कर्तव्य है राज्यके प्रति आज्ञाकारिता। ये राज्यके कानूनोंके विरुद्ध नैतिकताके किसी भी दावेको असंवैधानिक बताते हैं। लेकिन यह चरमवादी सिद्धान्त पश्चिमके बहुतसे विचारकोंको मान्य नहीं है। इनके अनुसार राज्यके प्रति आज्ञाकारिताका प्रश्न वास्तवमें नीतिशास्त्रका प्रश्न है; राज्यके कार्यमें, राज्यका कार्य होनेके ही कारण, कोई विशेष नैतिकता नहीं होती और नागरिककी वफादारी पर राज्यका अधिकार राज्यके कानूनोंकी नीतिमत्ता पर अवलम्बित है। लैस्कीके शब्दोंमें "हमारा पहला कर्तव्य है अपनी अन्तरात्माके प्रति सच्चे होना।"[१]

गांधीजीके अनुसार भी राजनैतिक कर्तव्योंका प्रश्न आवश्यक रूपसे नैतिक है और "राज्यके कानूनकी अवज्ञा उस समय निश्चित कर्तव्य हो जाता है, जब उसका (राज्यके कानूनका) ईश्वरीय कानूनसे संघर्ष होता है।"[२] उनका मत था कि, "ऐसे कानूनोंको मानना, जिनको हमारी अन्तरात्मा स्वीकार न करे, हमारी मर्दानगीके विरुद्ध है। . . . जब तक यह भ्रम दूर नहीं होगा कि मनुष्योंको अन्यायपूर्ण कानूनका पालन करना चाहिए, तब तक उनकी गुलामी भी नहीं मिटेगी।"[३] उनका कहना था कि सत्याग्रह तभी असंवैधानिक होगा जब "सत्य और उसका सहचर आत्म-बलिदान गैरकानूनी हो जायंगे।"[४]

यदि सरकारका संगठन अजनतन्त्रवादी है और अन्याय तथा शोषण पर आश्रित है, तो गांधीजीके मतसे वह सरकार ही अवैधानिक है। इस प्रकारकी सरकारका अहिंसक प्रतिरोध जनताका पवित्रतम और अधिकतम

---

१. लैस्की: दि ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स, पृ० २८९।

२. गांधीजी: नीतिधर्म, पृ० ४७।

३. हिन्द स्वराज्य, पृ० ७०-७१।

४. यं० इं०, भाग–३, पृ० १०४३।

संवैधानिक और पवित्र कर्तव्य है।[१] राज्यके पूर्ण या आंशिक रूपसे अन्यायपूर्ण कानूनके प्रति समर्पण स्वतन्त्रताका अनैतिक विनिमय है।

चरमवादियोंके दृष्टिकोणसे भी, जो राज्यको अपरिमित सत्ता संप्रभुताका अधिकारी मानते हैं, जनमतको शिक्षा देनेके लिए समझाना-बुझाना संवैधानिक ही है। अहिंसक प्रतिरोध समझाने-बुझानेका सबसे अधिक कारगर तरीका है, क्योंकि कष्ट-सहन करनेवाला सत्याग्रही प्रतिपक्षीके हृदय और बुद्धिको प्रभावित करनेका प्रयत्न करता है। यदि सत्याग्रही भूल भी करता है, तो भी उसका प्रतिरोध उसके अतिरिक्त किसी दूसरेको हानि नहीं पहुंचाता; क्योंकि उसके प्रतिरोधकी पद्धति है स्वयं कष्ट सहना। उसका प्रतिरोध नैतिक है, न कि शरीर-शक्ति पर आश्रित। अहिंसक प्रतिरोध विरोधीके विनाशका नहीं बल्कि उसके मत-परिवर्तनका प्रयत्न है। गांधीजीके शब्दोंमें "सत्याग्रह जनताको शिक्षित करने और जाग्रत करनेका महानतम साधन है।"[२]

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक कानून व्यक्तिको इस चुनावका अधिकार देता है कि या तो वह कानूनको माने या उसकी अवज्ञाके लिए प्राप्त दंड सहे। यदि कानून अनैतिक है अथवा यदि सरकार भ्रष्ट है, तो सत्याग्रही इनमें से दूसरा विकल्प चुनता है और सरकार द्वारा दिये हुए दण्डको स्वेच्छासे स्वीकार करता है।[३]

गांधीजीके विरोधी फील्ड मार्शल स्मट्सने दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहको वैधानिक आन्दोलन माना था।[४] भारतके तत्कालीन वाइसरॉय लॉर्ड हार्डिंगने भी गांधीजीके दक्षिण अफ्रीकाके आन्दोलनको उचित समझा था। अमेरिकाके चार्ल्स ई० मेरियम गांधीजीकी सविनय अवज्ञा-पद्धतिको कानूनकी सीमाके अन्तर्गत बताते हैं।[५] सर स्टैफर्ड क्रिप्स जनतन्त्रवादी राज्यमें मजदूरोंकी आम हड़तालको कुछ परिस्थितियोंमें न्यायोचित समझते हैं। इसी प्रकार इंग्लैण्डके राजनीतिज्ञ सी० आर० एटलीका मत है कि न्याय प्राप्त करनेके जन-तन्त्रवादी साधनोंके अभावमें समाजमें मूलभूत परिवर्तनके लिए असंवैधानिक साधनोंका, हिंसात्मक साधनोंका, भी प्रयोग अनिवार्य है।[६]

---

१. स्पीचेज, पृ० ५३२; यं० इं०, भाग–१, पृ० ९३८; सुशीला नय्यर: बापूकी कारावासकी कहानी, पृ० २३३।

२. ह०, ३०–१०–'४१, पृ० २९३।

३. हिन्द स्वराज्य, पृ० ७०-७१।

४. स्पीचेज, पृ० ४८०।

५. मेरियम: पॉलिटिकल पावर, पृ० १७४।

६. रिचर्ड ऑक्लैंड (संपादक): 'व्हाय आइ एम ए डेमोक्रैट' में एटली और क्रिप्सके लेख।

जैसा कि इतिहासके विद्यार्थियोंको अच्छी तरह मालूम है, इंग्लैंडके मैगना कार्टा (महान अधिकार-पत्र) और फ्रांसके डिक्लेरेशन ऑफ दि राइट्स ऑफ मैन (मनुष्यके अधिकारोंकी घोषणा) ने कुछ परिस्थितियोंमें राज्यका प्रतिरोध करनेका अधिकार कानूनी मान लिया है। मैगना कार्टा आज भी हैलमके अनुसार इंग्लैण्डकी स्वतन्त्रताकी आधार-शिला है। मैगना कार्टाके ६१ वें अध्यायमें २५ बड़े जमींदारोंकी एक कमेटीकी नियुक्तिका वर्णन है। इस कमेटीका राजाके विरुद्ध प्रतिरोध करनेका अधिकार मैगना कार्टाकी व्यवस्थाको कार्यान्वित करनेके साधनके रूपमें मान लिया गया था।[1]

यदि हम इस चरमवादी दृष्टिकोणको उचित मान लें, जो संविधानको पवित्र समझता है और इस बातका विचार भी नहीं करता कि संविधान और राज्यकार्य किस प्रकारके हैं और उनसे जनहित कहां तक सम्भव है, तो सरकार इस बातकी एकमात्र निर्णायक हो जायगी कि जनताके विचार क्या होने चाहिए, अजनतन्त्रवादी देशोंमें जनतन्त्रवादी आन्दोलन असम्भव हो जायंगे और राजनैतिक उन्नति नहीं हो सकेगी। वास्तवमें प्रतिरोध करनेका अधिकार अत्याचार-पीड़ित जनताके हाथमें अन्यायी शासकोंके अत्याचारका

---

१. इतिहासकार नीस्टका मत है कि मैगना कार्टाके ६१ वें अध्यायमें मान्यता-प्राप्त विद्रोहका अधिकार इकरारनामे पर आधारित मध्यकालीन जागीरदारी (फ्यूडल) राज्यकी कानूनी धारणाओंके विरुद्ध नहीं है। (रिडोल्फ नीस्ट: हिस्ट्री आफ दि इंग्लिश कान्स्टिटयूशन, दूसरा संस्करण, भाग—१, पृ० ३०६-०७)। ६१ वें अध्याय पर टीका करते हुए ऐडम्स लिखता है, "पश्चिमी यूरोपके जागीरदारी कानूनको आश्रित जमींदारोंका, अन्यायसे अपनी रक्षाके उद्देश्यसे, प्रभुभक्तिका त्याग करने और बड़े जमींदारके विरुद्ध युद्ध करनेका अधिकार मान्य था। इस प्रकारकी किसी स्थितिमें उसके ऊपर राजद्रोहके अपराधका आरोप नहीं लगाया जा सकता था। इस समय बड़े जमींदार इसी अधिकारके अनुसार कार्य कर रहे थे।" ऐडम्सके अनुसार मैगना कार्टाके दो बुनियादी सिद्धांत हैं, जो आज भी इंग्लैंडके शासन-विधानके और उसके अनुरूप सभी शासन-विधानोंके वैसे ही स्पष्ट रीतिसे आधार हैं जैसे कि वे सन् १२१५ में थे। पहिला सिद्धान्त यह है कि "राज्यमें शासितोंके या समाजके अधिकारोंका एक कानून है, जिसको माननेके लिए राजा बाध्य है;" और दूसरा यह है कि "यदि राजा इन अधिकारोंकी उपेक्षा करेगा तो उसे बल-प्रयोग द्वारा, या उसके विरुद्ध विद्रोह करके, इन अधिकारोंको माननेके लिए विवश किया जा सकता है।"—जी० बी० ऐडम्स: कान्स्टिटयूशनल हिस्ट्री ऑफ इंग्लैंड, पृ० १२९-३० और १३७-३९।

अन्त करनेका और वैधानिक शासनकी स्थापनाका सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसी कारण इतिहास कभी सफल हिंसक विद्रोहोंको भी अवैधानिक बताकर उनकी निन्दा नहीं करता। किन्तु गांधीजी न्याय प्राप्त करनेके लिए हिंसक साधनोंके प्रयोगको संवैधानिक नहीं मानते थे। उनका यह मत था कि हिंसा द्वारा अन्यायका उपचार और न्यायकी स्थापना सम्भव ही नहीं है।

सविनय प्रतिरोध निस्संदेह स्वेच्छाचारी राज्यके लिए खतरनाक है, लेकिन जनतन्त्रवादी राज्यके लिए, जो सदा जनमतके अनुकूल चलनेके लिए तैयार रहता हो, वह हानिरहित है। सविनय प्रतिरोध जनमतको शिक्षित और दृढ़ बनाता है और बुराइयोंको ठीक करता है। गांधीजी लिखते हैं, "मेरा यह दृढ़ मत है कि सविनय अवज्ञा वैधानिक आंदोलनका शुद्धतम रूप है।" "सविनय अवज्ञा नागरिकका अधिकार है। मनुष्यत्व खोये बिना वह इस अधिकारके परित्यागका साहस नहीं कर सकता। . . . सविनय अवज्ञाको दबाना अन्तरात्माको कैद करनेका प्रयत्न है।"[१] इसी प्रकार असहयोगके दमनका अर्थ होगा बल-प्रयोग द्वारा सहयोग।

निस्सन्देह जनतन्त्र सविनय प्रतिरोधकी आवश्यकताको कम कर देता है। गांधीजीने सन् १९४७ में लिखा था, "जनतंत्रमें सत्याग्रह, सविनय प्रतिरोध और उपवासका सीमित उपयोग है। जिस समय देशमें सरकारें काम संभाल रही हैं और साम्प्रदायिक विद्वेष एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तमें फैल रहा है, उस समय लोग उनके विषयमें सोच भी नहीं सकते।"[२] सन् १९४४ में गांधीजीने कहा था, "सविनय अवज्ञा और असहयोग ऐसे समयके उपयोगके लिए बनाये गये हैं, जब लोगोंके पास कोई राजनैतिक शक्ति न हो। परन्तु जैसे ही उन्हें राजनैतिक शक्ति प्राप्त हो जाती है, वैसे ही स्वाभाविक रूपसे उनकी शिकायतें — फिर वे कैसी भी हों — वैधानिक साधनों द्वारा दूर हो जाती हैं। . . . यदि विधान-मण्डल किसानोंके हितोंकी सुरक्षामें असमर्थ सिद्ध होते हैं, तो किसानोंके पास सदैव सविनय अवज्ञा और असहयोगका सर्वश्रेष्ठ उपचार रहता ही है।"[३]

आजके अधिकांश राज्य या तो अजनतन्त्रवादी हैं या अधिकसे अधिक कहा जाय तो बाह्य रूपसे जनतन्त्रवादी हैं, परन्तु वास्तवमें जनतन्त्रवादके मूलभूत सिद्धांतोंकी उपेक्षा करते हैं। निस्सन्देह सच्चे जनतन्त्रमें अहिंसक प्रतिरोधके प्रयोगके अवसर कम होंगे, विशेष रूपसे यदि जनतन्त्रवादी सरकार

---

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० ९४३।

२. ह०, ७–९–'४७, पृ० ३१६।

३. एन० के० बोसकी पुस्तक 'स्टडीज़ इन गांधीज़म' के पृ० ७९-८० पर उद्धृत गांधीजीका कथन।

किसी संकटमें हो।[1] किन्तु मुख्यतः जनतन्त्रवादी राज्यमें भी अहिंसक प्रतिरोध नैतिक दृष्टिकोणसे उचित होगा। ऐसे राज्यमें भी सामाजिक संस्थाओं और संबंधोंमें अपूर्णता होगी और इसलिए उसमें मानव-जीवनकी परिपूर्णताके श्रेष्ठतम साधनकी तरह कष्ट-सहनमें अभिव्यक्त होनेवाले प्रेमके प्रयोगके लिए सदा स्थान रहेगा।

सन् १९३० में गांधीजीने लिखा था, "मैं जानता हूं कि यदि मैं स्वतन्त्रताके संघर्षके बाद जीवित रहा, तो सम्भव है कि मुझे अपने देश-वासियोंके विरुद्ध अहिंसक लड़ाइयां लड़नी पड़ें। और वे उतनी ही कठोर होंगी जितनी कि वह लड़ाई जिसे मैं आज लड़ रहा हूं।"[2] स्वतन्त्र भारतका हवाला देते हुए सन् १९४५ के एक वक्तव्यमें उन्होंने कहा था, "यदि विधान-मंडल किसानोंके हितोंकी रक्षा करनेमें अयोग्य साबित हों, तो किसानोंके पास सदा असहयोग और सविनय अवज्ञाके श्रेष्ठ साधन रहेंगे।"[3] 'हिंद स्वराज्य' में वे लिखते हैं, "जहां सत्याग्रह ही प्रजाका खास सहारा हो वहीं सच्चा स्वराज्य सम्भव है। जहां ऐसा न हो वहां स्वराज्य नहीं, किन्तु विदेशी राज्य ही है।"[4] उनका मत था कि सत्याग्रह और असहयोगकी पद्धति अहिंसक ग्राम-समाजकी सत्ताका आधार होगी।[5]

अहिंसक प्रतिरोध और बल-प्रयोग

अहिंसक प्रतिरोध अक्सर भ्रमसे असंवैधानिक समझ लिया जाता है, क्योंकि यह माना जाता है कि संवैधानिक साधन समझाने-बुझाने पर आश्रित होते हैं, जब कि अहिंसक प्रतिरोधमें विरोधी पर बल-प्रयोग होता है। अहिंसक प्रतिरोधके आलोचकोंके अनुसार विरोधी पर पड़नेवाले हिंसक और अहिंसक प्रतिरोधके प्रभावमें कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। उनके अनुसार अहिंसा भी बल-प्रयोगका एक प्रकार है। अहिंसक प्रतिरोधके कुछ समर्थकोंका भी कहना है कि अहिंसा एक प्रकारका बल-प्रयोग ही है, इसलिए अन्यायका सामना जहां तक हो सके अहिंसासे, और जब आवश्यक हो तब हिंसासे भी करना चाहिए।

उदाहरणके लिए, आर्थर मूरका मत है कि सत्याग्रह 'मानसिक हिंसा' है और "एक युद्ध-पद्धति है जिसका निःशस्त्र जनता उपयोग कर सकती है"

---

१. ह०, ७–९–'४७, पृ० ३१६।

२. यं० इं०, ३०–१–'३०, पृ० ३७।

३. गांधीजीका १२–१–'४५ का वक्तव्य।

४. हिन्द-स्वराज्य, पृ० ७४।

५. ह०, २५–७–'४२, पृ० २३८।

तथा जो किसी प्रकारसे भी सशस्त्र विद्रोह या युद्धके विपरीत विशेष रूपसे आध्यात्मिक अस्त्र नहीं है। वे इस दावेको नहीं मानते कि सत्याग्रह उच्च नैतिक भूमि पर स्थित है, या वह ईसाइयतका प्रयोग है, अथवा उससे भी कोई उदात्त वस्तु है।[१] सी० एम० केस समझाने-बुझानेके लिए कष्ट-सहन और वल-प्रयोगके लिए कष्ट-सहनके बीच भेद करते हैं। पहला प्राचीन प्रकारका निष्क्रिय प्रतिरोध है, जो विना वल-प्रयोगके विरोधीकी मनोवृत्तिको बदलनेका प्रयत्न करता है। केसके अनुसार असहयोग, हड़ताल और वहिष्कार वल-प्रयोगके लिए कष्ट-सहनके प्रकार हैं। उनका कहना है कि वल-प्रयोग मानसिक हो सकता है या शारीरिक। असहयोग, हड़ताल और वहिष्कार वल-प्रयोगके दृष्टान्त हैं, क्योंकि उनमें प्रतिरोधकारी इस स्पष्ट उद्देश्यसे अपने आपको कष्ट देता है कि वह विरोधीके मनमें दुविधाकी स्थिति पैदा कर दे। विपक्षीके सामने दो विकल्प होते हैं: प्रतिरोधकारीको कष्ट सहने देना या उसकी वात मान लेना। इन विकल्पोंमें से एक भी विरोधीकी इच्छा या निर्णयके अनुकूल नहीं होता, लेकिन परिस्थिति दोमें से एकको स्वीकार करने पर उसे विवश कर देती है। एक ओर तो उसके ऊपर शरीर-शक्ति या हिंसाका प्रयोग नहीं होता और न उसके प्रयोगकी धमकी ही दी जाती है, और दूसरी ओर दोनों विकल्पोंमें से किसी एककी अच्छाईमें उसको विश्वास नहीं होता। वह दोनों विकल्पोंमें से किसी एकको भले ही मान ले, पर उसकी बुद्धिको वे उचित नहीं जंचते। इस प्रकार उस पर वल-प्रयोग होता है, यद्यपि यह वल-प्रयोग अहिंसक रूपसे होता है।[२] जवाहरलाल नेहरूका भी यह विश्वास है कि अहिंसामें वैसे ही वल-प्रयोग होता है जैसे हिंसामें, कभी-कभी तो हिंसासे भी अधिक भीषण रूपसे।[३]

आर्थर मूर अपनी इस भ्रमपूर्ण धारणाके कारण सत्याग्रहकी नैतिक उच्चताको अस्वीकार करते हैं कि सत्याग्रह मानसिक हिंसा है। गांधीजीके अनुसार मानसिक हिंसा ऊपरसे अहिंसक मालूम होनेवाले कार्यको दुराग्रह या निष्क्रिय प्रतिरोधमें परिवर्तित कर देगी।

समझाने-बुझानेके उद्देश्यसे और वल-प्रयोगके उद्देश्यसे स्वीकृत कष्ट-सहनका केस द्वारा वताया हुआ अन्तर गांधीजी मान लेते, किन्तु वे सत्याग्रहको वल-प्रयोगकी कोटिमें न रखते। केस अपनी पुस्तकमें अहिंसक असहयोगको और पश्चिममें प्रयुक्त हड़ताल और वहिष्कारको समकक्ष वताते हैं। केसके हड़ताल और वहिष्कारके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि ये दोनों

---

१. राधाकृष्णन्: महात्मा गांधी, पृ० १९२-९३।

२. सी० एम० केस: नॉन-वायोलेन्ट कोअर्शन, पृ० ४०२।

३. देखिये उनकी आत्मकथा (अंग्रेजी), पृ० ५३९।

साधन गांधीजीके अर्थमें नहीं, केवल दिखावटमें अहिंसक हैं।[1] गांधीजी पश्चिममें प्रयुक्त वहिष्कारको और हड़तालको सत्याग्रहके नहीं, किन्तु निष्क्रिय प्रतिरोधके दृष्टान्त समझते थे। दोनोंमें अर्थात् एक ओर सत्याग्रहमें और दूसरी ओर निष्क्रिय प्रतिरोधके रूपमें की जानेवाली हड़ताल और वहिष्कारमें यह सादृश्य है कि वे शारीरिक हिंसासे वचते हैं; किन्तु समाजमें दूसरों पर दवाव डालनेके इन दोनों साधनोंमें महत्त्वपूर्ण अन्तर है। इनके प्रभावमें इतना अन्तर है कि उसके (प्रभावके) वर्णनके लिए पृथक् शब्दोंका प्रयोग विचारोंकी स्पष्टताके लिए लाभप्रद होगा।

दोनोंका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि सत्याग्रह नैतिक दृष्टिकोणसे शारीरिक ही नहीं परन्तु मानसिक हिंसासे भी वचनेका प्रयत्न करता है, जब कि निष्क्रिय प्रतिरोधके रूपमें हड़ताल और वहिष्कार कार्य सिद्ध करनेके लिए शारीरिक हिंसासे अलग रहते हैं। इस प्रकार सत्याग्रहमें यह आवश्यक है कि प्रेरक हेतु हिंसक न हो, जब कि (पश्चिमी ढंगके) वहिष्कार और हड़ताल वाह्य कार्य पर जोर देते हैं, प्रेरक हेतुकी उपेक्षा करते हैं और खुले तौरसे शारीरिक हिंसा या उसकी धमकीके प्रयोगको छोड़कर समाजमें दूसरों पर दवाव डालनेके प्रत्येक अन्य साधनका प्रयोग करते हैं।[2] इस अन्तरके परिणामस्वरूप सत्याग्रहमें कष्ट-सहनका प्रमुख भार सत्याग्रही सहता है; हड़ताल और वहिष्कारमें प्रतिरोधकारी और उसके विरोधीके वीच कष्ट-सहनके भारका अनुपात उल्टा होता है। हड़ताल और वहिष्कार दोनों विकल्पोंमें से (अर्थात् प्रतिरोधकारियोंकी मांग और उनके प्रतिरोधके कारण पड़े दवावमें से) एक भी विरोधीको वांछनीय नहीं लगता और उससे दो वुराइयोंमें से एकको चुनना पड़ता है।[3] सत्याग्रहमें मांग इतनी स्पष्ट, असंदिग्ध रूपसे इतनी न्यायसंगत और नैतिक दृष्टिकोणसे दोनों पक्षोंके लिए इतनी हितकारी, होती है कि जव विपक्षी स्वार्थके कारण मांगका विरोध भी करता है तव भी उसमें सत्याग्रहीकी मांग और उसके व्यवहारके औचित्यकी चेतना होती है। इस प्रकार सत्याग्रही विरोधीके नैतिक सुरक्षा-साधनोंको बेकार बना देता है और उसके प्रतिरोधका दवाव विरोधीको विवश अवश्य करता है। परन्तु वह दवाव उसी प्रकार होता है जैसे समझाना-वुझाना। दूसरी ओर वहिष्कार और हड़ताल विरोधीको भावी कष्ट और हानिकी संभावनासे भयभीत करते हैं

---

१. सी० एम० केस: नॉन-वायोलेन्ट कोअर्शन, पृ० २९५, ३४६।

२. सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोधके वीचके भेदके लिए देखिये अध्याय ८।

३. सी० एम० केस: नॉन-वायोलेन्ट कोअर्शन, पृ० ३१८।

और उस पर दवाव डालते हैं। सत्याग्रहका प्रभाव होता है अहिंसक नैतिक दवाव, जो एकताकी स्थापना करता है और नैतिकताको वढ़ाता है; जव कि हड़ताल और वहिष्कारका प्रभाव होता है मानसिक हिंसा, जो विभाजक होती है और नैतिकताको दुर्वल वनाती है।

यदि हड़ताल और वहिष्कार सव प्रकारकी हिंसासे न वचें, तो उनके प्रभावको अशारीरिक या मानसिक हिंसा कहना उचित होगा। किन्तु इन स्पष्ट रूपसे भिन्न सामाजिक शक्तियोंको — अर्थात् सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध (हड़ताल और वहिष्कार) को — एक ही वर्गमें रखना भ्रमोत्पादक और अवैज्ञानिक है।

सत्याग्रहके असरको अहिंसक या नैतिक वल-प्रयोग कहना गलत है। साधारण वातचीतमें और राजनीतिमें भी वल-प्रयोग (अंग्रेजीमें 'कोअर्शन') शव्दका अर्थ होता है शरीर-शक्तिका प्रयोग या उसके प्रयोगकी धमकी। वल-प्रयोगके साथ हिंसाका अनुषंग है; और हिंसाका अर्थ है मनुष्योंका शोषण और उनका केवल साधनकी तरह प्रयोग और इसका अहिंसासे मेल नहीं खाता। हिंसाके साथ अनुषंग होनेके कारण अहिंसक प्रतिरोधके प्रभावका वर्णन करनेके लिए 'नैतिक' या 'अहिंसक' विशेषणोंके साथ भी 'वल-प्रयोग' शव्दका व्यवहार यह भ्रमपूर्ण धारणा उत्पन्न करता है कि हिंसक और अहिंसक प्रतिरोधमें कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। और यह स्पष्ट और निश्चित चिन्तनमें वाधक है।

ऊपर हमने अहिंसाके नैतिक दवाव और निष्क्रिय प्रतिरोधके अशारीरिक (मानसिक) वल-प्रयोगके वीचका भेद वताया है। अहिंसक दवाव और शारीरिक वल-प्रयोगमें और भी अधिक अन्तर है। गांधीजीने एक वार दोनों शक्तियों और उनकी प्रक्रियाओंके अन्तरका वर्णन इन शव्दोंमें किया था: "हिंसात्मक दवाव आदमीके शरीर पर पड़ता है। जो इस दवावसे काम लेता है वह खुद नीचे गिर जाता है और जिस पर दवाव डाला जाता है उसे हतोत्साह कर देता है। लेकिन स्वयं कष्ट सहकर — जैसे उपवास आदि करके — जो अहिंसात्मक दवाव डाला जाता है, वह विलकुल दूसरे तरीकेसे असर पैदा करता है। जिन लोगोंके खिलाफ उसका प्रयोग किया जाता है उनके शरीरको न छूकर वह उनकी आत्मा पर असर डालता है और उसे मजवूत वनाता है।"[1]

अपने भाषणों और लेखोंमें गांधीजी सदा इस वात पर जोर देते थे कि जवरदस्ती और वल-प्रयोग सत्याग्रहके अंश नहीं हैं। उनके लेखोंसे कुछ सम्वन्धित उद्धरण यहां दिये गये हैं:

---

१. जवाहरलाल नेहरू: मेरी कहानी, पृ० ९२७ पर उद्धृत।

"हम जनमतका संगठन हिंसात्मक वातावरणमें नहीं कर सकते।... जो अपनेको फैशन या जबरदस्तीके कारण असहयोगी कहते हैं, वे (सच्चे) असहयोगी नहीं हैं।... इसलिए हमें अपने संघर्षसे प्रत्येक प्रकारकी जबरदस्तीको दूर कर देना चाहिए।"[१]

"हमें अपने विरोधियोंका सामाजिक बहिष्कार नहीं करना चाहिए। वह बल-प्रयोगके बराबर है।... बहुमतका शासन, जब उसमें बल-प्रयोग होता है, वैसा ही असह्य हो जाता है जैसा नौकरशाहीके अल्पमतका शासन।"[२]

"किन्तु खादी पहननेमें उसी प्रकार बल-प्रयोग नहीं होना चाहिए जैसे किसी दूसरी बातमें।"[३]

सन् १९३० के सविनय-अवज्ञाके आन्दोलनमें उन्होंने लिखा था, "अच्छी बात करनेके बारेमें भी हम जबरदस्तीका प्रयोग न करें। जरासी भी जबरदस्ती आन्दोलनका विनाश कर देगी।... यह हृदय-परिवर्तनका आन्दोलन है, अत्याचारीके साथ भी जबरदस्ती करनेका नहीं।"[४]

"अहिंसाकी योजनामें जबरदस्तीकी-सी कोई बात नहीं है। विरोधीकी बुद्धि और हृदय तक पहुंचनेकी क्षमता पर भरोसा करना चाहिए।"[५]

"अहिंसा कभी भी बल-प्रयोगकी पद्धति नहीं है, वह हृदय-परिवर्तनकी पद्धति है।"[६]

"सत्याग्रहीका उद्देश्य है अन्यायीका हृदय-परिवर्तन, न कि उसके साथ बल-प्रयोग।"[७]

लेकिन यद्यपि गांधीजी 'बल-प्रयोग' और 'जबरदस्ती' (अंग्रेजीमें 'कोअर्शन' और 'कम्पलशन') शब्दोंका प्रयोग नहीं करते थे, फिर भी सत्याग्रहके प्रभावका वर्णन करनेके लिए 'मजबूर करने' या 'विवश करने' (अंग्रेजीमें 'टु कम्पेल') शब्दका प्रयोग अवश्य करते थे। प्रसंगसे स्पष्ट मालूम होता है कि इस शब्दका प्रयोग वे विपक्षीके उच्चतम अंशको जाग्रत करनेके उद्देश्यसे नैतिक दबाव या प्रभाव डालनेके अर्थमें करते थे।

---

१. सत्याग्रह, पृ० २४–२५।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० ९६१।

३. यं० इं०, भाग–२, पृ० ५०७।

४. यं० इं०, १७–४–'३०।

५. ह०, २३–७–'३८, पृ० १९२।

६. ह०, ८–७–'३९, पृ० १९३।

७. ह०, २५–३–'३९, पृ० ६४।

उदाहरणके लिए, सन् १९२० में व्यवस्थापिका सभामें वाइसरॉयके भाषणका हवाला देते हुए उन्होंने लिखा था, "पंजाबके सम्बन्धमें उन्होंने जो कहा उसका अर्थ है शिकायत दूर करनेसे साफ इनकार . . . । निकट भविष्य (का कार्य) है पंजाबके मामलेमें सरकारको पश्चात्ताप करनेके लिए मजबूर कर देना।"[१]

"इसलिए मैंने असहयोगके उपायका सुझाव देनेका साहस किया है। . . . अगर उसके साथ-साथ हिंसा न हो और वह सुव्यवस्थित रीतिसे किया जाय, तो वह उसको (सरकारको) अपने कदम वापस लौटाने और किया हुआ अन्याय दूर करने पर विवश करेगा।"[२]

". . . प्रत्येक दल जब दूसरेकी मदद करेगा तब हम सरकारको सब दलोंकी न्यूनतम संयुक्त मांग मानने पर मजबूर कर देंगे।[३]

शब्द 'विवश करना' भी संदिग्ध है। गांधीजी कभी-कभी अहिंसाके प्रभावके वर्णनके लिए 'नैतिक दबाव' शब्दका प्रयोग करते थे और यह शब्द 'विवश करने' की अपेक्षा कहीं अधिक निश्चित है। इस प्रकार राजकोटके उपवासका हवाला देते हुए उन्होंने कहा था, "यदि मेरे उपवास . . . का अर्थ दबाव डालना लगाया जाता है, तो मैं केवल यह कह सकता हूं कि ऐसे नैतिक दबावका सभी सम्बन्धित (व्यक्तियों) द्वारा स्वागत होना चाहिए।"[४]

निस्सन्देह परिधिवर्ती मामलोंमें समाजको प्रभावित करनेके ये तीन साधन — अहिंसा, अशारीरिक (मानसिक) हिंसा और शारीरिक हिंसा — एक-दूसरेमें मिल जाते हैं, उनकी सीमारेखा अस्पष्ट हो जाती है और उसके जाननेमें बड़ी कठिनता होती है। लेकिन जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, अहिंसाके प्रभावका 'बल-प्रयोग' शब्दके द्वारा वर्णन करना, इस शब्दके साथ हिंसाका अनुषंग होनेके कारण, अवैज्ञानिक है और भ्रमोत्पादक है। उदाहरणके लिए, कभी-कभी यह कहा जाता है कि हिंसा और अहिंसा बल-प्रयोगके प्रकार हैं और जब एक प्रकार असफल हो जाय तो दूसरेका प्रयोग हो सकता है। यह सुझाव शायद अनुपयुक्त न होगा कि तीनों प्रकारके प्रतिरोधके प्रभावके वर्णनके लिए हम तीन पृथक् शब्दोंका प्रयोग करें। अहिंसाके प्रभावको नैतिक दबाव, निष्क्रिय प्रतिरोधके प्रभावको अशारीरिक (मानसिक) बल-प्रयोग और हिंसाके प्रभावको बल-प्रयोग कहना उचित होगा।

---

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० १३३।
२. यं० इं०, भाग–१, पृ० २२०।
३. यं० इं०, भाग–२, पृ० २६०।
४. ह०, ११–३–'३९, पृ० ४६।

सार्वभौम व्यावहारिकता

आलोचकोंको प्राय: यह बात भी मान्य नहीं कि अहिंसक प्रतिरोधका प्रयोग सभी सामूहिक संघर्षोंमें सार्वभौम रूपसे हो सकता है। उनका कहना है कि समुदायों, विशेष रूपसे बड़े समुदायों, का आचरण नैतिक दृष्टि-कोणसे बहुत निम्न कोटिका होता है। भावनाओंके आवेशमें जनता सभी प्रकारका नियंत्रण खो बैठती है और उस पर इस बातका भरोसा नहीं किया जा सकता कि वह प्रतिकारके लिए उत्तेजित हुए बिना शोषकोंके विरुद्ध अहिंसक प्रतिरोधका प्रयोग कर सकेगी। इस प्रकार सामूहिक अहिंसक प्रतिरोध असम्भव है।[1]

गांधीजी इस बातको मानते थे कि हो सकता है व्यक्तियोंकी अपेक्षा समुदाय नैतिक विचारोंसे कम प्रभावित हों और अहिंसक अनुशासनका विकास व्यक्तियोंकी अपेक्षा बड़े समुदायोंके लिए अधिक कठिन हो। लेकिन वे यह नहीं मानते थे कि समुदायोंको अहिंसक पद्धतिकी शिक्षा देना असम्भव है। वे इस बातमें विश्वास करनेसे इनकार करते थे कि अहिंसा केवल व्यक्तिके लिए है और सामूहिक पैमाने पर अहिंसा मनुष्य-स्वभावके विपरीत है।[2] उनका मत था कि अहिंसाका प्रयोग व्यक्ति भी कर सकते हैं और समुदाय भी कर सकते हैं; उसका प्रयोग लाखों मनुष्य साथ-साथ कर सकते हैं।[3]

बड़े समुदायोंकी हिंसाके प्रति दुर्बलता उनके सदस्योंमें अनुशासन और आत्म-नियन्त्रणके अभावके कारण तथा उसके नेताओंमें वीरोंकी अहिंसाके अभावके कारण है। यदि ये समुदाय दीर्घकाल तक सुनियोजित सत्याग्रही अनुशासनके अनुसार रहें और उनके नेताओंमें सच्ची अहिंसा हो, तो यह हिंसा-संबंधी दुर्बलता दूर हो सकती है। बड़े समुदायोंको युद्धके लिए सफलतापूर्वक प्रशिक्षण देनेसे प्रकट होता है कि समुदायोंको सामूहिक अहिंसक प्रतिरोधके लिए भी प्रशिक्षित किया जा सकता है। सैनिक प्रशि-क्षणका उद्देश्य होता है भयकी भावना और उससे सम्बन्धित भागनेकी प्रवृत्ति पर नियन्त्रण और अनुशासन। इसी भावना और प्रवृत्तिसे संबंधित और उसकी समानान्तर क्रोधकी भावना और झगड़ा करनेकी प्रवृत्ति है। दोनों भावनाएं और प्रवृत्तियां विभाजक हैं। अपेक्षाकृत शक्तिशाली विरोधी भयको उत्तेजना देता है; दुर्बल विरोधी क्रोधको उत्तेजना देता है।

---

१. एम० रत्नस्वामी : दि पॉलिटिकल फिलॉसफी ऑफ मिस्टर गांधी, पृ० ५७–५८।

२. यं० इं०, २–१–'३०; ह०, १२–१०–'३५, पृ० २७७।

३. ह०, ६–१–'४०, पृ० ४०३।

अहिंसक प्रशिक्षणमें इन दोनों विभाजक भावनाओं और प्रवृत्तियों पर पूर्ण नियन्त्रणकी स्थापनाका प्रयत्न होता है।

मानव-जातिके अस्तित्व और प्रगतिसे प्रकट होता है कि प्रेम, सहयोग और इनसे मिलती-जुलती अहिंसक भावनाओं और प्रवृत्तियोंका क्रोध, भय और दूसरी हिंसक भावनाओं और प्रवृत्तियों पर प्राधान्य है। इसलिए सैनिक अनुशासनकी अपेक्षा अहिंसक अनुशासनको मनुष्य-स्वभावके अधिक अनुकूल होना चाहिए और उसको अधिक व्यवहार-सुगम और स्थायी होना चाहिए।[1]

धरासणा, बारडोली, सीमाप्रांत और दक्षिण अफ्रीकाके सामूहिक अहिंसक प्रतिरोधके सफल दृष्टान्त यह सिद्ध करते हैं कि बड़े समुदायोंको अधिकतम उत्तेजनामें अहिंसक व्यवहारके लिए तैयार किया जा सकता है।

गांधीजीके अनुसार सामूहिक सत्याग्रहके लिए आवश्यक अनुशासन प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। उसके लिए उच्च कोटिकी शिक्षा या संस्कृति या दूसरी कोई असाधारण योग्यता अनिवार्य नहीं होती। गांधीजीके इस दावेकी सत्यताका यह पर्याप्त प्रमाण है कि दक्षिण अफ्रीकाके अशिक्षित भारतीय 'कुली', बारडोलीके शान्तिप्रिय किसान और सीमाप्रांतके युद्धप्रिय और भयावह पठान — सभी सत्याग्रही सेनाके अच्छे सैनिक बने।

सी० एम० केसने अपनी 'नॉन-वायोलेन्ट कोअर्शन' नामकी पुस्तकमें अहिंसक व्यवहार और मानसिक तथा शारीरिक योग्यताके संबंधका विवेचन किया है। आपने निष्क्रिय प्रतिरोधकारियोंके सम्बन्धमें उपलब्ध ऐतिहासिक घटनाओं और जीवन-कथाओंका वैज्ञानिक अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त पहले महायुद्धमें अमेरिकामें हजारोंकी संख्या उन युद्ध-विरोधियोंकी थी, जिन्होंने नैतिक या धार्मिक कारणोंसे युद्धमें किसी प्रकारका हिस्सा लेनेसे इनकार कर दिया था। इन युद्ध-विरोधियोंकी मानसिक और शारीरिक जाँचके परिणामका भी आपने विश्लेषण और अध्ययन किया है। इस अध्ययनके बाद आप इस नतीजे पर पहुंचे कि निष्क्रिय प्रतिरोधकारी और युद्ध-विरोधी

---

१. सामूहिक व्यवहार सामुदायिक चेतनासे भी प्रभावित होता है। यह सामुदायिक चेतना समुदाय-विशेपकी नैतिक स्थितिके अनुसार व्यक्तियोंकी उच्च या निकृष्ट भावनाओंको सजीव और सुदृढ़ बना सकती है। व्यक्ति उस समुदायके सदस्यकी हैसियतसे, जिसके साथ उसकी भावनाओंका सादृश्य है, पृथक् व्यक्तिकी अपेक्षा केवल दूसरोंको अधिक कष्ट दे ही नहीं सकता, परन्तु स्वयं भी अधिक कष्ट सह सकता है। इस प्रकार अहिंसाको सामुदायिक संक्रामकता अर्थात् समुदायके प्रभावकी संक्रामक विशेपतासे लाभ भी हो सकता है।

लोग साधारण जन्मजात मानसिक और शारीरिक योग्यताके व्यक्ति थे और अहिंसक व्यवहार जन्मजात विशेषताओंका नहीं किन्तु व्यक्तिके जीवन-कालमें अर्जित विशेषताओंका परिणाम है।[1] यह विश्वासके साथ कहा जा सकता है कि भारतवर्षके सत्याग्रहियोंकी इसी प्रकारकी जांचसे अहिंसकोंकी साधारण शारीरिक और मानसिक योग्यताके सम्बन्धमें केस साहबके निष्कर्षमें कोई परिवर्तन न होगा।

आलोचकोंका यह भी कहना है कि अहिंसा अंग्रेजोंके-से सौम्य और सदय विपक्षीके विरुद्ध सफल हो सकती है, क्योंकि उनमें उदारतावाद और मानवताके अंश हैं और वे यह मानते हैं कि विद्रोह और उसके दमनमें भी औचित्यकी सीमाका उल्लंघन नहीं होना चाहिए। किन्तु समग्रतावादी अधिनायकोंकी पाशविकता, निर्दयता और आतंकके विरुद्ध उसके सफल होनेकी कोई संभावना नहीं।[2]

निस्सन्देह जनताके व्यवहारको प्रभावित करनेकी पद्धतियोंके महान विकासने — विशेषकर युद्ध-पद्धति और प्रचार-पद्धतिके विकासने — सरकारका संचालन करनेवाले नियंत्रण-समुदायों द्वारा जनताकी अनुमति प्राप्त करनेकी शक्तिमें बहुत वृद्धि की है। लेकिन जैसा कि बर्ट्रेण्ड रसेलका कहना है, यह अब भी संदिग्ध प्रश्न है कि राज्यका प्रचार कहां तक और कब तक बहुमतके हितके विरुद्ध सफल हो सकता है।[3] आधुनिक कालमें यह प्रचार राष्ट्रीयताकी भावनाके विरुद्ध शक्तिहीन सिद्ध हुआ है; उसे दृढ़ धार्मिक भावनाके विरुद्ध कारगर होनेमें भी कठिनता पड़ती है। विरोधके दमनका एकमात्र निश्चित मार्ग है विरोधियोंको समाप्त कर देना। किन्तु विरोधियोंके विनाशके प्रयत्नकी सफलता संभव नहीं है, क्योंकि दमन पीड़ितोंके सिद्धान्तोंको जनप्रिय बनाता है। इसके अतिरिक्त, कोई भी सरकार एकमात्र शारीरिक शक्तिके आधार पर दीर्घकाल तक नहीं टिक सकती। जीवित रहनेके लिए उसे जनताकी अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है — यह अनुमति चाहे राज्यके राजनैतिक जीवनमें जनताके सक्रिय भागके रूपमें हो, चाहे 'इस विश्वाससे उत्पन्न निष्क्रिय मौन सम्मतिके रूपमें हो कि सरकारका उद्देश्य शासितोंका हित है। इस प्रकार अनुमति प्राप्त करनेके लिए सरकारको मानवतावादको अपनाना पड़ता है और इसीलिए विरोधी समुदायोंका पूर्ण विनाश असंभव हो जाता है। फिर, बल-प्रयोगकी पद्धति अपनी विनाशक स्वतन्त्रताकी

---

१. सी० एम० केस: नॉन-वायोलेन्ट कोअर्शन, अ० १० और ११।

२. एस० राधाकृष्णन्: महात्मा गांधी — रोमांरोलां, एडवर्ड टाम्सन तथा अर्नाल्ड ज्वीगके लेख।

३. बर्ट्रेन्ड रसेल: पावर, पृ० १०२।

पद्धतिको सजीवता देती है।[१] इसलिए अमेरिकन विचारक मेरियमके शब्दोंमें "जब शक्ति हिंसाका उपयोग करती है उस समय वह अधिकसे अधिक दृढ़ नहीं किन्तु अधिकसे अधिक दुर्बल होती है।"[२]

गांधीजी निरंकुश सत्ताके सर्व-शक्तिमान या स्थायी होनेमें विश्वास नहीं करते थे। उनके अनुसार सत्याग्रह स्वावलम्बी है और अपनी सफलताके लिए विपक्षीकी सदयता पर आश्रित नहीं है। सातवें अध्यायमें हम संघर्षोंमें सत्याग्रहकी नैतिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव-प्रक्रियाका वर्णन कर चुके हैं। गांधीजीके नेतृत्वमें दक्षिण अफ्रीका और भारतके विभिन्न अहिंसक प्रतिरोधके आन्दोलन इस बातके पर्याप्त प्रमाण हैं कि सत्याग्रहमें अनुगामियोंको आकर्षित करने, उनके अनुशासनका विकास करने और कष्ट-सहनके लिए उन्हें प्रेरित करने, जनमतको जाग्रत करने और अन्यायपूर्ण विपक्षीको दुर्बल बनानेकी अपूर्व क्षमता है।[३] गांधीजीका यह भी विश्वास था कि सत्याग्रहकी प्रक्रियामें वृद्धिका नियम लागू होता है। यह नियम प्रत्येक शुद्ध लड़ाईमें लागू होता है, परन्तु सत्याग्रहके विषयमें तो गांधीजी उसे सिद्धान्त रूपसे मानते थे। "यह वृद्धि

---

१. ई० ए० रॉस: सोशल कंट्रोल, पृ० ३८७; चार्ल्स ई० मेरियमने अपनी 'पॉलिटिकल पावर' नामकी पुस्तकके छठे अध्यायमें स्वतन्त्रताकी पद्धतिके साधारण हिंसक और अहिंसक रूपोंका संक्षिप्त वर्णन किया है।

२. ऊपर उद्धृत 'पॉलिटिकल पावर', पृ० १७९–८०।

३. अमेरिकाके विचारक निब्यूरने इस बातका एक महत्त्वपूर्ण कारण बताया है कि क्यों अहिंसक प्रतिरोध विपक्षीको दुर्बल बना देता है। उनके अनुसार सामाजिक संघर्षमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात होती है *प्रमुख सत्तावान समुदायकी यह नैतिक धारणा कि इस समुदायके हितमें* और समाजकी सुरक्षा और शान्तिमें कोई अन्तर नहीं है। यह धारणा वर्तमान सामाजिक स्थिति पर आक्रमण करनेवालोंके विरुद्ध समाजके प्रमुख समुदायको — जिसका राज्यसत्ता पर नियन्त्रण है — स्पष्ट लाभ देती है, किन्तु इस लाभका कोई औचित्य नहीं है। सामाजिक स्थितिमें क्रांतिकारी परिवर्तनोंके लिए प्रयत्नशील समुदायको सामाजिक शान्तिके शत्रुओंकी, अपराधियोंकी और हिंसाके लिए उत्तेजित करनेवालोंकी श्रेणीमें रख दिया जाता है और समाजका तटस्थ समुदाय उनके विरुद्ध हो जाता है। सामाजिक संघर्षमें अहिंसाकी पद्धतिका एक महान लाभ यह है कि रक्षित हितोंकी उपरोक्त नैतिक धारणाके दिखावटी औचित्यका विनाश हो जाता है। देखिये निब्यूर कृत 'मॉरल मैन एंड इम्मॉरल सोसाइटी', पृ० २५०। ब्रिटेन और अमेरिकाके जनमत पर गांधीजीके अहिंसक प्रतिरोधके प्रभावके वर्णनके लिए देखिये पोलक आदि लिखित 'महात्मा गांधी', पृ० १८४।

अनिवार्य है और वह सत्याग्रहके मूलभूत सिद्धान्तोंसे सम्बद्ध है। क्योंकि सत्याग्रहमें तो कम-से-कम ही ज्यादा-से-ज्यादा है। अर्थात् जो कम-से-कम है उसमें से और छोड़ा भी क्या जा सकता है? शुद्ध सत्यसे कम क्या होगा? इसलिए उसमें मनुष्य पीछे तो हट ही नहीं सकता। स्वाभाविक क्रिया वृद्धि ही है।"[1]

सन् १९१९ में गांधीजीने अपने एक भाषणमें कहा था, "सत्याग्रहके अपने अनुभवसे मुझे यह विश्वास होता है कि वह इतनी दृढ़ शक्ति है कि एक बार गतिशील हो जाने पर वह फैलती रहती है—यहां तक कि अन्तमें वह उस समाजमें, जहां उसका प्रयोग किया जाता है, प्रधान शक्ति बन जाती है; और यदि वह इस प्रकार फैल जाती है, तो कोई भी सरकार उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती।"[2]

यह कहना सत्याग्रहके बुनियादी सिद्धान्तोंसे अनभिज्ञताका परिचायक है कि सत्याग्रह अंग्रेजोंके-से सौम्य विपक्षीके विरुद्ध काम आ सकता है, पर आधुनिक अधिनायकोंकी पाशविक सेनाओंके विरुद्ध उसका असफल होना निश्चित है। यदि सत्याग्रहकी क्षमता न्यायप्रिय और सौम्य विरोधी तक ही सीमित होती और यदि वह अत्याचारीके विरुद्ध निष्फल सिद्ध होता, तो सत्याग्रहका अधिक मूल्य न होता। किन्तु गांधीजीके शब्दोंमें, "अहिंसाका सार है शरीर-शक्तिसे उसकी उत्कृष्टता—फिर शरीर-शक्ति चाहे जितनी महान हो।"[3] "आत्मशक्ति द्वारा प्रज्ज्वलित अग्निके सामने पत्थरका हृदय भी पिघल जाता है। नीरो भी, जब वह प्रेमका सामना करता है, मेमना बन जाता है।"[4] इसका कारण यह है कि मनुष्य अपने कार्योंकी अपेक्षा अधिक महान है और अधिक-से-अधिक भ्रष्ट हो जाने पर भी उसमें आत्माके अस्तित्वके कारण सुधार और नवजीवनकी असीम क्षमता होती है। विरोधीके उच्चतम अंशको जाग्रत करनेके लिए कष्ट-सहन सत्याग्रहीका अमोघ साधन है। सत्याग्रहीको कष्ट देकर विरोधी अपनी पराजयमें सहायक होता है। इस प्रकार सत्याग्रही दमन और अत्याचार पर फलता-फूलता है और किसी परिमाणमें भी हिंसा उसको दबा नहीं सकती। गांधीजीका मत है कि हिंसा और अहिंसाके द्वन्द्वमें अन्तमें सदा अहिंसाकी ही विजय होगी। सत्याग्रहमें विफलता या पराजय जैसी कोई बात नहीं होती,

---

१. दक्षिण अफ्रीका (उत्तरार्ध), पृ० ३१।

२. स्पीचेज़, पृ० ४४९–५०।

३. ह०, ६–१–'४०, पृ० ४०३।

४. स्पीचेज़, पृ० ३९३। नीरो प्राचीन कालमें यूरोपका एक अत्याचारी शासक था।

क्योंकि यहां कष्ट-सहनका अर्थ है सफलता। हो सकता है कि अहिंसक संघर्ष एक धीमी दीर्घकालीन प्रक्रिया मालूम हो; लेकिन वह सबसे अधिक शीघ्रगामी है, क्योंकि वह सबसे अधिक निश्चित है। सत्याग्रहीकी देखनेमें हारें भी हो सकती हैं। लेकिन वे अस्थायी हैं, जिनसे सत्याग्रहीको ध्येय-सिद्धिके लिए बहुमूल्य शिक्षा मिलती है। "अधिकतम हिंसाके समक्ष अहिंसा अधिकतम रूपसे कारगर होती है।"[१]

गत वर्षोमें कुछ अंग्रेज राजनीतिज्ञोंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे सत्याग्रहकी शक्तिकी प्रशंसा की है। दक्षिण अफ्रीका, बारडोली, चम्पारन और दूसरे स्थानोंमें उन्हें सत्याग्रहियोंकी मांगके सामने झुकना पड़ा। अमरीकाके पत्रकार ड्रयू पियर्सनके साथ हुई मुलाकातमें स्वर्गीय लॉर्ड लायडने, जो उस समय बम्बईके गवर्नर थे, गांधीजीके सन् १९१९–२१ के आन्दोलनको संसारके इतिहासका महानतम प्रयोग कहा था। उनके मतसे वह आन्दोलन सफलताके बहुत ही निकट था। गांधी-इर्विन संधि और भारतकी स्वतन्त्रता सत्याग्रहकी शक्तिके प्रमाण हैं। किन्तु सत्याग्रहकी सफलता या आंशिक सफलताका श्रेय अंग्रेजोंकी न्यायप्रियता या सौम्यताको देना उचित नहीं है। गांधीजीके अनुसार फासिस्ट और नात्सी लोग (पश्चिमके) जनतन्त्रवादियोंके संशोधित संस्करण थे और उन्होंने उस हिंसाको, जिसे जनतन्त्रवादियोंने तथाकथित पिछड़ी जातियोंके शोषणके लिए विकसित किया था, विज्ञानका रूप दिया था। पश्चिमके जनतन्त्रवादियों और फासिस्टोंमें केवल परिमाणका अन्तर था। इसलिए यदि यह मान लिया जाय कि अहिंसाके एक निश्चित परिमाणसे जनतंत्रवादी पिघल सकते हैं, तो अनुपातके नियमसे यह ज्ञात हो सकता है कि फासिस्ट और नात्सी लोगोंके अधिक कठोर हृदयोंको पिघला देनेके लिए किस परिमाणमें अहिंसाकी आवश्यकता होगी।[२]

सत्याग्रहकी सफलता विपक्षीकी सौम्यता पर नहीं, सत्याग्रहियोंकी कष्ट-सहनकी क्षमता पर निर्भर है। सत्याग्रहीके कष्ट-सहनसे मित्रों, विरोधियों और मध्यस्थों — सबमें सहानुभूतिकी प्रतिक्रिया होती है। "इस प्रकार सत्याग्रह जनमतको शिक्षित करनेकी ऐसी प्रक्रिया है, जो समाजके सब अंशोंको प्रभावित करती है और अन्तमें अजेय बन जाती है।"[३]

भारतका अहिंसक प्रतिरोध

आलोचक भी कहते हैं कि भारतवर्षमें लगभग ३० वर्ष तक सत्याग्रहका प्रयोग गांधीजीके नेतृत्वमें हुआ। भारतको स्वतन्त्रता अवश्य मिल गई, किन्तु

---

१. ह०, २७–५–'३९, पृ० १३८।

२. ह०, १५–४–'३९, पृ० ८९।

३. ह०, ३१–३–'४६, पृ० ६४।

यह स्वतन्त्रता राजनैतिक है, न कि सामाजिक और आर्थिक। सत्याग्रहके द्वारा देशकी राजनैतिक एकताकी रक्षा न हो सकी। इसके अतिरिक्त अंग्रेजोंके कठोर अत्याचारने सन् १९२२, १९३३ और १९४२ में सत्याग्रह आंदोलनको दवा दिया था। इन आलोचकोंके अनुसार सत्याग्रह आधुनिक संसारकी जटिल परिस्थितिमें बेकार हो गया है, वह एक ऐतिहासिक वस्तु बन गया है।

किन्तु देशमें क्रान्तिके पथमें अनेक प्रारंभिक अड़चनें भी थीं — भयावह निर्धनता, व्यापक निरक्षरता, राजनैतिक उदासीनता और दीर्घकालीन राजनैतिक दासतासे उत्पन्न घोर नैतिक अधःपतन। रियासती शासकों, पूंजीपतियों और जमींदारोंको सदा विदेशी शासकोंकी सहायता प्राप्त होती थी। जनतामें भेदभाव उत्पन्न करनेकी काफी गुंजाइश थी और विदेशियोंने उसका पूरा दुरुपयोग किया।

इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय पैमाने पर अहिंसक प्रतिरोधका प्रयोग इसी देशने सबसे पहले किया। कांग्रेसने अहिंसाको काम बनानेवाली नीतिकी ही तरह अपनाया, न कि जीवन-सिद्धान्तकी तरह। कांग्रेसकी अहिंसा साधन-सम्पन्नताकी नहीं परन्तु विवशताकी, वीरकी नहीं परन्तु निर्बलकी अहिंसा थी। गांधीजीका विश्वास था कि इस आंशिक अहिंसाके प्रयोगके फलस्वरूप देश वीरकी अहिंसाको अपना लेगा। किन्तु उनकी यह आशा पूरी न हुई। सत्याग्रहियोंने विरोधीके प्रति दुर्भावनाको हृदयमें स्थान दिया और अहिंसाको वाह्य आचरण तक ही सीमित रखा। जब गांधीजी जेलमें होते थे तो अहिंसाकी शुद्धता, उसकी उच्च नैतिकताकी अपेक्षा संख्या और परिमाण पर अधिक जोर दिया जाता था। शीघ्र सफल होनेकी उत्सुकतामें गुप्त साधनोंका भी प्रयोग होता था। ये साधन अनुशासन और नैतिकताको नीचे गिराते हैं। गांधीजी सदा इनके विरुद्ध रहते थे और उन्होंने कभी इनको प्रोत्साहन नहीं दिया। इस अधूरी अहिंसाको अंग्रेजोंकी संगठित हिंसाके सामने अक्सर झुकना पड़ा। इस प्रकार सत्याग्रह-आन्दोलनोंकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि वह वीरकी शुद्ध अहिंसा पर नहीं बल्कि दुर्बलकी अहिंसाके वाह्य आचरण पर आधारित थे।

निस्सन्देह सत्याग्रहियोंकी अहिंसा नैतिक उच्चताके आवश्यक स्तर तक न पहुंच सकी, किन्तु जहां तक कार्यका सम्बन्ध था प्रतिरोध-आंदोलन अहिंसक थे। इसके पहले इस पैमानेके जन-आन्दोलनोंमें इतनी कम हिंसा कभी नहीं हुई थी।

भारतको स्वतन्त्र करनेके अतिरिक्त अहिंसाने जनताको बहुत प्रभावित किया था। गांधीजीके शब्दोंमें, "इसके (सत्याग्रहके) कारण जनतामें जितनी

जाग्रति उत्पन्न हुई है, उतनी अन्य साधनोंसे शायद पाढ़ियोंमें हो पाती।"[1] सत्याग्रहने सदियोंकी पराधीनताके नैतिक और मनोवैज्ञानिक प्रभावको बहुत कुछ दूर कर दिया और जनतामें सामूहिक कार्य करने और अन्यायका सामना करनेकी क्षमताकी चेतना उत्पन्न की। भारतवासियोंमें आत्म-विश्वास और स्वावलम्बनकी वृद्धि हुई। उनको यह विश्वास हुआ कि उनकी शिकायतों और कष्टोंका दूर होना उनके कष्ट-सहन और नैतिक शक्ति पर निर्भर है। सत्याग्रहने बहुत कुछ उनकी परम्परागत राजनैतिक निष्क्रियताको दूर किया और वे राष्ट्रीय राजनीतिमें दिलचस्पी लेने लगे। इस व्यापक राजनैतिक चेतनाका एक चिह्न था प्रतिरोधके आन्दोलनोंमें भाग लेनेवालोंकी लगातार संख्यावृद्धि। सन् १९२०–२२ के असहयोग आन्दोलनमें जेल जानेवालोंकी संख्या ३०,००० थी। सन् १९३०–३१ में यह संख्या बढ़कर लगभग ९०,००० हो गई थी। सन् १९३३ के प्रारम्भ तक, मिस विल्किन्सनकी जांचके अनुसार, ४,१७,००० व्यक्ति जेल जा चुके थे।[2] संख्यावृद्धिके अतिरिक्त, लोगोंमें अनुशासनकी दृढ़ता आई और उनकी कष्ट-सहनकी शक्ति बढ़ी। इसीलिए सन् १९२०–२२, १९३०–३४ और १९४२–४४ के दमनका उद्देश्य असफल हुआ और कांग्रेस इस अग्नि-परीक्षाके फलस्वरूप अधिक लोकप्रिय और शक्तिशाली हो गई।

सत्याग्रहके परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई राजनैतिक जाग्रतिने दूसरे क्षेत्रोंमें भी राष्ट्रीय जीवनको प्रभावित किया। स्त्रियोंकी पराधीनता बहुत कुछ दूर हो गयी और वे राष्ट्रीय जीवनमें उचित भाग लेने लगीं। आज अस्पृश्यता अपने अन्तिम मंजिलमें है और जातियोंके बन्धन ढीले पड़ चुके हैं। ग्रामोद्योगों और कुटीर-उद्योगोंका पुनरुद्धार हो रहा है और गांवोंका सुधार हो रहा है; और इस बातका प्रयत्न हो रहा है कि गांव राष्ट्रीय जीवनके स्नायु-केन्द्र बन जायं।

विदेशी सरकार पर सत्याग्रहके प्रभावके सम्बन्धमें ऊपर कुछ ब्रिटिश राजनीतिज्ञोंके सत्याग्रहके कारगर होनेके बारेमें प्रशंसासूचक मतोंका उल्लेख हो चुका है। अहिंसक प्रतिरोधने संसारके सबसे महान साम्राज्यकी जड़

---

१. ह०, १८–५–'४०, पृ० १३२।

२. ऊपरके आंकड़े पट्टाभि सीतारमैयाके कांग्रेसके इतिहासके आधार पर और मिस विल्किन्सनके जनवरी १९३२ में 'मैंचेस्टर गार्जियन' और 'स्वराज्य' में प्रकाशित एक लेखके आधार पर हैं। पूरा लेख भारतन् कुमारप्पाकी पुस्तक 'इण्डियन स्ट्रगल फॉर फ्रीडम (थ्रू वेस्टर्न आइज़)' में छपा है। स्वर्गीया मिस विल्किन्सन १९३२ में इण्डिया लीग डेलिगेशनके साथ उस समयकी राजनैतिक परिस्थितिकी जांचके लिए भारत आई थीं।

उखाड़ दी। उसने सरकारकी प्रतिष्ठाको गहरा धक्का पहुंचाया, सरकारी नौकरोंके अनुशासनको दुर्वल वनाया और सरकारके प्रयोजनके औचित्यमें उनके विश्वासका विनाश किया। सरकारी कर्मचारी — विशेप रूपसे पुलिस और सेना — प्रायः इन सत्याग्रहियोंके साथ अमानुपिक वर्ताव करते करते उकता गये, जो उनकी हिंसा सह तो लेते थे परन्तु प्रतिहिंसा नहीं करते थे। इनमें से कुछने प्रत्यक्ष और वहुतोंने छिपे-छिपे सत्याग्रहियोंके और राष्ट्रीय आन्दोलनके प्रति सहानुभूतिका प्रदर्शन किया।[1] सीमाप्रान्तमें गढ़वाली सिपाहियोंने एक अहिंसक भीड़ पर गोली चलानेकी आज्ञा माननेसे इनकार कर दिया। उनके ऊपर फौजी अदालतमें मुकदमा चला और उनको लम्वी सजा मिली। सन् १९३०–३४ के आर्थिक वहिष्कारसे भारतके साथ अंग्रेजी व्यापारको गहरा धक्का लगा।[2] इस प्रकार सत्याग्रहका अंग्रेजों पर वहुत प्रभाव पड़ा।

इसके अतिरिक्त इन अहिंसक आन्दोलनोंने भारतकी राजनीतिको आदर्शवादके उच्च स्तर पर पहुंचाया और भारतकी राष्ट्रीयताको संकीर्णता और अवसरवादितासे वचाया। इस प्रकार अहिंसक आन्दोलनोंसे संसारकी दृष्टिमें और स्वयं अपनी दृष्टिमें भी देशकी प्रतिष्ठा वढ़ी। किन्तु दुर्वलोंकी अहिंसा पर आधारित होनेके कारण कांग्रेस स्वतन्त्र भारतमें अहिंसाके सिद्धान्तोंके अनुसार राष्ट्रीय जीवनका पुनर्निर्माण न कर सकी।

क्रान्ति — हिंसा और अहिंसा

कुछ अराजकतावादी (उदाहरणके लिए, वकुनिन, क्रोपाटकिन और रूसके निहिलिस्ट), क्रान्तिकारी सिन्डिकलिस्ट विचारक और मार्क्सवादी अहिंसाको प्रतिरोधका पर्याप्त साधन नहीं मानते। उनके अनुसार हिंसा वर्तमान समाजको युद्ध, पूंजीवाद और शोपणसे वचाने और उसका पुनर्निर्माण करनेका अनिवार्य साधन है। ८ सितम्वर, १८७२ को एमस्टर्डममें दिये गये भापणमें मार्क्सने यह मान लिया था कि इंग्लैण्ड सरीखे देशोंमें मजदूर शान्तिपूर्ण उपायोंसे अपना ध्येय प्राप्त कर सकते थे, यद्यपि यूरोपके अन्य देशोंमें मजदूरोंके

---

१. कुछ दृष्टांतोंके लिए देखिये राजेन्द्रप्रसाद लिखित 'महात्मा गांधी एंड विहार', अ० १७।

२. भारतमें सूती मालका आयात १९२७–२८ में ७१.९ करोड़ रुपयेसे घटकर १९३३–३४ में २१.३ करोड़ रुपये हो गया। वाहरसे आये हुए कपड़ेमें ब्रिटेनका भाग इसी समयमें ७८.२ प्रतिशतसे गिरकर ५३.५ प्रतिशत हो गया। किन्तु सूती मालके आयातमें ब्रिटेनके भागकी कमीका एक महत्त्वपूर्ण कारण जापानकी प्रतियोगिता थी। (इंडियन ईयर वुक, १९२७–२८, १९३५–३६।)

प्राधान्यकी स्थापनाके लिए शक्तिका प्रयोग अनिवार्य था। सन् १८८१ में उसने एक मित्रसे बातचीत करते हुए कहा था, "इंग्लैण्ड ही एक ऐसा देश है जहां शान्तिमय क्रांति संभव है, किन्तु इतिहास हमें यह (शान्तिमय क्रान्तिकी संभावना) नहीं बताता।" मार्क्सवादियोंके अनुसार हिंसाका प्रयोग अनिवार्य है, क्योंकि वह उस मध्यम वर्गके हाथोंसे — जो समाजके विकासमें रुकावट डालता है — सामाजिक उत्पादनके साधनोंको ले लेनेका एकमात्र मार्ग है। राज्य और सरकार राष्ट्रीय उद्योग-धंधोंका साधन हैं और उनका अस्तित्व वर्गभेदोंकी अनिवार्यताका द्योतक और परिणाम है। राज्यकी शक्तिका स्रोत है सेना और सेना श्रमिक जनताका भाग नहीं परन्तु उससे अलग है। अत्याचार-पीड़ितोंकी स्वतन्त्रता राज्यकी संस्थाओंके विनाशके विना असंभव है। किन्तु अराजकतावादी और सिन्डिकलिस्ट विचारकोंका व्यक्तिगत आतंकवादी कार्योंमें और ऐसे कार्यों द्वारा प्रचार करनेमें जो विश्वास है वह मार्क्स और उनके अनुगामियोंको मान्य नहीं। मार्क्सवादियोंके अनुसार व्यक्तिगत हिंसाके कार्य अनिवार्य रूपसे सरकारी दमन-नीतिको सुगम बना देते हैं। ये कार्य दमन-नीतिके औचित्यके कारण बन जाते हैं और इस प्रकार प्रतिक्रियावादी शक्तियां दृढ़ होती हैं। उन युद्धवादी, राष्ट्रीयतावादी और डार्विनके अति-आधुनिक अनुगामी विचारकोंके विपरीत — जिनके अनुसार हिंसक संघर्षकी समाजमें सदा आवश्यकता रहेगी — मार्क्स और लेनिन हिंसाको एक तात्कालिक साधन मानते हैं। उनके अनुसार उसका एकमात्र औचित्य यह है कि उसका उपयोग नये शान्तिमय समाजके जन्मके लिए अनिवार्य है। मार्क्स और लेनिनका यह मत है कि हिंसा तभी सफल हो सकती है जब परिस्थिति क्रान्तिकारी हो अर्थात् नए समाजकी स्थापनाके लिए पूरी तरह अनुकूल हो। लेनिनके शब्दोंमें, "शोषित और शोषक दोनोंको प्रभावित करनेवाली राष्ट्रव्यापी संकटपूर्ण स्थितिके विना क्रान्ति असम्भव है।"[१]

किन्तु कम्युनिस्ट लक्ष्य और हिंसक साधनोंमें आंतरिक विरोध है। यदि उद्देश्य वर्गहीन और राज्यहीन जनतन्त्रका विकास है, तो आजके समाजके मूलभूत आदर्शों और मनोवृत्तियोंको बदलना होगा। वर्गहीन और राज्यहीन जनतन्त्र मार्क्सवादियोंका भी ध्येय है और गांधीजीका भी है। किन्तु हिंसाका

---

१. बोरिस निकोलेस्की और ऑटो मेन्शेन्हेल्फेन : कार्ल मार्क्स — मैन एण्ड फाइटर (अंग्रेजीमें अनुवादक डेविड और मोस्वेकर), पृ० २३३, ३६३-६४ और ३८०; सिडनी हुक : कार्ल मार्क्स, अध्याय ८; 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज'में सिडनी हुकका 'वायोलेन्स' पर लेख; लेनिन : स्टेट एंड रिवोल्यूशन, अ० १; क्विन्सी राइट : ए स्टडी ऑफ वार, भाग–२, पृ० १२-१६।

बड़े पैमाने पर प्रयोग उन आदर्शों और प्रवृत्तियोंके विकासको रोक देगा, जो कम्युनिस्टोंके आदर्श समाजकी स्थापनाके लिए आवश्यक हैं। लास्कीके शब्दोंमें, "कम्युनिज्मकी शर्त है ठीक उन्हीं प्रवृत्तियोंका नियन्त्रण, जिन्हें हिंसा मुक्त करती है . . . ।"[1]

पूंजीवादकी तरह हिंसाका भी अर्थ है मनुष्योंका केवल साधनोंकी तरह प्रयोग। हिंसा अपना प्रयोग करनेवालों और पीड़ितों दोनोंकी पाशविकताको बढ़ाती है, उनमें घृणा, भय और क्रोधको उकसाती है और उनका नैतिक पतन करती है। दूसरी ओर अहिंसा सत्याग्रही और विरोधीकी नैतिकताको बढ़ाती है और इस प्रकार महान सामाजिक शक्तियोंको पुनर्रचनाकी ओर प्रेरित करती है।[2]

मार्क्सवादियोंका यह विश्वास है कि वर्गोंमें पूर्ण विरोध समाजकी आवश्यक विशेषता है और पूंजीवादियोंका सुधार असंभव है। किन्तु इस विश्वासका समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक आधार दुर्बल है। समाजशास्त्रके दृष्टिकोणसे हितोंका पूर्ण विरोध और संघर्ष सामाजिक जीवनकी सामान्य स्थिति नहीं है। ऐसे वर्ग, जिनका एक सामाजिक स्थितिमें मेल नहीं हो सकता, दूसरी स्थितिमें सहयोग करते हैं।[3] आधुनिक मनोविज्ञानके अनुसार मनुष्यमें विकासकी असीम क्षमता है और इतिहासमें हमको ऐसे लोगोंके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं, जिनकी समाज-विरोधी प्रवृत्तियोंका सुधार हो गया और जो समाजके लाभप्रद सदस्य बन गये।

हिंसा अजनतन्त्रवादी भी है। जनतन्त्रवादका मूलभूत सिद्धान्त है प्रत्येक मनुष्यका असीम नैतिक मूल्य। हिंसा इस सिद्धान्तका निषेध करती है। हिंसाके प्रयोगसे सरकारकी निरंकुशता, केन्द्रीकरण, खुफिया पुलिस, फौज और विशेषज्ञोंकी महत्ता और उनकी शक्तिमें वृद्धि होती है और जनताके अधिकार संकुचित होते हैं। अजनतन्त्रवादी शक्ति अपना उपयोग करनेवालोंका पतन करती है, उनकी उत्तरदायित्वकी भावनाका विनाश करती है, उनमें निंद्यतम साधनों द्वारा शक्ति पर अधिकार रखनेकी इच्छा उत्पन्न करती है, जिसके फलस्वरूप उनके लिए स्वेच्छासे शक्तित्याग असम्भव हो जाता है। एक बार जब अधिनायकवादी तन्त्रकी स्थापना हो जाती है तो उसे बदलना बहुत कठिन हो जाता है, क्योंकि आजकल जनता पर नियन्त्रण रखनेकी पद्धतियोंमें बहुत उन्नति हो गई है और इन पद्धतियोंके प्रयोगका अधिकार उस समुदायके हाथमें

---

१. एच० जे० लैस्की: कम्युनिज़्म, पृ० १७४।

२. वार्ट० डि लाइट, ऊपर उद्धृत, पृ० १६५।

३. के० मैनहाइम: मैन एंड सोसाइटी, पृ० ३४२; ई० बार्कर: रिफ्लेक्शन्स ऑन गवर्नमेंट, पृ० ११६-२०।

होता है जिसकी राज्यमें प्रधानता होती है।[1] ये दोष हिंसा और शोषणको चालू रखेंगे और अन्तमें मार्क्सवादियोंको उसी प्रकार उनका सामना करना पड़ेगा जिस प्रकार अहिंसावादी आज करना चाहते हैं।

भारतका हवाला देते हुए गांधीजी अक्सर कहते थे, "युद्ध अंग्रेजी शासनके स्थान पर दूसरा शासन तो स्थापित कर सकता है, किन्तु जनताका स्वराज्य नहीं।"[2] "मेरी धारणाका स्वराज्य केवल तभी आयेगा जब हम सबको इस बातका दृढ़ विश्वास हो जायगा कि हमें केवल सत्य और अहिंसाके द्वारा ही अपने स्वराज्यको लेना, चलाना और उसकी रक्षा करना है। सच्चा जनतन्त्र अथवा जनताका स्वराज्य असत्य और हिंसक साधनों द्वारा कभी नहीं आ सकता, क्योंकि उनके उपयोगका स्वाभाविक उपसाध्य होगा विरोधियोंके दमन या विनाश द्वारा सब प्रकारके विरोधका निराकरण। उसका परिणाम व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य नहीं होगा। व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य शुद्ध अहिंसाके शासनमें ही पूरी तरह पनप सकता है।"[3] गांधीजीका मत था कि यदि हम विदेशी शासकोंके साथ हिंसा करेंगे, तो स्वभावतः हमारा दूसरा कदम होगा उन देशवासियोंके साथ हिंसा करना, जिनको हम देशकी उन्नतिमें बाधा डालनेवाला समझेंगे।[4] इसके अतिरिक्त हिंसा एक या अधिक बुरे शासकोंको नष्ट कर सकती है, परन्तु "... उनका स्थान दूसरे ले लेंगे। क्योंकि बुराईकी जड़ कहीं और है। यदि हम अपनेको सुधार लें, तो शासक अपने-आप सुधर जायंगे।"[5]

इस प्रकार हिंसा शोषित और शोषक, शासित और शासकके अन्याय-पूर्ण संबंधमें कोई आमूल परिवर्तन नहीं कर सकती। इसी कारण बार्ट० डि लाइटका कहना है कि जितनी अधिक हिंसा होगी उतनी ही कम क्रान्ति होगी। स्पष्ट है कि क्रान्तिसे इस अहिंसावादी विचारकका अर्थ है ऐसी समाज-रचना, जिसका उद्देश्य होगा उस सबका मूलोच्छेद जो अमानुषिक है और मानवताके लिए लांछन है।[6]

---

१. मैनहाइम : मैन एंड सोसाइटी, पृ० ३४२; कम्युनिज़्म, ऊपर उद्धृत, पृ० १७४–७६; ए स्टडी ऑफ वार, ऊपर उद्धृत, भाग–१, पृ० १९२; 'वायोलेन्स' शीर्षक लेख, ऊपर उद्धृत।

२. यं० इं०, भाग–२, पृ० ९२८।

३. ह०, २७–५–'३९, पृ० १४३।

४. यं० इं०, २–१–'३०, पृ० २।

५. ह०, २१–९–'३४, पृ० २५०।

६. ऊपर उद्धृत 'कान्क्वेस्ट ऑफ वायोलेन्स', पृ० ७५, १६२; सोरोकिनने 'सोशियालॉजी ऑफ रिवोल्यूशन' नामक अपनी पुस्तकमें सामाजिक उन्नति पर हिंसात्मक क्रान्तियोंके हानिकर प्रभावका विस्तृत वर्णन किया है।

अहिंसक क्रान्तिमें प्रत्येक व्यक्तिकी, बच्चोंकी भी, सेवाके लिए स्थान है। गांधीजीके शब्दोंमें, "उसमें अधिक-से-अधिक दुर्बल भी अधिक दुर्बल हुए बिना भाग ले सकते हैं। उसमें भाग लेनेसे वे अधिक बलवान ही हो सकते हैं।"[१] हिंसक क्रान्तिमें यह असम्भव है।

अहिंसाके विपरीत, हिंसा झगड़ोंको निपटानेमें असफल होती है, क्योंकि वह पारस्परिक भेदोंमें सामंजस्य स्थापित करनेके स्थानमें उनको दबा देती है। वह विरोधीकी उचित मांगकी भी उपेक्षा करती है और इस प्रकार उसका परिणाम होता है अन्याय और प्रतिहिंसा। दूसरी ओर सामाजिक संघर्षोंमें अहिंसा क्रोधको न्यूनतम कर देती है, क्योंकि वह समाज-व्यवस्थाकी बुराइयोंमें और उनसे सम्बन्धित व्यक्तियोंमें अन्तर करती है। हिंसा प्रतिरोधके समय विरोधी हितोंके पारस्परिक नैतिक और बौद्धिक सामंजस्यकी प्रक्रियाका विनाश करती है; इसके विपरीत अहिंसा इस खतरेको कम-से-कम कर देती है और संघर्षके क्षेत्रमें नैतिक, बौद्धिक और सहयोगशील मनोवृत्तियोंकी रक्षा करती है।[२] हिंसा बदलेकी भावनाको उकसाती है, जब कि अहिंसा उसको दूर करती है; इसलिए अहिंसक क्रान्तिकी अपेक्षा हिंसक क्रान्तिमें जीवन और सम्पत्तिकी कहीं अधिक हानि होती है।

अहिंसामें ऐसे प्रतिबन्ध हैं जिनके कारण सत्य और न्यायकी — वे जिस पक्षमें भी अधिक अनुपातमें हों — अपने-आप जीत होती है; विजय सदा उसी पक्षकी होती है, जिसकी ओर न्याय होता है।[३] दूसरी ओर हिंसक संघर्षमें विजयका निर्णय दोनों पक्षोंके उद्देश्यके आपेक्षिक न्यायसे नहीं, उनकी आपेक्षिक विनाशक शक्तिसे होता है।[४] युद्धके साधनों पर, जिनकी विनाशकता आज पहिलेसे कहीं अधिक भयावह और संकटपूर्ण हो गई है, राज्यका एकाधिकार है और राज्य पूंजीपतियोंके नियंत्रणमें है। जैसा कि दूसरे महायुद्धसे स्पष्ट मालूम होता है, युद्ध किसी राज्यके लिए भी तब तक सफल प्रतिरोधका साधन नहीं हो सकता जब तक उस राज्यकी सैनिक शक्ति कम-से-कम विपक्षीकी शक्तिके बराबर न हो। प्रकट है कि सामान्य रीतिसे सशस्त्र देशोंमें निर्धन जनताके लिए हिंसक क्रान्तिमें सफल होनेका कोई अवसर

---

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० ९२८।

२. रेनाल्ड निब्यूर: मॉरल मैन एंड इम्मॉरल सोसाइटी, पृ० २४८-५१ और २५४-५५।

३. यं० इं०, भाग–१, पृ० ५२।

४. ऊपर उद्धृत 'दि कान्क्वेस्ट ऑफ वायोलेन्स', पृ० ८१ और 'ए स्टडी ऑफ वार', भाग–१, पृ० १९२।

नहीं।[१] वास्तवमें जनताको हिंसक क्रान्तिके पहलेका संगठन करनेका भी अवसर न मिलेगा; विरोधी सरकार प्रारम्भमें ही उसको निर्दयतासे दबा देगी। अहिंसामें ऐसा कोई खतरा नहीं है।

हिंसक क्रान्ति तभी सफल हो सकती है जब सरकार उसी प्रकार अव्यवस्थित हो, जैसे कि रूसी सरकार कम्युनिस्ट क्रान्तिके समय थी। किन्तु यह एक असाधारण स्थिति है। दूसरी ओर सत्याग्रहकी सफलता बाह्य परिस्थितियोंकी अनुकूलता पर नहीं, बल्कि प्रतिरोधियोंकी प्रेमसे और दुर्भावनाके बिना कष्ट सहनेकी क्षमता पर निर्भर है। सत्याग्रह अधिकतम शक्तिशाली सरकारके विरुद्ध भी सफल हो सकता है।

इस प्रकार झगड़ोंके निपटारेकी और वैयक्तिक तथा सामूहिक संबंधोंकी व्यवस्थाकी पद्धतिके रूपमें अहिंसा ठीक आदर्श भी है और आजकी परिस्थितिमें उच्चतम व्यावहारिक नीति भी है।

दूसरा महायुद्ध इस बातकी सामयिक चेतावनी है कि हिंसा बर्बरताके अन्धकारमय युगकी ओर ले जानेवाला निश्चित मार्ग है। संशयवादी संसार शायद अहिंसाके कारगर होनेके विश्वासोत्पादक प्रदर्शनकी बाट जोहता है। पूर्व-ऐतिहासिक कालसे आज तक चली आई अहिंसाकी सतत परम्पराके कारण गांधीजीको आशा थी कि भारत मानवताको सामूहिक अहिंसाका संदेश दे सकेगा। यदि स्वतन्त्र भारत गांधीजीकी शिक्षाके अनुसार देशके आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवनकी पुनर्रचना कर सके, तो सम्भवतः पराधीन देश, शोषित वर्ग और अन्याय-पीड़ित अल्पसंख्यक समुदाय अहिंसक मार्गको अपना लेंगे। इससे वर्तमान सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थामें क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा और शान्ति एवं स्वतन्त्रताकी नई समाज-व्यवस्थाका प्रादुर्भाव होगा।

---

१. मैनहाइमका मत है कि "क्रान्तिकी पद्धति शासन-पद्धतिसे बहुत पिछड़ गई है। (सड़कों और गलियोंकी) मोर्चाबन्दी, जो क्रान्तिका प्रतीक है, उस कालका अवशेष है जब उसका निर्माण घुड़सवार सेनाके विरुद्ध होता था।" मैनहाइम : डायग्नोसिस ऑफ अवर टाइम्स, पृ० १०।

११

अहिंसक राज्य

अहिंसक राज्य[1] की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक संस्थाओंकी विस्तृत विवेचनाकी आवश्यकता भारतमें एक विवादग्रस्त प्रश्न बन गया था। गांधीजी आदर्श समाजकी विस्तारकी बातोंके बारेमें चिन्ता नहीं करते थे। कार्डिनल न्यूमैनका निम्न कथन उन्हें प्रिय और मान्य था:

"मैं यह नहीं मांगता कि मैं सुदूरवर्ती दृश्य देख सकूं। मेरे लिए तो एक कदम पर्याप्त है।"

दूसरी ओर उनके आलोचकोंका कहना था कि नेताको एक कदम नहीं बल्कि हजारों कदम आगे देखना चाहिए, जिसमें वह खतरनाक खड्डों और भारी रुकावटोंसे बच सके। उसे आजके लिए ही नहीं परन्तु आनेवाले कलके लिए भी योजनाएं बनानी चाहिए।[2] स्पष्ट और सुनिश्चित लक्ष्य संघर्षके समय जनतामें आशाका संचार करता है, उसे संघर्षकी प्रेरणा देता है और लक्ष्यकी ओर कष्टपूर्ण यात्रामें सहारा देता है।

बौद्धिक अपरिग्रहका औचित्य

गांधीजीने जान-बूझकर इस निषेधात्मक मनोवृत्तिको, इस बौद्धिक अपरिग्रहको क्यों अपनाया था?

सत्यके शोधकको यह विश्वास होना चाहिए कि अच्छा कार्य अच्छे परिणामका उत्पादक होगा। उसे अपना सब ध्यान आजकी समस्याओं पर केन्द्रित करना चाहिए; उसी क्षण जो कर्तव्य सामने आये उसके पालनमें उसे लग

---

१. अहिंसक राज्यका अर्थ है वह राज्य, जो प्रमुख रीतिसे अहिंसक है। राज्य थोड़े-बहुत अंशमें हिंसा पर आश्रित है और इसलिए अहिंसाका निषेध करता है। पूर्ण रूपसे अहिंसक राज्यमें राज्यत्वका लोप हो जायगा। वह राज्य-रहित समाज बन जायगा और समाज राज्य-रहित तभी हो सकता है जब वह पूर्ण रीतिसे या लगभग पूर्ण रीतिसे अहिंसक हो। यह एक ऐसा आदर्श है जो पूरी तरह कार्यान्वित नहीं हो सकता। वास्तविक व्यवहारमें ऐसे प्रमुख रीतिसे अहिंसक राज्यका विकास हो सकता है, जो राज्य-रहित स्थितिकी ओर बढ़नेमें प्रयत्नशील हो, किन्तु शायद वहां तक कभी पहुंच न पाये।

२. डॉ० भगवानदास: दि फिलॉसफी ऑफ नॉन-कोआपरेशन, पृ० ७०।

जाना चाहिए और उसके फलकी ओरसे अनासक्त रहना चाहिए। यदि वह कल्पना पर कोई रोकथाम नहीं रखता और अहिंसक क्रान्तिके बादके आदर्श समाजका वर्णन करनेके प्रयासमें अपनी शक्तिका अपव्यय करता है, तो वह अपने दिमाग पर विस्तारकी असम्बद्ध बातोंका अनावश्यक बोझ रखता है और अपने विचार-नियन्त्रण, अनासक्ति और वर्तमान कार्य-क्षमताको खो बैठता है। इसलिए जब तक देश परतन्त्र था, गांधीजीने अपना सब ध्यान वर्तमान समाजकी पुनर्रचनाकी अहिंसक क्रान्ति-पद्धतिको परिपूर्ण बनानेमें लगा दिया। भारतके स्वतन्त्र होने पर उन्होंने अपना सारा समय और सारी शक्ति साम्प्रदायिक शान्तिकी स्थापनामें लगा दी। उनके विचारसे साम्प्रदायिक शान्तिके अभावमें भारतकी स्वतन्त्रता और जनतन्त्र नष्ट हो जायंगे। उनका खयाल था कि इन उद्देश्योंकी ओरसे उनके ध्यान हटा लेनेसे लक्ष्यकी ओर बढ़नेके लिए आवश्यक रचनात्मक नैतिक प्रयासमें विघ्न उपस्थित होगा। इसलिए गांधीजीका मत था कि "सत्याग्रहका विज्ञान ही ऐसा है कि उसका विद्यार्थी अपने सामने एक कदमसे अधिक नहीं देख सकता।"[1]

इसके अतिरिक्त सत्याग्रह विकासशील विज्ञान है। अहिंसाके प्रयोग गांधीजीके जीवनमें सदा चालू रहे थे। वे अहिंसाके सिद्धान्तोंको जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें व्यवहारमें लानेका प्रयत्न कर रहे थे और अहिंसक व्यवहारके परिणामका अध्ययन कर रहे थे। वास्तवमें वे यह महसूस करते थे कि अहिंसाका प्रयोग प्रारंभिक अवस्थामें है और बहुत आगे नहीं बढ़ा है।[2] निस्संदेह अहिंसक राज्यकी रचना अहिंसाके सिद्धान्तोंके अनुसार होगी। लेकिन इसका निर्णय कि राज्य किस सीमा तक अहिंसाके सिद्धान्तोंको अपनायेगा, जनसाधारण अपनी नैतिक स्थितिके अनुसार करेंगे। इसीलिए गांधीजीने भविष्यके अहिंसक राज्यकी संस्थाओंके विस्तृत निरूपणका प्रयत्न कभी नहीं किया। सन् १९३९में उन्होंने लिखा था, "मैंने जान-बूझकर अहिंसा पर आधारित समाजमें सरकारके स्वरूपका वर्णन नहीं किया है। जब जान-बूझकर समाजका निर्माण अहिंसाके नियमके अनुसार होगा, तो उसकी रचना महत्त्वपूर्ण बातोंमें आजकी रचनासे भिन्न होगी। किन्तु मैं पहिलेसे नहीं बता सकता कि अहिंसा पर पूरी तरह आधारित सरकार किस प्रकारकी होगी।"[3]

---

१. कांग्रेसका इतिहास, पृ० ४५१।

२. ह०, ११-२-'३९, पृ० ८; २७-५-'३९, पृ० १३६; और १३-४-'४०, पृ० ९०।

३. ह०, ११-२-'३९, पृ० ८।

गांधीजीके इस वौद्धिक अपरिग्रहके प्रसिद्ध सिद्धान्तको उनके साध्य-साधन सम्बन्धी विचारोंके संदर्भमें भी समझना चाहिए। यदि हमारे साधनोंमें हिंसाका अंश है तो अनिवार्यतः उन साधनोंसे विनिर्मित राज्य, चाहे वाह्य स्वरूपमें वह पश्चिमके राज्योंकी तरह जनतन्त्रवादी ही हो, वास्तवमें न तो जनतन्त्रात्मक होगा और न अहिंसक; क्योंकि समाजके शक्तिशाली अंश राज्यसत्ताको अपने हाथमें ले लेंगे और दुर्वलोंका शोषण करेंगे। दूसरी ओर यदि जनताने अहिंसाको काम बनानेवाली नीतिकी तरह नहीं, परन्तु सिद्धान्तकी तरह अपना लिया और अन्यायका प्रतिरोध करना तथा आपसमें स्वेच्छासे सहयोग करना सीख लिया, तो अहिंसक व्यवहारके फलस्वरूप विना प्रयासके अहिंसक जनतन्त्र-वादी संस्थाओंका विकास होगा।[1] गांधीजीके अनुसार सत्याग्रही राज्य-व्यवस्थाके निरूपणका प्रश्न अहिंसक पद्धतिके विकासके प्रश्नमें सम्मिलित था। इसीलिए वे वार-वार कहते थे कि, "मेरे लिए अहिंसा स्वराज्यसे पहले आती है।"

अहिंसक राज्यके विकासमें निर्णायक वस्तु राज्यके ढांचेकी मूर्त कल्पना नहीं होती; सामान्य जनकी आत्मशक्ति अर्थात् अहिंसा ही उसके विकासको निश्चित वनाती है। किसी प्रजाको वैसा ही राज्य मिलता है, जिसे पानेकी योग्यता उसमें होती है। और राज्यका स्वरूप तो केवल जनताके नैतिक स्तरकी मूर्त अभिव्यक्ति मात्र होता है। इस प्रकार यदि जनता सच्चे अर्थमें अहिंसक न हो, तो ऊपरसे लोकतांत्रिक दिखाई देनेवाले संविधानके अधीन भी शोषण और हिंसा चालू रह सकते हैं, जैसे कि वे अधिकतर पश्चिमी देशोंमें चालू रहते हैं। दूसरी ओर, ज्यों ही जनता आत्म-नियंत्रण सिद्ध कर लेती है, सत्याग्रहकी पद्धति पर अधिकार प्राप्त कर लेती है तथा आपसमें स्वेच्छासे सहयोग करना और शोषकके साथ असहयोग करना सीख लेती है, त्यों ही अहिंसाके आचरणकी गौण उपजके रूपमें अहिंसक राज्य अपने-आप जन्म ले लेता है।[2] १९२९ में गांधीजीने लिखा था, ". . . हम अपने सुदूर लक्ष्यको नहीं जानते। वह हमारी परिभाषाओंसे नहीं परन्तु हमारे इच्छा और अनिच्छासे किये जानेवाले कार्योंसे निश्चित होगा। यदि हम वुद्धिमान होंगे तो हम वर्तमानकी चिन्ता करेंगे; और भविष्य स्वयं अपनी चिन्ता कर लेगा। ईश्वरने हमें केवल कार्यका सीमित क्षेत्र और सीमित दूर-दृष्टि प्रदान की है। इसलिए आजकी ही चिन्ता करना काफी है।"[3]

---

१. साध्य-साधनके संवंधमें गांधीजीके मतके लिए देखिये अध्याय ३।

२. "जब हम अपने पर शासन करना सीख लेते हैं तव स्वराज्य आ गया ऐसा मानना चाहिये। . . . परन्तु ऐसे स्वराज्यका अनुभव प्रत्येकको अपने जीवनमें करना होगा।" हिन्द स्वराज्य, पृ० ९५।

३. यं० इं०, भाग–३, पृ० ५४७।

इस प्रकार गांधीजीका बौद्धिक अपरिग्रह वैज्ञानिक और जनतंत्रवादी था और नैतिक दृष्टिकोणसे उचित था।

किन्तु यद्यपि गांधीजीके अनुसार नव समाज-रचनाके विस्तृत निरूपणका प्रश्न नहीं उठता, फिर भी सत्याग्रहमें विरोधीके साथ असहयोग करनेका भी आधार होता है सत्याग्रहियोंमें सहकारिता और रचनात्मक कार्य। सत्याग्रहमें नवनिर्माण और दोषपूर्ण सामाजिक व्यवस्थाका विनाश दोनों साथ ही साथ चलते हैं। अहिंसक प्रतिरोधके रचनात्मक पक्षके विकाससे हमें नव समाज-रचनाके रूपका कुछ कुछ पता चलता है। इसके अतिरिक्त यद्यपि गांधीजी अहिंसक समाज-व्यवस्थाके विस्तृत निरूपणके विरुद्ध थे, पर उन्होंने अक्सर आदर्श समाजकी रूपरेखाको मोटे तौरसे समझानेका प्रयत्न किया था। नई अहिंसक समाज-व्यवस्था पर उनके विचारोंके अध्ययनके लिए कुछ सामग्री 'हिन्द स्वराज्य' में और उनके भाषणों, लेखों और वक्तव्योंमें बिखरी हुई मिलती है। सन् १९२४ में 'हिन्द स्वराज्य' का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था, "उसमें जो कुछ लिखा गया है उसका सम्बन्ध एक आदर्श राज्यसे है।"[१]

राज्य-रहित जनतन्त्र

गांधीजी अराजकतावादी थे। आदर्श जनतंत्रवादी समाजमें वे किसी भी रूपमें राज्यके अस्तित्वके विरोधी थे। इस विरोधके कारण नैतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक हैं। प्रत्येक राज्यमें सरकार सजाका भय दिखाकर नागरिकोंसे थोड़े-बहुत काम करवाती है और उनको कानूनके अनुसार चलने पर मजबूर करती है। सरकारी सत्ताके कारण नागरिकके काम नीतिपूर्ण नहीं रह जाते। गांधीजीके शब्दोंमें, "कोई भी कार्य जब तक वह स्वेच्छासे न किया गया हो नैतिक नहीं कहा जा सकता। . . . जब तक हम मशीनोंकी तरह व्यवहार करते हैं, तब तक नीतिका सवाल नहीं उठ सकता। यदि हम किसी कार्यको नैतिक कहना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि वह जान-बूझकर कर्तव्यके रूपमें किया गया हो।"[२] इसके अतिरिक्त शासन-व्यवस्था चाहे जितनी प्रजातन्त्रवादी हो, फिर भी राज्यकी जड़में सदा हिंसा होती है। हिंसाका अर्थ है शोषण और गांधीजीका भी यह मत है कि प्रत्येक राज्य गरीबोंका शोषण करता है। "राज्य हिंसाका संगठित और केन्द्रित रूप है; व्यक्तिके भीतर आत्मा है, परन्तु राज्य आत्मा-रहित मशीन है। उसे हिंसासे कभी नहीं बचाया जा सकता, क्योंकि उसकी

---

१. यं० इं०, १३–४–'२४, पृ० ११३।

२. गांधीजी : नीतिधर्म, पृ० ४०।

उत्पत्ति ही हिंसासे है।"[१] एक वार निजी संपत्ति और संरक्षकके संबंधमें अपने सिद्धांतका विवेचन करते हुए गांधीजीने कहा था, "मैं राज्य-शक्तिकी वृद्धिकी ओर अधिकसे अधिक डरके साथ देखता हूं; क्योंकि मालूम चाहे यह पड़ता हो कि राज्य शोपणको कमसे कम करके लाभ पहुंचा रहा है, पर वह मनुष्यके व्यक्तित्वका, जो सम्पूर्ण प्रगतिका आधार है, विनाश करता है और इस प्रकार मनुष्य-जातिको अधिकतम हानि पहुंचाता है। हमें वहुतसे ऐसे उदाहरण मालूम हैं जिनमें मनुष्योंने संरक्षक जैसा वर्ताव किया, लेकिन ऐसा एक भी उदाहरण हम नहीं जानते जिससे मालूम हो कि राज्यका जीवन वास्तवमें निर्धनोंके लिए रहा हो।"[२]

आदर्श समाज, गांधीजीके अनुसार, राज्य-रहित जनतन्त्र है। यह समाज शुद्ध अराजकताकी वह दशा है, जिसमें सामाजिक जीवन ऐसी पूर्णताको पहुंचा गया हो कि वह स्वयं-संचालित वन जाय। "इस दशामें प्रत्येक मनुष्य अपना शासक स्वयं होता है। वह अपने ऊपर इस तरह शासन करता है कि अपने पड़ोसीके रास्तेमें कभी रुकावट नहीं डालता। आदर्श समाजमें कोई राजनैतिक सत्ता नहीं होती, क्योंकि उसमें कोई राज्य नहीं होता।"[३]

सत्याग्रही ग्राम

आदर्श जनतन्त्र लगभग स्वावलम्वी और स्वशासित सत्याग्रही ग्राम-समाजोंका संघ होगा। गांधीजीके शब्दोंमें, "अहिंसा पर आधारित समाज ग्रामोंमें वसे हुए ऐसे समुदायोंका ही हो सकता है, जिनमें स्वेच्छापूर्ण सहयोग सम्मानपूर्ण और शांतिमय जीवनकी शर्त है।"[४] संघ और समुदायोंका संगठन स्वेच्छाके आधार पर होगा। इस प्रकारके समाजमें लगभग प्रत्येक व्यक्ति उच्च स्तरकी अहिंसाका विकास कर चुका होगा और लगभग पूर्ण आत्म-नियंत्रण प्राप्त कर चुका होगा। आध्यात्मिक सत्यके प्रति सतत सचेत व्यक्ति सादगी और त्यागका जीवन व्यतीत करेगा और सामाजिक सेवाके लिए जीवित रहेगा।

गांधीजीके लेखोंमें हमको आदर्श ग्राम-समुदायोंका संक्षिप्त वर्णन मिलता है। १९४६ में उन्होंने लिखा: "प्रत्येक गांव पूरे अधिकारोंसे सम्पन्न एक पंचायत या जनतन्त्र होगा। इसलिए निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक गांव स्वावलम्वी होगा और इस योग्य होगा कि वह अपने मामलोंका प्रवन्ध यहां

१. एन० के० वोस: स्टडीज़ इन गांधीज़्म, पृ० २०२-०३।
२. एन० के० वोस: स्टडीज इन गांधीज़्म, पृ० २०४।
३. यं० इं०, २-७-'३१, पृ० १६२
४. ह०, १३-१-'४०, पृ० ४११।

तक कर सके कि संपूर्ण संसारसे अपनी रक्षा भी वह स्वयं कर ले। बाहरी आक्रमणके विरुद्ध अपनी रक्षा करनेके प्रयत्नमें उसे मरनेकी शिक्षा मिलेगी और वह इसके लिए तैयार रहेगा। इस प्रकार अन्तमें व्यक्ति ही इकाई है। इससे पड़ोसियों या संसारकी स्वेच्छासे दी हुई सहायताका और उन पर निर्भरताका निराकरण नहीं होता। इस प्रकारका समाज अवश्य ही उच्च रूपसे सुसंस्कृत होता है और उसमें प्रत्येक स्त्री और पुरुष जानता है कि उसे किस बातकी आवश्यकता है; और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह जानता है कि किसीको भी ऐसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए, जिसे दूसरे उतना ही परिश्रम करके नहीं पा सकते।

"अगणित ग्रामोंसे निर्मित इस संगठनमें जीवन ऐसा पिरामिड न होगा जिसके शिखरको तलसे सहायता मिलती है, किन्तु वह एक महासागर-सा वृत्त होगा जिसका केन्द्र व्यक्ति सदा ग्रामके लिए मरनेको तैयार रहेगा, ग्राम ग्राम-समुदायोंके लिए मरनेको तैयार रहेगा; इस प्रकार अन्तमें संपूर्ण संगठन व्यक्तियोंसे विनिर्मित एक समग्रता होगी। इस समग्रताकी बाह्य परिधि अपनी शक्तिका उपयोग आन्तरिक वृत्तको दबानेके लिए न करेगी, बल्कि वह परिधिके अन्दर सबको शक्ति देगी और स्वयं अपनी शक्ति आन्तरिक वृत्तसे प्राप्त करेगी।"[१]

यथासम्भव इन ग्राम-समाजोंका प्रत्येक कार्य सहकारिताके आधार पर होगा। इस प्रकारका ग्राम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आधारित पूर्ण जनतन्त्र होगा। "व्यक्ति अपने शासनका निर्माता है। वह और उसके शासनका नियमन अहिंसाके नियमसे होता है। वह और उसका ग्राम संसारकी शक्तिकी अवज्ञा कर सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक ग्रामवासीके जीवनका नियमन इस कानूनसे होता है कि वह अपने और अपने ग्रामके सम्मानकी रक्षामें मृत्युको सह लेगा।"[२]

विकेन्द्रीकरण

आदर्श समाज विकेन्द्रित समाज होगा और समता उसके प्रत्येक क्षेत्रकी विशेषता होगी। विकेन्द्रीकरण इस कारण आवश्यक है कि केन्द्रीकरणसे थोड़ेसे मनुष्योंके हाथमें शक्ति एकत्र हो जाती है और केन्द्रित शक्तिके दुरुपयोगकी बहुत सम्भावना रहती है। केन्द्रीकरण जीवनकी जटिलताको और

---

१. ह०, २८–७–'४६, पृ० २३६।

२. ह०, २६–७–'४२, पृ० २३८। सन् १९४६ में गांधीजीने लिखा था कि उनकी धारणाकी स्वावलम्बी आदर्श ग्राम-इकाई १००० व्यक्तियोंकी होगी। ह०, ४–८–'४६, पृ० २५२।

विशेषज्ञोंके महत्त्वको बढ़ा देता है और सब प्रकारके सृजनात्मक नैतिक प्रयासमें विघ्न डालता है। वह उपक्रम, साधनशीलता, साहस और सृजनशीलताको हानि पहुंचाता है और स्वशासनके अवसर और अन्यायके प्रतिरोधकी क्षमताको कम करता है। केन्द्रीकरणसे सामाजिक सम्बन्ध निर्व्यक्तिक हो जाते हैं और नैतिक संवेदनशीलताका ह्रास होता है। इसलिए कोई समाज जिस परिमाणमें सत्ताका केन्द्रीकरण करेगा, उसी परिमाणमें वह अजनतन्त्रवादी हो जायगा। गांधीजीने सन् १९४२ में लिखा था, "केन्द्रीकरण समाजकी अहिंसक व्यवस्थासे मेल नहीं खाता।"[१] सन् १९३९ में उन्होंने कहा था, "मेरा सुझाव है कि यदि भारतको अहिंसक रीतिसे विकास करना है, तो उसे बहुत बातोंका विकेन्द्रीकरण करना होगा। केन्द्रीकरणका संचालन और उसकी रक्षा बिना पर्याप्त शक्तिके नहीं हो सकती।"[२] "आप अहिंसाका निर्माण बड़ी मिलों (केन्द्रित उत्पादन) की सभ्यता पर नहीं कर सकते; किन्तु उसका निर्माण स्वावलम्बी गांवोंके आधार पर हो सकता है।"[३]

गांधीजीके अपरिग्रह और स्वदेशीके सिद्धान्त विशेष रूपसे उनकी विकेन्द्रीकरणकी धारणाको मूर्त बनाते हैं और इस बातका निर्देश करते हैं कि संघमें निहित केन्द्रीकरणसे विकेन्द्रीकरणका सम्बन्ध किस प्रकार होगा। आदर्श समाज अहिंसा पर आधारित होगा, इसलिए इकाई पर संघका नियंत्रण विशुद्ध रूपसे नैतिक होगा, किसी भी रूपमें बल-प्रयोगका नहीं। गांधीजी अपरिग्रह, शरीर-श्रम और स्वदेशी पर बल देते हैं। प्रथम दोका अर्थ है स्वेच्छा पर आधारित निर्धनता, ग्रामोद्योग और उत्पादनके साधनों पर सामान्य जनताका स्वामित्व और अन्यायका प्रतिरोध करनेकी क्षमता। स्वदेशीके सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यको देश और कालके दृष्टिकोणसे दूरवर्ती कर्तव्योंकी अपेक्षा निकटके कर्तव्यों पर ध्यान देना चाहिये। स्वदेशीका सिद्धान्त मनुष्यकी प्रत्यक्ष सेवाके क्षेत्रको उसकी जानने, प्रेम करने और सेवा करनेकी क्षमतासे सम्बद्ध करता है। गांधीजी इस बात पर जोर देते थे कि सत्याग्रहीको अपने स्थानके निवासियोंसे व्यक्तिगत सम्पर्क रखना चाहिये। वास्तविक जनतन्त्रके लिए यह सम्पर्क आवश्यक है। किन्तु इसका अर्थ यह है कि स्थान इतना छोटा होना चाहिए कि उपरोक्त व्यक्तिगत सम्पर्क सत्याग्रहीके लिए सम्भव हो और वह अपने स्थानके मामलोंमें सक्रिय रूपसे भाग ले सके। इस प्रकार वे बड़े समूहोंकी अपेक्षा छोटे समूहों पर बल देते हैं।

---

१. ह०, १८-१-'४२, पृ० ५।

२. ह०, ३०-१२-'३९, पृ० ३९१।

३. ह०, ४-११-'३९, पृ० ३३१।

सामाजिक-आर्थिक संगठन

आदर्श जनतन्त्रके सामाजिक जीवनको समता पर आधारित करनेके लिए भारतकी प्राचीन वर्ण-व्यवस्थामें अपरिग्रह और शरीर-श्रमके अहिंसक आदर्शोंके अनुसार कुछ हेरफेर हो जायगा। गांधीजीके अनुसार वर्णके नियमने "विशेष प्रकारकी योग्यतावाले मनुष्योंके लिए कार्यक्षेत्र स्थापित कर दिया। इससे अनुचित प्रतियोगिता दूर हो गई। वर्ण-नियमने मनुष्योंकी मर्यादाको तो माना, किन्तु ऊंचे-नीचेके भेदको स्थान न दिया। . . . मेरा विश्वास है कि आदर्श समाजका विकास तभी होगा जब इस नियमका अर्थ पूरी तरह समझा जायगा और उसके अनुसार कार्य होगा।"[1] गांधीजीके अनुसार वर्णका जन्मसे निकटका सम्बन्ध है, यद्यपि यह सम्बन्ध ऐसा नहीं है जो टूट न सके। उनका यह भी विश्वास था कि प्रत्येक वर्णके मनुष्योंको मिलता-जुलता शरीर-श्रम अर्थात् जीविकोपार्जनके लिए पर्याप्त शरीर-श्रम करना चाहिए। इन आवश्यकताओंके लिए श्रम कर चुकने पर मनुष्य जो कुछ काम अपने शरीर या दिमागसे करे, वह समाज-सेवाके लिए हो और उसका कोई पारिश्रमिक न मांगा जाय।[2] गांधीजीके इस आदर्श समाजमें प्रत्येक व्यक्तिके लिए अपनी विशिष्ट क्षमताके अनुसार समाज-सेवा करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता होगी।

शरीर-श्रमका आदर्श अपरिग्रहमें आर्थिक समता स्थापित कर देगा। अहिंसा और परिग्रहका कोई मेल ही नहीं बैठता। गांधीजीके शब्दोंमें, "प्रेम और निजी सम्पत्ति साथ-साथ नहीं चल सकते। तात्त्विक दृष्टिसे जब पूर्ण प्रेम हो तो पूर्ण अपरिग्रह भी होना चाहिए।"[3] इस प्रकार वर्ण-नियम, शरीर-श्रम और अपरिग्रहके आदर्शोंको अपनानेसे पूर्ण आर्थिक और सामाजिक समता स्थापित हो जायेगी।

अपरिग्रह और शरीर-श्रमके आदर्शों पर प्रतिष्ठित समाज कृषि-प्रधान होगा और ग्रामीण सभ्यताको अपनायेगा। आर्थिक जीवनमें शोषण, पूंजीवाद और मालिक-नौकरके कृत्रिम सम्बन्धका अन्त हो जायगा। उत्पादन ग्रामीण उद्योग-धन्धोंके द्वारा होगा। हमने घरेलू उद्योग-धंधोंके नैतिक, शारीरिक और आर्थिक लाभकी विवेचना आठवें अध्यायमें की है। गांधीजी सब तरहकी मशीनोंके विरुद्ध नहीं थे, लेकिन मुनाफेके लिए चलाये जानेवाले बड़े-बड़े मिल-कारखानोंके साथ-साथ सत्याग्रही सभ्यताका विकास असम्भव है। बड़े पैमाने पर उत्पादन आर्थिक शक्तिको केन्द्रित करता है और उसके लिए

---

१. एन० के० बोस: स्टडीज़ इन गांधीज़्म, पृ० २०५।

२. ह०, १–६–'३५, पृ० १३५; और २९–६–'३३, पृ० १५६।

३. एन० के० बोस: स्टडीज़ इन गांधीज़्म, पृ० २००।

यह आवश्यक हो जाता है कि वड़े वाजारों और बड़े परिमाणमें कच्चे माल पर नियन्त्रण हो। दूसरे शब्दोंमें, वड़े-वड़े कल-कारखानोंका अर्थ है शोषण और हिंसा।[१] इसलिए अहिंसक सभ्यताका विकास स्वावलम्बी गांवके आधार पर ही हो सकता है। किन्तु गांधीजी ऐसे सादे औजारों और मशीनोंका स्वागत करते थे, जो विना वेकारी वढ़ाये लाखों ग्रामीणोंके वोझको हलका करते हैं और जिनको गांवोंके निवासी स्वयं वना सकते और प्रयोगमें ला सकते हैं।[२] गांधीजीका मत था कि खेती स्वेच्छा पर आधारित पद्धतिसे होनी चाहिए। "उनकी सहकारिताकी धारणा यह थी कि जमीन किसानोंके सहकारी स्वामित्वमें हो और जोताई तथा खेती सहकारी रीतिसे हो। इससे श्रम, पूंजी और औजारों आदिकी वचत होगी। (भूमिके) स्वामी सहकारितासे कार्य करेंगे और पूंजी, औजार, पशु, बीज इत्यादिके सहकारी स्वामी होंगे। उनकी धारणाकी सहकारी कृषि देशका रूप परिवर्तित कर देगी और किसानोंके बीचसे निर्धनता और आलस्य दूर कर देगी।"[३]

सत्याग्रही, स्वावलम्वी गांवोंका यह जनतन्त्रवादी संघ स्वदेशीके आदर्शको अपनायेगा और शायद ही उसको दूसरे देशोंसे व्यापार करना पड़ेगा। संघमें भी हरएक गांव स्वदेशीका आदर्श अपनायेगा और दूसरे स्थानोंसे उसका व्यापार केवल ऐसी आवश्यक वस्तुओंके लिए होगा, जिनको वह स्वयं पैदा नहीं कर सकता। इस प्रकार प्रदेशों और जिलोंमें भी एक-दूसरेके साथ वहुत व्यापार न होगा।

आदर्श समाजमें न तो यातायातके भारी साधन होंगे, न वकील और कचहरियां होंगी, न आजकलके-से डॉक्टर और दवाइयां होंगी; और न वड़े नगर होंगे। गांधीजी लिखते हैं, "मुझे सन्देह है कि शायद इस्पात-युग प्रस्तर-युगसे आगे नहीं है।" "मैं हृदयसे दूरी और समय कम करनेकी, पाशविक वासनाओंकी वृद्धि करनेकी और उनके सन्तोपके लिए भूमण्डलके छोर तक चले जानेकी इस उन्मादपूर्ण आकांक्षासे घृणा करता हूं।"[४] गांधीजीकी रायमें "हिन्दुस्तानकी मुक्ति इसीमें है कि उसने जो कुछ पिछले पचास सालमें सीखा है उसे भुला दे। रेल, तार, अस्पताल, वकील, डॉक्टर आदिको जाना ही होगा।"[५]

---

१. घरेलू धन्धोंके लाभके लिए देखिये अध्याय ८।

२. यं० इं०, भाग–२, पृ० ७१३ और ७९७; और ह०, २९–८–'३६, पृ० २२६; १५–९–'४६, पृ० ३१०।

३. ह०, ९–३–'४७, पृ० ५८–५९।

४. यं० इं०, भाग–३, पृ० १२०।

५. स्पीचेज़, पृ० ७७०।

जब केन्द्रित उत्पादन ही न होगा, तो रेल आदि बनेंगी ही कैसे? इसके अतिरिक्त यह सब अधिकतर सेनाकी, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी और केन्द्रित उत्पादनकी आवश्यकताओंका परिणाम है और आदर्श समाज इनसे ऊपर उठ चुका होगा। इसी तरह अहिंसक मनुष्योंमें गम्भीर झगड़े बहुत ही कम होंगे। जो होंगे भी उनका निपटारा आपसी विवेचनासे, समझाने-बुझानेसे, कभी-कभी पंचायतोंसे और जब ये साधन काफी न होंगे तब अहिंसक प्रतिरोधसे हो जायगा। शरीर-श्रम और अपरिग्रहके आदर्शोंके चालू होनेके कारण न तो पैसा लेकर इलाज बेचनेवाले पेशेवर डॉक्टर और हकीम होंगे और न दवाइयोंका बड़े पैमाने पर उत्पादन होगा। जब जीवन सरल, प्राकृतिक और संयमित होगा, जब हरएक आदमी खेती और घरेलू धंधोंमें परिश्रम करेगा और जब आजकलकी जल्दबाजी, होड़ और अनिश्चितता दूर हो जायगी, तब नागरिकोंके आत्म-संयमके कारण आजके अनेक रोगोंका तो नाम भी न रहेगा। जो छोटी-छोटी बीमारियां रह भी जायेंगी, उनके इलाजके लिए प्राकृतिक चिकित्साकी पद्धतियां होंगी। गांधीजीकी राय है कि योगकी क्रियाएं भी नैतिक, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्यके लिए बहुत लाभदायक हैं। उन डॉक्टरोंका न रहना, जो आसान इलाजके भुलावेमें डालकर मनुष्यको आत्म-निरोधकी जगह संयमहीनताका पाठ पढ़ाते हैं, समाजके लिए हितकर होगा।

राज्य-रहित समाजकी एकता

लेकिन मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाजने ही मनुष्यको मनुष्य बनाया है। बिना समाजके उसकी उन्नति तो अलग, उसका अस्तित्व ही न रहेगा। गांधीजीके राज्य-रहित, हिंसा-रहित आदर्श समाजकी एकताकी रक्षा कैसे होगी? व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और समाजके प्रति कर्तव्यकी भावना दोनों साथ-साथ कैसे चलेंगे? आज तो राज्य सामाजिक एकताके लिए आवश्यक कर्तव्य निश्चित करता है और नागरिकको सजाके डरसे इन कर्तव्योंका पालन करना पड़ता है। क्या राज्य, सरकार और सजासे छुटकारा पाकर मनुष्य समाजका भी विनाश न कर बैठेगा?

गांधीजीकी रायमें समाज एक बड़े परिवारकी तरह है। व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध घनिष्ठ पारस्परिक निर्भरताका है। गांधीजी ऐसे अमर्यादित व्यक्तिवादके भी विरोधी हैं, जो सामाजिक कर्तव्योंकी उपेक्षा करता है, और ऐसे समाजवादके भी जो व्यक्तिको सामाजिक मशीनका एक पुर्जा ही समझता है। वे लिखते हैं, "मैं व्यक्तिकी स्वतंत्रताकी कद्र करता हूं, लेकिन आपको यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य आवश्यक रूपसे सामाजिक प्राणी है। वह अपने व्यक्तिवादको सामाजिक प्रगतिकी आवश्यकताओंके अनुरूप

बनाना सीखकर ही अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुंच सका है। नियन्त्रणहीन व्यक्तिवाद जंगलके जानवरोंका नियम है। हमने सामाजिक प्रतिबंध और व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके मध्यका मार्ग निकालना सीखा है। पूर्ण समाजके हितके लिए सामाजिक प्रतिबंधोंको अपने-आप मान लेना व्यक्ति और समाज, जिसका वह सदस्य है, दोनोंके लिए लाभदायक है।"[१] यद्यपि गांधीजी समाजकी उपेक्षा नहीं करते, पर सर्वोदय तत्त्व-दर्शनमें व्यक्तिका महत्त्व प्राथमिक है। समाजकी हम कल्पना तो कर सकते हैं, लेकिन वह व्यक्तिकी तरह प्रत्यक्ष मूर्त नहीं है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति वास्तवमें आत्मा है और सामाजिक उन्नतिकी प्रत्येक योजनामें पहला पग व्यक्तिका ही होगा। अराजकतावादी समाजका विकास इस बात पर निर्भर है कि सामान्य व्यक्ति सच्चा सत्याग्रही और संयमी बन जाय। समाजको चाहिए कि वह व्यक्तिको विकासके लिए पूरा अवसर दे। और विकास इसीमें है कि व्यक्ति समाजकी निःस्वार्थ सेवा करना और समाजके प्रति अपने कर्तव्योंका अपने-आप पालन करना सीखे। यदि समाज या व्यक्तिमें से कोई गलती करे, तो दूसरेको उसका अहिंसक प्रतिरोध करना चाहिए। अराजकतावादी समाजमें व्यक्तिकी आन्तरिक नीति-भावना और अहिंसक प्रतिरोधका दबाव व्यक्तिको समाजके प्रति अपना कर्तव्य पालन करनेको प्रेरित करेंगे। इनके अतिरिक्त व्यक्तिको उसके कर्तव्योंकी याद दिलानेवाला एक और अहिंसक साधन भी होगा। इसको प्राचीन भारतके विचारकोंने 'धर्म' कहा है।

'धर्म' से इन विचारकोंका अर्थ 'मजहब' या 'मत' नहीं, बल्कि संस्कृति और अनुशासनकी पद्धति है। धर्म आचरणकी वह नियमावली है, जिसका संचालन जनमत या जनताकी नीति-भावनाके द्वारा होता है। व्यक्तिकी नीति-भावना आत्म-मूलक होती है, क्योंकि वह व्यक्तिकी विवेक-भावना पर आश्रित होती है। कानून बाहरी साधन होता है और सरकार सजाके डरसे हमें कानून माननेके लिए मजबूर करती है। धर्म न तो व्यक्तिकी नीति-भावनाकी तरह आत्म-मूलक है, न कानूनकी तरह वस्तु-मूलक। धर्म इन दोनोंके मध्यका मार्ग है। धर्मकी संचालन-सत्ता व्यक्तिकी अन्तरात्मासे कम आंतरिक और राज्यसत्तासे कम वस्तु-मूलक है। धर्मको हम सामाजिक नीति-भावना कह सकते हैं। धर्म या सामाजिक नीति-भावना सदाके लिए निश्चित कोई नपी-तुली नियमावली नहीं है। वह समाजकी जीवन-स्फूर्ति, उसकी जीती-जागती आत्मा है, जिसका समाजकी प्रगतिके साथ विकास होता रहता है। सामाजिक नीति-भावना समाजमें सामंजस्य

१. ह०, २७–५–'३९, पृ० १४४।

रखती है, व्यक्तिकी अंतरात्माका पथ-प्रदर्शन करती है और उसके विकासमें सहायता करती है।

अराजकतावादी समाजकी एकताका महत्त्वपूर्ण साधन होगा धर्म या सामाजिक नीति-भावना। धर्म व्यक्तिकी अंतरात्मा पर प्रभाव डालेगा और स्वतन्त्रता तथा सामाजिक एकताका सामंजस्य करेगा। जो बच्चे इस नये अहिंसक समाजमें पैदा होंगे और शिक्षा पायेंगे, वे इस अराजकतावादी नीति-भावनाको सुगमतासे अपना लेंगे।

आज भी तो हम अपने कर्तव्योंका पालन कानून और सजाके डरसे इतना नहीं करते जितना दूसरे कारणोंसे — विशेष रूपसे अपनी आदतों, अपनी आंतरिक नीति-भावना और जनमतके दबावके कारण। प्राचीन भारतके गांवोंके सामाजिक और आर्थिक जीवनका संचालन आजसे कहीं अधिक सामाजिक नीति-भावनाके द्वारा ही होता था और वर्णाश्रम-धर्म इसका एक आवश्यक अंग था। धर्मका दरजा राज्यसत्तासे ऊंचा था। राज्य-सत्ताको धर्ममें हेर-फेर करनेका अधिकार नहीं था। आज सामाजिक अनु-शासनकी रक्षाका कार्य राज्यसत्ताका है और उसके साधन हैं कानून और हिंसक उपाय। प्राचीन भारतमें यह कर्तव्य अधिकतर राज्यका नहीं परन्तु दूसरे स्वेच्छा पर आधारित समुदायोंका था, जो अहिंसात्मक उपायोंका अर्थात् नैतिक दबावका उपयोग करते थे। सामाजिक नियन्त्रणका सर्वथा अभाव न था, किन्तु इस नियन्त्रणका साधन बल-प्रयोगके स्थानमें नैतिक दबाव था। इस दबावका उग्र स्वरूप था अनुशासनको न माननेवाले व्यक्तिका सामाजिक और आर्थिक बहिष्कार। सम्भवतः इस बहिष्कारमें अक्सर हिंसक भाव आ जाते थे। लेकिन इसमें अहिंसक रहनेकी क्षमता थी और एक स्वतन्त्र समाजमें गांधीजी इसको राज्यसत्ताकी संगठित हिंसाकी अपेक्षा अधिक पसन्द करते थे।[1]

प्राचीन भारतके गांव, जिनका जीवन अधिकतर स्वतः संचालित था, गांधीजीकी धारणाके आदर्श अराजकतावादी समाजसे बहुत कुछ मिलते-जुलते थे। वे यह मानते थे कि इन गांवोंके जीवनमें अहिंसा बहुत अविकसित रूपमें थी। गांधीजीने अहिंसाको अपनी निरन्तर साधनासे जो व्यापक रूप दिया है, उसका इन गांवोंमें अभाव था। लेकिन अहिंसाकी जड़ उनकी रायमें इन गांवोंके जीवनमें अवश्य थी।[2] सन् १९१६ में मद्रास मिशनरी कान्फरेन्समें

---

१. एक बार गांधीजीने लिखा था: "सामाजिक बहिष्कार — जैसे नाई, धोबी इत्यादिको रोक देना — निस्सन्देह एक सजा है, जो एक स्वतन्त्र समाजमें अच्छी हो सकती है।" यं० इं०, भाग-१, पृ० ९४१।

२. ह०, १३-१-'४०, पृ० ४११।

उन्होंने कहा था, "स्वदेशीकी भावनाके अनुसार मैं हिन्दुस्तानी संस्थाओंको देखता हूं, तो ग्राम-पंचायतें मुझे आकृष्ट करती हैं। हिन्दुस्तान वस्तुतः एक जनतन्त्रवादी देश है। . . . राजाओं और शासकोंका, चाहे वे हिन्दुस्तानी रहे हों या विदेशी, कर वसूल करनेके अतिरिक्त जनता पर शायद ही कोई प्रभाव पड़ा हो। जनताने शासकोंको उचित कर दिया और इसके वाद अधिकतर जो चाहा वही किया। जातिका विस्तृत संगठन समाजकी धार्मिक आवश्यकताओंको ही नहीं, वल्कि राजनैतिक आवश्यकताओंको भी पूरा करता था। जातिसंस्थाके द्वारा गांव आंतरिक व्यवस्था करते थे और उसके ही द्वारा वे शासक या शासकोंके अत्याचारका सामना करते थे।"[1]

इस तरह अहिंसक समाजमें अहिंसा ही व्यक्तिकी स्वतन्त्रता और सामाजिक अनुशासनका सामंजस्य करेगी। अहिंसाका अर्थ यह है कि सामाजिक एकताकी रक्षा आन्तरिक साधनों द्वारा और वल-प्रयोगके अतिरिक्त अन्य वाह्य साधनों द्वारा होगी।[2]

---

१. स्पीचेज़, पृ० २७६।

२. सामाजिक एकताकी स्थापनाके आन्तरिक साधनोंके उदाहरण हैं: लज्जित होनेका डर, पाप-भावना, आदतकी शक्ति इत्यादि। कुछ वाह्य साधन हैं, जनमतका दवाव, वदलेका डर, दैवी शक्तिका डर इत्यादि। समाजके मानदंड शिक्षाके विभिन्न साधनों द्वारा आन्तरिक वनते हैं। नृशास्त्रके आधार पर मीडका विश्वास है कि "वच्चेसे वाह्य साधनोंके द्वारा व्यवहार करानेमें उतनी ही विशिष्ट शिक्षाकी आवश्यकता है जितनी आन्तरिक साधनों द्वारा।" पहले अध्यायमें हम यह वता आये हैं कि यहूदियोंकी सामाजिक एकताके साधन अहिंसक थे। आदिम निवासियोंकी कुछ जातियोंमें राज्यकी-सी कोई संस्था नहीं है। उदाहरणके लिए, एस्किमो और ओजिववा नामकी जातियोंमें सामूहिक कार्यके लिए आवश्यक राजनैतिक संस्थाओंका अभाव है। इसी प्रकार अरापेश और वचीगा जातियां राजनैतिक समूह नहीं हैं और उनमें कारगर शासन-सम्वन्धी संस्थाओंका अभाव है। इन जातियोंमें संपत्तिको वहुत कम महत्त्व दिया जाता है। देखिये, मार्गरेट मीड कृत 'कोऑपरेशन एंड कॉम्पिटीशन एमंग प्रिमिटिव ट्राइव्स', विशेष रूपसे अन्तिम अध्याय।

समाजशास्त्री रॉसका मत है कि समाजमें उसी अनुपातमें भयपूर्ण या पक्षपातपूर्ण राजनैतिक नियन्त्रण पसन्द किये जाते हैं, जिस अनुपातमें उस समाजमें परस्पर विरोधी अंश होते हैं; समाज-व्यवस्थामें व्यक्तिके संकल्प और हितको दवानेकी आवश्यकता पड़ती है; समाज-व्यवस्था पद-मर्यादाकी भिन्नताके ढांचेको स्थायित्व देती है; आर्थिक स्थिति और अवसरकी भिन्नता,

इस प्रकार अहिंसक समाजमें अहिंसा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक नियन्त्रणमें सामन्जस्य स्थापित करेगी। अहिंसाका अर्थ यह है कि समाजकी एकताकी रक्षा आन्तरिक सांधनों तथा वाह्य अहिंसक सावनों द्वारा होगी। समाज व्यक्तिको विकासका अधिक-से-अधिक अवसर देगा और व्यक्ति इस अवसरका उपयोग सवके अधिकतम हितके लिए करेगा। यदि समाज या व्यक्तिमें से कोई अन्याय करेगा, तो दूसरा उसका अहिंसक प्रतिरोध करेगा।

राज्य-रहित समाजकी सम्भावना

लेकिन अराजकतावादी समाज — जिसमें न तो पुलिस और न फौज होगी, न कचहरियां, डॉक्टर व यातायातके भारी साधन होंगे और न वड़े-वड़े कल-कारखाने — एक ऐसा प्रेरणा देनेवाला आदर्श है, जिसको जीवनमें उतारना निकट भविष्यकी वात नहीं है।[1] समाज राज्य-रहित तभी वन सकता है जव मनुष्य पूरी तरह आत्म-संयमी वन जाय और समाजके प्रति अपने कर्तव्योंका पालन विना राज्यके अनुशासनके करने लगे। इतना आत्म-संयम अभी मनुष्यके वशकी वात नहीं है। इसीलिए गांधीजी अपने

जिनको समाज-व्यवस्था धर्म-सम्मत वनाती है, महान और पुंजीभूत होती हैं और जातियों, वर्गों तथा स्त्री-पुरुषोंमें परोपजीवी सम्वन्ध होते हैं। दूसरी ओर नियंत्रणके नैतिक साधन — जिनके दृष्टान्त हैं जनमत, सुझाव, व्यक्तिगत आदर्श, सामाजिक मूल्यांकन, धर्म, कला — उसी अनुपातमें समाजमें पसन्द किये जाते हैं जिस अनुपातमें समाज सामंजस्यपूर्ण होता है; समाजकी संस्कृतिमें एकरूपता और व्यापकता होती है, समाजके विभिन्न तत्त्वोंमें अनेक और प्रेमपूर्ण सम्पर्क होते हैं; व्यक्तिके सामाजिक कर्तव्योंका समग्र भार हल्का होता है; और समाज-व्यवस्था पद-मर्यादाकी भिन्नताके ढांचेको और परोपजीवी सम्वन्धोंको धर्म-सम्मत नहीं वनाती, किन्तु वह (समाज-व्यवस्था) न्यायकी सामान्य प्राथमिक धारणाओंके अनुरूप होती है। देखिये, ई० ए० रॉस कृत 'सोश्यल कन्ट्रोल', पृ० ४११–१३।

१. पश्चिमके अराजकतावादी विचारकोंमें से गॉडविन और टॉमस हाजस्किनको यह आशा नहीं थी कि पूर्ण रूपसे राज्यहीन समाजकी स्थापना कभी सम्भव हो सकेगी। दूसरी ओर वाकुनिन, क्रोपाटकिन, जोशिया वारेन, वेंजामिन टकर और दूसरे अनेक अराजकतावादी विचारकोंका यह मत था कि इस प्रकारके समाजका विकास संभव है। मार्क्स और लेनिनका भी विश्वास था कि सर्वहारा राज्यकी आवश्यकता न रहने पर उसका लोप हो जायगा और विना वल-प्रयोगके मनुष्य सामाजिक जीवनकी जिम्मेदारियोंको पूरा करनेके आदी हो जायंगे।

सामूहिक कार्यक्रममें अस्पतालों, कचहरियों, रेलों और मिलोंके विनाशका समावेश नहीं करते थे, यद्यपि वे इन सबको हानिकर समझते थे, इनके स्वाभाविक विनाशका वे स्वागत करते और व्यक्तिगत रूपसे उसी आदर्श समाजकी स्थापनामें प्रयत्नशील थे जिसमें इन सबके लिए कोई स्थान न होगा।[१]

वास्तवमें गांधीजीका मत था कि राज्य-रहित समाज एक ऐसा आदर्श है, जिसे मनुष्य अपने जीवनमें कभी भी पूरी तरह कार्यान्वित न कर सकेगा। सन् १९३१ में राज्य-रहित समाजका हवाला देते हुए उन्होंने कहा था, "किन्तु जीवनमें आदर्श कभी पूरी तरह कार्यान्वित नहीं होता।"[२] सन् १९४० में शांतिनिकेतनमें जब गांधीजीसे पूछा गया कि "क्या कोई राज्य अहिंसाके सिद्धान्तके अनुसार चल सकता है?" तो गांधीजीने जवाब दिया, "सरकार पूरी तरह अहिंसक होनेमें कभी सफल नहीं हो सकती, क्योंकि वह (राज्यमें रहनेवाले) सब मनुष्योंका प्रतिनिधित्व करती है। आज मैं ऐसे स्वर्णकालकी बात नहीं सोचता। लेकिन मैं ऐसे समाजके अस्तित्वकी सम्भावनामें विश्वास करता हूं, जो प्रमुख रीतिसे अहिंसक हो; और मैं उसके लिए ही काम कर रहा हूं।"[३]

सन् १९४६ में उन्होंने स्वीकार किया कि उनको इस प्रश्नमें कोई रुचि नहीं है और संसारमें कहीं भी बिना सरकारके राज्यका अस्तित्व नहीं है। परन्तु उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि यदि लोग इस प्रकारके समाजके लिए निरन्तर कार्य करते रहें, तो धीरे-धीरे ऐसे समाजका आविर्भाव इस सीमा तक हो सकता है, जो लोगोंके लिए कल्याणकारी हो। उनका यह भी विचार है कि यदि ऐसे समाजका कभी आविर्भाव होगा तो वह भारतमें ही होगा; क्योंकि केवल भारत ही ऐसा देश है, जहां इस प्रकारका प्रयास हुआ है। उस ओर काम करनेका मार्ग है मृत्युके भयका पूर्ण परित्याग।[४]

गांधीजीका आदर्श अहिंसक समाज, जो मनुष्यकी अपूर्णताके कारण अप्राप्य है, गन्तव्यकी अपेक्षा दिशाकी ओर अधिक संकेत करता है। अहिंसक क्रांतिके फलस्वरूप जिस प्रकारकी राज्य-व्यवस्थाका उद्भव होगा, वह आदर्श अहिंसक समाज और मनुष्य-स्वभावके तथ्योंके बीच समझौता, मध्यम

---

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० ८८५–८६; हिन्द स्वराज्य, पृ० ७; यं० इं०, भाग–२, पृ० ११२९–३०।

२. यं० इं०, २–७–'३१, पृ० १६२।

३. ह०, ९–३–'४०, पृ० ३१।

४. ह०, १५–९–'४६, पृ० ३०९।

मार्ग होगा। यह 'मध्यम मार्ग'[1] गांधीजीका व्यवहार्य आदर्श होगा और क्रांतिके वाद आदर्श समाजकी ओर प्रथम पग होगा।

यह मध्यम मार्ग सामान्य व्यक्ति द्वारा विकसित अहिंसाके गुणके अनुरूप होगा। अहिंसा और जनतन्त्र दोनोंका मूल सभी मनुष्योंकी आध्यात्मिक समतामें है।

वास्तविक जनतन्त्रमें दुर्वल और वलवान सवको विकासका पर्याप्त सुयोग मिलना चाहिए और यह अहिंसाके विना नहीं हो सकता। यदि राज्यसत्ता निर्वलकी अहिंसासे मिली है, तो राज्यका वाह्य स्वरूप, उसका शासन-विधान, जनतन्त्रवादी होने पर भी शोषण चलता रहेगा; क्योंकि दुर्वलकी अहिंसामें हिंसाके उपयोगकी छूट है। लेकिन अगर क्रांतिमें वीरोंकी अहिंसाका विकास हुआ है, तो राज्य सच्चा जनतन्त्र होगा, जिसमें हिंसा और शोषण वहुत कुछ दूर हो जायंगे। इसीलिए गांधीजीकी जनतन्त्रकी परिभाषा है, "शुद्ध अहिंसाका शासन।"[2] एक पत्रके उत्तरमें गांधीजीने लॉर्ड लोदियनको लिखा था, "वैधानिक या जनतन्त्रवादी सरकार तव तक दूरका स्वप्न है जव तक अहिंसा केवल एक व्यावहारिक नीतिकी तरह नहीं, वल्कि एक अटल सिद्धांतकी तरह, एक जीवित शक्तिकी तरह नहीं मान ली जाती।"[3]

गांधीजीके प्रयासके वावजूद कांग्रेस भारतके स्वतन्त्रता-संग्राममें वीरोंकी अहिंसाका विकास करनेमें असफल रही। यदि अव भी लोग अहिंसक मार्ग ग्रहण कर लें, तो राज्य और समाज मुख्य रूपसे अहिंसक अर्थात् जनतन्त्रवादी वन जायगा। "अधिकांश कार्योंमें राज्य अहिंसा पर निर्भर करेगा।"[4]

निस्सन्देह राज्यका अस्तित्व वना रहेगा, क्योंकि समाज-विरोधी प्रवृत्तियोंवाले कुछ व्यक्ति और कुछ गुट रहेंगे और वाह्य नियन्त्रणके अभावमें अराजकताकी स्थिति उत्पन्न हो जायगी।

अहिंसक राज्य

सत्याग्रही राज्यकी स्थिति दूसरे राज्योंके साथ समताकी होगी और उसको अपनी जीवन-व्यवस्थामें पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। भूलें करनेके अधिकारके विना अर्थात् प्रयोगोंकी स्वतन्त्रताके विना प्रगति असम्भव है और इसीलिए

---

१. एक वार गांधीजीने कहा था, "हमें चाहिए कि जीवनके नियमको जानकर उसको अपनी शक्तिके अनुसार, उससे अधिक नहीं, अपने आचरणमें उतारनेका प्रयत्न करें। यह मध्यम मार्ग है।" यं० इं०, भाग–२, पृ० ६५९।

२. ह०, १३–१०–'४०, पृ० ३२०।

३. ह०, ११–२–'३९, पृ० ८।

४. ह०, १६–२–'४७, पृ० २५।

गांधीजीकी स्वराज्यकी परिभाषा है, "भूलें करनेकी स्वतन्त्रता और भूलोंको ठीक करनेका कर्तव्य।"[१] स्वतन्त्रता सत्यका अंश है और जब तक कोई राष्ट्र स्वतन्त्र न हो वह सत्यकी पूजा नहीं कर सकता।[२] प्रत्येक देशकी स्वतन्त्रता उसकी प्रगतिके ही लिए नहीं, संसारकी प्रगतिके लिए भी आवश्यक है। एक देशका दूसरे पर आधिपत्य साम्राज्यवादी देशमें जनतन्त्रका विनाशक है और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों और लड़ाइयोंकी जड़ है; इसलिए गांधीजीकी राय है कि सत्याग्रही देशको ही नहीं, बल्कि प्रत्येक देशको अपने शासन-प्रबन्धमें आजादी होनी चाहिए।[३] जैसा कि आगे चलकर इसी अध्यायमें बताया गया है, गांधीजी ऐसी स्वतन्त्रताके पक्षमें नहीं थे, जो दूसरे राष्ट्रोंका निराकरण करे या जिसका उद्देश्य किसी व्यक्ति या राष्ट्रको हानि पहुंचाना हो।

स्वतन्त्रता और समता सत्याग्रही राज्यकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थितिकी विशेषता ही नहीं होगी, बल्कि उसके आन्तरिक जीवनकी निर्धारक होगी। राज्य जनतन्त्रवादी होगा, क्योंकि अहिंसक क्रान्तिमें भाग लेनेवाली जनताका राज्य-शक्ति पर अधिकार होगा। गांधीजीके लिए स्वराज्यका अर्थ है, "हमारे छोटे-से-छोटे देशवासीके लिए स्वतंत्रता।"[४] भारतके स्वराज्यका अर्थ उनके लिए केवल नौकरशाहीका गोरीसे काली हो जाना नहीं, बल्कि अन्तिम सत्ताका किसानों और मजदूरोंके हाथमें होना है।[५] अहिंसा और जनतन्त्रके लिए आत्मशुद्धि या व्यक्तिका नैतिक विकास भी आवश्यक है। गांधीजी लिखते हैं, "राजनैतिक स्वशासन या बहुतसे स्त्री-पुरुषोंका स्वशासन वैयक्तिक स्वशासनकी अपेक्षा अधिक अच्छा नहीं हो सकता।"[६] "स्वराज्यका धात्वर्थ है आत्म-शासन, इसलिए स्वराज्यका अर्थ किया जा सकता है अनुशासनपूर्ण आन्तरिक शासन। स्वराज्य पवित्र शब्द है, वैदिक शब्द है। इसका अर्थ है स्वशासन और आत्म-नियन्त्रण, न कि सब नियन्त्रणोंसे स्वतन्त्रता जो कि प्रायः स्वतन्त्रताका अर्थ होता है।"[६]

राज्य — एक साधन

गांधीजीके लिए राजनैतिक सत्ता या राज्य ध्येय नहीं, बल्कि "उन साधनोंमें से एक है जिनसे मनुष्योंको जीवनके प्रत्येक विभागमें अपनी दशा

१. स्पीचेज, पृ० ३८८।
२. यं० इं०, भाग–२, पृ० २।
३. यं० इं०, १५–१०–'३१।
४. यं० इं०, भाग–२, पृ० ६०२।
५. स्पीचेज, पृ० ३७८ और ३८०।
६. यं० इं०, १३–३–'३१, पृ० ३८; महादेव देसाई: विद गांधीजी इन सीलोन, पृ० ९३।

सुधारनेमें सहायता मिल सकती है।"[1] गांधीजी न तो जर्मन विचारक हैगेलकी यह बात मानते हैं कि राज्य मानव-व्यवस्थाका अन्तिम लक्ष्य है, वह स्वयं नैतिकतासे परे है और उसको व्यक्तिके विरुद्ध अधिक-से-अधिक अधिकार हैं, और न मुसोलिनीका यह कहना मानते हैं कि राज्यके वाहर कुछ है ही नहीं। गांधीजीको ग्रीन और वोसांके सरीखे प्रत्ययवादी विचारकोंका यह मत भी मान्य नहीं है कि राज्य समुदायोंका समुदाय अर्थात् सर्वश्रेष्ठ समुदाय है। उनके लिए राज्य सबके अधिकतम हितका केवल एक साधन है। राज्यका कोई विशेप महत्त्व नहीं। वह मनुष्यकी दुर्वलताके प्रति एक छूट है। जितना अधिक मनुष्य विना राज्यके अपना काम चला सके उतनी ही वास्तविक उसकी स्वतन्त्रता होगी। गांधीजी राज्यमें विश्वास नहीं करते और वे सत्याग्रहके द्वारा जनतामें राज्यसत्ताका दुरुपयोग होने पर प्रतिरोध करनेकी क्षमता उत्पन्न करना चाहते हैं। वास्तवमें उनकी जनतन्त्रवादी राज्यके प्रत्येक सदस्यसे यह अपेक्षा है कि वह सम्पूर्ण संसारके विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षा कर सके। वे लिखते हैं, "सच्चा स्वराज्य कुछ मनुष्योंके राज्यसत्ता प्राप्त करनेसे नहीं आयेगा, वल्कि राज्यसत्ताका दुरुपयोग होने पर सवके उसका विरोध करनेकी क्षमता प्राप्त करनेसे आयेगा। दूसरे शब्दोंमें, स्वराज्य जनताको इस प्रकार शिक्षित करनेसे प्राप्त होगा कि उसमें सत्ता पर नियन्त्रण रखने और उसका नियमन करनेकी क्षमताकी चेतना आये।"[2] "सच्चा स्वराज्य केवल वहीं सम्भव है जहां सत्याग्रह ही प्रजाका खास सहारा हो। जहां ऐसा न हो वहां तो स्वराज्य नहीं, परराज्य ही है।"[3]

राज्यकी प्रभुता

अराजकतावादियों और उन विचारकोंकी तरह, जो राज्यकी संप्रभुताके विरुद्ध समुदायोंके अधिकारोंके पक्षपाती हैं, गांधीजी भी इस सिद्धान्तको नहीं मानते थे कि राज्यकी संप्रभुता पूर्ण और निरपेक्ष है और व्यक्तिका राज्यके कानूनोंके प्रति निरपेक्ष आज्ञाकारिताका कर्तव्य है। वे "शुद्ध नैतिक सत्ता पर आधारित जनताकी संप्रभुता"[4] में विश्वास करते थे। उनके अनुसार दूसरे

---

१. यं० इं०, २–७–'३१।

२. यं० इं०, भाग–२, पृ० ४९१।

३. हिन्द स्वराज्य, पृ० ७४।

४. ह०, २–१–'३७, पृ० ३७४। उपरोक्त शब्दोंमें गांधीजी 'राम-राज्य' की परिभापा करते थे। गांधीजी रामराज्यकी धारणाका उपयोग भारतवासियोंको जनतन्त्रवादी राज्यका अर्थ समझानेके लिए करते थे। "रामराज्यसे मेरा अर्थ हिन्दू राज्यसे नहीं है। रामराज्यसे मेरा अर्थ है

समुदायोंकी भांति राज्यके प्रति भी व्यक्तिकी निष्ठा सीमित और आपेक्षिक है। इस निष्ठाकी शर्त यह है कि राज्य या किसी दूसरे समुदायका निर्णय व्यक्तिकी अन्तरात्माको उचित लगे। निस्सन्देह इसमें अराजकताका निरंतर खतरा रहता है, किन्तु राजनैतिक शक्तिके दुरुपयोगसे बचनेका यही एकमात्र पर्याप्त उपाय है। यद्यपि गांधीजी अनैतिक कानूनोंकी अवज्ञा करना नागरिकोंका अधिकार और कर्तव्य मानते हैं और ऐसी अवज्ञाको जनतन्त्रकी कुंजी बताते हैं,[1] फिर भी वे इस अवज्ञाको सविनय और अहिंसक बनाकर अराजकतासे समाजका पर्याप्त बचाव कर देते हैं।

संसदीय जनतन्त्र

सत्याग्रही राज्यके शासन-विधानके सम्बन्धमें यह बताया जा सकता है कि सन् १९०९ से गांधीजी इंग्लैंडमें प्रचलित संसदीय सरकारकी कड़े शब्दोंमें आलोचना करते रहे थे। लेकिन सन् १९१७ में पहली गुजरात राजनैतिक परिषद्के सभापतिकी हैसियतसे उन्होंने देशके लिए संसदीय सरकारकी मांग की थी। सन् १९२० में उन्होंने कहा था, "इस समय तो मेरा स्वराज्य भारतकी संसदीय सरकार है।"[2] सन् १९४२ में उन्होंने लुई फिशरसे कहा था कि उनको जनतन्त्रके पश्चिममें स्वीकृत उस रूपमें विश्वास नहीं है, जिसमें संसदीय प्रतिनिधित्वके लिए सार्वभौम वयस्क मतदान होता है।[3] गांधीजीका यह मत भ्रम पैदा करनेवाला मालूम होता है, लेकिन वे विधानके बाह्य स्वरूपकी अपेक्षा उसकी आन्तरिक भावनाको अधिक महत्त्व देते थे। संसदीय जनतन्त्रकी उनकी आलोचनाका कारण संवैधानिक रूपकी अपेक्षा वह भावना अधिक है, जिसमें उसे कार्यान्वित किया जाता है। उनका यह विश्वास नहीं है कि प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएं भारतके लिए नई या अनुपयुक्त हैं; लेकिन वे पश्चिमकी अन्धाधुन्ध नकल करनेके विरोधी थे।[4]

अहिंसा और नैतिक शुद्धतामें विश्वास न होनेके कारण पश्चिमके राज्य नाममात्रके जनतन्त्र हैं, क्योंकि वे जनतन्त्रवादके मूलभूत सिद्धान्तोंकी उपेक्षा

दैवी राज्य।... निस्सन्देह रामराज्यका प्राचीन आदर्श सच्चे जनतन्त्रका आदर्श है।..." देखिये यं० इं०, १९-९-'२९, पृ० ३०५; २८-५-'३१, पृ० १२६।

१. हिन्द स्वराज्य, पृ० १४९।

२. यं० इं०, भाग-१, पृ० ८७३, ८८५; हिन्द स्वराज्य (भूमिका), पृ० ९।

३. लुई फिशर: ए वीक विद गांधी, पृ० ५५।

४. यं० इं०, भाग-३, पृ० २८५।

करते हैं। शस्त्रीकरणकी होड़का, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद तथा शोषणका, राजनैतिक अस्थिरता और अनैतिकताका और दुर्बल नेतृत्वका यही कारण है। गांधीजीके अनुसार पूंजीवादने आर्थिक प्रश्नोंमें राज्यके हस्तक्षेपको अनिवार्य बनाकर उस चरम शक्तिमान राज्यके विकासमें सहायता की है, जिसके कारण व्यक्तिकी स्वतंत्रता असंभव हो गई है और जो संसारका सबसे बड़ा खतरा है। आजकी वास्तविक समस्या है इस राज्यकी शक्तिको नियंत्रित करना और उसकी वृद्धिको रोकना।[१]

'हिन्द स्वराज्य' में गांधीजीने पार्लमेन्टोंकी मां (इंग्लैंडकी पार्लमेन्ट)की कड़े शब्दोंमें निन्दा की है और उसको बांझ कहा है—बांझ इसलिए कि उसने कभी कोई अच्छा काम अपने-आप नहीं किया। अगर समझदार मतदाता अच्छे-से-अच्छे सदस्य चुनकर पार्लमेन्टमें भेजते हैं, तो ऐसी पार्लमेन्टको प्रार्थना-पत्रों या दबावकी जरूरत न होनी चाहिए। उस पार्लमेन्टका काम ऐसा अच्छा होना चाहिए कि दिन-दिन उसका तेज बढ़ता नजर आये और लोगों पर उसका असर पड़ता जाय। लेकिन आज तो इससे उलटा ही होता है। इतना तो सभी मानते हैं कि पार्लमेन्टके सदस्य ढोंगी और स्वार्थी हैं। सब अपनी खींचातानीमें लगे रहते हैं। पार्लमेंट तो डरकर ही कोई काम करती है।"[२] मंत्रियोंके प्रति पार्लमेंटकी निष्ठामें स्थिरता नहीं है। "आज उसके मालिक एस्क्विथ हैं तो कल बालफोर और परसों कोई और।"[३] पार्लमेण्टकी अस्थिरताकी एक और मिसाल यह है कि उसके फैसलोंमें कोई पक्कापन नहीं होता। "आजका किया फैसला कल रद करना पड़ता है। आज तक एक बार भी ऐसा नहीं हुआ कि पार्लमेन्टने कोई काम करके उसे अन्त तक पहुंचाया हो।"[४]

पार्लमेन्टके मेम्बर बड़े-बड़े मसलोंकी चर्चाके समय या तो लम्बी तानते हैं या बैठे-बैठे ऊंघा करते हैं। "कभी-कभी पार्लमेण्टमें वे ऐसा शोर मचाते हैं कि सुननेवालोंकी हिम्मत टूट जाती है। उन्हींके एक महान लेखक कार्लाइलने पार्लमेन्टको दुनियाभरकी बकवासकी जगह बताया है। जिस दलका जो मेम्बर होता है वह उसी दलको आंख मूंदकर मत देता है,

---

१. लुई फिशर: ए वीक विद गांधी, पृ० ८२-८३।

२. हिन्द स्वराज्य, पृ० ३२।

३. हिन्द स्वराज्य, पृ० ३१।

४. हिन्द स्वराज्य, पृ० ३२। गांधीजीका मत यह मालूम होता है कि यदि सत्यको जानने और उस पर डटे रहनेका प्रयत्न किया जाय और यदि नेताओंने व्यक्तिगत स्वराज्य प्राप्त कर लिया हो, तो सार्वजनिक जीवनमें घड़ीके लटकनकी तरहके उलट-फेर प्रायः नहीं होने चाहिए।

क्योंकि अनुशासनकी दृष्टिसे वह ऐसा करनेके लिए बाध्य है। इसमें कोई अपवाद-रूप निकल आये, तो उसे धोखेबाज समझा जाता है।"[१]

प्रधानमंत्री गांधीजीके नेतृत्वके आदर्शसे बहुत नीचे रह जाता है। "प्रधानमन्त्रीको पार्लमेन्टकी उतनी चिन्ता नहीं होती जितनी कि अपनी सत्ताकी होती है। वह तो हमेशा अपने पक्षकी जीतके फेरमें ही पड़ा रहता है। इस बातका उसे बहुत ध्यान नहीं रहता कि पार्लमेन्ट ठीक काम करे। प्रधानमन्त्री अपने पक्षको मजबूत बनानेके लिए पार्लमेन्टसे क्या-क्या काम नहीं कराते हैं, इसके चाहे जितने उदाहरण मिल सकते हैं। उन्हें सच्चे देशभक्त नहीं माना जा सकता। सामान्यतः जिसे घूस कहते हैं वह वे नहीं लेते-देते, इससे भले ही उन्हें ईमानदार समझा जाय; लेकिन सिफारिश और उपाधियों वगैराके रूपमें तो निश्चय ही वे खूब घूस देते हैं। . . . उनमें शुद्ध भावना और सच्ची ईमानदारीका अभाव है।"[२]

मतदाता अखबारोंके आधार पर अपने विचार बनाते हैं और अखबारोंकी प्रामाणिकताका प्रायः कोई ठिकाना नहीं होता। पार्लमेन्टकी तरह मतदाता भी अपने विचार पलटते रहते हैं और कभी स्थिर नहीं होते। कोई जबरदस्त वक्ता बड़ी-बड़ी बातें बना दे अथवा उन्हें दावतें इत्यादि दे दे, तो वे उसीकी बड़ाई करने लगेंगे।[३] इन दोषोंके कारण पश्चिमके जनतन्त्र अजनतन्त्रवादी हैं। जनताके हाथमें वास्तविक स्वराज्यके अधिकार नहीं हैं। शासक-वर्ग उसका शोषण करता है। पार्लमेन्ट गांधीजीकी रायमें दासताकी निशानी है और एक खर्चीला मनोरंजन है—खर्चीला इसलिए कि पार्लमेन्ट बहुत समय और धन बरबाद करती है।

विगत वर्षोंमें पश्चिमके विचारकोंने भी संसदीय प्रणालीके दोषोंका अध्ययन किया है। निर्बलताके बहुतसे स्थलोंकी ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ है—निर्वाचन-पद्धतिके दोष, दलबंदीके वाद-विवाद, केन्द्रीकरण और कार्यकी अधिकताके कारण राजनैतिक और आर्थिक पुनर्निर्माणके लिए पार्लमेन्टकी अक्षमता, मंत्रि-मंडल और नौकरशाहीकी शक्तिमें वृद्धि, आर्थिक विषमता इत्यादि। गांधीजीके विचारसे पश्चिममें जनतन्त्रवादके सफल न हो सकनेका कारण संस्थाओंकी अपूर्णता उतनी नहीं है जितनी सिद्धान्तोंकी अपूर्णता है, विशेष रूपसे हिंसा और असत्यकी उपयोगितामें विश्वास। जनतंत्र उन गलत विचारों और आदर्शोंसे विकृत होता है, जो मनुष्योंका संचालन करते हैं।

---

१. हिन्द स्वराज्य, पृ० ३२-३३।
२. हिन्द स्वराज्य, पृ० ३५-३६।
३. हिन्द स्वराज्य, पृ० ३७।

यदि जनताने शुद्ध अहिंसाके मार्गको अपनाया, तो जनतंत्रवादी राज्यके उपरोक्त दोप बहुत कम हो जायंगे। समाजमें केवल संख्या पर नहीं बल्कि सेवा और बलिदानमें अभिव्यक्त होनेवाली समताकी भावना पर बहुत जोर दिया जायगा। सन् १९३४ में एक वक्तव्यमें गांधीजीने कहा था, "पश्चिमका लोकतंत्र अगर सर्वथा निष्फल नहीं हो गया है, तो अग्नि-परीक्षासे तो वह गुजर ही रहा है। क्यों न भारत लोकतंत्रके सच्चे रूपको विकसित करनेका श्रेय प्राप्त करे और उसकी सफलताको प्रत्यक्ष प्रकट करे? भ्रष्टता और दंभ लोकतंत्रके अनिवार्य परिणाम नहीं होने चाहिये, यद्यपि आज यही बात देखनेमें आ रही है; और न बहुमतका होना ही जनतंत्रकी सच्ची कसौटी है। थोड़े आदमियों द्वारा उन सब लोगोंकी आशा, महत्त्वाकांक्षा तथा भावनाओंको प्रकट करना, जिनका प्रतिनिधित्व करनेका वे दावा करते हैं, सच्चे लोकतंत्रके विपरीत नहीं है। मेरा विश्वास है कि लोकतंत्रका विकास बल-प्रयोगसे नहीं हो सकता। लोकतंत्रकी सच्ची भावना बाहरसे नहीं, किन्तु भीतरसे उत्पन्न होती है।"[१]

निर्वाचन

गांधीजी निर्वाचन और प्रतिनिधित्वके विरोधी नहीं थे। सन् १९२५ में उन्होंने लिखा था, "स्वराज्यसे मेरा अर्थ है उन वयस्क स्त्री-पुरुषोंकी अधिकतम संख्याकी निश्चित अनुमति द्वारा भारतका शासन, जो भारतमें या तो उत्पन्न हुए हों या बस गये हों, जिन्होंने शरीर-श्रम द्वारा राज्यकी सेवा की हो और जिन्होंने मतदाताओंकी सूचीमें अपना नाम दर्ज करवानेका कष्ट उठाया हो।"[२] और, "यदि स्वतंत्रताका जन्म अहिंसक रीतिसे हुआ, तो (देशके) सभी भाग एक-दूसरे पर स्वेच्छासे आश्रित होंगे और उस प्रतिनिध्यात्मक केन्द्रीय सरकारकी अधीनतामें पूरे सामंजस्यके साथ काम करेंगे, जिसकी सत्ताका स्रोत होगा सम्मिलित भागोंका विश्वास। केन्द्रीय शक्ति सब वयस्क स्त्री-पुरुषोंके मताधिकार पर आधारित होगी और इस मताधिकारका प्रयोग करनेवालोंमें अनुशासन और राजनैतिक जानकारी होगी।"[३]

यदि गांधीजीको अपने विवेकके अनुसार संविधान बनानेकी स्वतंत्रता होती, तो राज्यका शासन उन थोड़ेसे प्रतिनिधियोंके हाथमें होता जिनको जनता चुनती और हटा सकती। प्रमुख रूपसे अहिंसक राज्यमें प्रतिनिधि-

---

१. कांग्रेसका इतिहास, पृ० ४६६।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० ४८८-८९।

३. ह०, १३–१०–'४०, पृ० ३२०।

योंकी संख्यामें कमी करना सुगम होगा, क्योंकि आर्थिक और राजनैतिक सत्ता विकेंद्रित होगी, राज्यके कर्तव्य सीमित होंगे और स्वेच्छाके आधार पर बने हुए समुदायोंका महत्त्व उसी अनुपातमें बढ़ जायगा।

गोलमेज सम्मेलनमें गांधीजी ग्राम-पंचायतोंके द्वारा प्रतिनिधियोंके अप्रत्यक्ष चुनावके पक्षमें थे।[1] सन् १९४२ में भी उन्होंने इसी प्रकारकी चुनाव-पद्धतिका समर्थन किया था। उनके अनुसार भारतके गांवोंका संगठन वहांके नागरिकोंके संकल्पके अनुसार होगा और उन सबको मत देनेका अधिकार होगा। ये गांव जिलेका प्रबन्ध करनेवालोंको चुनेंगे और इस चुनावमें प्रत्येक गांवका मत होगा। जिलेके प्रतिनिधि प्रान्तीय प्रतिनिधियोंको चुनेंगे और प्रांतीय प्रतिनिधि राष्ट्रपतिका चुनाव करेंगे। राष्ट्रपति देशका मुख्य प्रशासक होगा। इस पद्धतिसे शक्तिका ग्राम-इकाइयोंमें विकेंद्रीकरण हो जायगा। इन ग्रामोंमें नागरिक स्वेच्छासे सहयोग करेंगे और इससे वास्तविक स्वतंत्रताका विकास होगा।[2] इस अप्रत्यक्ष चुनावको अजनतंत्रवादी समझना भूल होगी। उससे चुनावोंकी हिंसा, भ्रष्टता, घूसखोरी और उत्तेजनामें कमी होगी और उसे विकेंद्रीकरण और राज्यके सीमित कर्तव्योंकी पृष्ठभूमिमें रखकर ही ठीक तरहसे समझा जा सकता है। गोलमेज सम्मेलनमें गांधीजी विधान-मंडलमें साधारण सभाके अतिरिक्त द्वितीय सदनके और विशेप प्रतिनिधित्वके विरुद्ध थे, क्योंकि ये दोनों ही बातें अजनतंत्रवादी हैं।[3]

चुनावके उम्मीदवारोंको आत्म-संयमी, निःस्वार्थ, योग्य और भ्रष्टाचारसे मुक्त होना चाहिए। उन्हें पदलोलुपता, आत्म-विज्ञापन, विरोधियोंकी निन्दा और मतदाताओंके मनोवैज्ञानिक शोषणसे बचना चाहिए, जो आजके निर्वाचनोंमें प्रचुर मात्रामें देखनेको मिलते हैं। उम्मीदवारको वोट उसकी सेवाके फलस्वरूप मिलना चाहिए, न कि वोट मांगनेसे। सभी सार्वजनिक पदोंको सेवाकी भावनासे स्वीकार करना चाहिए और उनसे व्यक्तिगत लाभकी जरा भी आशा नहीं रखनी चाहिए। "यदि साधारण जीवनमें 'अ' २५ रु० की मासिक आयसे संतुष्ट है, तो उसे मंत्री बनने पर या अन्य कोई सरकारी

---

१. दि नेशन्स वाएस, पृ० १८।

२. लुई फिशर, ऊपर उद्धृत, पृ० ५५ और ८०।

सत्याग्रही राज्यमें गांवका प्रबन्ध करनेवाली पंचायतके ५ सदस्य होंगे, जिनका चुनाव प्रतिवर्ष गांवके वयस्क नर-नारियों द्वारा होगा। पंचायत सम्मिलित व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायालय होगी। गांवके जन-तन्त्रका आधार होगा व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और गांवका शासन अहिंसाके नियमके अनुसार होगा। ह०, २६–७–'४२, पृ० २३८।

३. दि नेशन्स वाएस, पृ० १९-२०।

पद ग्रहण करने पर २५० रु० की आशा करनेका कोई अधिकार नहीं है।"[1] सत्याग्रही स्वार्थकी नहीं, परन्तु जनहितकी कामना करता है और उसे सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है। उसका सरकारी पद ग्रहण करना मनुष्य-जातिके प्रति प्रेम और उसकी सेवा करनेकी इच्छाका द्योतक है। जहां तक सत्याग्रहीका संबंध है, "मनुष्यों पर प्राप्त सत्ताका समावेश पूर्ण रीतिसे मनुष्यों (की सेवा) के लिए प्राप्त सत्तामें हो जाता है।"[2]

जहां तक मतदाताओंका सम्बन्ध है, गांधीजीके अनुसार "मताधिकारके लिए आवश्यक योग्यता संपत्ति या पद नहीं, परन्तु शरीर-श्रम होना चाहिए। . . . साक्षरता या संपत्तिकी कसौटी व्यर्थ साबित हुई है। शरीर-श्रमसे उन सब लोगोंको अवसर मिलता है, जो राज्यके हितमें और शासनमें भाग लेना चाहते हैं।"[3] शरीर-श्रम पर आधारित मताधिकार राजनीतिमें शरीर-श्रमके आदर्शका प्रयोग है—जो मनुष्योंको स्वावलम्बी और निडर बनाना चाहता है। यदि मतदाता इस आदर्शको समझ-बूझकर अपना लें, तो राजनीतिज्ञ उनको अपने हाथकी कठपुतली नहीं बना सकेंगे।[4] उसे अपनानेसे जनतामें सत्ताके दुरुपयोगका प्रतिरोध करनेकी क्षमताका विकास होगा और राज्य दो वर्गोंमें विभाजित होनेसे बच जायगा—एक तो शोषक, स्वार्थी,

---

१. ह०, ३–९–'३८, पृ० २९२।

आदर्शवादी दृष्टिकोणसे प्रत्येक व्यक्तिको शरीर-श्रम द्वारा जीविका प्राप्त कर लेनी चाहिए और सार्वजनिक कर्तव्योंका पालन बिना वेतनके सेवाकी भावनासे करना चाहिए। किन्तु यह सुदूर भविष्यमें ही संभव हो सकता है। वर्तमान परिस्थितिमें गांधीजी इस बातके विरुद्ध थे कि सरकारी नौकरोंका वेतन राष्ट्रीय आयके अनुपातकी अपेक्षा अधिक हो। बुनियादी अधिकारोंके बारेमें कराची कांग्रेसके प्रस्तावके अनुसार उच्चतम सरकारी अधिकारीको ५०० रु० से अधिक वेतन नहीं मिलना चाहिए। किंतु मूल्योंमें असाधारण वृद्धिके कारण उच्चतम वेतनकी यह सीमा मूल्योंमें वृद्धिके अनुपातसे अधिक बढ़ गई है। 'लंदन टाइम्स' ने एक बार पर्याप्त वेतनकी परिभाषा यह की थी कि वेतन इतना पर्याप्त होना चाहिए कि किसी भी सार्वजनिक भावना रखनेवाले व्यक्ति द्वारा किसी पदके स्वीकार किये जानेमें अड़चन न पड़े; किन्तु दूसरी ओर वेतन इतना अधिक भी न होना चाहिए कि उसके आकर्षणसे व्यक्ति सार्वजनिक जीवनमें आवें। देखिये ह०, ७–८–'३७।

२. डब्ल्यू० ई० हॉकिंग: मैन एंड दि स्टेट, पृ० ३१६।

३. यं० इं०, भाग–२, पृ० ४३५-३६।

४. ह०, २–१–'३७, पृ० ३७३।

जिद्द करनेवाले शासकोंका छोटासा वर्ग और दूसरा निष्क्रिय, विना सोचे-समझे आज्ञा माननेवाले शासितोंका विशाल वर्ग।

जहां तक मतदाताओंकी आयु-मर्यादाका प्रश्न है, गांधीजी २१ वर्षसे ऊपरके या १८ वर्षसे ऊपरके भी सव वयस्कोंके मताधिकारके पक्षमें थे। गांधीजी अपने जैसे वृद्धों पर प्रतिवन्ध लगाना चाहते थे। मतदाताओंके रूपमें इस प्रकारके लोग व्यर्थ हैं। भारत तथा शेष संसार ऐसे लोगोंका नहीं है, जो मृत्युके समीप हैं। उनके लिए मृत्यु है, युवकोंके लिए जीवन। इस प्रकार गांधीजी एक विशेष अवस्था, जैसे ५० वर्ष, के वाद प्रतिवन्ध लगानेके पक्षमें थे; इसी प्रकार वे १८ वर्षसे कम अवस्थावालोंको मत-दाता वनानेके विरुद्ध थे।[१] इस प्रकार गांधीजी मत देनेका अधिकार केवल उन्हींके लिए सुरक्षित रखना चाहते हैं, जो १८ और ५० वर्षके वीचकी अवस्थाके हों और जो शरीर-श्रम द्वारा राज्यकी सेवा करते हों। पचास वर्षसे अधिक अवस्थावाले व्यक्तियोंका केवल नैतिक प्रभाव होगा, परन्तु उनके हाथमें मत द्वारा प्राप्त राजनैतिक सत्ता न होगी।

वहुमत और अल्पमत

अहिंसक क्रान्ति द्वारा स्थापित राज्य आध्यात्मिक जनतन्त्र होगा। इस जनतंत्रमें साधारण रीतिसे निर्णय वहुमत द्वारा होंगे, किंतु ऐसा सब परि-स्थितियोंमें नहीं होगा। राज्यमें किसी धार्मिक या सांस्कृतिक समुदायसे संवंधित मामलोंमें निर्णयका अधिकार उसी समुदायको होगा। महत्त्वपूर्ण मामलोंमें वहुमत अल्पमतकी उपेक्षा न करेगा, वल्कि उसका वहुत ध्यान रखेगा। गांधीजी लिखते हैं, "अन्तरात्मा-सम्वन्धी मामलोंमें वहुमतके नियमके लिए स्थान नहीं है।"[२] "वहुमतके नियम पर सीमित रूपसे व्यवहार हो सकता है, अर्थात् तफसीली मामलोंमें व्यक्तिको वहुमतकी वात माननी चाहिए। किन्तु वहुमतके चाहे जैसे निर्णयोंको मान लेना दासता है। जनतन्त्र वह राज्य नहीं है, जिसमें लोग भेड़ोंकी तरह कार्य करते हैं। जनतन्त्रमें मत और कार्यकी स्वतन्त्रताकी सतर्कतासे रक्षा होती है। इसलिए मेरा विश्वास है कि अल्पमतको वहुमतसे भिन्न कार्य करनेका पूरा अधिकार है।"[३] "... कोई भी विचारधारा सही निर्णयके एकाधिकारका दावा नहीं कर सकती। हम सभी भूल कर सकते हैं और वहुधा हमें अपना निर्णय वदलना पड़ता है। ... और इसलिए कम-से-कम

---

१. ह०, २–३–'४७, पृ० ४५।
२. यं० इं०, भाग–१, पृ० ८६०।
३. यं० इं०, भाग–१, पृ० ८६४-६५।

जो बात हमें दूसरोंके प्रति और अपने प्रति करना चाहिए, वह यह है कि हम विरोधीका दृष्टिकोण समझनेका प्रयास करें; और यदि हम उसे स्वीकार न कर सकें तो भी हमें उसका उतना आदर तो करना ही चाहिए जितने आदरकी हम उससे अपने लिए आशा करते हैं। यह स्वस्थ सार्वजनिक जीवनकी एक अनिवार्य कसौटी है।"[1] "बहुमतके शासनका यह अर्थ नहीं कि वह एक व्यक्तिकी भी रायको, यदि वह ठीक है, दबा दे। एक व्यक्तिकी रायको, यदि वह ठीक हो, बहुतोंकी रायकी अपेक्षा अधिक महत्त्व देना चाहिए। वास्तविक जनतंत्रके संबंधमें मेरा यह मत है।"[2]

महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंसे संबंध रखनेवाले प्रश्नोंमें भिन्न रायवाले अल्पमतको बहुमतकी इच्छा माननेके लिए विवश करना केवल अहिंसाके विपरीत ही नहीं है, वरन् सत्याग्रही अल्पमत उसका प्रतिरोध भी करेगा। ऐसे मामलोंमें बहुमत और अल्पमतके लिए एकमात्र मार्ग है समझा-बुझाकर या स्वयं कष्ट सह कर प्रतिपक्षीके मत-परिवर्तनका प्रयत्न करना।

इस प्रकार अहिंसक जनतन्त्रमें बहुमतके अत्याचारके लिए स्थान न होगा। अल्पमतका सम्मान, जिस पर गांधीजी जोर देते हैं, "बहुमतकी उदार-हृदयता है।"[3] दूसरी ओर अल्पमतका कर्तव्य है कि वह बहुमतके निर्णयको — जब तक वह उसकी नैतिक भावनाके विरुद्ध न हो — माने, क्योंकि इसके बिना सामाजिक जीवन और सामूहिक स्वशासन असंभव है।

अहिंसक राज्य धर्म-निरपेक्ष होगा। चाहे किसी देशके सब निवासी एक ही धर्मके हों, किन्तु राज्यका कोई धर्म न होगा। राज्यके प्रत्येक निवासीको, जब तक वह राज्यके सामान्य विधानका पालन करता है, बिना किसी बाधाके अपने धर्मको माननेका अधिकार होना चाहिए। सन् १९४६ में गांधीजीने कहा था, "यदि मैं अधिनायक होता, तो धर्म और राज्य पृथक् होते। धर्म मेरे लिए सब कुछ है। मैं उसके लिए जान दे दूंगा। लेकिन वह मेरा व्यक्तिगत मामला है। राज्यका उससे कोई संबंध नहीं है।... वह प्रत्येक मनुष्यका व्यक्तिगत मामला है।" गांधीजीके अनुसार राज्य धार्मिक शिक्षा नहीं दे सकता। धार्मिक शिक्षा देना राज्यका नहीं परन्तु धार्मिक समुदायोंका कार्य है। उनके अनुसार राज्यको किसी धार्मिक समुदायकी धनसे सहायता भी नहीं करनी चाहिए। "जो धार्मिक समुदाय अपने धर्मकी शिक्षाके लिए धनका प्रबन्ध नहीं कर सकता और राज्यका मुंह ताकता है, वह सच्चे धर्मसे अनभिज्ञ है।" राज्यके स्कूलोंमें केवल

---

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० २२७।

२. गांधीजीका २८–९–'४४ का वक्तव्य।

३. ह०, १–७–'३९, पृ० १८५।

उन्हीं नैतिक सिद्धान्तोंकी शिक्षा होनी चाहिए, जो संसारके सब प्रमुख धर्मोको सामान्य रूपसे मान्य हैं।[1]

अहिंसक जनतंत्र ऐसा उच्चतम प्रकारका राज्य है, जिसकी मनुष्य अभी तक कल्पना कर सका है। निस्सन्देह इस प्रकारके राज्यकी पूर्वमान्यता यह है कि मनुष्य अपने जीवनका नैतिक सिद्धान्तोंके अनुसार पुनर्निर्माण करे और उसका जीवन वासना-प्रियताका नहीं, किन्तु समाज-सेवाका जीवन हो। अहिंसक राज्यका अस्तित्व आदर्शोंकी एकताकी दृढ़ भावनाके आधार पर ही संभव है और इस नैतिक वातावरणका विकास अहिंसक मार्गसे ही हो सकता है।

अल्पतम राज्यकार्य

राज्य साध्य नहीं परन्तु एक साधनमात्र है। अहिंसक राज्यका ध्येय है सबके अधिकतम हितकी साधना। इस उद्देश्यसे वह व्यक्तिको विकासका अधिकतम अवसर देगा। लेकिन राज्य हिंसा पर आधारित है, निर्धनोंका शोषण करता है और नागरिकोंको कार्य-विशेषके लिए यदि आवश्यक हो तो बल-प्रयोग द्वारा मजबूर करके उनके व्यक्तिगत स्वशासन या स्वराज्यका क्षेत्र संकुचित करता है। इसलिए प्रमुख रीतिसे अहिंसक समाजमें राज्यको कम-से-कम शासन करना चाहिए और कम-से-कम बलका प्रयोग करना चाहिए।[2] जनताके नैतिक विकासके अनुपातमें उसे अपना शासन-कार्य घटानेका प्रयत्न करना चाहिए, जिससे अन्तमें राज्यका लोप हो जाय और स्वयं-संचालित सुव्यवस्थित अराजकताकी स्थापना हो जाय।

राज्यके कम-से-कम शासन करनेके बारेमें गांधीजी लिखते हैं, "हमारी स्वराज्यकी क्षमताका आधार यह है कि हममें इस बड़े और प्राचीन राष्ट्रकी विविध और जटिल समस्याओंका बिना सरकारके हस्तक्षेप या उसकी सहायताके समाधान करनेकी क्षमता हो।"[3] "स्वशासन (स्वराज्य) का अर्थ है सरकारी नियन्त्रणसे — सरकार विदेशी हो या राष्ट्रीय — स्वतन्त्र होनेका अनवरत प्रयत्न। स्वराज्यकी सरकार एक शोचनीय वस्तु होगी, यदि जनता जीवनकी प्रत्येक बातकी व्यवस्थाके लिए उसके (सरकारके) सहारे रहे।"[4] "मैं मानता हूं कि कुछ ऐसी बातें हैं, जो

---

१. ह०, २२–९–'४६, पृ० ३२१; १६–३–'४७, पृ० ६३; २३–३–'४७, पृ० ७६; २४–८–'४७, पृ० २९२ और ३१–८–'४७, पृ० २९७ और ३०२।

२. यं० इं०, भाग–३, पृ० ५६०।

३. यं० इं०, भाग–१, पृ० ७४२।

४. यं० इं०, भाग–२, पृ० २९०।

राजनैतिक शक्तिके विना नहीं हो सकतीं; लेकिन दूसरी वहुतसी ऐसी बातें हैं, जो राजनैतिक शक्ति पर तनिक भी निर्भर नहीं हैं। इसीलिए थोरो जैसे विचारकने कहा है कि, "वह सरकार सवसे अच्छी है जो कम-से-कम शासन करती है।" इसका अर्थ है कि जब जनताका राजनैतिक शक्ति पर अधिकार हो जायगा, तो जनताकी स्वतन्त्रताके साथ कम-से-कम हस्तक्षेप होगा। दूसरे शब्दोंमें वही राष्ट्र वास्तवमें जनतन्त्रवादी है, जो राज्यके वहुत हस्तक्षेपके विना ही अपनी व्यवस्था सुचारु और सफल रीतिसे कर लेता है। इस दशाकी अनुपस्थितिमें सरकारका रूप नाममात्रके लिए ही जनतन्त्रवादी होता है।"[1]

यदि कोई राष्ट्र वीरोंकी अहिंसाको अपना ले और अहिंसक प्रतिरोध द्वारा अन्याय और शोषणको दूर करनेकी क्षमता प्राप्त कर ले, तो 'कम-से-कम शासन' व्यवहार्य हो जायगा। क्योंकि स्वतन्त्रता आंतरिक नैतिक विकासके फलस्वरूप प्राप्त होगी। स्वतन्त्रताकी स्थापनाके पूर्वकी अहिंसक क्रान्तिमें जनताको स्वेच्छापूर्वक सहयोग करनेकी क्षमता प्राप्त हो जायगी और वह यह सीख लेगी कि सामाजिक जीवनका संचालन किस प्रकार स्वेच्छा पर आधारित समुदायों द्वारा हो सकता है। इस प्रकार ग्राम उत्पादन और प्रतिरक्षाके संवंधमें आत्म-निर्भर होंगे। गांधीजीने १९४६ में कहा था, "मेरी कल्पनाकी ग्राम-इकाइयां उतनी ही शक्तिशाली होंगी, जितनी कि महानतम शक्तिशाली इकाइयां हो सकती हैं।"[2] अहिंसक राज्यमें जीवन सरल होगा, शक्ति विकेन्द्रित होगी, वर्ग-संघर्ष और युद्धवादका अभाव होगा और इसलिए आधुनिक राज्यके वहुतसे कार्य अनावश्यक हो जायंगे। इसके अतिरिक्त राज्य-कार्यका औचित्य और परिमाण इस वात पर निर्भर है कि जनता अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दूसरोंके आक्रमणकारी कार्योंके विरुद्ध सुरक्षाको अर्थात् कानूनों द्वारा स्थापित शान्ति और सुव्यवस्थाको देती है या कार्य करनेकी स्वतन्त्रताको। अहिंसक राज्यमें उपरोक्त आक्रमणकारी कार्योंकी संख्या वहुत घट जायगी और जनता उनका सामना करनेकी अहिंसक पद्धतिको अपना चुकेगी। इस कारण भी राज्यका कार्यक्षेत्र संकुचित हो जायगा।

राज्यके कार्य क्रमशः कम हो जायेंगे और स्वेच्छा पर आधारित समुदायोंके हाथमें आ जायंगे। किन्तु गांधीजी सिद्धान्तवादी नहीं थे। वे प्रत्येक वातका निर्णय उसके गुण-दोषके अनुसार करते थे और जिस वातमें भी राज्यकार्यके जनहितमें सहायक होनेकी सम्भावना हो, उसमें वे राज्यमें अविश्वास करते हुए भी राज्यकार्यका स्वागत करते थे। राज्यकार्योंमें

१. ह०, ११-१-'३६, पृ० ३८०।
२. ह०, ४-८-'४६, पृ० २५२।

राज्यका ध्येय होना चाहिए जनताकी सेवा। जब तक उच्च वर्गोंका लोप न हो जाय, राज्यको उनके हितका भी उस सीमा तक ध्यान रखना चाहिए जहां तक वह हित जन-साधारणके हितसे मेल खाता है और उसके विरुद्ध नहीं है। गांधीजी इस बात पर जोर देते थे कि जन-विरोधी हितोंमें परिवर्तन होना चाहिए और यदि परिवर्तन असम्भव है तो उन्हें दबाना चाहिए।[1]

राज्य अपना कार्य कम-से-कम बल-प्रयोग द्वारा करेगा। इस अध्यायके अन्तिम भागमें इस बातका विवेचन है कि किस प्रकार अहिंसक राज्य विदेशी आक्रमणका सामना करेगा। राज्यके अन्दर बल-प्रयोगकी आवश्यकता अपराधों और हिंसक दंगोंके सम्बन्धमें — जिनसे समाजका अस्तित्व संकटमें पड़ जाता है — होती है।

अपराध और जेल

जैसा कि सातवें अध्यायके अन्तमें बताया जा चुका है, अपराध एक प्रकारका रोग है, जिसके कारण अधिकतर सामाजिक दोष हैं। इसलिए अहिंसक राज्यमें अपराध भले ही हों, परन्तु किसीके साथ भी अपराधी जैसा बर्ताव न होगा।[2] वीरोंकी अहिंसासे सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संस्थाओंका सुधार हो जायगा और वे न्याय, समता और भ्रातृत्व पर आधारित हो जायंगी।[3] सरकार "जनताके अधिकतम हित पर आधारित नैतिक सत्ता द्वारा शासन करेगी।"[4] सामाजिक नैतिकताके दबावसे नागरिक आजकी अपेक्षा कहीं अधिक सामाजिक कर्तव्यका स्वतः पालन करेंगे। सत्याग्रही नागरिक अपराधीके प्रति अहिंसक बरताव करेगा, अर्थात् अपने जीवनको सुधार कर अपराधीको सुधारेगा।[5] इस प्रकार अहिंसक राज्यमें अपराध और बल-प्रयोग कम हो जायंगे।

किन्तु अपराधोंका लोप न होगा, क्योंकि अहिंसक राज्यके नागरिक आदर्श मनुष्य नहीं होंगे। राज्यमें कुछ समाज-विरोधी मनुष्य होंगे, जो आत्म-संयमकी कमीके कारण हिंसाका सहारा लेंगे और कानूनोंकी अवज्ञा करेंगे। इस प्रकार कानूनके विरुद्ध शराब बनानेका हवाला देते हुए गांधीजीने एक बार लिखा था, "कुछ-कुछ तो वह शायद अन्तिम दिन तक उसी प्रकार चलता रहेगा जैसे चोरी चलती रहेगी।"[6] जब अहिंसक राज्यकी स्थापना

---

१. यं० इं०, १७–९–'३१।

२. ह०, ५–५–'४६, पृ० १२४।

३. ह०, २७–४–'४०, पृ० १०८।

४. ह०, १३–७–'४०, पृ० १९७; ११–८–'४६, पृ० २५५।

५. देखिये अध्याय ७ का अंतिम भाग।

६. ह० ३१-[illegible]-'३७, पृ० [illegible]।

होगी तब संभव है कि कुछ हिंसक संगठन अहिंसक सरकारके विनाशका प्रयत्न करें। गांधीजीके अनुसार, "कोई भी सरकार बिना सार्वजनिक शान्तिको संकटमें डाले गैर-सरकारी सैनिक संगठनोंको कार्य करनेकी आज्ञा नहीं दे सकती।"[१] सत्याग्रही राज्य अपराधोंको सहन न करेगा और न नागरिकोंकी स्वतन्त्रताको अपराधयुक्त स्वच्छन्दतामें परिणत होनेकी आज्ञा देगा। इस प्रकार सरकार हिंसक कार्यके लिए उत्तेजित करनेके अपराधकी उपेक्षा नहीं करेगी। अपराधोंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि वे वातावरणको हिंसक बनाते हैं और सुव्यवस्थित समाजके विनाशक हैं; और "कोई भी सरकार, जो सरकार कहलानेके योग्य है, अराजकताको सहन न करेगी।"[२]

व्यक्तिगत रूपसे गांधीजी हिंसा करनेवालोंको भी दंड देकर जेलमें रखनेमें विश्वास नहीं करते थे।[३] वास्तवमें वे व्यक्तिगत या सार्वजनिक अपराधोंके लिए दंडप्रथामें विश्वास नहीं करते थे।[४] यदि व्यवस्था उनके हाथोंमें छोड़ दी जाती, तो वे जेलोंके दरवाजे खोल देते और हत्या करने-वालोंको भी छोड़ देते।[५] लेकिन समाजकी वर्तमान परिस्थितिमें यह अव्य-वहार्य आदर्श है। इसीलिए सन् १९३७ में गांधीजीने लिखा था, "व्यक्तिगत रूपसे मुझे सभी अपराधोंके मामलोंमें, जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं, दंड और दंड-सम्बन्धी रुकावटोंसे बचनेका कोई मार्ग नहीं मिला है।" यद्यपि उनके अनुसार दंड चालू रहेगा, परन्तु वह यथासम्भव अहिंसक होगा।[६]

---

१. ह०, १३-४-'४०, पृ० ८६।

"स्वाधीन भारतीय राज्यमें पूर्ण रूपसे व्यक्तिगत और नागरिक स्वतन्त्रता तथा सांस्कृतिक और धार्मिक स्वतंत्रता होगी, परन्तु संविधान-सभाके माध्यमसे भारतीय जनता द्वारा निर्मित संविधानको हिंसापूर्ण उपायोंसे हटा देनेकी स्वतन्त्रता न होगी।" ह०, २०-४-'४०, पृ० ९६। 'जयप्रकाशका चित्र' शीर्षक अपने लेखमें गांधीजीने अहिंसक क्रान्तिकी सफलताके पश्चात् भारतीय राज्यके गठनके रूपके बारेमें श्री जयप्रकाश नारायणके विचारोंकी रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उनके विचारोंसे अपनी सहमति प्रकट की है।

२. ह०, ९-३-'४०, पृ० ३१।

३. १९३१ में गांधी-अर्विन समझौतेके बाद गांधीजीका वक्तव्य, 'हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस', पृ० ७५३।

४. ह०, ४-९-'३७, पृ० २३३।

५. डी० जी० तेंडुलकर आदि: गांधीजी — हिज़ लाइफ एंड वर्क, पृ० ३८१।

६. ह०, २३-१०-'३७, पृ० ३०८।

सत्याग्रही राज्य अपराधियोंके प्रति कम-से-कम बलका प्रयोग करेगा। राज्यका उद्देश्य अपराधीसे बदला लेना या दंडके डरसे अपराधोंको रोकना नहीं होगा। जैसा कि बार बार जेल जानेवाले अपराधियोंकी बड़ी संख्यासे सिद्ध होता है, ये दोनों उद्देश्य अपराधीकी सामाजिक प्रवृत्तिको कुंठित करते हैं और समाज तथा अपराधी दोनोंके लिए हानिकर हैं। सत्याग्रही राज्यका उद्देश्य होगा अपराधीका सुधार। अहिंसक दंडविधिमें अपराधीको आजकलकी तरह डराने-धमकाने, अपमानित करने और यंत्रणा देनेका स्थान न होगा। प्रकट है कि मृत्युदंडका अन्त हो जायगा, क्योंकि वह अहिंसाके विपरीत है। "अहिंसक राज्यमें हत्याका अपराधी सुधार-गृहमें भेज दिया जायेगा और वहां उसे अपनेको सुधारनेका अवसर मिलेगा।"[१] गांधीजीके अनुसार मृत्यु-दण्ड और दूसरे प्रकारके दण्डोंमें परिमाणात्मक ही नहीं, गुणात्मक भेद भी है। अन्य प्रकारके दण्ड रद्द किये जा सकते हैं और यदि किसी व्यक्तिको अनुचित दण्ड दिया गया है तो उसे हर्जाना दिया जा सकता है। किन्तु मृत्युदण्ड मिलने पर दण्ड न तो रद्द किया जा सकता है, न उसके लिए हर्जाना दिया जा सकता है।"[२]

किन्तु गांधीजी इस बातके विरुद्ध न थे कि व्यक्तियोंको "इसलिए नजरबन्द रखा जाय कि वे राज्योंकी धारणाके अनुसार नैतिक, सामाजिक या राजनैतिक हानि न कर सकें।"[३] किन्तु जेलोंको चालू रखते हुए भी वे यथासम्भव उनको अहिंसक बनानेके पक्षमें थे।

सन् १९३७ में जब कांग्रेसने प्रांतोंमें शासनका भार संभाला तब गांधीजीका यह सुझाव था कि जेलोंको सुधार-गृह और कारखानोंमें परिवर्तित कर दिया जाय। वे दण्ड देनेके स्थान और व्ययके स्थान न रहकर स्वावलम्बी और शिक्षण-संस्थाएं बन जायं। जेलोंके सुधारके लिए गांधीजीने सन् १९२२ में एक योजना बनाई थी। उस समय वे स्वयं कैदी थे। योजना यह थी कि "वे धन्धे जिनसे आय नहीं होती बन्द कर दिये जायं। सभी जेलें कताई-बुनाईकी संस्थाएं बन जायं। उनमें (जहां सम्भव हो) कपास पैदा करनेसे लेकर अच्छे-से-अच्छा कपड़ा बनाने तकका सब काम हो। . . . कैदियोंके साथ घृणाके योग्य अपराधियोंकी तरह नहीं, बल्कि दोषयुक्त व्यक्तियोंकी तरह बरताव हो। वार्डर कैदियोंके लिए आतंकका कारण न रहे; बल्कि जेलके अफसर उनके मित्र और शिक्षक हों। एक अनिवार्य शर्त

१. ह०, २७-४-'४०, पृ० १०१।

२. यं० इं०, भाग-२, पृ० ८६२।

३. बापूज़ लेटर्स टु मीरा, पृ० २०५; यं० इं०, भाग-१, पृ० १११८-११२२।

यह है कि राज्य जेलमें उत्पन्न सब खादी लागत मूल्य पर खरीद ले। यदि इससे अधिक खादी हो तो जनता उसे थोड़ेसे अधिक मूल्य पर खरीद सकेगी, जिससे एक बिक्री-गोदाम चलानेका व्यय निकल आये।"[1] गांधीजीको विश्वास था कि यदि उनके सुझावोंके अनुसार काम हो, तो जेलखाने गांवोंसे सम्बन्धित हो जायं, उनके द्वारा गांवोंमें खादीका सन्देश पहुंचे और छूटे हुए कैदी राज्यके आदर्श नागरिक बन जायं।[2]

सन् १९४७ में दिल्लीके केन्द्रीय कारागारमें प्रार्थनाके उपरान्त दिये गये एक भाषणमें गांधीजीने कहा था, "... सभी अपराधियोंके साथ रोगियों जैसा बर्ताव किया जाना चाहिए और जेलोंको अस्पतालोंके रूपमें परिणत करके उनमें इस प्रकारके रोगियोंको उपचारके लिए भरती करना चाहिए। अपराध करनेमें मजा आता है, इसके लिए कोई भी अपराध नहीं करता। यह रुग्ण मस्तिष्कका चिह्न है। विशेष रोगके कारणोंकी खोज करके उसे दूर किया जाना चाहिए। जब जेलें अस्पताल बन जायंगी, तब बड़े बड़े भवनोंकी आवश्यकता न रह जायगी। कोई भी देश, विशेष रूपसे भारत जैसा निर्धन देश, इन बड़े भवनोंका भार वहन नहीं कर सकता। परन्तु जेल-कर्मचारियोंका दृष्टिकोण अस्पतालके चिकित्सकों और परिचर्या करनेवालों जैसा होना चाहिए। कैदियोंको यह महसूस होना चाहिए कि जेल-अधिकारी उनके मित्र हैं। वे कैदियोंके मानसिक स्वास्थ्यकी पुनःप्राप्तिमें सहायता करनेके लिए हैं, किसी भी रूपमें उनको परेशान करनेके लिए नहीं।"[3]

खादीके साथ गांधीजी दूसरे धन्धे भी रखते। वे तफसीलकी बातों पर इतना जोर नहीं देते जितना इस सिद्धान्त पर कि जेलखानोंको समाज द्वारा अपराधियोंसे बदला लेनेके साधन नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह बात तो स्वयं समाजकी रुग्णावस्थाका चिह्न है। जेलखानोंको सुधार-गृह, अस्पताल और स्कूलका मिश्रण समझना चाहिए और उनका उद्देश्य होना चाहिए दोषयुक्त व्यक्तियोंको अहिंसक जीवन-मार्गकी शिक्षा देना।[4]

गांधीजी यह मानते हैं कि कैद करना एक प्रकारका दण्ड है, बल-प्रयोग है और "शुद्ध अहिंसाके विरुद्ध है।"[5] अहिंसक जेल या अहिंसक कैदमें उसी प्रकारका आन्तरिक विरोध है जैसे अहिंसक राज्यमें। किंतु जेलखाना

---

१. ह०, १७-७-'३७, पृ० १८०।

२. ह०, ३१-७-'३७, पृ० १९८।

३. ह०, २-११-'४७, पृ० ३९५-९६।

४. ह०, ८-१-'३८, पृ० ४११: महादेव देसाईका लेख 'नो कम्प्रोमाइज़'।

५. यं० इं०, भाग-२, पृ० ८६२।

राज्य और समाजके अनुकूल होगा और उसका उद्देश्य होगा बल-प्रयोगको अधिक-से-अधिक घटा देना।

अहिंसक राज्यमें आंतरिक दंगोंकी संख्यामें भी बहुत कमी होगी। समुदायोंमें पारस्परिक संघर्षोंके अवसर बहुत ही कम होंगे। इसके अतिरिक्त जनतामें दंगोंसे अहिंसक रूपमें निपटनेकी क्षमता होगी। गांधीजी लिखते हैं, "जब तक हम शुद्ध अहिंसासे ओत-प्रोत नहीं हैं, तब तक हम सम्भवतः अहिंसा द्वारा स्वराज्य नहीं प्राप्त कर सकते। हम तभी (अहिंसक रीतिसे) सत्ता प्राप्त कर सकते हैं जब हमारा बहुमत हो, या दूसरे शब्दोंमें जब जनताका विशाल बहुमत अहिंसाके नियमके अनुसार चलनेको राजी हो। जब यह शुभ परिस्थिति आ जायगी तब हिंसाकी भावनाका लगभग लोप हो चुकेगा और आंतरिक अशान्ति नियंत्रणमें होगी।"[१] इस प्रकार अहिंसक राज्यमे साम्प्रदायिक दंगोंकी और मजदूरों-सम्बन्धी चिन्ताजनक अशान्तिकी बहुत ही कम सम्भावना होगी, क्योंकि अहिंसक बहुमतका प्रभाव इतना अधिक होगा कि उसको समाजके प्रमुख अंशोंका सम्मान प्राप्त होगा।[१]

पुलिस और फौज

गांधीजी यह मानते हैं कि अहिंसक राज्यमें भी पुलिस आवश्यक होगी।[२] लेकिन वे पुलिसके वर्तमान हिंसक तरीकोंको सुधार कर उसमें आमूल परिवर्तन करना चाहते हैं। वे सत्याग्रही राज्यके पुलिसके जवानोंमें शांतिसेनाके स्वयंसेवकोंकी-सी योग्यता चाहते हैं। वे लिखते हैं, "किन्तु मेरी धारणाकी पुलिस आजकी पुलिससे नितान्त भिन्न प्रकारकी होगी। उसके सदस्य अहिंसामें विश्वास करनेवाले होंगे। वे जनताके स्वामी नहीं, सेवक होंगे। जनताकी स्वाभाविक प्रवृत्ति उनको प्रत्येक प्रकारकी सहायता देनेकी होगी और पारस्परिक सहयोगके द्वारा वे सुगमतासे दंगोंकी — जिनकी संख्या लगातार घटती रहेगी — व्यवस्था कर सकेंगे। पुलिसके पास हथियार होंगे, किन्तु उनका प्रयोग यदि कभी हुआ भी तो बहुत कम होगा। वास्तवमें पुलिसके सिपाही सुधारक होंगे। और उनका पुलिस-सम्बन्धी कार्य लुटेरों और डाकुओं तक सीमित होगा।"[३] अहिंसक

---

१. ह०, १–९–'४०, पृ० २६५।

२. यं० इं०, भाग–१, पृ० २८४, ६४१ और १०८६; ह०, १०–२–'४०, पृ० ४४१; और ९–३–'४०, पृ० ३१।

३. ह०, १–९–'४०, पृ० २६५। किशोरलाल मशरूवालाके अनुसार "अपराधोंको रोकना पुलिसका वास्तविक कर्तव्य होना चाहिए। आजकल व्यावहारिक रूपमें यह कर्तव्य है अपराधियों पर निगाह रखना और अपराध

राज्यमें डाकुओं और लुटेरोंकी संख्यामें कमी हो जायगी, क्योंकि निजी सम्पत्ति बहुत कम होगी और आवश्यकतासे अधिक सम्पत्ति लोग ट्रस्टीकी भांति रखेंगे।

गांधीजी पुलिसको हथियार रखनेकी आज्ञा देते हैं, क्योंकि उनका एक कर्तव्य होगा अपराध करनेवालोंको जेलखानोंमें अहिंसक उपचारके लिए गिरफ्तार करना। पुलिस कुछ दोषयुक्त मनुष्योंको, उदाहरणके लिए हत्या करने पर तुले हुए पागलको, नियंत्रणमें रखनेके लिए शरीर-शक्तिका प्रयोग भी करेगी। इसी प्रकार गांधीजी अपराधोंको रोकनेके लिए अश्रुगैस सरीखे आधुनिक उपकरणोंके उपयोगके पक्षमें हैं।[1] गांधीजी इस बातको स्वीकार करते हैं कि अहिंसक आदर्शके अनुसार अश्रुगैसका उपयोग उचित नहीं है। परन्तु वे उसके उपयोगकी पुष्टि उस स्थितिमें करेंगे जब वे देखेंगे कि किसी असहाय लड़कीके शीलकी रक्षा वे नहीं कर सकते अथवा बिना अश्रुगैसके उपयोगके वे क्रुद्ध भीड़को पागलपन करनसे नहीं रोक सकते।

१९४० में गांधीजीने भारतके कुछ प्रांतोंके कांग्रेसी मन्त्रि-मंडलोंके कार्योंकी भर्त्सना की थी, क्योंकि शांति और व्यवस्थाकी रक्षाके लिए वे शांतिपूर्ण साधनोंका उपयोग करनेमें असफल रहे और उन्होंने साम्प्रदायिक दंगों तथा श्रमिकोंकी अशान्तिको दबानेके लिए पुलिस तथा सेनाका उपयोग किया। गांधीजीने इसे अनुचित बताया था और लिखा था, "जहां तक कांग्रेसी मन्त्रि-मंडलोंको पुलिस और फौजका प्रयोग करनेके लिए विवश होना पड़ा, उसी परिमाणमें मेरी रायमें हमें अपनी असफलता स्वीकार करनी चाहिए।"[2]

नवम्बर १९४६ में बिहारके साम्प्रदायिक दंगेके दिनोंमें पं० जवाहरलाल नेहरूने एक वक्तव्यमें कहा था कि सरकार साम्प्रदायिक बर्बरताको दबानेके लिए यदि आवश्यकता हुई तो हवाई जहाजोंसे बम भी गिरायेगी। लेकिन गांधीजीके अनुसार यह दंगोंके दबानेका अंग्रेजी तरीका था, जिसके फलस्वरूप भारत देशकी स्वतंत्रता दब जाती। सन् १९४६ में उन्होंने लिखा था, "सच्चे जनतन्त्रको किसी भी प्रयोजनके लिए सेना पर आश्रित नहीं रहना चाहिए। सैनिक सहायता पर निर्भर रहनेवाला राज्य नाममात्रका जनतन्त्र हो जायगा। सैनिक शक्ति मस्तिष्कके स्वतन्त्र विकासमें बाधा डालती है। वह मनुष्यकी आत्माका विनाश करती है।"[3] १२ दिसम्बर,

---

होनेके बाद उनको खोजना और गिरफ्तार करना।" देखिये मशरूवाला-कृत 'प्रैक्टिकल नॉन-वायोलेन्स', पृ० २१।

१. ह०, ९-३-'४०, पृ० ३१।

२. ह०, १३-७-'४०, पृ० १९७।

३. ह०, ९-६-'४६, पृ० १६९।

१९४७ के प्रार्थना-प्रवचनमें उन्होंने कहा था, "मुझे विश्वास है कि अगर हिन्दुस्तानने अपनी अहिंसक शक्ति नहीं बढ़ाई, तो न तो उसने अपने लिए कुछ पाया और न दुनियाके लिए। हिन्दुस्तानका फौजीकरण होगा तो वह बरबाद होगा और दुनिया भी बरबाद होगी।"[१]

वे पुलिसके नहीं, उसके आधुनिक रूपके और नितान्त हिंसक तरीकोंके विरुद्ध थे। आजकी पुलिसके बिना काम न चला सकना अहिंसक साधनों द्वारा शक्ति पर अधिकार रखनेकी क्षमताके अभावका सूचक है। जहां तक सेनाका सम्बन्ध है, १९३१ तक गांधीजी उसको बनाये रखनेके लिए तैयार थे।[२] बादमें नागरिक अधिकारों और आन्तरिक शान्तिकी सुरक्षाके लिए उन्होंने सेनाके उपयोगको अमान्य ठहराया था।[३] विदेशी आक्रमणके विरुद्ध प्रतिरक्षाके साधनके रूपमें भी सेनाके विरुद्ध उन्होंने अपना निश्चित मत घोषित किया था। गांधीजी सदा, राष्ट्रीय सरकारके शासनमें भी, अनिवार्य सैनिक शिक्षाके विरुद्ध थे।[४] अहिंसक राज्यमें वे आक्रमण और अन्यायके विरुद्ध प्रतिरक्षा-व्यवस्थाको पूर्ण रूपसे विकेन्द्रित कर देते। गांवों

---

१. ह० १४-१२-'४७, पृ० ४७१।

२. यं० इं०, भाग-१, पृ० ६४१ और १०८६; और यं० इं०, भाग-२, पृ० ९२४।

गांधी-अर्विन संधिके दूसरे दिन गांधीजीने पत्रकारोंके साथ हुई वार्तामें इस प्रश्नके उत्तरमें कि क्या वे इस बातकी सम्भावना देखते हैं कि जब 'पूर्ण-स्वराज्य' मिल जायगा तो राष्ट्रीय सेना हटा ली जायगी, उन्होंने कहा था, "स्वप्नद्रष्टाके तौर पर इसका उत्तर है, हां। परन्तु मैं नहीं सोचता कि मेरे जीवन-कालमें मेरे लिए यह देख सकना सम्भव होगा। बिलकुल सेना न रखनेकी स्थिति तक पहुंचनेके लिए भारतीय राष्ट्रको कई युग लग सकते हैं। सम्भव है कि मेरे विश्वासकी कमी मेरी इस निराशावादिताका कारण हो। लेकिन मैं इस सम्भावनाका निराकरण नहीं करता। वर्तमान सामूहिक जागृति और अहिंसा पर लोगोंके दृढ़तासे कायम रहनेसे मुझे निश्चित रूपसे कुछ आशा होती है कि निकट भविष्यमें भारतीय नेता साहसके साथ यह कह सकेंगे कि अब उन्हें किसी सेनाकी आवश्यकता नहीं। असैनिक (आंतरिक) कार्योंके लिए पुलिस पर्याप्त समझी जानी चाहिए।"—'हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस', पृ० ७६२; 'कांग्रेसका इतिहास', पृ० ३६१।

३. ह०, २३-१०-'३७, पृ० ३०८: 'सिविल लिबर्टीज़' शीर्षक लेख।

४. यं० इं०, २४-९-'२५: 'फॉर पैसिफिस्ट' के पृ० ४८ पर उद्धृत।

तथा नागरिकोंमें इस बातकी क्षमता होनी चाहिए कि वे सम्पूर्ण विश्वके विरुद्ध अपने स्वातन्त्र्यकी रक्षा कर सकें।[1] किन्तु गांधीजी अहिंसक सेनाके पक्षमें थे।[2]

पुलिस और फौज आधुनिक जनतंत्रमें कानूनके आवश्यक अंग माने जाते हैं। गांधीजी सत्याग्रही राज्यमें कानूनके इन अंगोंको, विशेष रूपसे फौजको, हटा देनेके पक्षमें थे। यद्यपि पुलिस रहेगी, पर उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन हो जायगा। यद्यपि गांधीजी बल-प्रयोगके लिए कुछ परिस्थितियोंमें छूट देते थे, फिर भी यह याद रखना चाहिए कि बल-प्रयोगका स्थान पृष्ठभूमिमें है; उसका प्रयोग तभी होगा जब अहिंसक साधनोंका उपयोग नहीं हो सकता। इस प्रकार गांधीजी अपराध और अशांतिकी हिंसाकी अपेक्षा सुधारक दण्डकी हिंसाको कम हानिकर समझते थे। दण्डके रूपमें बल-प्रयोग अहिंसाकी अपूर्णताका नहीं किन्तु मानवी अपूर्णताका चिह्न है। पूर्ण रूपसे अहिंसक मनुष्य अपनी उच्च नैतिकताके कारण हिंसाका प्रयोग न करेगा और हिंसा उसके लिए बेकार हो जायगी। उसकी अहिंसा सभी परिस्थितियोंमें पर्याप्त होगी।[3] गांधीजी अल्पतम बल-प्रयोगकी छूट तो देते थे, किन्तु आदर्शवादी होनेके नाते वे अनुरोधपूर्वक कहते थे कि "बल-प्रयोग किसी भी परिमाणमें और किसी भी परिस्थितिमें अनुचित है।"[4]

न्याय

राज्य न्याय-सम्बन्धी कार्य भी करेगा। गांधीजीके अनुसार यथासम्भव यह कार्य पंचायतोंके हाथमें दे देना चाहिये, जिनके सदस्योंकी नियुक्ति साधारण रीतिसे किसी मामलेसे सम्बन्धित दोनों पक्ष करते हैं। गांधीजी दक्षिण अफ्रीकामें और भारतमें वकालत कर चुके थे और उनको आधुनिक न्याय-पद्धतिका और उसके दोषोंका व्यक्तिगत अनुभव था। वे इस पद्धतिके और वकीलों तथा जजोंके कठोर आलोचक थे। वकील और जज "चचेरे भाई हैं" और जो कुछ उन्होंने वकीलोंके सम्बन्धमें कहा है वह जजों पर भी लागू होता है। "वकीलोंका धंधा ऐसा है जो उन्हें अनैतिकता सिखलाता है। . . . वकील तो आम तौर पर झगड़ोंको दबानेके बजाय उन्हें बढ़ानेकी सलाह देंगे। . . . वकीलोंका स्वार्थ झगड़े बढ़ानेमें ही है।"[5] उनके अनुसार वकीलोंको साधारण मजदूरोंसे अधिक मेहनताना नहीं मिलना चाहिए। सन् १९०९ में उन्होंने बताया था कि वकील

१. देखिये पीछे पृ० ३३३-३४।
२. ह०, १२–५–'४६, पृ० १२८।
३. ह०, ९–३–'४०, पृ० ३१।
४. हिन्द स्वराज (अं०), पृ० ४२।
५. हिन्द स्वराज्य, पृ० ८८।

भारतको एक और बहुत बड़ी हानि पहुंचा रहे हैं। "हिन्दू-मुस्लिम झगड़ोंके बारेमें जिन्हें थोड़ी-बहुत जानकारी है वे इस बातको जानते हैं कि ये झगड़े अकसर वकीलोंके हस्तक्षेपके कारण ही हुए हैं।"[१] वकीलोंका सबसे बड़ा अपराध यह था कि उन्होंने देशको अंग्रेजोंके बन्धनमें जकड़ दिया था। "बिना वकीलोंके न तो (भारतमें) अदालतें कायम हो सकती थीं और न वे चल सकती थीं; और न बिना अदालतोंके अंग्रेज राज्य कर सकते थे।"[२]

जहां तक अदालतोंका सम्बन्ध है, गांधीजीका मत है कि यह समझना भूल है कि अदालतें लोगोंकी भलाईके लिए कायम की गई थीं। "जो अपनी सत्ता कायम रखना चाहते हैं, वे अदालतोंके द्वारा ही ऐसा करते हैं। अगर लोग आपसमें ही निपट लें, तो तीसरा आदमी उन पर अपनी सत्ता कायम नहीं कर सकता।"[३] इस प्रकार अदालतोंका उद्देश्य है उस सरकारकी सत्ताको स्थायित्व देना, जिसकी वे प्रतिनिधि हैं।[४] इसके अतिरिक्त, "यह कौन कह सकता है कि तीसरे आदमीका फैसला हमेशा ठीक ही होता है। सच्ची बात क्या है यह तो दोनों पक्षवाले ही जानते हैं। यह हमारा भोलापन और अज्ञान है, जिसकी वजहसे हम यह मान लेते हैं कि हमारे पैसे लेकर यह तीसरा आदमी हमारा इन्साफ करता है।"[५] जहां तक अदालतोंने अन्यायी (विदेशी) सरकारकी सत्ताको दृढ़ किया, वहां तक उन्हें राष्ट्रकी स्वतंत्रताका साधन नहीं, वरन् राष्ट्रीय भावनाके दमनका साधन कहना अधिक उपयुक्त होगा।[६]

गांधीजीकी यह आलोचना बहुत-कुछ प्रत्येक आधुनिक राज्यकी न्याय-पद्धति पर लागू होती है। व्यावहारिक दृष्टिसे प्रायः सभी देशोंमें न्यायमें होनेवाला अत्यधिक विलम्ब और अनिश्चितता मुकदमेबाजीको एक प्रकारका जुआ बना देती है। प्रायः सभी देशोंमें वकीलकी क्षमताका मापदण्ड है जजको भ्रममें डाल देना, विवाद-ग्रस्त विषयको तोड़-मरोड़ देना, अर्थात् अपने मुवक्किलके लाभके लिए गलत तर्कको सच्चा सिद्ध कर देना। प्रायः सभी देशोंमें न्याय-पद्धति निर्धनोंके विरुद्ध धनिकोंका, जनताके विरुद्ध शासक

---

१. हिन्द स्वराज्य, पृ० ९०।

२. हिन्द स्वराज्य, पृ० ९०; हिन्द स्वराज (अं०), पृ० ४३।

३. हिन्द स्वराज्य, पृ० ९१।

४. यं० इं०, भाग–१, पृ० ३५१; एच० जे० लैस्कीके इसी प्रकारके मतके लिए देखिये 'दि डेन्जर्स ऑफ बीइंग ए जेन्टिलमैन' में 'जूडीशियल फंक्शन' शीर्षक लेख।

५. हिन्द स्वराज्य, पृ० ९१–९२।

६. यं० इं०, भाग–१, पृ० ३५०।

वर्गोंका पक्षपात करती है। यह पद्धति सत्यके प्रति मनुष्यका आदर घटा देती है और लोगोंको मुकदमा न हारनेके उद्देश्यसे शपथ लेकर भी असत्य भाषणका प्रलोभन देती है।

गांधीजीके अनुसार "न्याय-व्यवस्था सस्ती होनी चाहिए। दीवानीके अधिकांश मुकदमोंमें दोनों पक्षोंको अपना झगड़ा पंचायतके हवाले करनेके लिए विवश करना चाहिए और पंचायतका निर्णय, जब तक उसमें भ्रष्टाचार या कानूनका दुरुपयोग न हो, अन्तिम होना चाहिए। अपील कई बार नहीं होनी चाहिए। नजीरोंको महत्त्व नहीं देना चाहिए और अदालतोंकी साधारण कार्य-प्रणालीको सुगम बना देना चाहिए।"[१] वकील रह सकते हैं, परन्तु उन्हें अपने पेशेकी किसी प्रकारकी श्रेष्ठताका दावा नहीं करना चाहिए। वकीलोंका "कर्तव्य है कि वे दोनों पक्षोंमें पड़ी खाईको पाट दें।"[२] आदर्शवादी दृष्टिकोणसे वकीलोंको अपनी जीविकाके लिए किसी प्रकारके शरीर-श्रम पर अवलम्बित रहना चाहिए और जनताकी मुफ्त सेवा करनी चाहिए। यदि पारिश्रमिक लेना ही हो तो "शिक्षक, डॉक्टर, वकील, व्यवसायी, भंगी आदि सबके एक दिनके ईमानदारीसे किये गये कार्यका पारिश्रमिक बराबर ही होना चाहिए।"[३]

इस प्रकार गांधीजी राज्यके न्याय-सम्बन्धी कार्यमें अधिक-से-अधिक कमी कर देंगे। अहिंसक राज्यमें अपराधों और दंगोंकी संख्या बहुत घट जायगी। नागरिक प्रायः अदालतोंमें न जाकर अपने झगड़े पारस्परिक समझौतों द्वारा या गैर-सरकारी पंचायतों द्वारा निपटा लेंगे। उन थोड़ेसे मुकदमोंमें, जो राज्यकी अदालतोंमें आवेंगे, न्याय सस्ता होगा और दक्षता तथा शीघ्रतासे होगा।

सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था

अहिंसक राज्य जनताकी आर्थिक स्थितिको इसलिए समान बनानेका प्रयत्न करेगा कि सामाजिक न्याय और आर्थिक स्वतन्त्रता स्थापित हो जाय। राज्यके कार्यक्षेत्रके सम्बन्धमें गांधीजीके विचारोंको समझनेके लिए अहिंसक राज्यकी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाका संक्षिप्त वर्णन अनुपयुक्त न होगा।

अहिंसक राज्यका साध्य होगा नागरिकोंकी नैतिक क्षमताके अनुसार राज्य-रहित समाजकी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था तथा उनके आधार-भूत मूल्योंकी ओर अग्रसर होना और उनको अपनानेका प्रयत्न करना। अहिंसक राज्यकी स्थापनाके पहिले ही सामाजिक समताकी स्थापना हो

---

१. यं० इं०, भाग-२, पृ० ४३६।

जायगी, अस्पृश्यताका और जातिकी रूढ़ियोंका लोप हो जायगा, आर्थिक जीवनमें सादगी आ चुकी होगी और घरेलू धन्धे प्रमुख रीतिसे आर्थिक जीवनका आधार होंगे।

सामाजिक जीवनमें वर्गहीन समाजकी संशोधित वर्ण-व्यवस्थासे अहिंसक राज्यकी एक भिन्नता यह होगी कि अपनी प्राथमिक आवश्यकताओंके लिए पर्याप्त शारीरिक श्रम करनेके अलावा मनुष्य अतिरिक्त शारीरिक और बौद्धिक श्रमके द्वारा अधिक कमा सकेंगे। अहिंसक राज्यमें शरीर-श्रमके नियमका आंशिक पालन कठिन न होगा, क्योंकि मनुष्य सादगीके जीवनको अपना चुके होंगे। वे अहिंसक प्रतिरोध-पद्धतिके प्रयोगमें दक्ष होंगे और इसलिए वर्तमान आवश्यकतासे अधिक सम्पत्ति केवल ट्रस्टी या संरक्षककी तरह ही रखी जा सकेगी। गांधीजीके शब्दोंमें, "स्वाभाविक रीतिसे कुछ व्यक्तियोंमें अधिक कमानेकी योग्यता होगी, कुछमें कम। . . . ऐसे व्यक्ति (जो अधिक कमाते हैं) ट्रस्टीकी तरह रहेंगे। किसी भी दूसरी शर्त पर मैं बुद्धिमानको अधिक न कमाने दूंगा। मैं उनकी बुद्धि पर प्रतिबन्ध न लगाऊंगा, लेकिन (आवश्यकतासे) अधिक कमाईके अधिकांशका उपयोग राज्यके हितके लिए करना होगा।" ट्रस्टीशिपके सिद्धान्तका अर्थ यह है कि मनुष्य संपत्तिका उत्तरदायित्व-विहीन स्वामी नहीं है, बल्कि उसे अपनी संपत्ति ओर शारीरिक तथा मानसिक शक्तिका उपयोग जनहितके लिए करना चाहिए। यह सिद्धान्त इस विश्वास पर आधारित है कि मनुष्य स्वभावसे अच्छा और ऊर्ध्वगामी है। ट्रस्टीशिपका सिद्धान्त शोषणका अन्त करनेके अहिंसक उपायोंमें से एक है। यह सिद्धान्त आवश्यकताके अनुसार न्यायपूर्ण कानून बनाकर शोषण दूर करनेके विरुद्ध नहीं है। गांधीजीका मत था कि राज्यको धनिकों पर भारी कर लगाना चाहिए। ट्रस्टीका उत्तराधिकारी नियुक्त करनेमें ट्रस्टी और राज्य दोनोंका हाथ रहना चाहिए। अधिक कमानेवालोंसे ट्रस्टीका-सा बरताव करानेके लिए गांधीजी केवल समझाने-बुझाने पर ही निर्भर न रहते। वे अहिंसक असहयोगका भी प्रयोग करनेके पक्षमें थे। "कोई भी व्यक्ति सम्बन्धित व्यक्तियोंके स्वेच्छासे दिये गये या बलपूर्वक लिये गये सहयोगके बिना धन संचित नहीं कर सकता।"[1] यहां यह याद रखना चाहिए कि "निरपेक्ष ट्रस्टीशिप यूक्लिडके बिन्दुकी परिभाषाकी तरह कल्पनात्मक है और उसी प्रकार अप्राप्य है। किन्तु यदि हम उसके लिए प्रयत्न करेंगे तो हम संसारमें समताकी स्थिति स्थापित करनेमें किसी दूसरे मार्गकी अपेक्षा अधिक आगे बढ़ सकेंगे।"[2]

१. यं० इं०, २६–११–'३१।
२. एन० के० बोस: स्टडीज़ इन गांधीज़्म, पृ० २०१।

शरीर-श्रम और ट्रस्टीशिपके आदर्शोंके आंशिक पालनके कारण अहिंसक राज्यमें — राज्य-रहित समाजके विपरीत जिसकी विशेषता होगी समान वितरण या अपरिग्रहकी समता — धनका वितरण न्याययुक्त (किन्तु असम) होगा। दूसरे शब्दोंमें, व्यक्तियोंकी धन कमानेकी योग्यतामें भेद होनेके कारण उनकी आर्थिक अवस्थामें भी असमता होगी। किन्तु यह असमता उचित सीमाके अन्दर रहेगी। क्योंकि यद्यपि मनुष्य अपनी योग्यताके अनुसार कमाते रहेंगे, पर आवश्यकतासे अधिक सम्पत्तिका उपयोग समाजके हितके लिए होगा।

उत्पादनके क्षेत्रमें अहिंसक राज्य और राज्य-रहित समाजमें यह अन्तर होगा कि अहिंसक राज्यमें आवश्यक केन्द्रित उत्पादन और भारी यातायातके साधन चालू रहेंगे। यद्यपि अहिंसाका विकास केवल घरेलू उद्योगों और स्वावलम्बी गांवोंके आधार पर हो सकता है, गांधीजी प्रमुख ध्यान मनुष्य पर देते हैं।[1] वे विकासकी गतिको जबरदस्ती तेज करनेमें विश्वास नहीं करते। केन्द्रित उत्पादन और यातायातके भारी साधन उपयुक्त जीवनके सहायक नहीं हैं, परन्तु उसमें रुकावटें डालते हैं। किन्तु गांधीजी इस बातको जानते थे कि लोगोंको यातायातके आधुनिक साधनोंका और सार्वजनिक उपयोगिताके ऐसे कार्योंके लिए, जो मनुष्यके श्रम द्वारा नहीं हो सकते, भारी मशीनोंका त्याग करनेमें कठिनता मालूम होती है। इसलिए यदि मनुष्य "उद्योगीकरणसे बचना सीख सकें", तो गांधीजीको भाप और बिजलीके प्रयोगमें कोई आपत्ति न होगी।[2] 'उद्योगीकरण' से गांधीजीका अर्थ है केन्द्रित उत्पादन और मुनाफेकी भावना। इस प्रकार यद्यपि गांधीजी अल्पतम केन्द्रित उत्पादनकी छूट देते हैं, किन्तु वे उसकी मुनाफेकी भावनाको अनुचित समझते हैं। साथ ही, अनिवार्य केन्द्रीय उत्पादनका नियोजन इस प्रकार होना चाहिये कि वह गांवों तथा उनके उद्योग-धंधोंको बरबाद न करे, वरन् उनके लिए सहायक हो।[3]

अहिंसक राज्यमें आवश्यक केन्द्रीय उत्पादनके साधनोंके व्यक्तिगत स्वामित्व रहनेमें गांधीजीको कोई आपत्ति नहीं, बशर्ते कि पूंजीपति मजदूरोंको अपने कारखानेके हिस्सेदार बना लें और मजदूर तथा पूंजीपति दोनों एक-दूसरेके ट्रस्टियोंकी तरह और उपभोक्ताओंके ट्रस्टियोंकी तरह व्यवहार करें।[4] ऐसा न हो सकनेकी स्थितिमें वे उत्पादनके साधनों पर राज्यके स्वामित्वके मानते हैं। सन् १९३४में उन्होंने कहा था कि राज्यके इन कारखानोंको,

---

१. ह० से०, भाग-२, पृ० १०२१।
२. ह० से०, भाग-२, पृ० ११८०।
३. ह०, ८-१-'४०, पृ० ४०८।
४. ह० से०, भाग-१, पृ० ३३६।

जिनका राष्ट्रीयकरण हो गया है, "अधिकतम आकर्षक और आदर्श दशामें, मुनाफेके लिए नहीं परन्तु मनुष्यताके हितके लिए, काम करना चाहिए। . . . उद्देश्य होना चाहिए व्यक्तिके श्रमको कम करना; और प्रेरक हेतु लोभ नहीं किन्तु मानवतावादी विचार होना चाहिए।"[१] राज्यके कारखानोंके प्रबन्धमें मजदूरोंको अपने चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा भाग लेनेका अधिकार होना चाहिए और सरकार तथा मजदूरोंके प्रतिनिधियोंका प्रबन्धमें बराबर भाग होना चाहिए। किन्तु गांधीजी यथासम्भव केन्द्रित उत्पादनसे और बड़ी मशीनोंके प्रयोगसे बचना चाहते हैं, क्योंकि इनसे लाभकी अपेक्षा खतरा कहीं अधिक है।[२] यह भी याद रखना चाहिए कि बड़े पैमाने पर वे खाने और कपड़े जैसी प्राथमिक आवश्यकताओंकी वस्तुओंके उत्पादनके भी विरुद्ध हैं। इनके उत्पादनके साधनोंको जन-साधारणके नियन्त्रणमें होना चाहिये और उन साधनोंको उसी प्रकार सुप्राप्य होना चाहिए जिस प्रकार पानी और हवा सुप्राप्य होते हैं या उन्हें होना चाहिए।[३] इस प्रकारके उत्पादनमें भी जहां तक गांव स्वावलम्बी होनेका उद्देश्य अपने सामने रखते हैं और वस्तुओंका उपभोगके लिए उत्पादन करते हैं, न कि व्यापारके लिए, वहां तक गांधीजीको उन गांवों द्वारा ऐसी आधुनिक मशीनों और औजारोंके उपयोगमें कोई आपत्ति नहीं है जिनको वे बना सकते हैं और जिनका उपयोग करनेके लिए वे काफी सम्पन्न हैं। केवल इन उपकरणोंका उपयोग दूसरोंके शोषणके साधनकी तरह नहीं होना चाहिए।[४] इस प्रकार वे विकेन्द्रित ग्रामोद्योगोंके

---

१. यं० इं०, भाग–२, पृ० ११३०।

२. गांधीजीने सन् १९३६ में लिखा था, "(भाप, बिजली इत्यादिकी) शक्तिसे चलनेवाली मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन, जब उस पर राज्यका भी स्वामित्व होता है, किसी प्रकार लाभप्रद न होगा।" (ह०, १६–५–३६, पृ० १११) पश्चिमके बहुतसे विचारक बड़ी मशीनोंके खतरोंके सम्बन्धमें गांधीजीसे सहमत हैं। बड़ी मशीनोंके पक्ष और विपक्षके तर्कोंके अध्ययनके बाद स्टुअर्ट चेज़ इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मशीनोंसे संसारको सुखकी अपेक्षा दुःख अधिक मिलता है। देखिए चेज-कृत 'मैन ऐंड मशीन्स', अ० १८ और १९। 'टेक्नीक्स ऐंड सिविलीज़ेशन' नामकी पुस्तकमें लुई मम्फर्डका मत है कि सामाजिक जीवनकी प्रौढ़ताका फल होगा मशीनोंकी बेकारी और पुरानी मशीनोंका स्थान लेंगी अपेक्षाकृत छोटी और तेज मशीनें—जो खानों, युद्धक्षेत्र और मिलोंके प्रयोजनके अनुरूप नहीं, बल्कि जीवनके विधायक वातावरणके प्रयोजनके अनुरूप होंगी।

३. यं० इं०, भाग–३, पृ० ९२४।

४. ह०, २९–८–'३६, पृ० २२६।

उपयुक्त आधुनिक यन्त्र-सम्बन्धी सुविधाओंके विरुद्ध नहीं हैं। उदाहरणके लिए, यदि गांवमें बिजली उपलब्ध हो और ग्राम-निवासी उसकी सहायतासे अपने औजार चलावें तो कोई हानि नहीं। "किन्तु उस अवस्थामें ग्रामका या राज्यका बिजली-घरों पर उसी प्रकार स्वामित्व होगा जिस प्रकार चरागाहों पर होता है।"[1] इस प्रकार मशीनोंसे हमारे अज्ञानकी वृद्धि नहीं होनी चाहिए। वे ऐसी होनी चाहिए जिनको गांवके लोग समझ सकें और निजी अथवा सहकारी रूपमें उनका निर्माण कर सकें तथा उन पर स्वामित्व रख सकें। इस प्रकारकी मशीनें मनुष्यको अपना गुलाम नहीं बनायेंगी, वरन् उसके लिए सहायक होंगी। वे न तो आर्थिक शक्तिके केन्द्रीकरणकी ओर ले जायेंगी और न उनसे जनताका शोषण होगा अथवा जनतामें बेरोजगारी फैलेगी।

जमींदारी-प्रथाके बारेमें गांधीजी केवल उसी अवस्थामें कानून द्वारा जमींदारी छीननेके पक्षमें थे, जब जमींदार किसानोंके ट्रस्टीकी तरह व्यवहार करनेमें तथा अपने और किसानोंके बीचकी असमता दूर करनेमें असफल हों। गांधीजीका यह भी विश्वास था कि "किसी भी मनुष्यके पास उससे अधिक जमीन नहीं होनी चाहिए, जितनी उसके सम्मानपूर्ण जीवन-यापनके लिए जरूरी है।"[2] गांधीजी सहकारी कृषिकार्य और सामूहिक पशुपालनके पक्षमें थे।[3]

संक्षेपमें गांधीजी जीवनकी सर्वप्रमुख आवश्यक वस्तुओंके उत्पादनके साधनोंके विकेन्द्रीकरण और उन पर व्यक्तियोंके या स्वेच्छा पर आधारित संगठनोंके जनतान्त्रिक नियंत्रणके पक्षमें थे। अनिवार्य केन्द्रीकृत उत्पादनके सम्बन्धमें गांधीजी राज्यके स्वामित्वकी अपेक्षा निजी स्वामित्वको पसन्द करते हैं, बशर्ते कि व्यक्ति और समुदाय स्वेच्छासे या अहिंसक असहयोगके दबावसे ट्रस्टीका-सा व्यवहार करें। इस वरीयताका कारण यह भय है कि राज्य आवश्यकतासे अधिक हिंसाका प्रयोग करेगा। किन्तु यदि उत्पादनके साधनोंके गैर-सरकारी स्वामी ट्रस्टीकी तरह बर्ताव करनेमें असफल हों, तो गांधीजी आवश्यकतानुसार, संपत्तिकी जब्तीके साथ या उसके बिना ही, राज्यके स्वामित्वके समर्थक थे। अनिवार्य होने पर राज्यको मनुष्योंकी संपत्तिको कम-से-कम हिंसाका प्रयोग करके ले लेना चाहिए।[4]

अहिंसक राज्यके सामाजिक-आर्थिक संगठनसे प्रकट है कि इस क्षेत्रमें जनतामें सामाजिक समता और आर्थिक न्यायकी स्थापनामें राज्यके कार्यकी

---

१. ह०, २२-६-'३५, पृ० १४६।
२. ह०, २०-४-'४०, पृ० ९७।
३. ह०, १५-२-'४२, पृ० ३१।
४. एन० के० बोस: स्टडीज़ इन गांधीज़म, पृ० २०२।

क्या महत्ता होगी। राज्य लघु उद्योग-धन्धोंको प्रोत्साहन देगा। जनहितकी भावनासे वह जंगलों, खनिज-पदार्थों, शक्तिके साधनों और यातायातके साधनों पर नियंत्रण रखेगा। ट्रस्टियों द्वारा संचित धनकी जनहितके खातिर देखभाल रखनेके लिए राज्य ट्रस्टियोंको अदा किये जानेवाले कमीशनकी दर निर्धारित करेगा। मूल ट्रस्टी द्वारा अपने उत्तराधिकारीके सम्बन्धमें की गयी व्यवस्थाको भी राज्य अन्तिम रूप देगा। हो सकता है कि जमींदार और पूंजीपति ट्रस्टीपनके आदर्शको अपनानेमें असफल रहें और जनताका स्वेच्छा पर आधारित प्रयास सफल न हो; ऐसी हालतमें राज्य जमींदारीकी विभिन्न पद्धतियोंका अन्त कर देगा और मजदूरोंके प्रतिनिधियोंके साथ अनिवार्य केन्द्रित उत्पादनको नियंत्रणमें रखेगा और उसका प्रबन्ध करेगा।[१] इस प्रयोजनसे राज्य, यदि आवश्यक हुआ तो, कम-से-कम हिंसाके प्रयोग द्वारा संपत्तिको जब्त करेगा।

यद्यपि गांधीजी राज्यको संपत्तिकी जब्तीके द्वारा भी आर्थिक न्यायकी स्थापनाका कार्य सौंपनेके पक्षमें थे, फिर भी उनको राज्यके कार्यकी उपयोगितामें अविश्वास था और वे ट्रस्टीपनको और ग्राम-समुदाय सरीखी छोटी इकाइयोंके स्वामित्वको वरीयता देते थे। उनका यह भी विचार था कि राज्यकी हिंसाकी अपेक्षा निजी स्वामित्वकी हिंसा कम हानिकारक है।[२] कुछ भी हो, अहिंसक राज्यकी सुदृढ़ स्थापना हो चुकने पर और सामाजिक-आर्थिक संगठनमें आवश्यक परिवर्तन हो चुकने पर, आर्थिक जीवनमें स्व-संचालनकी मात्रा बढ़ती जायगी और क्रमशः राज्य द्वारा नियमनकी आवश्यकता कम होती जायगी।

कर-पद्धति

गांधीजी कर-पद्धतिमें इस प्रकार सुधार कर देनेके पक्षमें थे कि निर्धन मनुष्यका हित राज्यका प्राथमिक उद्देश्य हो जाय। "सभी स्वस्थ करोंको करदाताके पास आवश्यक सेवाओंके रूपमें दस गुना होकर लौटना चाहिए।"[३] जिनमें कर देनेकी कम-से-कम शक्ति है उन पर कर भारी बोझकी तरह नहीं पड़ना चाहिए। गांधीजी भारी मृत्यु-करके और अमीरों पर बिना किसी निश्चित सीमाके करकी अधिकतम सीमा बढ़ा देनेके पक्षमें थे।[४] और न

---

१. ह०, २०–४–'४०, पृ० ९७।

२. ह०, २२–६–'३५, पृ० १४६; एन० के० बोस: स्टडीज़ इन गांधीज़्म, पृ० २०३।

३. ह०, ३१–७–'३७, पृ० १९६।

४. ह०, ३१–७–'३७, पृ० १९७।

लोगोंकी नैतिक, मानसिक और शारीरिक भ्रष्टता पर ही कर लगाना चाहिए। आधुनिक राज्यके प्रतिकूल अहिंसक राज्यकी आयका स्रोत दुर्गुण और अनाचार न होंगे।[1] अहिंसक राज्यमें आजके चलनके प्रतिकूल घुड़-दौड़के जुएको कानूनकी रक्षा प्राप्त न होगी और राज्य इस स्रोतसे होनेवाली आयको त्याग देगा। इसी प्रकार गांधीजी राज्य द्वारा चकलोंको लाइसेंस देकर कर उगाहनेके भी विरुद्ध थे।[1] जुए और चकलोंके प्रति उचित नीति यह है कि राज्य और स्वयंसेवी संगठन जनमतको प्रचार-कार्य द्वारा शिक्षित बनायें, जिससे ये दुर्गुण दूर हो जायं।[2]

मादक वस्तुओंका निषेध

इन्हीं नैतिक सिद्धान्तोंके आधार पर राज्य मादक वस्तुओंके राजस्वको पूर्ण रूपसे समाप्त कर देगा। देशके नैतिक और आर्थिक हितकी रक्षाके उद्देश्यसे मादक-वस्तु-निषेध लगभग २५ वर्ष तक गांधीजीके रचनात्मक कार्यक्रमके मुख्य अंगोंमें से एक था। सन् १९३७ में जब कांग्रेसने प्रांतोंमें शासन-भार संभाला, तो गांधीजीने पूर्ण निषेधकी तीन वर्षकी योजना देशके सामने रखी।[3] लेकिन दूसरी बातोंकी तरह यहां भी गांधीजी राज्यकार्यके साथ-साथ स्वैच्छिक प्रयत्नों पर भी जोर देते थे। कानून द्वारा निषेध, अर्थात् शराब और अन्य मादक वस्तुओंकी दुकानोंको बन्द करना और इस प्रकार प्रलोभनको हटाना, इस नीतिका निषेधात्मक अंग था। इस नीतिका विधायक अंग था राष्ट्रकी एक प्रकारकी प्रौढ़-शिक्षा अर्थात् स्वयंसेवी संगठनों द्वारा मादक वस्तुओंके व्यसनमें फंसे हुए व्यक्तियोंके सुधारके उद्देश्यसे सक्रिय रूपसे प्रचार। प्रचारमें पूर्णरूपसे शान्तिमय, मौन और शिक्षाप्रद धरना और व्यसनमें पड़े हुए लोगोंसे निकट व्यक्तिगत संपर्क भी सम्मिलित हैं।[4]

पहले कांग्रेसी मंत्रि-मंडलोंके समयमें गांधीजीके निषेध-संबंधी सिद्धान्तोंकी कड़ी आलोचना हुई थी। यह कहा गया था कि पूर्ण निषेध अव्यवहार्य है, उससे मादक वस्तुओंकी गैर-कानूनी बिक्री और खरीदको प्रोत्साहन मिलेगा और सरकारकी आयमें बहुत कमी हो जानेके कारण शिक्षामें और दूसरे आवश्यक

---

१. ह०, ४–९–'३७, पृ० २३४।

२. ह०, ४–९–'३७; पृ० २३४-३५।

३. भारतके विभिन्न राज्योंमें कांग्रेसी मंत्रि-मंडलोंने निषेधकी नीतिको स्वीकार किया है। बम्बई और मद्रास राज्योंमें मादक वस्तुओंके पूर्ण निषेधकी नीति कार्यान्वित हो गई है। अन्य राज्योंमें भी पूर्ण निषेधके शीघ्र कार्यान्वित होनेकी आशा है।

४. ह०, ३१–७–'३७, पृ० १९६ और ९–१०–'३७, पृ० २९१।

समाज-सेवाके कार्योंमें वाधा पड़ेगी। गांधीजी मानते थे कि कुछ लोग कानूनके विरुद्ध मादक वस्तुओंकी तैयारीमें लगे रहेंगे, किन्तु इस प्रकार तो चोरियां भी होती ही रहेंगी। और इस कारण वे दोनोंमें से किसीको भी लाइसेंस देकर कानूनी वनानेके विरुद्ध थे। उनके दृष्टिकोणसे प्राथमिक महत्त्व धनका नहीं, मनुष्यका और उसके हितका है। दूषित धनका उपयोग करनेकी अपेक्षा वे इसे अधिक श्रेयस्कर मानते हैं कि शिक्षाव्ययमें कमी कर दी जाय, शिक्षाको स्वावलम्वी वनाया जाय, सव प्रकारकी मितव्ययिता की जाय, सरकारकी आय वढ़ानेके दूसरे साधनोंका उपयोग किया जाय और अल्पकालीन ऋण भी लिये जायं।[1] इसके अतिरिक्त निषेधके नैतिक, मानसिक और शारीरिक लाभोंके महत्त्वको पैसेके रूपमें आंकना असंभव है।

जहां तक करोंका संवंध है, गांधीजी रुपयोंकी अपेक्षा श्रममें कर देनेको अधिक श्रेयस्कर मानते थे। "श्रमके रूपमें कर देना राष्ट्रको शक्ति देता है। जहां मनुष्य स्वेच्छासे समाज-सेवाके लिए श्रम करते हैं, वहां धनका विनिमय अनावश्यक हो जाता है। कर एकत्र करने और हिसाव रखनेका श्रम वच जाता है और परिणाम वरावर ही अच्छे होते हैं।"[2] श्रमके रूपमें कर देनेका यह भी अर्थ होता है कि करका उपयोग उसी स्थानके लिए होता है जहांसे वह एकत्र किया जाता है।

शिक्षाकी व्यवस्था

राज्यका दूसरा महत्त्वपूर्ण कर्तव्य होगा शिक्षा। गांधीजी सामाजिक अभिनवीकरणके साधनके रूपमें शिक्षाको वहुत महत्त्व देते थे और ७ से १४ वर्षके वच्चोंके लिए प्रारंभिक शिक्षाको निःशुल्क और अनिवार्य कर देना चाहते थे। सन् १९३७ में उन्होंने प्रारंभिक शिक्षाकी एक नयी योजना वनाई थी। इस योजनाका स्रोत अहिंसा है; उसका उद्देश्य है वच्चोंको अहिंसक मूल्योंकी शिक्षा देना और वह उस अहिंसक जनतन्त्रवादी संस्कृतिका आवश्यक अंग है, जिसको विकसित करनेका गांधीजी निरंतर प्रयास कर रहे थे। यह 'वेसिक' (वुनियादी) इसलिए है, क्योंकि इसका उद्देश्य रहन-सहन — जीवनकी कला सिखाना है। 'वेसिक' (वुनियादी) शिक्षाके अन्तर्गत वच्चे जो कुछ सीखते हैं वह रहन-सहनके द्वारा सीखते हैं।

नई योजनाकी केन्द्रीय विशेषता है वच्चेकी किसी उपयोगी उत्पादक शिल्प द्वारा शिक्षा और यह शरीर-श्रमके आदर्शका शिक्षामें प्रयोग और सक्रियताके प्रति वच्चेके स्वाभाविक प्रेमकी मान्यता है। शिक्षाका माध्यम

---

१. ह०, २८–८–'३७, पृ० २२९।

२. ह०, २५–३–'३९, पृ० ६५।

मातृभाषा होना चाहिये तथा शिक्षामें दूसरे सभी विषयों और उत्पादक शिल्पका पारस्परिक सम्बन्ध होना चाहिये। गांधीजीके अनुसार साक्षरता शिक्षाका लक्ष्य नहीं वरन् साधन है। बच्चेके शारीरिक अंगोंका बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग उसकी बुद्धिके सर्वोत्तम और शीघ्रतम विकासका साधन है। परन्तु यदि आत्माकी जाग्रतिके साथ साथ मस्तिष्क और शरीरका विकास नहीं होता, तो यह एकांगी रहेगा। किसी उपयोगी शिल्पके प्रशिक्षणसे, जब वह शिक्षाका केन्द्र बन जाता है, कार्य, शिक्षा तथा रहन-सहनमें सप्रयोजन सम्बन्धकी स्थापना होती है और शरीर, मस्तिष्क तथा आत्माका एकसाथ विकास होता है।

उत्पादक शिल्पकी शिक्षा यन्त्रवत् न होकर इस प्रकार दी जायगी कि विद्यार्थी प्रत्येक प्रक्रियाका प्रयोजन जाने। स्कूलोंमें उत्पादित वस्तुएं बाजारमें बिकने योग्य होनी चाहिए। इस प्रकार शिक्षक और छात्र दोनों ही क्रमशः शिक्षण और शिक्षाके साथ साथ उत्पादन भी करेंगे।[1]

पाठ्यक्रममें इस बात पर विशेष ध्यान रखा गया है कि विद्यार्थी संकीर्ण, निराकरणशील राष्ट्रीयताकी भावनाओंसे बचें और संयुक्त विश्वके आदर्शको अपनायें। पाठ्यक्रममें भारतीय इतिहास और भूगोलकी मनुष्यके सामाजिक और सांस्कृतिक विकास तथा विशेप रूपसे संसारके आर्थिक भूगोलकी पृष्ठ-भूमिमें शिक्षा देनेकी व्यवस्था है। इसी प्रकार पाठ्यक्रममें मूलभूत सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तोंकी शिक्षाकी भी व्यवस्था है।

इस प्रकार स्कूल लगभग स्वावलम्बी होंगे और बच्चोंके उत्पादक श्रमसे उनकी शिक्षाका व्यय पूरा हो जायगा, परन्तु राज्यके शिक्षाके संबंधमें कुछ महत्त्वपूर्ण कर्तव्य होंगे। वह संरक्षकोंको अपने बच्चोंको स्कूल भेजनेके लिए विवश करेगा। स्कूलोंकी देखभाल और उनका पथ-प्रदर्शन राज्यका उत्तरदायित्व होगा। वह स्कूलमें बनी वस्तुओंकी बिक्रीका प्रबन्ध भी करेगा। बच्चों द्वारा बनी हुई वस्तुओंकी आय भूमि, स्कूल-भवनों और शिक्षा-साधनोंके लिए पर्याप्त न होगी, इसलिए इनका खर्चा राज्यको या स्थानीय संस्थाओंको उठाना होगा। शिक्षाका खर्चा और भी कम हो सकता है, यदि सरकार प्रत्येक नवयुवकके लिए नौकरीके पहिले एक सालकी शिक्षा-सेवा अनिवार्य कर दे और उसको देशकी आर्थिक स्थितिके अनुरूप भरण-पोषणके लिए आवश्यक वेतन दे।[2]

---

१. ह०, ८–५–'३७, पृ० १०४; ११–९–'३७, पृ० २४६ तथा २५६; ९–१०–'३७, पृ० २९१-९२; ३१–७–'३७, पृ० १९७।

२. ह०, ३१–७–'३७, पृ० १९८ और ३०–१०–'३७, पृ० ३२४।

गांधीजीके अनुसार स्वावलम्वन वुनियादी शिक्षाकी मुख्य कसौटी है। "इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रारम्भसे ही वुनियादी शिक्षा स्वावलम्वी होगी। किन्तु वुनियादी शिक्षाके सात वर्षोंका औसत लेकर आय और व्यय वरावर होना चाहिए। अन्यथा इसका अर्थ यह होगा कि वुनियादी शिक्षा पाया हुआ छात्र अपने प्रशिक्षणकी समाप्ति पर भी अपनेको व्यावहारिक जीवनके अनुकूल नहीं वना सकेगा। यह वुनियादी शिक्षाका निषेधात्मक पक्ष है। इसलिए स्वावलम्वनके आधारसे रहित 'नयी तालीम' निर्जीव शरीरके समान होगी।"[1] गांधीजीने १९४५ में कहा था, "मेरी 'नयी तालीम' धन पर अवलम्वित नहीं है। इस शिक्षाका दैनिक व्यय स्वयं शैक्षणिक कार्योंसे निकलना चाहिए। इसकी चाहे जो भी आलोचना हो, परन्तु मैं जानता हूं कि स्वावलम्वी शिक्षा ही एकमात्र सच्ची शिक्षा है।"[2] कुछ वेसिक स्कूलोंमें इस योजनाके स्वावलम्वन-सम्वन्धी पक्ष पर अधिक वल दिया जा रहा है।[3]

गांधीजीकी योजनाके स्वावलम्वन-संवंधी सिद्धांतकी कड़ी आलोचना की गई है। लेकिन आर्थिक वचतके साथ-साथ शिक्षाकी उत्तमता भी इस योजनाकी विशेषता है। अगर कुछ स्कूल स्वावलम्वी न भी हो सकें, हो सकता है कि शुरूमें वहुतसे स्कूल स्वावलम्वी न हो सकें, तो भी उन्हें मितव्ययिताका ध्यान रहेगा। इससे भारत जैसे निर्धन देशको सहारा मिलेगा और यहां शिक्षाको देशव्यापी वनानेका एकमात्र यही व्यावहारिक मार्ग है।

इससे अधिक गंभीर आपत्ति यह है कि जव यह योजना देशभरमें चल जायगी, तो आर्थिक जीवनका कुछ परिमाणमें राष्ट्रीयकरण करना होगा, क्योंकि राज्य पर चौदह साल तकके विद्यार्थियोंकी वनाई हुई चीजोंको वेचनेका उत्तरदायित्व रहेगा। लेकिन यह कार्य विकेन्द्रित किया जा सकता है और स्थानीय संस्थाओंको सौंपा जा सकता है। यह भी याद रखना चाहिए कि यह राष्ट्रीयकरण घरेलू धन्धोंसे सम्वन्धित होगा, न कि केन्द्रित उत्पादनसे। गांधीजीके अनुसार सात सालकी वुनियादी शिक्षा लड़के-लड़कियोंको जीविका कमाने योग्य वना देगी, साथ ही स्कूलके दैनिक जीवनमें भाग लेते रहनेसे छात्रोंको अहिंसक जनतान्त्रिक समाजके उपयुक्त नागरिकताका प्रशिक्षण भी मिलेगा।

---

१. ह०, २५–८–'४६, पृ० २८३।

२. ह०, २५–८–'४६ पृ० २८३।

३. १९४५–४६ में सेवाग्रामके वुनियादी स्कूलके अध्यापकोंका वेतन वच्चों द्वारा किये जानेवाले कताई, वुनाई और वागवानीके कार्योंसे होनेवाली आयसे निकलता था। ह०, २–३–'४७, पृ० ४८।

नयी शिक्षा-योजनाका कारीगरोंके हितके साथ संघर्ष न होगा। नयी शिक्षा उनके बच्चोंको निकम्मे न बनाकर उनको अपने परिवारकी अल्प आयमें वृद्धि करनेकी क्षमता देगी। इससे शरीर-श्रमको मान्यता मिलेगी और कारीगरोंकी हैसियतमें सुधार होगा। नयी शिक्षा द्वारा सिद्धांत और व्यवहारका, ग्रंथों और साहित्यका तथा कारीगरों और विद्यार्थियोंका अन्तर घटेगा।

राजनैतिक दृष्टिकोणसे नयी शिक्षा द्वारा सामाजिक संबंधोंमें क्रान्तिकारी परिवर्तन होंगे। गांधीजीके अनुसार "वह (नई शिक्षा) शहर और गांवके सम्बन्धका स्वस्थ और नैतिक आधार बनेगी और इस प्रकार आजकी सामाजिक असुरक्षाके तथा विषैले वर्ग-सम्बन्धोंके बुरे-से-बुरे दोषोंको बहुत कुछ निर्मूल कर देगी। वह हमारे गांवोंके बढ़ते हुए ह्रासको रोकेगी और ऐसी न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्थाकी नींव डालेगी, जिसमें अमीरों और गरीबोंका अस्वाभाविक भेद न होगा और प्रत्येकको भरण-पोषणके लिए पर्याप्त आय और स्वतंत्रताके अधिकारकी निश्चितता होगी; और यह सब हो जायगा रक्तरंजित वर्गयुद्धकी भयावह घटनाओंके बिना या भारत जैसे बड़े प्रायद्वीपके यंत्रीकरणमें बड़े पैमाने पर होनेवाले धन-व्ययके बिना। न उसमें विदेशोंसे आये हुए यंत्रों पर और यंत्रशास्त्रियोंकी दक्षता पर बेबसीसे निर्भर रहना पड़ेगा। अन्तमें, बड़े विशेषज्ञोंकी दक्षताकी आवश्यकताको घटाकर वह (शिक्षा) जनताको ही अपना भाग्य-निर्णायक बना देगी।"[1] संक्षेपमें, नई योजना शोषण और सामाजिक या वर्ग-सम्बन्धी द्वेषोंसे मुक्त, स्वावलम्बी, अहिंसक, जनतन्त्रवादी समाज-व्यवस्थाकी ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम है।[2]

सन् १९४८में गांधीजीने सुझाव दिया था कि बुनियादी शिक्षाका क्षेत्र विस्तृत कर दिया जाय और वह सही अर्थोंमें जीवनकी शिक्षा बने। इस प्रकार उसमें पूर्व-बेसिक, उत्तर-बेसिक और प्रौढ़शिक्षा शामिल होनी चाहिए। उसका विस्तार बच्चेके जन्मकालसे लेकर मृत्युपर्यंत होना चाहिए। अब हिन्दुस्तानी तालीमी संघका — जिसका कार्य प्राथमिक (प्रायमरी) शिक्षा तक

१. ह०, ९-१०-'३७, पृ० २९२।

२. भारतमें केन्द्रीय और राज्य-सरकारोंने बुनियादी शिक्षा-योजनाको स्वीकार कर लिया है और उसे भारतके राज्योंमें लागू किया जा रहा है। परन्तु जिस रूपमें यह योजना राज्योंमें लागू की जा रही है उसमें दस्तकारी पर जोर तो दिया जाता है, पर वह दस्तकारी पर आधारित नहीं है। [illegible] उसमें किसी बुनियादी उत्पादक दस्तकारीको शिक्षाका माध्यम नहीं बनाया जाता। उसमें स्वावलम्बनके सिद्धान्तकी भी उपेक्षा की गयी है।

[illegible]

सीमित था — उद्देश्य है सम्पूर्ण जीवनके लिए शरीर-श्रम और दस्तकारी पर आधारित शिक्षा-योजना तैयार करना। गांधीजीका मत था कि सभी स्तरों पर शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए। अर्थात् अंतमें वह पूंजीके अतिरिक्त अपना व्यय स्वयं वहन करे और पूंजी सुरक्षित रहे। सभी स्तरों पर शिक्षाका माध्यम प्रांतीय भाषा होनी चाहिए, जिससे शिक्षा विद्यार्थीके कुटुम्बको भी प्रभावित कर सके।

गांधीजी वर्तमान विश्वविद्यालयोंकी शिक्षाको देशकी वास्तविक आवश्यकताओंके अनुपयुक्त समझते हैं। भारी पैमाने पर आर्ट्स (कला-सम्बन्धी विषयों)की तथाकथित शिक्षा पूर्ण रूपसे बरबादी है। इससे छात्रका मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है तथा यह बेरोजगारीकी ओर ले जाती है। यह लोगोंको स्वाधीनताके योग्य नहीं वरन् उन्हें गुलाम बनाती है। इसका पुनर्गठन होना चाहिए और इसे बुनियादी शिक्षाके ढंग पर चलाया जाना चाहिए। विश्वविद्यालयकी शिक्षाका उद्देश्य जनताके सच्चे सेवक उत्पन्न करना होना चाहिए, जो देशकी स्वतन्त्रताके लिए जियें और मरें।

गांधीजीके अनुसार यदि राज्य अपने लिए उच्च शिक्षाको निश्चित रूपसे उपयोगी समझे, तो उसका व्यय-भार राज्यको वहन करना चाहिए। राज्य केवल उन्हीं लोगोंको शिक्षित करे, जिनकी सेवाओंकी उसे आवश्यकता हो। शेष उच्च शिक्षाका भार निजी संस्थाओं पर छोड़ देना चाहिए।

इंजीनियरिंग, व्यावसायिक और व्यापारिक विद्यालयोंका भार व्यापारियों और औद्योगिक संस्थाओंको उठाना चाहिए। कृषि, विज्ञान, चिकित्सा और साहित्य तथा सामाजिक विज्ञानोंके विद्यालयोंको या तो स्वावलंबी होना चाहिए, या स्वैच्छिक दान पर आधारित होना चाहिए। राज्यके विश्वविद्यालय केवल परीक्षाओंका प्रबंध करेंगे और परीक्षाओंकी फीस द्वारा स्वावलम्बी रहेंगे।[1]

इस प्रकार राज्यके कार्योंके बारेमें गांधीजी 'कम-से-कम शासन' के और कम-से-कम बल-प्रयोगके पक्षमें थे; परन्तु वे कोरे सिद्धांतवादी नहीं थे। कुछ विशेष परिस्थितियोंमें वे संपत्तिके राज्य द्वारा जब्त करनेके समर्थक थे और देशव्यापी शिक्षाके लिए अनिवार्य शिक्षासेवा, अनिवार्य शिक्षा, अनिवार्य मादक-वस्तु-निषेध और आवश्यक केन्द्रित उत्पादनके राष्ट्रीयकरणको उचित मानते थे। यह बल-प्रयोग इस बातका चिह्न है कि समाज द्वारा विकसित अहिंसा तात्कालिक व्यवस्थाके लिए अपर्याप्त है। गांधीजी राज्य द्वारा प्रयोग

---

१. ह०, ३१–७–'३७, पृ० १९७-९८; ३०–१०–'३७, पृ० ३२१; ९–७–'३८, पृ० १७६; २–११–'४७, पृ० ३९२-९३; और २५–८–'४६, पृ० २८२–८३।

की जानेवाली अतिशय हिंसा या बल-प्रयोगके विरुद्ध संरक्षणकी पर्याप्त व्यवस्था करते हैं। यह संरक्षण है विकेन्द्रीकरण, स्वेच्छा पर आधारित समुदायोंका महत्त्व, राज्यका जनतन्त्रवादी संगठन और अहिंसक प्रतिरोधकी दृढ़ परम्परा।

गांधीजीके 'कम-से-कम शासन' का अर्थ वह नहीं है जो कि पश्चिममें प्रायः किया जाता है, अर्थात् पुलिस द्वारा निषेधात्मक कार्य। अहिंसक राज्य पश्चिमके व्यक्तिवादी विचारकोंका 'पुलिस-राज्य' नहीं है। अहिंसक राज्यमें पुलिस और फौजका कम-से-कम महत्त्व होगा। इसके अतिरिक्त जनहितके लिए गांधीजी राज्य द्वारा कुछ ऐसे कार्य करनेके पक्षमें थे, जो समाजवादी और साम्यवादी सिद्धांतोंके अनुसार युक्तिसंगत हैं। ये ऐसे कार्य हैं जिनमें स्वैच्छिक कार्योंकी अपेक्षा राज्यके कार्य जनहितके अधिक अच्छे साधन हैं। लेकिन गांधीजीके विचार न तो पश्चिमके व्यक्तिवादियोंसे मिलते हैं, न समाजवादियों और साम्यवादियोंसे; क्योंकि इनके विपरीत गांधीजी अहिंसक साधनोंमें, घरेलू धन्धों पर आधारित संस्कृतिमें, जीवनकी सादगीमें और विकेन्द्रीकरणमें विश्वास करते थे।

अहिंसक राज्य उस परिमाणमें विकेन्द्रीकरणकी उपलब्धि नहीं कर सकता, जिस परिमाणमें राज्य-रहित समाज कर सकता है। दोनोंके इस अन्तरका कारण यह है कि अहिंसक राज्यके लोगोंमें अहिंसा, अपरिग्रह और शरीर-श्रमके केवल आंशिक विकासकी क्षमता होगी। आवश्यकतासे अधिक संपत्ति पर अधिकार रखना और बड़े पैमाने पर न्यूनतम उत्पादन करना जारी रहेगा; यद्यपि पहली बातका सम्बन्ध संरक्षण (ट्रस्टीशिपसे) रहेगा, जब कि बड़े पैमाने पर न्यूनतम उत्पादनकी व्यवस्था जनतान्त्रिक प्रणालीसे होगी और वह ग्रामीण विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्थाका सहायक होगा। परन्तु अहिंसक राज्यमें छोटे समूहों, स्वयंसेवी संगठनों और नैतिक नियन्त्रण पर जोर दिया जायगा, यद्यपि राज्य न्यूनतम बल-प्रयोग द्वारा अपने सीमित कार्य जारी रखेगा।

कर्तव्य और अधिकार

सत्ताके दुरुपयोगसे रक्षाका एक महत्त्वपूर्ण साधन है नागरिकताके अधिकार। लेकिन गांधीजी अधिकारोंकी अपेक्षा कर्तव्योंको बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। अधिकार आत्मानुभूतिका अवसर प्रदान करते हैं। यह आत्मानुभूति है दूसरोंकी सेवा करके और उनके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करके उनके साथ अपनी आध्यात्मिक एकताका अनुभव करना। इस तरह प्रत्येक अधिकार अपने कर्तव्यका पालन करनेका अधिकार है। गांधीजीके शब्दोंमें, "... अपने कर्तव्यका पालन करनेका अधिकार एकमात्र ऐसा मूल्यवान अधिकार है,

जिसके लिए मनुष्य जी सकता है और मर सकता है। उसमें सभी उचित अधिकारोंका समावेश हो जाता है।"[१] इसके अतिरिक्त यदि कोई अधिकार मांगा जाता है या मान लिया जाता है और अधिकार मांगनेवालेमें संबंधित कर्तव्यके पालनकी क्षमता नहीं होती, तो अधिकारका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और अधिकारकी रक्षा नहीं हो सकती। गांधीजी अपने अनुभवका वर्णन इन शब्दोंमें करते हैं, "युवकके नाते मैंने अधिकार जतानेका प्रयत्न करके जीवनका प्रारम्भ किया और मुझे शीघ्र ही यह पता चला कि मेरा कोई भी अधिकार नहीं था —— अपनी स्त्री पर भी नहीं। इसलिए मैंने अपनी स्त्री, अपने बच्चों, मित्रों, साथियों और समाजके प्रति अपने कर्तव्यको जानना और उसका पालन करना शुरू कर दिया; और आज मुझे यह प्रतीत होता है कि शायद किसी भी जीवित मनुष्यकी अपेक्षा, जिसे मैं जानता हूं, मेरे अधिकार अधिक हैं। यदि यह दावा बहुत बड़ा है तो मैं कहता हूं कि मैं ऐसे किसी भी व्यक्तिको नहीं जानता, जिसको मुझसे अधिक अधिकार प्राप्त हों।"[२] उनके अनुसार बहुतसे जनतन्त्रवादी राज्योंमें मताधिकार जनताके लिए एक भार हो गया है, क्योंकि वह अधिकार योग्यता प्राप्त करके नहीं, परन्तु बल-प्रयोग या उसकी धमकीके द्वारा प्राप्त किया गया है।[३]

यदि कोई व्यक्ति किसी कर्तव्यके पालनकी क्षमता प्राप्त कर ले, तो उससे संलग्न अधिकार उसे अनिवार्य रूपसे प्राप्त हो जायगा। सबसे बड़ा कर्तव्य है आत्मानुभूति, अर्थात् अहिंसक मूल्योंका विकास या वैयक्तिक स्वराज्यकी प्राप्ति। इस प्रकार गांधीजीके अनुसार, "हम केवल स्वयं कष्ट उठाकर ही स्वतन्त्र हो सकते हैं;"[४] "कोई भी कर्तव्य ऐसा नहीं जो अनुरूप अधिकारोंको जन्म न देता हो, और वे ही सच्चे अधिकार हैं जिनका सृजन कर्तव्यके उचित पालनसे होता है। इसलिए सच्ची नागरिकताके अधिकार केवल उन्हींको मिलते हैं, जो अपने राज्यकी सेवा करते हैं। और वे ही प्राप्त अधिकारोंका समुचित प्रयोग भी कर सकते हैं। . . . जो सत्य और अहिंसाका पालन करता है, उसीको प्रतिष्ठा मिलती है और प्रतिष्ठासे अधिकार प्राप्त होते हैं। और जिन व्यक्तियोंको कर्तव्य-पालनके फलस्वरूप अधिकार प्राप्त होते हैं, वे उनका उपयोग अपने लिए न करके समाजकी सेवाके लिए करते हैं। जनताके स्वराज्यका अर्थ है व्यक्तियोंका पूर्ण

---

१. ह०, २७–५–'३९, पृ० १४३।

२. एच० जी० वेलसके मनुष्यके अधिकार-संबंधी तारका गांधीजी द्वारा दिया गया जवाब। ह०, १३–१०–'४०, पृ० ३२०।

३. हिन्द स्वराज (अं०), पृ० ६१।

४. हिन्द स्वराज (अं०), पृ० ९४।

स्वराज्य। और व्यक्तियों द्वारा नागरिकके रूपमें अपने कर्तव्योंका पालन करनेसे ही इस प्रकारका 'स्वराज्य' आता है। इसमें कोई भी अपने अधिकारोंके बारेमें नहीं सोचता। कर्तव्योंका अधिक अच्छी तरह पालन करनेके लिए जब अधिकारोंकी जरूरत होती है तब वे आ जाते हैं।"[1] काठियावाड़ राजनैतिक कान्फरेन्स (१९२५) के सभापतिकी हैसियतसे अपने भाषणमें गांधीजीने कहा था, "अधिकारका सच्चा स्रोत है कर्तव्य। . . . यदि हम सब अपने कर्तव्योंका पालन करें, तो अधिकारोंको खोजनेकी जरूरत न पड़ेगी। यदि कर्तव्योंकी उपेक्षा करके हम अधिकारोंके पीछे पड़ेंगे, तो हमारी खोज मृगतृष्णाकी तरह व्यर्थ होगी। जितना अधिक हम अधिकारोंका पीछा करेंगे उतने ही अधिक वे हमसे दूर होंगे। इस शिक्षाको श्रीकृष्णने इन अमर शब्दोंमें प्रकट किया है: 'कर्म ही तेरा अधिकार है। फलको तू अलग ही रहने दे।' कर्म कर्तव्य है; फल अधिकार है।"[2]

प्रकट है कि गांधीजी, कुछ पश्चिमके राजनैतिक विचारकोंके प्रतिकूल, अधिकार शब्दका प्रयोग केवल राज्यके संदर्भमें ही नहीं करते; उसका उपयोग वे अधिक व्यापक अर्थमें, सामाजिक जीवनके प्रत्येक क्षेत्रके संदर्भमें करते हैं। कम-से-कम एक बार तो उन्होंने इस शब्दका प्रयोग शरीर-शक्तिके अर्थमें भी किया था। उन्होंने लिखा था, "प्रत्येकको झूठ बोलनेका और गुंडोंकी तरह व्यवहार करनेका अधिकार है। किन्तु इस प्रकारके अधिकारका प्रयोग समाज और प्रयोग करनेवाले व्यक्ति दोनोंके लिए हानिकर है।"[3] किन्तु साधारण रीतिसे इस शब्दका प्रयोग वे व्यक्तिकी आत्मानुभूतिके लिए आवश्यक कार्यकी स्वतन्त्रताके अर्थमें करते हैं।

किन्तु उनके अनुसार अधिकारोंका सृजन राज्य या किसी दूसरे समुदाय द्वारा नहीं होता। जैसे-जैसे व्यक्ति सत्य और अहिंसाकी साधना द्वारा अधिकारोंके लिए योग्यताका विकास करता है, वैसे-वैसे उसको अधिकार मिलते जाते हैं। राज्य और सरकार केवल अधिकारोंको मान लेते हैं। गांधीजीका मत है कि राज्य जितना अधिक अहिंसक होगा उतने ही अधिक व्यक्तिके अधिकार होंगे। उनके शब्दोंमें, "असत्यपूर्ण और हिंसक साधनोंका स्वाभाविक परिणाम है विरोधको विरोधियोंके विनाश द्वारा हटाना। इससे वैयक्तिक स्वतन्त्रताकी वृद्धि नहीं होती। केवल शुद्ध अहिंसक व्यवस्थामें ही वैयक्तिक स्वतन्त्रता पूर्णरूपसे विकसित हो सकती है।"[4] इसका अर्थ यह है

---

१. ह०, २५-३-'३९, पृ० ६४।

२. यं० इं०, भाग-२, पृ० ४७९।

३. ह०, २५-३-'३९, पृ० ६४।

४. ह०, २७-५-'३९, पृ० १४३।

कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके अधिकारोंमें उनकी नैतिक क्षमताके अर्थात् उनके द्वारा प्राप्त की गयी अहिंसाके स्तरके अनुसार अन्तर होता है।[1] प्रत्येक अधिकारके अनुरूप एक कर्तव्य तो होता ही है, जिसका पालन करनेसे अधिकार मिलता है। यदि अधिकार पर आक्रमण हो तो उसके बचावका उचित साधन भी है। यह साधन है अहिंसक असहयोग।[2]

गांधीजीके अधिकार-सम्बन्धी सिद्धान्तकी विशेषता यह है कि वह व्यक्तिकी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों पर नहीं, परन्तु समाज-सेवा पर जोर देता है। जैसा कि वे लिखते हैं, "जो व्यक्ति कर्तव्य-पालनके फलस्वरूप अधिकार प्राप्त करते हैं, वे उनका प्रयोग केवल समाजकी सेवाके लिए करते हैं, अपने लिए कभी नहीं करते।"[3] उनका सिद्धान्त स्वावलम्बन पर भी जोर देता है और इस बातकी शिक्षा देता है कि नागरिकोंको परिस्थितियोंको अनुकूल बनाना चाहिये और अधिकार प्राप्त न होनेका दोष दूसरों पर नहीं, किन्तु स्वयं अपने पर रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि नागरिक कर्तव्य-पालनका महत्त्व जान लें, तो सम्भवतः वे अपने अधिकारोंका दुरुपयोग और दूसरोंका शोषण न करेंगे।

अहिंसक राष्ट्रीयता

यद्यपि अहिंसक राज्य स्वतन्त्र होगा और उसकी राजनैतिक हैसियत दूसरे राज्योंके साथ समताकी होगी, लेकिन विकेन्द्रीकरण पर आधारित सत्याग्रही राष्ट्रीयता निराकरणशील, आक्रमणकारी या विनाशक नहीं हो सकती। इसके प्रतिकूल वह विधायक और मानवतावादी होगी।[4] उसके विधायक होनेका एक कारण यह है कि अभिव्यक्तिकी परिपूर्णताकी ओर अग्रसर होनेके उसके साधन अहिंसक होंगे। इसके अतिरिक्त, अहिंसक जनतंत्रवादी राष्ट्रीयताके आदर्शके अनुसार प्रत्येक देशको दूसरे देशोंका

---

१. "वे अधिकार, जिनकी भिन्न-भिन्न व्यक्ति उचित रीतिसे मांग कर सकते हैं, उनकी अलग-अलग नैतिक प्रवृत्तियों और क्षमताके अनुसार भिन्न-भिन्न होंगे। इस प्रकार उस मनुष्यको, जिसने अपने प्रयत्नोंसे अपने चरित्रको बहुत उच्च बना लिया है, अपने साथी मनुष्योंसे इतना सम्मान पानेका अधिकार है, जितने सम्मानकी उचित मांग करनेका अधिकार उससे कम ईमानदार पड़ोसीको नहीं है।"—विलोबी: एथिकल बेसिस ऑफ पॉलिटिकल ऑथोरिटी, पृ० २४६-४७।

२. यं० इं०, २६-३-'३१, पृ० ४९।

३. ह०, २५-३-'३९, पृ० ६४।

४. यं० इं०, भाग-१, पृ० ६७३।

शोषण करके नहीं, किन्तु उनकी सेवा करके और उनके लिए आत्म-बलिदान करके रहना सीखना चाहिए। इस प्रकार अहिंसक राष्ट्रीयता स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीयताकी आवश्यक पूर्व-मान्यता है। सन् १९२५ में गांधीजीने लिखा था, "राष्ट्रीयतावादी हुए बिना अन्तर्राष्ट्रीयतावादी होना असम्भव है। . . . राष्ट्रीयतावाद कोई बुराई नहीं है; बुराई है संकीर्णता, स्वार्थपरता, निराकरणशीलता — जो आधुनिक राष्ट्रोंके विनाशक तत्त्व हैं। . . . भारतीय राष्ट्रीयता संपूर्ण मानव-जातिकी सेवाके लिए और लाभके लिए अपनेको संगठित करना चाहती है और पूर्ण आत्म-प्रकाशन चाहती है।"[1] इसके सिवा, "हम अपने देशके लिए स्वतंत्रता चाहते हैं, किन्तु दूसरोंका शोषण करके या उनको हानि पहुंचा कर नहीं। . . . मैं अपने देशकी स्वतंत्रता चाहता हूं, जिसमें दूसरे देश मेरे स्वतंत्र देशसे कुछ सीख सकें, जिसमें मेरे देशके साधन मानव-जातिके हितके लिए काम आ सकें। जिस प्रकार देश-भक्तिका सिद्धान्त हमें सिखाता है कि व्यक्तिको परिवारके लिए मरना है, परिवारको गांवके लिए, गांवको जिलेके लिए, जिलेको प्रान्तके लिए तथा प्रान्तको देशके लिए मरना है, उसी प्रकार देशको स्वतंत्र इसलिए होना चाहिए कि अगर आवश्यक हो तो वह संसारके लाभके लिए मर सके। . . . राष्ट्रीयताकी मेरी धारणा यह है कि मेरा देश इसलिए मर सके कि मानव-जाति जीवित रह सके। उसमें जातिद्वेषके लिए कोई स्थान नहीं है।"[2]

वास्तवमें सत्य और अहिंसा द्वारा राष्ट्रीयताकी सफलता स्वयं मानव-जातिकी महानतम सेवा है। वह पराधीन जातियोंको साम्राज्यवादकी विनाशक दासतासे मुक्त कर देगी। गांधीजीके शब्दोंमें, "भारतके (अहिंसा द्वारा) स्वतंत्र हो जानेका अर्थ होगा प्रत्येक राष्ट्रका स्वतंत्र हो जाना।"[3] सन् १९२८ में गांधीजीने लिखा था, "भारतकी स्वतंत्रताके द्वारा मैं संसारकी तथाकथित कमजोर जातियोंको पश्चिमके विनाशक शोषणसे मुक्त करना चाहता हूं।"[4] "(राष्ट्रीय सरकार द्वारा) संभावित चरम सीमा तक अहिंसाका प्रयोग विश्वशांति और नवीन विश्व-व्यवस्थाकी स्थापनाके लिए भारतकी एक [illegible] देन होगी।"[5]

---

१. य० इं०, भाग-२, पृ० १२९२।

२. महादेव देसाई: गांधीजी इन इंडियन विलेजेज़, पृ० १७०।

३. य० इं०, भाग-३, पृ० ५४८-४९; और गांधीजीका १७-४-'४५ का [illegible]।

४. य० इं०, भाग-३, पृ० ५४८।

५. [illegible], [illegible]-'४२, पृ० [illegible]।

अन्तर्राष्ट्रीयता

अहिंसक राष्ट्रीयता स्वदेशीके सिद्धान्तका निष्कर्ष है, जिसके अनुसार देशवासी मनुष्यके निकटतम पड़ोसी हैं और उनको उसकी सेवा प्राप्त करनेका प्रथम अधिकार है।[१] अहिंसक राष्ट्रीयता आवश्यक रूपसे नैतिक और केवल प्रसंगवश राजनैतिक है। वह साध्य नहीं, साधन-मात्र है—साधन भी केवल एक देशकी ही भलाईका नहीं, बल्कि मानवताकी सेवा करनेका और सबका अधिकतम हित साधनेका।

इस प्रकार राष्ट्रीय स्वतंत्रतासे गांधीजीका अर्थ उस निरपेक्ष स्वतंत्रतासे नहीं है, जो प्रगतिशील अन्तर्राष्ट्रीयतासे मेल नहीं खाती। उनके शब्दोंमें, "मेरी पूर्ण स्वराज्यकी धारणा सब (देशों) से अलग स्वतंत्रताकी नहीं, बल्कि स्वस्थ और सम्मानपूर्ण रीतिसे (देशोंके) एक-दूसरेके सहारे रहनेकी है।"[२] विश्वका बुद्धिमान वर्ग आज एक-दूसरेके विरुद्ध युद्ध करनेवाले पूर्ण स्वाधीन राज्योंकी नहीं वरन् मैत्रीभाव रखनेवाले परस्पर आश्रित राज्योंकी आकांक्षा रखता है।[३] उनका मत है कि मानवताके जीवित रहनेकी यह आवश्यक शर्त है कि संसारकी व्यवस्था विभिन्न देशोंके प्रतिनिधियोंके केन्द्रीय शासक-मण्डलके हाथमें हो।[४]

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय संगठनकी स्थापना राष्ट्रोंकी स्वेच्छासे और उसका संचालन अहिंसक मार्गसे होना चाहिए, जो विश्वकी सभी समस्याओंको हल कर सकता है। सन् १९३१ में राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) के बारेमें भाषण देते हुए गांधीजीने कहा था, "संघसे यह आशा की जाती है कि वह (झगड़े निपटानेके साधनकी तरह) युद्धका स्थान ले लेगा और अपनी शक्ति द्वारा उन राष्ट्रोंमें मध्यस्थता करेगा जिनमें आपसमें झगड़े हों। लेकिन मुझे सदा यह लगा है कि संघके पास (अन्याय करनेवालोंके विरुद्ध) आवश्यक पृष्ठ-बल नहीं है। . . . मैं आपको यह सुझाव देनेका साहस करता हूं कि वह साधन, जिसको हमने भारतमें अपनाया है, राष्ट्रसंघ जैसी संस्थाको ही नहीं, बल्कि विश्वशांतिके महान हितको अपनानेवाली, स्वेच्छा पर आधारित

---

१. देखिये पुस्तकका अध्याय ४।

२. यं० इं०, २६–३–'३१।

३. गांधीजीके अनुसार स्वावलंबन उसी प्रकार मनुष्यका आदर्श है जिस प्रकार परस्परावलम्बन; क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाजमें परस्परावलम्बन उसे विश्वके साथ अपनी एकताकी अनुभूतिमें और अहंको दबानेमें सहायक होता है। यं० इं०, भाग–२, पृ० ४३८।

४. ह०, ८–६–'४७, पृ० १८४।

किसी भी संस्था या समुदायको आवश्यक पृष्ठवल प्रदान करता है।"[१]
अहिंसक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाके लिए यह आवश्यक है कि शस्त्रोंको और
प्रमाणित अधिकारोंकी रक्षाके लिए भी शक्ति-प्रयोगको त्याग दिया जाय।
"प्रमाणित अधिकारोंकी रक्षा असभ्य अर्थात् हिंसक साधनोंके प्रतिकूल उचित
साधनोंसे होनी चाहिए।"[२] हिंसक अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षो पर नियंत्रण रखनेके
लिए गांधीजी अहिंसक राज्यकी पुलिस या शान्तिसेनासे मिलते-जुलते अहिंसक
पुलिस-दलका स्वागत करते। सब देशोंके निःशस्त्रीकरणके प्रारंभ होनेसे पूर्व
"किसी राष्ट्रको शस्त्रोंको त्यागनेका और बड़े जोखिममें पड़नेका साहस करना
होगा। उस राष्ट्रमें अहिंसाका स्तर . . . स्वाभाविक रीतिसे इतना उच्च
होगा कि उसको सार्वभौम सम्मान प्राप्त होगा। उसके निर्णय अचूक होंगे,
उसके निश्चय दृढ़ होंगे, उसमें वीरतापूर्ण आत्म-बलिदानकी महान क्षमता
होगी और वह (राष्ट्र) उसी परिमाणमें दूसरे राष्ट्रोंके (हित) के लिए
जीवित रहना चाहेगा, जिस परिमाणमें वह अपने (हित) के लिए जीवित
रहना चाहता है।"[३]

निःशस्त्रीकरण और अहिंसक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनकी सफलताके लिए
साम्राज्यवादका निराकरण आवश्यक है। "अन्तर्राष्ट्रीय संघ तभी (स्थापित)
होगा जब उसमें सम्मिलित सभी छोटे-बड़े राष्ट्र पूरी तरह स्वतंत्र होंगे।
. . . अहिंसा पर आधारित समाजमें छोटे-से-छोटा राज्य यह अनुभव करेगा
कि वह (महत्त्वमें) उतना ही बड़ा है जितना कि बड़े-से-बड़ा राष्ट्र।"[४]
श्रेष्ठता और हीनताकी भावना पूर्ण रूपसे समाप्त हो जायगी। इस
प्रकार गांधीजी न्यायोचित राजनैतिक और आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंकी
स्थापनाका और एक राज्यके दूसरे राज्य पर स्थापित आधिपत्यका अन्त
करनेके पक्षमें थे।

---

१. वी० गारगा: गांधी, पृ० ३८९-९० पर उद्धृत।

२. ह०, १४-१०-'३९, पृ० ३०१। गांधीजी इस बातके विरुद्ध थे कि उन राष्ट्रोंमें, जिनका बल-प्रयोग द्वारा निःशस्त्रीकरण हुआ हो, अन्तर्राष्ट्रीय संघकी 'सशस्त्र शान्ति' स्थापित हो। उनके अनुसार सशस्त्र अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस रखना किसी तरह भी शान्तिका चिह्न नहीं है। राष्ट्रोंकी समता और स्वतन्त्रता पर आधारित वास्तविक विश्वशान्तिकी स्थापनाके लिए युद्ध और हिंसामें रहे विश्वासका त्याग आवश्यक है। देखिये, गांधीजीका १७ अप्रैल, १९४५ का सैनफ्रांसिस्को कान्फरेन्स पर दिया गया वक्तव्य।

३. यं० इं०, भाग-२, पृ० ८६३।

४. ह०, ११-२-'३९, पृ० ८; और १४-१०-'३९, पृ० ३०१।

साम्राज्यवादके निराकरणके लिए यह आवश्यक है कि बड़े राष्ट्र आवश्यकताओं और भौतिक उपकरणोंकी वृद्धिकी इच्छा और प्रतियोगिताको छोड़ दें।

विदेशी नीति और रक्षा

अहिंसक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाके विकासमें समय लगेगा। उसकी स्थापनाके पहले अन्तर्राष्ट्रीय अन्याय और आक्रमण हो सकते हैं। अहिंसक राज्य पर आक्रमणकी अधिक सम्भावना नहीं और उसके लिए अहिंसक पद्धतिसे अपनी रक्षा करना आसान होगा। अहिंसक राज्यकी जनतंत्रवादी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था न्याय और समता पर आधारित होगी। इसलिए इस राज्यमें आर्थिक शक्ति-सम्बन्धी उस संघर्षका अभाव होगा, जिसका परिणाम होता है साम्राज्यवाद और क्रांति। राज्यके आंतरिक जीवनकी अहिंसा उसकी विदेश-नीतिमें भी प्रकट होगी। अहिंसक भारतीय राष्ट्र, जब भी वह स्थापित होगा, अपने पड़ोसियोंके साथ घनिष्टतम मित्रताका संबंध रखनेका प्रयत्न करेगा—पड़ोसी शक्तिशाली राष्ट्र हों या छोटे। साथ ही वह किसी विदेशी क्षेत्रको लेनेकी इच्छा न करेगा।[1] जैसा पहले कहा जा चुका है, अहिंसक राज्य अपनी सीमाओंके पारके लोगोंको अपने भौतिक और नैतिक साधनोंका भागीदार बनायेगा।[2] न वह किसीका शोषण करेगा और न किसीके द्वारा शोषित होगा। वह शेष संसारके साथ शान्तिपूर्वक रहेगा। वह पूर्ण निःशस्त्रीकरणके लिए और अहिंसक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाकी स्थापनाके लिए प्रयत्न करेगा। उसकी अहिंसा विश्वभरमें सम्मानित होगी और पड़ोसियोंकी सद्भावनाको जगायेगी। रक्षाके लिए वह अखिल विश्वकी सद्भावना पर आश्रित होगा।[3]

यदि अहिंसक राज्य पर कभी आक्रमण हुआ भी, तो उसका अहिंसक बचाव आसान होगा। स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिए गांधीजी द्वारा प्रयुक्त सत्याग्रही प्रतिरोध-पद्धतिका उपयोग आवश्यक परिवर्तनोंके साथ बाह्य आक्रमणोंके विरुद्ध भी होगा। गांधीजीके शब्दोंमें, "अहिंसक मनुष्य या समाज बाहरी आक्रमणोंकी आशा और उनके लिए प्रबन्ध नहीं करता। इसके प्रतिकूल ऐसा मनुष्य या समाज दृढ़तासे यह विश्वास करता है कि कोई भी उसके साथ झगड़ा न करेगा। यदि बुरी-से-बुरी बात होती (आक्रमण होता) है, तो अहिंसाके लिए दो मार्ग हैं। अधिकारका समर्पण कर देना, लेकिन आक्रमणकारीके साथ असहयोग करना। इस प्रकार मान लीजिये कि

१. ह०, २०–४–'४०, पृ० ९६।

२. ह०, २०–४–'४०, पृ० ९३–९४।

३. ह०, १०–२–'४०, पृ० ४४१।

नीरो[1] का आधुनिक संस्करण भारत पर आक्रमण कर दे, तो राज्यके प्रतिनिधि उसको (देशके) अन्दर चले आने देंगे, लेकिन उसे बता देंगे कि जनतासे जरा भी सहायता न मिलेगी। वह (जनता) उसकी अधीनता माननेकी अपेक्षा मौतको वरीयता देगी। दूसरा मार्ग होगा अहिंसक पद्धतिमें शिक्षित जनता द्वारा अहिंसक प्रतिरोध। आक्रमणकारीकी तोपोंके समक्ष निःशस्त्र जनता अपने आपको (तोपोंकी) खाद्य-सामग्रीकी तरह अर्पण कर देगी। दोनों हालतोंमें मूलभूत विश्वास यह होगा कि नीरो भी हृदयहीन नहीं है। ऐसे स्त्री-पुरुषोंकी अनन्त पंक्तियोंका अप्रत्याशित दृश्य, जो आक्रमणकारीकी इच्छाके सामने आत्म-समर्पण न करके चुपचाप प्राण दे रहे हैं, अंतमें उसको और उसकी फौजको द्रवित कर देगा।"[2] इस प्रकार सत्याग्रही राज्य अपने यहां अहिंसक सेना रखेगा।[3]

गांधीजीके अनुसार अहिंसक प्रतिरोधमें प्रतिपक्षीके आगे बढ़नेमें रुकावट डालनेके लिए 'भूमि-विदाहक' (स्कॉर्च्ड अर्थ) नीतिके लिए कोई स्थान नहीं। युद्ध-विरोधीकी हैसियतसे उन्हें जीवन या संपत्तिके विनाशमें न तो वीरता दिखती है, न बलिदान। "मेरे अपने कुएंमें विष घोल देनेमें या उसे इस प्रकार पाट देनेमें कि मेरा भाई, जो मुझसे युद्ध कर रहा है, पानीका उपयोग न कर सके, कोई वीरता नहीं है। . . . न उसमें कोई बलिदान ही है, क्योंकि वह मुझे शुद्ध नहीं करता; और बलिदानकी, जैसा कि उसके मूल अर्थका तात्पर्य है, पूर्व-मान्यता है शुद्धता।" प्राचीन समयके युद्ध-नियम कुओंमें विष घोलने और अनाजकी फसल बरबाद करनेकी अनुमति नहीं देते थे। जब कभी संभव होगा अहिंसक प्रतिरोधी फसलों और आक्रमणकारियोंके बीच इस तरह खड़े हो जायंगे कि जब तक एक भी प्रतिरोधी जीवित है तब तक आक्रमणकारी फसलमें से कुछ भी न ले सकेंगे। यदि प्रतिरोधी व्यवस्थित रीतिसे इस आशासे पीछे हटें कि

---

१. प्राचीन यूरोपका एक अत्याचारी शासक।

२. ह०, १३–४–'४०, पृ० ९०।

३. अहिंसक सेनाके प्रशिक्षण और अनुशासनके संबंधमें गांधीजीने १९४६ में लिखा था, "सेनाको दिये जानेवाले अहिंसक प्रशिक्षणोंमें से कुछमें अहिंसक सेनाको भी प्रशिक्षित किया जायगा। ये हैं: अनुशासन, शारीरिक व्यायाम, समूह-गान, ध्वजारोहण आदि। परन्तु यह भी पूर्ण रूपसे आवश्यक नहीं है, क्योंकि दोनोंका आधार भिन्न है। अहिंसक सेनाका आवश्यक प्रशिक्षण है, ईश्वरमें अटूट विश्वास, अहिंसक सेनाके सेनापतिके प्रति इच्छापूर्वक पूर्ण आज्ञाकारिताकी भावना और सेनाकी इकाइयोंमें पारस्परिक आन्तरिक तथा बाह्य सहयोग।" ह०, १२–५–'४६, पृ० १२८।

वे बादमें दूसरी और अधिक अनुकूल परिस्थितिमें प्रतिरोध करेंगे, तो भी गांधीजीकी राय है कि उनको अनाजकी फसल और वैसी ही दूसरी चीजोंका विनाश न करना चाहिए। यदि प्रतिरोधी संपत्तिको डरके कारण नहीं, बल्कि मानवतावादी हेतुसे अर्थात् इसलिए अक्षत छोड़ता है कि वह किसीको भी अपना शत्रु माननेसे इनकार कर देता है, तो गांधीजीको इसमें तर्क, वीरता और बलिदान दीखता है। विनाश न करनेमें वीरता है, क्योंकि प्रतिरोधी जान-बूझकर इस जोखिममें पड़ता है कि प्रतिपक्षी प्रतिरोधीको हानि पहुंचाकर भोजन करेगा और उसका पीछा करेगा; और उसमें बलिदान है, क्योंकि प्रतिपक्षीके लिए कुछ छोड़ देनेकी भावना प्रतिरोधीको शुद्ध बनाती है और नैतिक उच्चता प्रदान करती है।[1]

कभी-कभी गांधीजीके सामने यह प्रश्न रखा गया है कि सत्याग्रह उस हवाई लड़ाईमें किस तरह सफल हो सकता है, जिसमें किसी प्रकारका व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं होता है। जो मनुष्य ऊपरसे मृत्युकी वर्षा करता है, उसको यह जाननेका भी अवसर नहीं मिलता कि उसने किनकी और कितनोंकी जान ली है। गांधीजीका उत्तर यह है कि "घातक बमके पीछे उसे फेंकनेवाले मनुष्यका हाथ होता है और उसके भी पीछे हाथको परिचालित करनेवाला मानव-हृदय होता है। और आतंकवादी नीतिके पीछे यह धारणा है कि यदि आतंकवादका उपयोग पर्याप्त परिमाणमें किया जाय, तो उसका वांछित परिणाम होगा, अर्थात् प्रतिपक्षी अत्याचारीकी इच्छाके सामने झुक जायगा। लेकिन यदि जनता दृढ़ निश्चय कर ले कि वह न तो कभी अत्याचारीकी इच्छानुसार कार्य करेगी और न अत्याचारीके साधनों द्वारा उससे बदला लेगी, तो अत्याचारीके लिए आतंकवाद चालू रखना लाभप्रद न रहेगा। यदि अत्याचारीकी क्रूरता और हिंसाको पर्याप्त भोजन न मिले, तो एक समय ऐसा आयेगा जब वह हिंसा और आतंकसे ऊब उठेगा।"[2]

इस प्रश्नके उत्तरमें कि वे अणुबमके विरुद्ध अहिंसाका उपयोग किस प्रकार करेंगे, उन्होंने कहा था, "मैं उसका सामना प्रार्थनापूर्ण कार्य द्वारा करूंगा। . . . मैं बाहर खुले स्थानमें आ जाऊंगा और (वायुयानके) चालकको यह देखने दूंगा कि उसके विरुद्ध मेरे मुख पर कोई अशुभ भावना अंकित नहीं है। मैं जानता हूं कि चालक इतनी ऊंचाईसे मेरा मुख न देख सकेगा। किन्तु मेरे हृदयकी यह इच्छा कि उसका बुरा न हो उस तक पहुंच

---

१. ह०, २२–३–'४२, पृ० ८८; १२–४–'४२, पृ० १०९; १९–४–'४२, पृ० १२१-२२; और ३–५–'४२, पृ० १४०।

२. ह०, २४–१२–'३८, पृ० ३९४।

जायगी और उसकी आंखें खुल जायेंगी। यदि वे हजारों व्यक्ति, जिनकी हिरोशिमामें अणुबम द्वारा मृत्यु हुई थी, . . . अपने हृदयोंमें प्रार्थना करते हुए मरे होते, . . . तो युद्धका अन्त उस लज्जाजनक रीतिसे न हुआ होता जैसे वह हुआ है।"[1]

लेकिन पूछा जा सकता है कि यदि मनुष्य आक्रमणकारीको आत्म-समर्पण करनेकी अपेक्षा अहिंसक रूपसे जान दे दें, तो स्वतंत्रताने लाभ उठानेको कौन जीवित रहेगा? गांधीजीके अनुसार हिंसक युद्धमें भी लड़नेवाला सिपाही विजयसे लाभ उठानेकी आशा नहीं करता। लेकिन जहां तक अहिंसाका सम्बन्ध है, प्रत्येक व्यक्ति यह मानकर चलता है कि अहिंसक पद्धतिको तभी सफल समझना चाहिए, जब कम-से-कम स्वयं सत्याग्रही अहिंसाकी सफलतासे लाभ उठानेको जीवित रहे। यह मान्यता न तो तर्कसंगत ही है और न न्यायपूर्ण। सशस्त्र युद्धकी अपेक्षा सत्याग्रहमें यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि हमें जीवनको खो देनेसे (बलिदान करनेसे) जीवन मिलता है।[2]

यदि आक्रमणका शिकार घरेलू उद्योग-धन्धों और कृषि-प्रधान सभ्यतामें पनपनेवाला अहिंसक देश है, तो केन्द्रित उत्पादनको अपनानेवाले देशोंकी अपेक्षा इस देशको बहुत कम हानि होगी और वह आक्रमणका सामना बहुत सक्षम रूपसे कर सकेगा। घरेलू उद्योग-धन्धोंका विनाश करनेसे आक्रमण-कारीके हाथ कुछ न लगेगा और उजाड़े हुए देशको फिरसे संभलनेमें बहुत कम समय लगेगा। गांधीजी लिखते हैं, "यदि हिटलरका भी ऐसा इरादा होता तो वह सात लाख अहिंसक गांवोंका विनाश न कर सकता। उस प्रक्रियामें वह स्वयं अहिंसक हो जाता।"[3] "इस प्रकार स्वावलम्बी अहिंसक राज्य प्रलोभनों और शोषणके सामने अभेद्य दुर्ग जैसा सिद्ध होगा। देशकी अहिंसक आर्थिक व्यवस्था बाह्य आक्रमणके विरुद्ध अधिक-से-अधिक सुदृढ़ रक्षा है।"[4]

गांधीजीके अनुसार "अहिंसाकी कला सीखकर दुर्बल-से-दुर्बल राज्य बाह्य आक्रमणसे अपनी रक्षा कर सकता है। किन्तु कोई छोटा राज्य — वह युद्धसाधनोंमें चाहे जितना सबल हो — बलवान राज्योंके गुटके विरुद्ध स्वतन्त्र नहीं रह सकता। उसे या तो उस गुटमें मिल जाना होगा अथवा इस प्रकारके गुटके किसी सदस्यकी सुरक्षामें रहना होगा।"[5]

---

१. मार्गरेट बोर्क व्हाइट: हाफ वे टु फ्रीडम, पृ० ३२३।
२. ह०, २८–७–'४०, पृ० २२८।
३. ह०, ४–११–'३९, पृ० ३३१।
४. यं० इं०, २–७–'३१।
५. ह०, ७–१०–'३९, पृ० २१३।

किसी भी राज्यको अहिंसाके सिद्धान्तके अनुसार ढलनेमें शायद बहुत समय लग जाय। गांधीजी उन राज्योंको भी अहिंसक प्रतिरोधके उपयोगकी राय देते हैं, जो अब तक हिंसाको ही रक्षाका साधन समझते रहे हैं। लेकिन कोई भी राज्य अहिंसक पद्धतिका उपयोग तभी कर सकता है जब वह अन्यायपूर्ण लाभसे छुटकारा पाले — वह लाभ पराधीन देशों पर आधिपत्यके रूपमें हो या अन्य किसी प्रकारका हो।

अबिसीनिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड और इंग्लैण्डके निवासियों तथा आक्रमणके शिकार अन्य लोगोंको गांधीजीकी यही सलाह थी कि वे अन्यायीके साथ युद्ध करनेसे भी इनकार कर दें और उसके सामने आत्म-समर्पण करनेसे भी।[१] इस प्रकार चीनके सम्बन्धमें उन्होंने एक बार कहा था, "यदि चीनियोंके पास मेरी धारणाकी अहिंसा होती, तो विनाशके उन अति-आधुनिक यन्त्रोंका — जिनका जापान स्वामी है — कोई उपयोग ही न रहता। चीनी जापानसे कहते, 'आप अपने सब यंत्र ले आयें, हम अपनी आधी जनसंख्या आपकी भेंट करते हैं। किन्तु बाकी २० करोड़ लोग आपके सामने घुटने न टेकेंगे।' यदि चीनी ऐसा करते तो जापान चीनका दास हो जाता।"[२] गांधीजीके अनुसार अहिंसक प्रतिरोधके लिए यह आवश्यक था कि चीन-निवासी अपने हृदयोंमें जापानियोंके लिए प्रेम विकसित करें — उनके गुणोंको याद करके नहीं, किन्तु उनके दुष्कर्मोंके बावजूद भी।

यदि शान्तिवादियोंका देश युद्ध प्रारम्भ करे, तो उन्हें चाहिए कि वे अपनी सरकारको इस प्रकार दुर्बल बनानेके लिए कुछ भी न करें जिससे देशकी हार हो जाय। "किन्तु इस डरसे उनको युद्धोंकी व्यर्थतामें अपनी अटल श्रद्धा प्रदर्शित करनेके उचित अवसरको न खोना चाहिए। . . . इसका अर्थ यह है कि वे शांतिवादी अपने देशके तथाकथित हितके पहले अपनी अन्तरात्मा तथा सत्यको रखते हैं। क्योंकि अंतरात्माके लिए मनुष्यके सच्चे सम्मानने किसी न्यायपूर्ण उद्देश्य या हितको कभी हानि नहीं पहुंचाई।"[३] शान्तिवादियोंको अपने देश या दूसरे देशकी सेनाकी विजय-कामना न करनी चाहिए। उनको केवल यह प्रार्थना करनी चाहिए कि सत्यकी विजय हो। "जब दोनों पक्ष हिंसाके साधनोंका उपयोग कर रहे हों तब यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि उनमें से किस पक्षकी विजय होनी चाहिए।"[४] अपनेको हिंसासे अलग रखते हुए भी शान्तिवादियोंको खतरेसे न भागना

१. ह०, ६–७–'४०, पृ० १८५–८६।
२. ह०, २४–१२–'३८, पृ० ३९४।
३. ह०, १५–४–'३९, पृ० ८९–९०।
४. ह०, २८–१–'३९, पृ० ४४२।

चाहिए और अपने जीवनकी उपेक्षा करके मित्र तथा शत्रुकी एक समान सेवा करनी चाहिए।"[१]

निष्पक्ष अहिंसक देश किसी सेनाको पड़ोसी देशका विनाश करनेकी आज्ञा न देगा। उसे आक्रमणकारी सेनाको रास्ता और रसद देनेसे इनकार कर देना चाहिए। उसे स्त्रियों, पुरुषों और बच्चोंकी जीवित दीवाल आक्रमणकारीके सामने खड़ी कर देना चाहिए और आक्रमणकारीको उनकी लाशों पर होकर जानेको निमन्त्रित करना चाहिए। कहा जा सकता है कि आक्रमणकारी सेनामें इतनी पाशविकता हो सकती है कि वह अहिंसक प्रतिरोधियों पर होकर निकल जाय। लेकिन अपना विनाश होने देकर प्रतिरोधी अपना कर्तव्य पालन कर लेंगे। इसके अतिरिक्त, "निर्दोष स्त्री-पुरुषोंके शवों पर होकर जानेवाली सेना इस प्रयोगको दोहरा न सकेगी।"[२] गांधीजी निष्पक्ष देशों द्वारा आक्रमणकारी देशके आर्थिक बहिष्कारके पक्षमें भी हैं।[३]

यदि अन्तर्राष्ट्रीय आक्रमणसे पीड़ित देश हिंसक प्रतिरोध करनेका निश्चय करे, तब भी निष्पक्ष राज्यका कर्तव्य है कि वह आक्रांत देशको नैतिक सहानुभूति और अहिंसक सहारा दे। गांधीजी आक्रमण और रक्षाकी हिंसामें भेद करते थे और पिछले प्रकारकी हिंसाकी सफलता चाहते थे, यद्यपि वे यह भी चाहते थे कि प्रतिरोध अहिंसक हो।[४] यदि आक्रांतमें उच्चतम वीरताकी और निःस्वार्थताकी क्षमता है और यदि वह अपेक्षाकृत

१. ह०, २८-१-'३९, पृ० ८९-९०।

२. यं० इं०, १-१२-'३१।

३. कुछ चीनी आगन्तुकोंके इस प्रश्नके उत्तरमें कि भारतमें जापानी मालके बहिष्कारकी क्या आशा है, गांधीजीने उत्तर दिया, "मेरी इच्छा है कि मैं कह सकता कि इसकी (बहिष्कारकी) बहुत आशा है। हमारी सहानुभूति आपके साथ है, किन्तु उसने हमको गंभीर रूपसे विक्षुब्ध नहीं किया है, नहीं तो हमने सभी जापानी माल, विशेष रूपसे जापानी कपड़ेका बहिष्कार किया होता। जापान केवल आपको ही नहीं जीत रहा है; हमको भी अपने सस्ते, तुच्छ, मशीनसे बने मालसे वह जीतनेका प्रयत्न कर रहा है। आपकी तरह हमारा भी बड़ा राष्ट्र है। यदि हम जापानियोंसे कहते कि हम आपकी एक गज छींट भी न मंगावेंगे और न अपनी रूई आपको भेजेंगे, तो जापान अपना आक्रमण जारी रखनेके पहिले दो बार सोच-विचार करता।" इस उद्धरणमें यद्यपि गांधीजीके मनमें स्वदेशीका आर्थिक रूप भी है, फिर भी प्रकट है कि उनका जोर आक्रमणकारीके साथ अहिंसक असहयोगके साधनके रूपमें आर्थिक बहिष्कार पर है। ह०, २८-१-'३९, पृ० ४४१।

४. ह०, ९-१२-'३९, पृ० ३७१; यं० इं०, भाग-२, पृ० ४२३।

बहुत अधिक शक्तिशाली आक्रमणकारीके विरुद्ध हिंसासे असमताका युद्ध लड़ता है, तो गांधीजीके अनुसार वह हिंसा लगभग अहिंसा है; क्योंकि जब हिंसा सोच-विचार कर नहीं की गई है और जब आनुपातिक हिंसाकी क्षमता नहीं है, तब हिंसक प्रतिरोधका अर्थ है "जबरदस्त शक्तिके सामने यह पूरी तरह जानते हुए भी झुकनेसे इनकार करना कि उसका अर्थ निश्चित मृत्यु है।" सन् १९३९ का पोलैंडका प्रतिरोध इसी प्रकारका दृष्टान्त है।[१]

निस्सन्देह यदि अन्य सभी राज्य मिलकर आक्रमणकारी राज्यके विरुद्ध नैतिक प्रतिरोध कर सकते, तो युद्धों और आक्रमणोंका लोप हो जाता। लेकिन यह तभी सम्भव है जब विभिन्न देशोंमें साधारण व्यक्तिका नैतिक स्तर बहुत ऊंचा हो जाय। अन्तर्राष्ट्रीय आक्रमणसे पीड़ित देश दूसरे देशोंकी नैतिक सहायताका स्वागत करेगा, लेकिन उसे स्वयं अपनी अहिंसक शक्ति पर निर्भर रहने और अकेले अहिंसक प्रतिरोध-पद्धतिका उपयोग करनेको तैयार रहना चाहिए।

युद्ध मनुष्यकी जन्मजात प्रवृत्तियोंका नहीं, परन्तु सांस्कृतिक परिस्थितिका परिणाम है।[२] उसकी विनाशकता पहले कभी इतनी अविवेकपूर्ण और सार्वभौम

---

१. ह०, २३–९–'३९, पृ० २८१; और ८–९–'४०, पृ० २७४।

२. मार्क्सवादियोंके अनुसार युद्ध वर्गोंकी उस आर्थिक प्रतिद्वन्द्वितासे संबन्धित है, जिसमें दूसरे वर्गोंका शोषण करनेवाला वर्ग प्रमुख भाग लेता है। 'रिवोल्ट अगेन्स्ट वार' नामक अपनी पुस्तकमें एच० सी० एंगलब्रेक्टने इस सिद्धान्तके पक्षमें मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक और मानव-विज्ञान (एन्थ्रोपोलॉजी) संबंधी प्रमाण एकत्र किये हैं कि "मनुष्य युद्ध नहीं है।" क्विन्सी राइट अपनी 'ए स्टडी ऑफ वार' नामकी पुस्तकमें इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि युद्ध प्रमुख रीतिसे मनोवैज्ञानिक नहीं, परन्तु सामाजिक वस्तु है। मनुष्योंमें कोई विशिष्ट युद्धप्रवृत्ति नहीं है, बल्कि उनमें बहुतसे प्रेरक हेतु और रुचियां हैं, जिनके कारण मनुष्य-समुदाय आक्रमण करते हैं। इसी प्रकार समाजशास्त्री स्वर्गीय कार्ल मैनहाइमका विश्वास है कि सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक व्यवस्था द्वारा यह निश्चित होता है कि जनसमूहका चरित्र युद्धप्रिय है या शान्तिप्रिय; और मनुष्य-स्वभाव पर युद्धके अभावका हानिकर प्रभाव नहीं पड़ता। आर० डी० जिलेस्पी अमरीकाके पश्चिमी तट पर रहनेवाली एक रेड इंडियन जातिका हवाला देते हैं। इस जातिको युद्ध-संबंधी बातें बताना असंभव है, क्योंकि उसके पास उस धारणात्मक आधारका अभाव है जो उसको युद्ध-संबंधी बातें समझनेमें सहायक होता। देखिये राइट–कृत 'ए स्टडी ऑफ वार', भाग–१, पृ० २७७; भाग–२, पृ० ११९९–१२००; मैनहाइम–कृत 'मैन ऐण्ड सोसाइटी', पृ० १२३-२४; जिलेस्पी–कृत 'साइकोलॉजिकल एफेक्ट्स ऑफ वार ऑन सिटिजन ऐंड सोल्जर', पृ० २१९।

नहीं थी और न उसका व्यय इतना भारी था जितना आज है। युद्धके कारण अधिनायक-तन्त्र (डिक्टेटर-प्रणाली) की स्थापनाकी भी आवश्यकता पड़ती है।[1] इसके अतिरिक्त युद्ध झगड़ोंको निपटानेके स्थानमें उन्हें अधिक व्यापक और स्थायी बनाता है। दूसरी ओर सत्याग्रहमें युद्धकी अपेक्षा बहुत कम मनुष्योंको जानसे हाथ धोना पड़ता है और शस्त्रों तथा दुर्ग इत्यादि बनानेमें तो कोई व्यय ही नहीं होता। यह पहले बताया जा चुका है कि किस प्रकार अहिंसक कष्ट-सहन कठोर-से-कठोर हृदयको भी पिघला देता है और किस प्रकार कष्ट-सहनकी अहिंसक क्षमताकी कोई सीमा नहीं होती। राज्यके सच्चे अहिंसक प्रतिरोधसे उत्पन्न नैतिक शक्तिका आक्रमणकारी देशकी सरकार और जनमत पर बहुत प्रभाव पड़ेगा और उस सरकारके लिए अपने राष्ट्रकी जनतासे सहानुभूति पाना कठिन हो जायगा।

---

१. राइटने अपनी पुस्तकमें इस बातका विशद विवेचन किया है कि विश्व-सभ्यताके अति-आधुनिक कालमें युद्धका प्रभाव हुआ है अस्थायित्व, एकताका विनाश, परिस्थितियोंके अनुकूल बननेकी क्षमताका ह्रास, सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थामें लचीलेपनका अभाव और निरंकुशता। उपरोक्त प्रभावके कारण यह कहना पहलेसे कठिन हो गया है कि सभ्यताकी गति किस ओर होगी और सभ्यताके आदर्शोंको कार्यान्वित करनेकी ओर निरंतर प्रगतिकी संभावना कम हो गई है। राइटने अपनी पुस्तकमें यह दिखाया है कि युद्धका परिणाम अनिश्चित होता है और उसका खर्च बहुत बढ़ गया है। पश्चिममें सन् १६४८–१७८९ में युद्ध पेशेवरोंका युद्ध हो गया था; सन् १७८९–१९१४ में युद्धका रूप पूंजीवादी हो गया था; सन् १९१४ के बादसे उसका स्वरूप समग्रतावादी हो गया है। एच० डब्ल्यू० स्पेगेलकी परिभाषाके अनुसार समग्र युद्ध स्वतंत्र राज्योंके बीच ऐसा सशस्त्र संघर्ष है, जिसे एक सशस्त्र समाज विपक्षी राष्ट्रका विनाश करनेके उद्देश्यसे प्रारम्भ करता है और चलाता है। ऐसे युद्धमें साधनों पर नियंत्रण नहीं होता। वह आधुनिक यंत्र-विज्ञान द्वारा आविष्कृत सभी शस्त्रों द्वारा और मनोविज्ञान तथा अर्थशास्त्रके साधनों द्वारा लड़ा जाता है। इस युद्धकी कुछ विशेषताएं हैं यंत्रीकरण, पहलेकी अपेक्षा अधिक बड़ी सेनाएं, युद्ध-प्रयासकी तीव्रता और उसका राष्ट्रीयकरण तथा युद्धकार्योंमें सैनिकों और साधारण नागरिकोंके बीच भेदका लोप। आधुनिक युद्धपद्धतिके विकासकी प्रवृत्ति राज्यको युद्धवादी और समग्र जीवन पर नियंत्रण रखनेवाला राज्य बनानेकी ओर है। देखिये स्पेगेल-कृत 'दि इकानॉमिक्स ऑफ टोटल वार', पृ० ३७; पी० सोरोकिन-कृत 'कन्टेम्पोरेरी सोशियलॉजिकल थियरीज़', अ० ६; और राइट, ऊपर उद्धृत, भाग–१, अध्याय ९, १०, १२ और पृ० १२९–३१, १९२ और ३२१।

गांधीजी यह आशा नहीं करते थे कि रक्षाके लिए अहिंसक प्रतिरोधका उपयोग करनेवाले राज्यका प्रत्येक नागरिक पूरी तरह अहिंसावादी होगा। युद्धवादी देशका प्रत्येक नागरिक भी तो युद्ध-विज्ञानका विशेषज्ञ नहीं होता। कोई भी देश थोड़ेसे विशेपज्ञों और अच्छे अनुशासनवाली अहिंसक सेनाके द्वारा --जिसका अनुपात जनसंख्यासे वही होगा जो हिंसक सेनाका होता है---आक्रमणकारीका सामना कर सकेगा।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय आक्रमणके विरुद्ध रक्षा-पद्धतिके रूपमें अहिंसक प्रतिरोधकी बड़ी आवश्यकता है और यह निश्चित मालूम होता है कि यह पद्धति बहुत परिणामकारी सिद्ध होगी।

इस अध्यायमें उस समाज-व्यवस्थाकी रूपरेखाकी विवेचना है, जिसका विकास मनुष्यके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनकी प्रेमके नियमके अनुसार होनेवाली पुनर्रचनाके फलस्वरूप होगा। इस व्यवस्थाके सिद्धान्त पूर्णतया निर्धारित नहीं हैं। समाज-विशेषमें उनका प्रयोग समय और स्थानकी विशिष्ट मांगोंके अनुसार होगा और भविष्यकी परिस्थिति-विशेष पहलेसे नहीं जानी जा सकती। मनुष्य अहिंसक राज्यकी स्थापनाका प्रयत्न करेंगे या नहीं, यह इस बात पर निर्भर है कि वे वास्तवमें स्वतन्त्रता, प्रगति और शान्ति अर्थात् सच्चे जनतन्त्रकी इच्छा करते हैं या नहीं। शांतिकी स्थापना और जनतन्त्रकी परिपूर्णता अहिंसाके विकासके समानार्थक हैं। केवल अहिंसा ही राष्ट्रीय अस्तित्व और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगमें तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक जीवनमें सामंजस्य स्थापित कर सकती है।

अहिंसक राज्य सच्चा जनतन्त्र होगा, क्योंकि वह स्वतन्त्रता और समताके अधिक-से-अधिक संभव परिमाण पर आधारित होगा। उसमें शोषण कम-से-कम होगा और स्वामी-नौकर तथा पूंजीपति-मजदूरके संबंधोंका स्थान लेगी ग्राम्य-सभ्यता पर पनपनेवाली नई सहयोग-व्यवस्था। सामाजिक और बहुत कुछ आर्थिक समता और विकेन्द्रीकरणके कारण, आजके प्रतिकूल, राजनैतिक अधिकारोंकी समतामें वास्तविकता होगी। व्यक्तिका सामाजिक कार्य क्षमतासे संबंधित होगा और सेवा पर जोर दिया जायगा। इस प्रकार समाजमें इतनी सादगी होगी कि जीवन साधारण मनुष्यकी समझके बाहर न होगा और फिर भी स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व तथा सेवा और विधायक आलोचनाके सचेतन और जाग्रत जीवनके अवसरकी प्रचुरता होगी।

उपसंहार

गांधीजीके सर्वोदय तत्त्व-दर्शनका आधार है सत्यमें श्रद्धा। यही सिद्धान्त —जिसको गांधीजी ईश्वर, आत्मशक्ति, नैतिक नियम आदिके साथ समीकृत करते हैं—विश्वका आधार है। यह स्वयं-संचालित शक्ति अपनेको सृष्टिमें प्रकट करती है और उसे मौलिक एकता प्रदान करती है।

सम्पूर्ण गांधीवादी दर्शन आध्यात्मिक एकताके सिद्धान्तसे गृहीत हुआ है। मनुष्यका मूल सत्यमें है, इसलिए उसके विकास और आत्माभिव्यक्तिके लिए यह आवश्यक है कि वह सत्यको जाने और उस पर अटल रहे, अर्थात् सत्याग्रही हो। महानतम सत्य है सब जीवोंकी एकता। इसलिए आत्माभिव्यक्तिका मार्ग है सबसे प्रेम करना और सबकी सेवा करना, अर्थात् सबके अधिकतम हितके लिए प्रयत्न करना। सबकी प्रेमयुक्त सेवा ही अहिंसा है। इस प्रकार सत्यकी साधना अहिंसक साधनों द्वारा ही हो सकती है। आध्यात्मिक एकताकी अनुभूति विभाजक, पृथक्कारी साधनों द्वारा असंभव है। इसलिए गांधीजीका आग्रह है कि सबके अधिकतम हितकी प्राप्तिके लिए साधन साध्यके समान ही शुद्ध होना चाहिए और व्यक्ति तथा समुदाय दोनोंके व्यवहार-नियम एक ही होने चाहिए।

सबके अधिकतम हितकी उपलब्धिके लिए यह आवश्यक है कि वैयक्तिक और सामाजिक जीवनमें सत्यकी अभिव्यक्ति हो। सत्याग्रहीको सत्यका ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभूति और श्रद्धा द्वारा हो सकता है। आत्मशक्तिके विकासके लिए और सत्यके ज्ञानके लिए गांधीजी नैतिक अनुशासनको आवश्यक समझते हैं। इस अनुशासनका सार है अहिंसक मूल्योंकी साधना द्वारा प्राप्त आत्म-संयम। सत्यकी प्रकृति अर्थात् निरपेक्ष सत्यके साक्षात्कारके लिए सत्याग्रहीको चाहिए कि वह अपनी जानकारीके सत्य—सापेक्ष सत्य—के अनुसार आचरण करे। उसे अहिंसक होना चाहिए, क्योंकि हिंसा महानतम सत्य—सब जीवोंकी एकता और पवित्रता—के विरुद्ध है। इसलिए हिंसा असत्य है। अहिंसाका अर्थ है अधिक-से-अधिक व्यापक प्रेम, अन्यायीके प्रति भी प्रेम। अहिंसाका प्रयत्न होता है अशुभको सत्यसे जीतना, शरीर-शक्तिका आत्मशक्ति द्वारा प्रतिरोध, अर्थात् अन्यायीका कष्ट-सहन द्वारा हृदय-परिवर्तन। गांधीजी आन्तरिक विश्वासके कारण सिद्धान्तकी तरह स्वीकार की हुई वीरोंकी अहिंसामें और हिंसाके उपयोगकी अक्षमताके कारण काम बनानेके लिए स्वीकार की हुई दुर्बलोंकी अहिंसामें भेद करते हैं। केवल पहले प्रकारकी अहिंसा ही अजेय है।

वीरोंकी अहिंसाको विकसित करनेके लिए सत्याग्रहीको निर्भय और विनम्र होना चाहिए। इसके लिए उसे ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए, अर्थात् मन, वचन और कर्मसे सब इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिए। निडर होनेके लिए आर्थिक प्रश्नोंकी ओर सत्याग्रहीका रुख अस्तेय, अपरिग्रह और शरीर-श्रमके आदर्शोंके अनुकूल होना चाहिए। गांधीजीका विश्वास है कि जैसे-जैसे सत्याग्रहीकी आध्यात्मिक उन्नति होती है वैसे-वैसे वह अपने जीवनको सादा बनाता है, जिससे वह निम्नतम तथा अधिक-से-अधिक निर्धन मनुष्योंकी तरह जीवन-निर्वाह कर सके। उसे चाहिए कि वह धन और अन्य भौतिक साधनों पर निर्भर रहना छोड़ दे। आध्यात्मिक जीवनमें इनका बहुत महत्त्व नहीं होता। एक मात्रामें शारीरिक मांगोंको पूरा करना आवश्यक है, किन्तु यह उचित मर्यादामें ही होना चाहिए। सबके अधिकतम हितकी सिद्धि स्वदेशीके सिद्धान्तके अनुसार ही हो सकती है। स्वदेशीका सिद्धान्त सृजनात्मक देशप्रेमका सूचक है। इस सिद्धान्तके अनुसार सत्याग्रहीको अधिक दूरके वातावरणकी अपेक्षा अपने निकटके वातावरणकी सेवा और उसका उपयोग करना चाहिए।

अहिंसाके जाग्रत विकासके लिए आवश्यक इस अनुशासनमें मनुष्य-स्वभावकी निम्न कोटिकी प्रवृत्तियोंके नियंत्रणका, विशेष रूपसे काम-वासना, संचयशीलता और लड़ने-झगड़नेकी प्रवृत्तियों और डर तथा घृणाकी भावनाओंके नियन्त्रणका समावेश होता है। यह अनुशासन प्रवृत्तियोंको बलपूर्वक दबा देने पर नहीं, किन्तु युक्तिसंगत आत्म-संयम पर जोर देता है। इस अनुशासनके औचित्यका विवेचन अध्याय ३, ४ और ५ में किया गया है। ये सिद्धान्त आत्मशक्ति, चरम ध्येय तथा अहिंसक साधन-सम्बन्धी गांधीजीकी प्राथमिक मान्यताओंके निष्कर्ष हैं और उनके साथ मिलकर अहिंसाका परिपूर्ण आदर्श उपस्थित करते हैं। यदि मानव-उद्देश्य अहिंसक साधनों द्वारा सत्यकी साधना हो, तो सर्वोदय तत्त्व-दर्शनकी मांग है कि हम प्रचलित आदर्शोंका फिरसे मूल्यांकन करें और जीवनमें आंतरिक सामंजस्यकी स्थापनाका प्रयत्न करें।

अहिंसक समाजके विकासमें अहिंसक अनुशासन सत्याग्रही नेताओंके लिए अनिवार्य है। अनुशासनकी मांग सत्याग्रहीके अनुगामियोंसे भी होती है, लेकिन उनसे सत्याग्रही नेताकी-सी नैतिक शुद्धताके उच्च स्तरकी आशा नहीं की जाती।

सत्याग्रही अनुशासित, योग्य, आत्म-विश्वासयुक्त नेता होता है। वह अपन अनुगामियोंकी स्वेच्छा और उनके विवेक पर आधारित आज्ञाकारिता पर निर्भर रहता है और सामुदायिक मामलोंमें जनमत तथा जनतंत्रका

सम्मान करता है। परन्तु अपनी प्रवृत्तिके सम्बन्धमें उसका पथ-प्रदर्शन उसकी अन्तरात्माकी प्रेरणा द्वारा होता है। नेताका उद्देश्य होता है जनताको सत्याग्रहकी शिक्षा देना, जिसमें समाजका इस प्रकार विकास हो कि वर्ग और राज्यकी संस्थाओंके अस्तित्वके कारण दूर हो जायं। वह जनताका संगठन करता है। अहिंसक समुदाय ऐसा आदर्श जनतंत्र होनेका प्रयत्न करता है, जिसमें केवल साधारण मामलोंमें बहुमत द्वारा निर्णय होते हैं, किन्तु अल्पमतके विशिष्ट हितसे सम्बन्धित बातोंमें अल्पमतके विरोधको अधिक-से-अधिक ध्यानमें रखा जाता है। इस प्रकारके संगठनमें सत्तावादी राजनीतिके लिए और दलकी व्यवस्थाको हथियानेके खातिर राजनैतिक पैंतरेबाजीके लिए कोई स्थान नहीं। अन्यायका प्रतिरोध करनेके अवसर पर संगठन अहिंसक सेना बन जाता है और उसमें जनतंत्रवादी रीतिसे चुने हुए *नेताका केन्द्रित नियंत्रण साधारण जनतंत्रवादी कार्य-प्रणालीका स्थान* ले लेता है।

सत्याग्रह अहिंसात्मक साधनों द्वारा सत्यपूर्ण साध्यकी निरन्तर साधना है और उसमें प्रत्यक्ष अहिंसक कार्रवाईके साथ-साथ सब विधायक कार्योंका भी समावेश होता है। इस प्रकार सत्याग्रह केवल सामूहिक प्रतिरोधकी पद्धति नहीं है। वास्तवमें सामूहिक प्रतिरोधकी पद्धतिके रूपमें अजेय होनेके लिए यह आवश्यक है कि सत्याग्रहका अभ्यास दैनिक जीवनके प्रत्येक कार्यमें हो।

अपने रचनात्मक तथा प्रतिरोधकारी रूपोंमें सत्याग्रह सामाजिक प्रगतिका साधन है। रचनात्मक सत्याग्रह जनताकी नैतिक शक्तिको बढ़ाता है और उसे अहिंसक प्रत्यक्ष कार्रवाईके उपयोगके लिए आवश्यक अनुशासन देता है। वह राजनैतिक सत्ता और राज्य-व्यवस्थाके सत्याग्रही समुदायके हाथमें आनेके पहले ही वर्तमान सामाजिक संगठनमें अहिंसाके सिद्धान्तोंके अनुसार आमूल परिवर्तन करनेकी पद्धति है।

सत्याग्रही नेता प्रचारके प्रत्येक उचित साधनका उपयोग करता है। उसके निकट प्रचारका अर्थ यह नहीं है कि जनमतका शोषण किया जाय या उसके ऊपर अनुचित नियंत्रण स्थापित किया जाय, बल्कि यह है कि जनमतको सत्यपूर्ण और अहिंसक साधनों द्वारा शिक्षा दी जाय। अहिंसक प्रचार लिखे या बोले हुए शब्दों द्वारा उतना नहीं होता जितना सेवा और कष्ट-सहन द्वारा होता है। रचनात्मक कार्यक्रम, जो 'सामूहिक शुद्धकारी प्रयास' है, सत्याग्रहका सबसे अच्छा प्रचार है।

प्रतिरोधके रूपमें सत्याग्रह अन्यायका विरोध करने और झगड़ोंका निपटारा करनेकी पद्धति है। सत्याग्रहीका उद्देश्य होता है विरोधीका हृदय-परिवर्तन करना और उसमें न्यायकी भावना जाग्रत करना। यदि सत्याग्रही प्रतिपक्षीको

बुद्धिको प्रभावित करनेमें असफल होता है, तो वह स्वेच्छासे कष्ट सहकर विरोधीके हृदयको पिघला देनेका प्रयत्न करता है। गांधीजी सब तरहके झगड़े मिटानेकी कल्पना नहीं करते थे। लेकिन उनका उद्देश्य था झगड़ेको विनाशक भौतिक स्तरसे उठाकर उस विधायक नैतिक स्तर पर पहुंचा देना, जहां झगड़ोंका शान्तिपूर्ण रीतिसे निपटारा हो सकता है और विरोध — विरोधी नहीं — दूर किया जा सकता है।

सत्याग्रह उचित भेदोंको दबाता नहीं, बल्कि उनमें सामंजस्य स्थापित करता है, इसलिए उसमें क्रांति-विरोधी प्रतिक्रियाका खतरा कम-से-कम होता है और उसके लाभके स्थायी होनेकी संभावना रहती है। प्रतिरोध जब अहिंसक होता है तब वह निषेधात्मक नहीं रह जाता और रचनात्मक रूपमें आत्मशक्तिके उपयोगके फलस्वरूप वह सामाजिक व्यवस्थाको नैतिक आदर्शकी ओर अग्रसर करता है। सत्याग्रहमें न्याय और सहयोग पर आधारित अहिंसक समाज-व्यवस्थाकी रचना और शोषण पर आधारित अन्यायपूर्ण सामाजिक संगठनका विनाश साथ-साथ चलते हैं। गांधीजीके अनुसार अहिंसाका आधार यह विश्वास है कि सभी मनुष्योंका असीम नैतिक मूल्य है और उनके साथ इस तरह बर-ताव करना चाहिए कि वे स्वयं साध्य हैं, केवल साधनमात्र नहीं हैं; इसलिए अहिंसा ही स्वतंत्रताकी वह जनतन्त्रवादी पद्धति है, जो जनताके वास्तविक स्वशासनकी स्थापना कर सकती है। सत्याग्रह दमन पर फलता-फूलता है। स्वेच्छासे सहा हुआ कष्ट उसकी सफलताका साधन है; इसलिए उसमें हार जैसी कोई चीज हो ही नहीं सकती।

गांधीजीका सामाजिक आदर्श है वह वर्गहीन और राज्यहीन समाज, वह स्वयं-संचालित बोधपूर्ण अराजकताकी दशा, जिसमें सामाजिक एकताकी रक्षा आन्तरिक साधनों और बल-प्रयोगके अतिरिक्त अन्य बाह्य साधनों द्वारा होगी। लेकिन यह आदर्श पूरी तरह कार्यान्वित नहीं हो सकता, इसलिए गांधीजी एक व्यवहार्य, मध्यममार्गीय सामाजिक आदर्श भी उपस्थित करते हैं। वह है प्रमुख रीतिसे अहिंसक राज्य। इस द्वितीय सामाजिक आदर्शमें राज्यको रखना मानुषी अपूर्णताके साथ समझौता करना है। गांधीजी राज्यको अविश्वासकी दृष्टिसे देखते हैं, क्योंकि वह हिंसा पर आधारित है। उनका विश्वास है कि राज्यके जनतन्त्रवादी होनेके लिए यह आवश्यक है कि नागरिकोंमें सत्ताके दुरुपयोगका अहिंसक प्रतिरोध करनेकी क्षमता हो। अहिंसक राज्य स्वयं ध्येय नहीं है; वह सबके अधिकतम हितकी सिद्धिके साधनोंमें से एक है। अहिंसक राज्य सर्वोच्च सत्ता रखनेवाला राज्य नहीं, परन्तु जनताकी सेवामें लगा राज्य होगा। राज्य विकेन्द्रित जनतन्त्रवादी ग्रामीण सत्याग्रही समुदायोंका संघ होगा। वे समुदाय स्वेच्छासे अपनायी हुई सादगी, निर्धनता और धीमेपन पर आधारित

होंगे, अर्थात् वे जान-बूझकर जीवनकी गति धीमी कर देंगे और उनमें शक्ति तथा धनकी खोजकी अपेक्षा आत्माभिव्यक्तिको अधिक महत्त्व दिया जायगा।

अहिंसक राज्य सीमित कार्य करेगा और कम-से-कम हिंसक शक्तिका उपयोग करेगा। अहिंसक राज्यमें समाजकी विशेषता होगी सामाजिक समता और बहुत कुछ आर्थिक समता। आर्थिक जीवनका आधार होगा खेती और घरेलू धन्धे, यद्यपि अनिवार्य न्यूनतम केन्द्रित उत्पादन भी रहेगा। केन्द्रित उत्पादनका संगठन या तो पूंजीपतियों द्वारा होगा और उस हालतमें पूंजीपति और श्रमिक एक-दूसरेके ट्रस्टी और उपभोक्ताओंके ट्रस्टीकी तरह बरताव करेंगे; या इस व्यवस्थाके अभावमें उत्पादनके साधनोंका स्वामित्व राज्यके हाथमें होगा और उत्पादनका प्रबन्ध राज्य और श्रमिकोंके प्रतिनिधियोंके संयुक्त प्रयाससे होगा। अहिंसक राज्यके आर्थिक जीवनकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता होगी छोटे-छोटे भूभागोंका लगभग संपूर्ण स्वावलम्बन।

उत्पादक घरेलू धंधों द्वारा स्वावलम्बी शिक्षाकी गांधीजीकी योजना शिक्षा, कार्य और जीवनमें निकटतम सम्बन्ध स्थापित करेगी और विद्यार्थीके संपूर्ण जीवनको विकसित करके उसे अहिंसक समाज-व्यवस्थाका साहसी, जागरूक और सक्रिय सदस्य बनायेगी।

आर्थिक और राजनैतिक शक्तिका विकेन्द्रीकरण, राज्यकी महत्तामें और कार्योमें कमी, स्वेच्छा पर आधारित समुदायोंकी वृद्धि, मनुष्यतासे गिरानेवाली निर्धनता और विलासितासे छुटकारा, नयी तालीम और अन्यायके विरुद्ध अहिंसक प्रतिरोधकी परम्परा — इन सबके कारण मनुष्य जीवनको समझ सकेगा और समाज तथा राज्य जनतन्त्रवादी बनेंगे।

अहिंसक राज्य अहिंसक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनके साथ सहयोग करेगा। शान्तिकी स्थापना केवल संस्थाओंके बाह्य रूपमें परिवर्तन करनेसे नहीं हो सकती। उसके लिए आवश्यकता है उन आदर्शों और मनोवृत्तियोंको सुधारनेकी, जिनकी अभिव्यक्ति युद्ध, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद तथा शोषणके अन्य रूपोंमें होती है।

सत्याग्रह-दर्शन सामंजस्यपूर्ण मानव-जीवनका दर्शन है। गांधीजीके अनुसार आत्मा ही मनुष्यकी वास्तविकता है। सबकी आत्मा एक है और जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें समाज-सेवा इस सत्यकी अनुभूतिका मार्ग है। गांधीजी मनुष्यकी शारीरिक मांगोंकी उपेक्षा नहीं करते, किन्तु उनका विश्वास है कि इन मांगों तथा मनुष्यकी आत्मानुभूतिकी नैतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओंमें सामंजस्य होना चाहिए। इस प्रकार सत्याग्रह आत्मशक्ति द्वारा संचालित सामंजस्यपूर्ण जीवनका दर्शन है। सर्वोदय तत्त्व-दर्शन आध्या-

त्मिक और सांसारिक जीवनमें, आदर्श और व्यवहारमें तथा व्यक्ति और समाजमें एकता स्थापित करता है। गांधीजी एक ओर तो सत्यको सामाजिक दर्शन और सामाजिक जीवनका आधार बनाते हैं और दूसरी ओर सत्यको बहुमुखी जीवनकी प्रचुरतासे युक्त करते हैं।

गांधीजीके राजनैतिक सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शनके अंगरूप हैं। विज्ञान या वास्तविकताके नाम पर राजनीतिको नैतिक सिद्धान्तोंसे अलग रखना उनके मतमें आध्यात्मिक विकासके लिए घातक है। अहिंसक प्रतिरोध क्रांतिकी पद्धति और उसके दर्शनके लिए गांधीजीकी बड़ी देन है। राजनीति-दर्शनके इतिहासमें किसी भी अन्य विचारककी अपेक्षा उन्होंने अधिक स्पष्ट और निश्चित रूपसे यह बताया है कि अहिंसा और जनतन्त्र एक-दूसरेके अविभाज्य अंग हैं और इनमें से प्रत्येक दूसरेके साथ ही सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है। ऐसे जनतंत्रकी उनकी धारणा — जिसमें व्यक्तिने सत्ताके दुरुपयोगके अहिंसक प्रतिरोधकी क्षमता प्राप्त कर ली है, जिसमें अल्पमतके विरोधका अधिक-से-अधिक ध्यान रखा जाता है और जिसकी विशेषता है बहुमतकी उदारता — जनतन्त्रकी पाश्चात्य धारणासे बहुत आगे है। पश्चिमके जनतंत्रोंमें अहिंसा जीवनका नियामक सिद्धान्त नहीं माना जाता, इसलिए गांधीजी उनके नैतिकताके दावेको ठीक नहीं मानते और उनको शोषणका साधन समझते हैं।

इसी प्रकार गांधीजीको पश्चिमके कुछ अर्थशास्त्रियोंका यह मत मान्य नहीं कि अर्थशास्त्रको नैतिक मूल्यांकनसे अलग रखना चाहिए। उनके अनुसार नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्रमें कोई निश्चित भेद नहीं है। आर्थिक प्रश्नों पर उनका मत उनके इस विश्वासको प्रकट करता है कि मनुष्यके नैतिक हितको मुनाफेकी भावना और धन-प्रियताके अधीन नहीं करना चाहिए और शेष मानव-व्यवहारकी तरह आर्थिक कार्यकी व्यवस्था भी इस प्रकारकी होनी चाहिए कि वह नैतिक कल्याणके लिए हानिकर नहीं परन्तु सहायक हो। इस प्रकार गांधीजी अर्थशास्त्रको नैतिकताके अधीन रखकर उसे (अर्थशास्त्रको) मानवतावादी बना देते हैं।

लेकिन गांधीजी हमें सदा ही इस बातकी याद दिलाते रहते थे कि उनका दर्शन पूर्ण या अन्तिम सत्य नहीं है। वे कहते थे कि वे सत्यको खोज रहे हैं, उसके प्रयोग कर रहे हैं। उनका जीवन सत्याग्रह-विज्ञानके निर्माणकी कथा है। सत्याग्रह-विज्ञान अभी निर्माणकी प्रक्रियामें है। अपने आदर्शके मूलभूत सिद्धान्तोंके बारेमें भी वे मानते थे कि उनके निरपेक्ष होनेका दावा करना तर्क-संगत नहीं। किन्तु यह होते हुए भी उनके अनुसार एक प्रकारकी सापेक्ष नैतिकता अपूर्ण मानवके लिए निरपेक्ष-सी ही है।[1] उनके जीवनके अन्तिम

भागमें उनके प्रयोग आदर्शकी बुनियादी धारणाओंकी अपेक्षा उपयोगके ब्यौरेसे अधिक सम्बन्धित थे, यद्यपि अहिंसाके उपयोगके बारेमें कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका हल अभी होना बाकी है। लेकिन यदि हम युद्धकलाके दीर्घकालीन इतिहासको ध्यानमें रखें, तो ऐसा लगता है कि छह दशाब्दियोंका समय--जिनमें गांधीजीने अहिंसाके प्रयोग सामुदायिक व्यवहारोंमें किये — सत्याग्रहके शांतिके परिपूर्ण विज्ञानके रूपमें विकसित होनेके लिए बहुत ही थोड़ा समय है।

जहां तक मौलिकताका प्रश्न है, गांधीजी स्वयं कहते हैं, "... मैं कोई नया सत्य प्रदर्शित नहीं करता। मैं सत्यको जिस रूपमें जानता हूं उस रूपमें उसका पालन करने और उस पर प्रकाश डालनेका प्रयास करता हूं। मैं बहुतसे पुराने सत्यों पर नया प्रकाश डालनेका दावा अवश्य करता हूं।"[1] "मैंने पहला मौलिक सत्याग्रही होनेका दावा कभी नहीं किया। जिसका मैंने दावा किया है वह है उस सिद्धान्तका लगभग सार्वभौम पैमाने पर उपयोग।"[2] उनके समयसे पहले अहिंसा ऋषियों और संन्यासियोंकी विशेषता मानी जाती थी। अहिंसामें अर्थकी वह परिपूर्णता, प्रयोगकी वह व्यापकता और वह उत्कृष्ट प्रभावशीलता न थी, जो गांधीजीके निरन्तर प्रयासके फलस्वरूप आज उसे प्राप्त है। गांधीजीने यह दिखाया है कि अहिंसाका उपयोग जीवनकी प्रत्येक परिस्थितिमें हो सकता है। उन्होंने आजके परिवर्तित जीवनके शब्दोंमें अहिंसाकी नई व्याख्या की है। उनके दर्शनमें अहिंसाका विकास हुआ है और उसे नवजीवन मिला है। जहां तक मानव-जातिकी रक्षा और विकास — जीवनके नियम — का अहिंसा पर आधारित होनेका सम्बन्ध है, सामाजिक और राजनैतिक दर्शनके लिए आधुनिक संसारमें अहिंसाके अधिकतम प्रामाणिक व्याख्याता गांधीजीकी देन जितनी बहुमूल्य है उतनी अन्य किसी विचारककी नहीं।[3]

सर्वोदय तत्त्व-दर्शन मानव-कल्याणके लिए आधुनिक संसारकी सर्वश्रेष्ठ देन इस कारण है कि गांधीजीका व्यक्तित्व केवल राजनैतिक विचारक, राजनीतिज्ञ या विद्वान दार्शनिकके व्यक्तित्वसे कहीं अधिक महान था। वे द्रष्टा थे, असाधारण सृजनात्मक प्रतिभाके नैतिक महापुरुष थे, जिन्होंने लगभग छह दशाब्दियों तक निरन्तर सत्यके ज्ञानके लिए भारतीय परम्पराके अनुसार

---

१. यं० इं०, भाग–१, पृ० ५६७।

२. यं० इं०, भाग–३, पृ० ३६७।

३. स्वर्गीय सी० एफ० एन्ड्रयूजने एक बार लिखा था, "मैं नहीं समझता कि हमारी पीढ़ीमें नैतिक सत्यके क्षेत्रमें मि० गांधीके भयरहित तर्ककी अपेक्षा कोई अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रेरक देन अहिंसाके व्यवहारमें प्राप्त हुई है।" स्पीचेज़, इन्ट्रोडक्शन, पृ० १४।

आवश्यक नैतिक अनुशासनकी साधनाका प्रयास किया। उनके दर्शनका आधार है सत्यका सार, उसका प्रौढ़तम फल — अहिंसा, जो उनके अनुसार जीवन और उसके विकासका नियम है। गांधीजी यह भी महसूस करते थे कि अहिंसा उनका ईश्वर-प्रदत्त जीवनोद्देश्य है। वे लिखते हैं, "मुझे विश्वास है कि ईश्वरने मुझे अधिक अच्छा रास्ता दिखानेका साधन बनाया है।"[१] "ईश्वरने भारतके सामने अहिंसाको उपस्थित करनेके लिए मुझे अपना साधन चुना है। . . ."[२] "मेरा जीवनोद्देश्य है पारस्परिक सम्बन्धोंकी — चाहे वे राजनैतिक हों, चाहे आर्थिक, धार्मिक या सामाजिक — व्यवस्थाके लिए अहिंसाको अपनानेके लिए प्रत्येक भारतवासीका . . . और अन्तमें संसारका मत-परिवर्तन करना।"[३]

कम-से-कम उपयोगिताके विचारसे तो मानव-जातिको रक्षा और विकासके लिए अहिंसाको अपनाना ही चाहिए। लेकिन क्या आज, जब अन्याय और लोभका बोलबाला है, लोग गांधीजीके संदेशको स्वीकार करेंगे?

निस्सन्देह सत्याग्रह-विज्ञान अभी पूर्णरूपसे विकसित नहीं हुआ है और जिनके रक्षित स्वार्थ हैं या जिनको आधुनिक सभ्यता और उसके भ्रमपूर्ण मूल्योंके कारण चकाचौंध हो गया है, उनके लिए सत्याग्रहके संदेशको समझना कठिन है। इसलिए हो सकता है कि अज्ञानके कारण मनुष्य नैतिक उच्चताके आवश्यक स्तर पर पहुंचनेमें असफल रहे। शायद धन और शक्तिकी पागलोंकी-सी खोजमें खोया हुआ सामंजस्यहीन संसार स्वार्थपूर्ण अमानुषिक मार्गको बदलनेसे इनकार कर दे। उस दशामें सत्याग्रह अपने समयसे पहले आया कहा जायगा। लेकिन मनुष्य नैतिक नियमोंको तोड़ नहीं सकता। उनकी उपेक्षासे वह अपना ही विनाश कर बैठता है। गांधीजी कहते हैं, "कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र दंडमुक्त रहकर नैतिक नियमोंका उल्लंघन नहीं कर सकता।"[४] यदि अहिंसा ही एकमात्र सच्चा मार्ग है, तो या तो मानव-जातिको उसे अपनाना होगा या मानव-जातिका विनाश निश्चित है।

किन्तु गांधीजी अहिंसाके भविष्यके सम्बन्धमें जरा भी निराश नहीं थे। उनके शब्दोंमें, "मैं केवल यह कह सकता हूं कि अहिंसक कार्यके संगठनका मेरा अर्ध-शताब्दीका अनुभव मुझे भविष्यके बारेमें आशा दिलाता है।"[५] "कलका संसार आवश्यक रूपसे अहिंसा पर आधारित समाज होगा।"[६] "मैं अपने

---

१. ह०, २२–९–'४०, पृ० ३०२।

२. ह०, २३–७–'३८, पृ० १९३।

३. ह०, १३–७–'४०, पृ० ४१०।

४. एथिकल रेलिजन, पृ० ४८।

५. ह०, ११–८–'४०, पृ० २४१।

६. कैटलिन: इन दि पाथ ऑफ महात्मा गांधी, पृ० १४५ पर उद्धृत।

हृदयके अधिकतम आंतरिक भागमें महसूस करता हूं . . . कि संसार रुधिर-पातसे बहुत दुःखी है। संसार उससे बचना चाहता है; और मेरा यह विश्वास है कि यह भारतकी प्राचीन भूमिका सौभाग्य होगा कि वह संसारको उससे बचनेका रास्ता दिखाये।"[1]

सत्याग्रह मानवोंकी गहनतम अभिलाषाकी — सच्चा और भला बननेकी, प्रेम करने और दूसरोंके लिए कष्ट सहनेकी अभिलाषाकी पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त, भीषण असमता, अन्याय, आर्थिक अरक्षा, हिंसा, घृणा और भय, जो आजके संसारमें इतने व्यापक हैं, सत्याग्रहकी अपीलको जोरदार बनाते हैं। अणुबमके अन्वेषणके पहले ही गांधीजीकी शिक्षा और आंदोलनोंका संसारके विचारकों पर और जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

गांधीजी महसूस करते थे कि अहिंसाका भविष्य उसके भारतमें सफल होने पर निर्भर है और अहिंसाकी अटूट परम्पराके कारण यह भारतका निर्दिष्ट ऐतिहासिक कार्य है कि वह मनुष्य-जातिको सत्याग्रहका संदेश दे। सन् १९३५ में उन्होंने लिखा था, "उसके (अहिंसाके) फलप्रद होनेमें बहुत समय लग सकता है; लेकिन जहां तक मैं समझ सकता हूं, कोई अन्य देश इस सन्देशको भारतसे पूर्व परिपूर्ण न कर सकेगा।"[2]

भारतमें अहिंसाका भविष्य अहिंसामें विश्वास करनेवालोंकी निष्ठा पर निर्भर है, चाहे उनकी संख्या — जैसी कि संभावना है — बहुत कम ही क्यों न हो। अहिंसामें विश्वास करनेवालोंको गांधीजीका संदेश है, "वे लोग, जिन्हें विश्वास है कि अहिंसा ही वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त करनेकी एकमात्र पद्धति है, अहिंसाके दीपकको आजके घोर अंधकारमें प्रज्वलित रखें। थोड़ेसे व्यक्तियोंका सत्य अपना प्रभाव दिखायेगा, लाखोंका असत्य हवाके झोंकेके सामने भूसीकी तरह उड़ जायगा।"[3] जनताका मत-परिवर्तन केवल

---

१. आर० के० प्रभु और यू० आर० राव: दि माइंड ऑफ महात्मा गांधी, पृ० १४५ पर उद्धृत।

२. ह०, १२–१०–'३५, पृ० २७६। लेकिन गांधीजी सदा अहिंसाकी सार्वभौम व्यावहारिकतामें विश्वास करते थे। कभी-कभी वे यह भी महसूस करते थे कि यद्यपि अहिंसाके सन्देशका भारतमें फलप्रद होना उनको बहुत स्वाभाविक और सुगम मालूम पड़ता है, किन्तु यह भी सम्भव है कि अहिंसा भारतकी निष्क्रिय जनताकी अपेक्षा यूरोपकी सक्रिय जनताको अधिक शीघ्र प्रभावित कर सके। यं० इं०, ३–९–'२५, पृ० ३०४। गांधीजीके महाप्रस्थानके बाद उनके बहुतसे देशवासी गांधीजीको इस देशसे जो आशा थी उसके पूर्ण होनेके बारेमें निराश हैं।

३. यं० इं०, भाग–२, पृ० ११५३।

आदर्श द्वारा नहीं बल्कि उन थोड़ेसे व्यक्तियोंके समुदाय द्वारा होगा, जो स्वार्थरहित होकर, निश्चयपूर्वक, साहसके साथ आदर्शको अपने जीवनमें उतार लेंगे और घोर संकटमें भी अपने मार्गसे विचलित न होंगे। दृढ़ निश्चयवाले इन थोड़ेसे सत्याग्रहियोंको नेतासे प्रेरणा मिलेगी। एक बार गांधीजीने कहा था, "मेरी मृत्युके बाद यदि अहिंसा विलीन हो जाय, तो मान लेना चाहिए कि मुझमें अहिंसा थी ही नहीं।"[१]

यह गांधीजीका आत्म-परीक्षण ही नहीं है, बल्कि उन लोगोंके लिए एक कसौटी है, जिनकी मान्यता है कि उन्होंने गांधीजीके मार्गको स्वीकार किया है। किन्तु गांधीजीकी यह अटल आस्था थी कि अहिंसक मार्गसे ही मानव-समाजकी पुनर्रचना सम्भव है। वे लिखते हैं, "अहिंसा संसारके महान सिद्धान्तोंमें से एक है, जिसका संसारकी कोई भी शक्ति विनाश नहीं कर सकती। मेरे समान सहस्रोंकी (अहिंसाके) आदर्शको सिद्ध करनेमें मृत्यु हो सकती है, किन्तु अहिंसाका कभी विनाश न होगा। और अहिंसाके संदेशका प्रचार केवल विश्वास करनेवालोंके इस आदर्शके लिए प्राण देनेसे ही हो सकता है।"[२]

संकेत-चिह्नोंकी सूची

आत्मकथा — गांधीजी, 'सत्यके प्रयोग अथवा आत्मकथा' — दो खंड, स. सा. मंडल, १९२८।

आत्मशुद्धि — गांधीजी, 'आत्मशुद्धि', इलाहाबाद।

आश्रम — गांधीजी, 'सत्याग्रह आश्रमका इतिहास', नवजीवन, अहमदाबाद।

एथिकल रेलिजन — गांधीजी, 'एथिकल रेलिजन' या 'नीतिधर्म', मद्रास, १९२२।

कन्वर्सेशन्स — चन्द्रशंकर शुक्ल, 'कन्वर्सेशन्स ऑफ गांधीजी'।

कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम — गांधीजी, 'कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम', नवजीवन, अहमदाबाद, १९४१।

कांग्रेसका इतिहास — बी० पट्टाभि सीतारमैय्या, 'दि हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस' — भाग १ का हिन्दी अनुवाद, स. सा. मं, १९३६।

डायरी — महादेव देसाई, 'दिल्ली डायरी' — भाग १, नवजीवन, अहमदाबाद।

दक्षिण अफ्रीका — गांधीजी, 'दक्षिण अफ्रीकाका सत्याग्रह' — दो भाग, स. सा. मं, १९३८।

दि गीता एकार्डिग टु गांधी — गांधीजी तथा महादेव देसाई, 'दि गॉस्पेल ऑफ सेल्फलेस एक्शन ऑर दि गीता एकार्डिग टु गांधी', नवजीवन, अहमदाबाद।

नेशन्स वॉइस — गांधीजी तथा महादेव देसाई, 'दि नेशन्स वॉइस', अहमदाबाद, १९४७।

बापूज़ लेटर्स टु मीरा — गांधीजी, 'बापूज़ लेटर्स टु मीरा', नवजीवन, अहमदाबाद।

यं. इं. — 'यंग इंडिया'।

यरवडा मंदिर — गांधीजी, 'फ्रॉम यरवडा मंदिर', नवजीवन, अहमदाबाद, १९३३।

सत्याग्रह — 'सत्याग्रह इन गांधीजीज़ ओन वर्ड्स', इलाहाबाद, १९३५।

साउथ अफ्रीका — गांधीजी, 'सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका', मद्रास, १९२८।

स्पीचेज़ — 'स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी', नटेसन, मद्रास, १९२८।

ह. — 'हरिजन'।

हिं. न. जी. — 'हिंदी नवजीवन'।

हिन्द स्वराज — गांधीजी, 'हिन्द स्वराज' (अंग्रेजी), मद्रास (चौथी आवृत्ति)।

हिन्द स्वराज्य — गांधीजी, 'हिन्द स्वराज्य' (हिन्दी), स. सा. मं., १९३९।

हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस — बी० पट्टाभि सीतारमैय्या, 'दि हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस', इलाहाबाद, १९३५।

सूची